संस्कृतविश्वविद्यालयग्रन्थमालायाः 140 पुष्पम्

म. म. आचार्यश्रीबटुकनाथशास्त्रिखिस्तेप्रणीता

साहित्यनिबन्धमञ्जरी

प्रधानसम्पादकः
प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः
कुलपतिः

सम्पादकः
प्रो. शीतलाप्रसाद उपाध्यायः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016

संस्कृतविश्वविद्यालयग्रन्थमालायाः 140 पुष्पम्

म. म. आचार्यश्रीबटुकनाथशास्त्रिखिस्तेप्रणीता

साहित्यनिबन्धमञ्जरी

प्रधानसम्पादकः
प्रो. मुरलीमनोहरपाठकः
कुलपतिः

सम्पादकः
प्रो. शीतलाप्रसाद उपाध्यायः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016

प्रकाशकः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्
नवदेहली-110016

आई.एस.बी.एन : 978-81-986424-0-0

प्रकाशनवर्ष : 2025

© श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

मूल्यम् : ₹ 1250/-

मुद्रकः
अमरप्रिंटिंगप्रैसः
देहली-110009
दूरभाषः : 8802451208

प्ररोचना

साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्य से ही समाज और संस्कृति की पहचान होती है। जैसा समाज होगा वैसा ही साहित्य का निर्माण होगा और जैसा साहित्य होगा वैसा ही समाज निर्मित होगा अर्थात् सत्साहित्य से सुन्दर समाज का निर्माण होगा और असत्साहित्य से व्यभिचरित समाज का निर्माण होगा। साहित्य के प्रति प्रत्येक बुद्धिसम्पन्न मानव की अभिरुचि होना, यह स्वाभाभाविक है। इस उन्मुखता के कारण ही साहित्य और जीवन परस्पर एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं तथा मानवजीवन को उदार, प्रगतिशील एवं स्वावलम्बी बनाकर स्वात्मविकास करने के लिये प्रेरित करते हैं। इस प्रकार जीवन को प्रकाश में लाकर विकास की ओर बढ़ते रहने का स्रोत साहित्य ही बन जाता है। साहित्यकार सामाजिकता को जिस तत्परता से साहित्य में प्रतिबिम्बित करते हैं उसी प्रकार सामाजिक भी साहित्यिकता को समाज में प्रतिबिम्बित करते है। यह पारस्परिक आदान-प्रदान युगों से चला आ रहा है और चलता रहेगा। साहित्यिकता और मानवता की एक योजक कड़ी है- मानवता। क्योंकि उक्त दोनों ही प्रकार मानव में ही होते हैं और उसी में प्रतिभासित होती है-मानवता। आचार्य कुन्तक कहते हैं- **साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ। अन्यूनानतिरिक्तत्व-मनोहारिण्यवस्थितिः॥** साहित्य जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति है। शास्त्रीय साहित्य से समाज में मूल्यों का संवर्धन होता है। बड़ों के प्रति आदर का भाव, अहिंसा, दया, अलोलुपता, देश की सेवाभावना, कर्तव्यपरायणता, भाईचारा आदि पारिवारिक मूल्य विकसित होते हैं।

प्राचीन साहित्य की आज के सन्दर्भ में व्याख्या कर नई पीढ़ी को सौपना ही हमारा कर्तव्य है। प्राचीन साहित्य में छिपे रहस्यों को

खोजकर समाज के समक्ष प्रस्तुत करना हमारा ध्येय है। प्राचीन काल में हमारा देश आत्मनिर्भर था उसका कारण था। हमारा विपुल ज्ञान। हमारे ज्ञान की विपुल सम्पदा-साहित्य को विदेशी आक्रान्ताओं ने जला दिया, जिस कारण आज हम उस सम्पदा को ढूढने के लिए विदेशियों पर निर्भर हैं। हमारा ज्योतिष, आयुर्वेद, योग, मन्त्रशास्त्र इतना विकसित है कि हमें विदेशियों की आवश्यकता ही नहीं है। डेंगू जैसे रोगों की चिकित्सा में जहाँ लाखों रुपये खर्च होते थे वहीं आयुर्वेदिक विधि से प्रकृति में उपलब्ध गिलोय, पपीता आदि के माध्यम से बिना व्यय के व्यक्ति रोग से मुक्ति को प्राप्त करता है। मन्त्र के द्वारा आज भी सर्प, बिच्छू आदि के बिष को निर्विष किया जाता है, जिसमें कोई व्यय नहीं होता, योग के माध्यम से कितनी ही असाध्य रोगों से मुक्ति मिलती है। यह थी भारतीय जीवन पद्धति जो बिना व्यय के चलती थी इसीलिये भारत आत्मनिर्भर था, सुसम्पन्न था। इन शास्त्रीय प्रायोगिक पद्धतियों को खोजकर समाज के समक्ष प्रस्तुत करने से हमारा देश आत्मनिर्भर एवं विश्व में सबसे सम्पन्न बन सकेगा। जो पाण्डुलिपियों/ग्रन्थों में छुपा ज्ञान है उसको उद्घाटित करना हमारा लक्ष्य है।

काशी के मूर्धन्य विद्वान् यशःशेष पं. श्री बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते जी जो साहित्य और आगम शास्त्र के तलस्पर्शी आचार्य के रूप में विख्यात रहे, आपके द्वारा रचित विविध विषयों पर काव्यसंग्रह, साहित्य शास्त्रीय निबन्धों एवं तन्त्रशास्त्रीय निबन्धों को प्रकाशित करने का हमें सुअवसर प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ वर्ष १९९५ में प्रकाशन हेतु स्वीकृत हुआ था, परन्तु कालक्रम से मुद्रणालयों में हुई समस्या के कारण वर्ष २०२५ में प्रकाशित करना सम्भव हुआ। साहित्यशास्त्रीय एवं तन्त्रशास्त्रीय निबन्धों की पाण्डुलिपियों के विषय का गाम्भीर्य, जिसका सम्पादन करना सर्वथा दुरूह कार्य था, ऐसे गम्भीर विषयों पर लिखित निबन्धों का सम्पादन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के तन्त्रागम विभाग के विश्वविश्रुत आचार्य प्रो. शीतला प्रसाद उपाध्याय जी ने किया। यशःशरीर ग्रन्थ लेखक आचार्य खिस्ते जी को नमन करता हूँ।

आचार्य उपाध्याय जी का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके अथक प्रयास से यह ग्रन्थरत्न विश्वविद्यालय के १४० वें पुष्प के रूप में उत्कर्ष में वृद्धि प्रदान करेगा। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि यह कृति प्रत्येक भारतीय को साहित्यशास्त्र एवं तन्त्रशास्त्र के प्रति जागरूकता प्रदान करने में सहायक सिद्ध होगी। इस ग्रन्थ के सम्यक् प्रकाशन हेतु शोधविभागाध्यक्ष प्रो. शिव शंकर मिश्र एवं शोधसहायक डॉ. ज्ञानधर पाठक को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, जिनके सत्प्रयास से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थ के समुचित टंकण एवं मुद्रण हेतु अमर प्रिंटिंग प्रेस के संचालक श्री विशेष खत्री जी को साधुवाद देता हूँ।

प्रो. मुरलीमनोहर पाठक
कुलपति

म. म. आचार्य श्री बटुकनाथ शास्त्रि खिस्ते
एवं
श्रीमती लक्ष्मीबाई
(श्री अम्बुजेश्यम्बा सहित श्री अम्बुजेशानन्दनाथ)

काशी हिन्दु विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY
AN INSTITUTION OF NATIONAL IMPORTANCE ESTABLISHED BY AN ACT OF PARLIAMENT

संस्कृतविद्या-धर्मविज्ञान-संकायः
FACULTY OF SANSKRITVIDYA DHARMAVIJNAN
संकायप्रमुखः
DEAN

दिनांक- 17.03.2025

॥ पुरोवाक् ॥

साहित्य निबन्ध मंजरी नामक चिरप्रतीक्षित ग्रन्थ विद्वत्समाज के सम्मुख प्रस्तुत है। चिर प्रतीक्षित इसलिये कि इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशनाधीन होने की सूचना लगभग एक दशक (या उससे भी अधिक) पूर्व प्रामाणिक स्त्रोतों से प्राप्त हुई थी। किन्हीं ज्ञाताज्ञात कारणों से इसमें विलम्ब हुआ। किन्तु सम्प्रति यह ग्रन्थ एक सुन्दर कलेवर में तथा मेरी जानकारी के अनुसार कतिपय ऐसी सामग्री के साथ आ रहा है जिनका समावेश पूर्व की पाण्डुलिपि में नहीं हो सका था। इस दृष्टि से यह विलम्ब स्पृहणीय है।

यह ग्रन्थ महामहोपाध्याय स्व. पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते जी की प्रकीर्ण रचनाओं का संग्रह है। आचार्य खिस्ते यह नाम संस्कृत साहित्य में किंचिन्मात्र भी प्रवेश रखने वाले किसी भी अध्येता के लिये अपरिचित नहीं है। किन्तु कुछ ऐसे विषय अवश्य हैं जो नवीन पीढ़ी के अध्येताओं के लिये अवश्य ज्ञातव्य हैं। आपके पूज्य पिता महामहोपाध्याय श्री नारायण शास्त्री खिस्ते उस युग के महनीय कवि, उच्च कोटि के आगम रहस्यवेत्ता, प्रौढ़ पण्डित, लोकप्रिय अध्यापक तथा कुशल प्रशासक के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं। साहित्यशास्त्र एवं आगम विद्या दोनों ही उत्तराधिकार में प्राप्त करते हुये आचार्य बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते जी पिता के समान ही विद्वत्समाज में प्रतिष्ठापित हुये। मुझे एकाध ऐसी पुस्तक (कविता संग्रह) देखने का अवसर प्राप्त हुआ जिसमें पिता (म.म. नारायण शास्त्री खिस्ते) तथा पुत्र (म.म. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते) दोनों

BHU
Email :- dean.svdv@bhu.ac.in

की ही कवितायें प्रकाशित हुई हैं। ऐसा संयोग दुर्लभ होता है। आचार्य खिस्ते जी के विषय में एक अन्य तथ्य विशेष उल्लेखनीय है कि उनके चार कुल हैं- पितृकुल, श्वसुर कुल, साहित्य विद्या कुल तथा आगम विद्या कुल (दीक्षागुरुकुल), तथा चारों ही स्व-स्व क्षेत्र में उत्कर्ष की पराकाष्ठा धारण करते हैं। आपके पितामह पं. भैरवनाथ खिस्ते के दो पुत्र म.म. पंडित नारायण शास्त्री खिस्ते तथा पं. मुकुन्द शास्त्री खिस्ते संस्कृत विद्या के विविध क्षेत्रों में उद्भट विद्वान् माने जाते थे। इसी प्रकार आचार्य बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते जी का श्वसुरकुल काशी का प्रसिद्ध भारद्वाज कुल रहा है। वैसे तो इस कुल में अनेक विद्वद्विभूतियाँ हुई हैं किन्तु प्रसिद्ध वैयाकरण पं. दामोदर शास्त्री भारद्वाज (खिस्ते जी के पितृव्य श्वसुर-श्वसुर के भाई) अत्यन्त प्रसिद्ध हुये हैं। आपका साहित्य विद्या कुल भी अत्यन्त गौरवपूर्ण है। काशी का तैलंग कुल जिसके विषय में मान्यता है कि यह कुल महामहोपाध्यायों का कुल रहा है- म.म. रामशास्त्री तैलंग, म.म. लक्ष्मण शास्त्री तैलंग, म.म. भालचन्द्र शास्त्री तैलंग आदि कतिपय नाम उल्लेखनीय हैं। म.म. लक्ष्मण शास्त्री तैलंग को अंग्रेज सरकार द्वारा CIE (Compenion of Indian Empire) की उपाधि से भी विभूषित किया गया था। वर्तमान में भी इस कुल के आचार्य जगन्नाथ शास्त्री तैलंग जी उद्भट विद्वान् एवं महाकवि हैं। इन्हें भी महामहोपाध्याय पदवी से विभूषित किया गया है।

आचार्य खिस्ते जी का आगमविद्या कुल अथवा दीक्षा कुल भी अत्यन्त महिममंडित है। उद्भट आचार्य भास्कर राय दीक्षित की परम्परा में आप दीक्षित थे तथा नित्य उपासना के साथ- साथ आचार्य दीक्षित की अनेक कृतियों का आपने संपादन एवं प्रकाशन किया है। आचार्य दीक्षित के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर आधारित आपकी एक पुस्तक भी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ ऐसे महाविभूति की प्रकीर्ण कृतियों का संग्रह है। यद्यपि ग्रन्थ का नामकरण निबन्ध मंजरी है तथापि इसके प्रथम तरंग में

कविताओं का संग्रह है। आगे के खण्डों में विभिन्न अवसरों पर लिखित/प्रस्तुत निबन्ध संगृहीत हैं। इनमें कतिपय ऐसी भी कृतियाँ हैं जो पाण्डुलिपि के रूप में उपलब्ध थीं जिनका समाज के समक्ष आना अत्यन्त आवश्यक था।

इन कृतियाँ का श्रमपूर्वक संग्रह उनके ही प्रिय शिष्य आचार्य शीतला प्रसाद उपाध्याय जी ने किया है। आचार्य उपाध्याय की एक प्रौढ़ अध्येता एवं अनुसंधाता के रूप में देश भर में प्रतिष्ठा है। उनके विद्या व्यासंग से मैं लगभग तीन दशकों से परिचित हूँ। उनके जैसे कुशल अनुसंधाता द्वारा किया गया यह कार्य निश्चित ही विद्वत्समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी होगा।

मैं भूतभावन बाबा विश्वनाथ एवं माता अन्नपूर्णा से इस ग्रन्थ एवं ग्रन्थ के सम्पादक को यशस्विता एवं सर्वतोभद्र की कामना करता हूँ।

राजाराम

(प्रो. राजाराम शुक्ल)
संकाय प्रमुख

प्रस्तावना

'साहित्यनिबन्धमञ्जरी' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ काशीस्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग के पूर्व अध्यक्ष म. म. प. बटुकनाथ शास्त्रि खिस्ते जी के द्वारा प्रणीत है। आचार्य खिस्ते जी साहित्य शास्त्र के मर्मज्ञ और लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् होने के साथ-साथ उच्चकोटि के तन्त्रसाधक भी थे। उनकी सभी रचनाओं में भी इनका सामरस्य दृष्टिगोचर होता है। इस ग्रन्थ का वर्गीकरण तरंग, साहित्यशास्त्रीय एवं तन्त्रशास्त्रीय निबन्धों के रूप में कुल तीन विभागों में किया गया है। तरंग विभाग में स्तुतितरंग, ऋतुतरंग, व्यक्तित्वतरंग और स्फुटतरंग में विभक्त स्फुट रचनाओं का संग्रह है। साहित्यशास्त्रीय निबन्धों में महाकवि कालिदास, बाणभट्ट, मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों की गम्भीर समीक्षा तथा तन्त्रशास्त्रीय निबन्धों में अभिनवगुप्त एवं विशेषकर आचार्य भास्करराय की परम्परा का गूढ़ निवर्तन है।

आज से लगभग २०० वर्ष पूर्व महाराष्ट्र के शोलापुर नगर के समीप के निवासी काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण श्री शंकर पन्त खिस्ते जो तत्कालीन महाराष्ट्र राज्य के विशिष्ट अधिकारी थे, एक राजकीय कार्य से बंगाल के मुर्शिदाबाद के नबाब के पास गये थे। वहाँ से लौटते समय वह काशी में रुक गये और एक शिवमन्दिर का निर्माण कराकर उसका देखरेख करते हुए काशी में ही बस गये। यह शिवमन्दिर ''सन्तानेश्वर महादेव'' के नाम से कालभैरव मन्दिर के समीप में स्थित है जिसका देखरेख आज भी उनके वंशज करते हैं।

इसी कुल में श्री भैरवनाथ खिस्ते हुए। इनका जीवन यद्यपि भौतिक सुख-समृद्धियों से विपन्न था, तथापि इनकी सदाचार-परायणता के कारण तत्कालीन समाज में इन्हें अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

दुर्भाग्यवश इनकी अनेक सन्तानें काल-कवलित होती रहीं, किन्तु महात्मा तैलंग स्वामी जी के आशीर्वाद से दो सन्तानें जीवित रहीं। वे थीं--श्री नारायण शास्त्रि खिस्ते एवं श्री मुकुन्द शास्त्रि खिस्ते। ये दोनों ही सन्तानें सारस्वत वैभव से सम्पन्न थे।

म.म.प. नारायण शास्त्रि खिस्ते के एकलौते पुत्र थे- श्री बटुकनाथ शास्त्रि खिस्ते। इनका जन्म ३० अक्टूबर १९१८ ई. को वाराणसी में हुआ था। इनका लालन-पालन और इनके सारे संस्कार वैदिक रीतियों से सम्पन्न हुए थे। अष्टम वर्ष में इनका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया था। इनके परिवार में प्राचीन वैदिक परम्परा के परिपालन की सजीव परम्परा थी। विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न यह बालक शैशवास्था में ही अपने पिता के द्वारा सुमधुर कण्ठ से किये जा रहे 'सौन्दर्यलहरी' के पाठ को सुनकर उनके अनुकरण में उसका पाठ करना प्रारम्भ कर दिया था। अपने पिता के ही गुरु श्री बाबा शास्त्री काले के मार्गदर्शन में श्री खिस्तेजी ने अमरकोश, शब्दरूपावली, व्याकरण आदि का प्रारम्भिक ज्ञान अर्जित किया तथा मात्र दस वर्षो के वय में ही संस्कृत भाषा के माध्यम से पारस्परिक व्यवहार करने में समर्थ हो गये थे। चौदह वर्ष की अवस्था में मध्यमा के चारों खण्डों की परीक्षा एक वर्ष में देकर इन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा एंव सामर्थ्य का परिचय दिया था। तदनन्तर शास्त्री और आचार्य की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। उनके शिक्षा गुरुओं में पिता के साथ-साथ प. भालचन्द्र शास्त्री, म.म.प. लक्ष्मण शास्त्री तैलङ्ग, श्री गोस्वामी दामोदरलाल शास्त्री आदि प्रमुख थे।

अध्ययन काल में ही संस्कृत कवि के रूप में इनकी प्रसिद्धि होने लगी थी। अनेक वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में प्रथम स्थान प्राप्त कर श्री खिस्ते जी ने अपने छात्र जीवन में बहुसंख्यक रजत एवं स्वर्ण पदकों को प्राप्त किया था। उसी समय से वाराणसी से प्रकाशित होने वाली 'अमर-भारती', 'वल्लरी', 'सुप्रभातम्' और 'सूर्योदयः' प्रभृति पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगी थीं।

सन् १९३८ ई. में ससम्मान आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् श्री खिस्ते जी अनुसन्धान कार्य में जुट गये जिसका प्रतिफल है- उनकी 'बाणभट्टविमर्शः' नामक कृति। शोधकार्य के ही मध्य में उन्होने डॉ. मंगलदेव शास्त्री से भाषाविज्ञान का गम्भीर अध्ययन किया था। आर्यशूर की प्रख्यात रचना 'जातकमाला' की 'बाला' नाम्नी व्याख्या एवं बाणभट्ट प्रणीत 'हर्षचरित' के प्रथम उच्छ्वास की टीका का लेखन भी इसी अनुसन्धान काल में ही सम्पन्न हो गया था।

सन् १९४४ ई. में श्री खिस्ते जी काशी की सुप्रसिद्ध संस्था मारवाड़ी संस्कृत कालेज में अध्यापक बने। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री गोविन्द वल्लभ पन्त के कार्यकाल में सन् १९४६ ई. में सम्पन्न हुए महोत्सव के कविसम्मेलन में इन्हें प्रथम पुरस्कार मिला था। पुनः सन् १९४७ ई. में राजकीय संस्कृत कालेज में साहित्य के अध्यापक पद पर नियुक्त हुए जो कालान्तर में संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया। विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति डॉ. आदित्यनाथ झा, आई. सी.एस. की प्रेरणा से इन्होने संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध कुलगीत और ध्वजगीत की रचना की थी जो आज भी विशिष्ट अवसरों पर गाया जाता है। इस प्रकार से सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में ही अनेक पदों पर कार्य करते हुए साहित्य शास्त्र के आचार्य एवं अध्यक्ष के रूप में इन्होनें ३० जून सन् १९७९ ई. को अवकाश ग्रहण किया। इनका निधन २९ जनवरी सन् २००० ई. में हुआ।

अपने ३५ वर्षों के अध्यापन काल में संस्कृत महाकवि के रूप में ख्यातलब्ध श्री खिस्ते जी ने औपचारिक एवं अनौपचारिक रूप से शोधार्थियों की एक लम्बी शृंखला तैयार की थी। आत्मीयता का अजस्त्र रस प्रवाहित करने वाले इस महान् व्यक्तित्व की समाज एव राष्ट्र के प्रति यह अनुपम भेंट है। इनके द्वारा और इनके निर्देशन में जो सर्वाधिक महत्त्व के अनुसन्धान कार्य सम्पन्न हुए, उनमें रसविषयक, नये काव्य और नाटकों का विश्लेषण, अलंकारों और सांस्कृतिक शेवधि के

उन्मीलन का प्रयत्न और आधुनिकता का भावबोध आदि विषय प्रमुख रूप से हैं। इनकी रचनाओं में पदलालित्य, अर्थगौरव तथा भावविन्यास, सरस, सरल एवं स्वाभाविक दृष्टिगोचर होता है।

एक श्रेष्ठ मनीषी के रूप में श्री खिस्ते जी ने अनेक संस्थाओं से सम्बद्ध रहकर उनका दिशा-निर्देश किया है। आकाशवाणी के लखनऊ एवं इलाहाबाद के केन्द्रों के ये अनेक वर्षों तक परामर्शदाता रहे हैं। जयपुर और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रभृति अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम, विद्यापरिषद् तथा शोध समितियों के ये सदस्य रहे हैं। वाराणसी में 'कवि भारती' की स्थापना इन्हीं की प्रेरणा से हुई थी। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन, अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन, कालिदास अकादमी आदि अनेक संस्थाओं द्वारा आयोजित अधिवेशनों में बारंबार आहूत होकर इन्होनें अनेक सारगर्भित शोधपत्रों का वाचन, कार्यक्रमों की अध्यक्षता और कविसम्मेलनों का संचालन किया था। सम्मानों एवं पुरस्कारों के क्रम मे श्री खिस्ते जी को श्रीहनुमान मन्दिर ट्रस्ट कलकत्ता (१९७९ ई.), उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ (१९८० ई.), राष्ट्रपति सम्मान, भारत सरकार (१९८४ ई.), उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी का विशिष्ट पुरस्कार (१९८४ ई.), काया ट्रस्ट पुरस्कार, भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता (१९९१ ई.), उपाध्यक्ष, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, लखनऊ (१९९२-९४ ई.), स्वामी हरिहरानन्द करपात्री पुरस्कार, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (१९९३ ई.), आजीवन सम्मानित प्राध्यापक, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (१९९३ ई.), गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग (१९९४ ई.) से विशिष्ट सम्मान आदि प्राप्त हुए थे। सन् १९९९ ई. में उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान के सर्वोच्च पुरस्कार 'विश्वभारती' से इनको सम्मानित किया गया था। ये 'काशी पण्डित सभा' के अध्यक्ष भी थे। मैक्सिको में अठारहवें ओलम्पिक की स्मारिका में भारत की प्रतिनिधि कविता के रूप में आपकी संस्कृत रचना को स्थान दिया गया था।

सन् १९९० ई. में इनकी रचना 'कल्लोलिनी' के आलोचनात्मक अध्ययन पर डॉ. संजय चतुर्वेदी को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि मिली थी। डॉ. राम कुमार शर्मा ने श्री खिस्ते जी पर शोध प्रबन्ध लिखकर जिवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर से सन् १९९२ ई. में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है। सन् १९९६ ई. में वाराणसी में 'आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी भारतीय विद्यापीठ' के सौजन्य से श्री खिस्ते जी का अभिनन्दन किया गया था और उक्त अवसर को यादगार बनाने के लिए 'उन्मीलनम्' नामक एक अभिनन्दन ग्रन्थ का लोकार्पण भी हुआ था।

काव्यप्रकाश के प्रणेता आचार्य मम्मट, साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ तथा व्यक्तिविवेककार आचार्य माहिम भट्ट ने अपने ग्रन्थों में कालिदास के विभिन्न छन्दों की जो आलोचनाएँ की हैं, उनका श्री खिस्ते जी ने अपने पृथक्-पृथक् शोधपूर्ण आलेखों में आकलन प्रस्तुत करते हुए अनेक स्थलों पर उन-उन आचार्यों के लिए भी टिप्पणियाँ दी हैं। इसके अतिरिक्त कालिदास का भक्ति पक्ष, अलंकार पक्ष और परम्परा सिद्ध मन्त्रविद्या पक्ष का भी प्रस्तुतिकरण अलग-अलग निबन्धों में उन्होंने किया है। उनके निबन्ध गद्य की कसौटी पर खरा उतरते हैं। उनके तथ्यपरक निबन्ध कालिदास साहित्य के अध्येताओं के लिए सन्दर्भ स्रोत हैं। महाकवि कालिदास के प्रति आचार्य खिस्ते का विशेष अनुराग था, जिनके विषय में उन्होंने सर्वाधिक निबन्धों की रचना की है। संस्कृत साहित्य में स्थापित 'उत्तररामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' तथा 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वं' आदि उक्तियों के प्रतिक्रियास्वरूप उन्होंने 'मेघदूते काव्यरत्ने कालिदासो विशिष्यते' तथा 'बाणः कालिदासमनुहरति' जैसी उक्तियों की प्रतिष्ठा की है।

श्री खिस्ते जी के जीवन का एक दूसरा पहलू भी है जिसे वे अत्यन्त गोपनीय रखते थे। साहित्य शास्त्र के उद्भट विद्वान् होने के साथ-साथ वह एक श्रेष्ठतम तन्त्रसाधक भी थे। किशोरावस्था में ही माँ की साया से वंचित होने पर अत्यधिक दुःख के क्षणों में सहसा उनके

जीवन में एक चमत्कार घटित हुआ था। उन दिनों आचार्य श्री भास्करराय की परम्परा के संवाहक एक श्रेष्ठतम आचार्य का काशी में पदार्पण हुआ था। इनके पिता श्री नारायणशास्त्रि खिस्ते उनके पास इनको ले गये। इनको देखते ही वह आचार्य खुशी से उछल पड़े और कहने लगे कि शास्त्री जी! इस बालक से तो मेरा पूर्व जन्मों का सम्बन्ध रहा है। पुनः वह श्री खिस्तेजी से बोले कि अपनी माँ के वियोग में दुःखी मत होओ। आज मैं तुम्हें तुम्हारी वास्तविक माँ से मिलवाऊँगा जो तुम्हारा कभी भी साथ नहीं छोड़ेगी और उसी रात्रि में इनको दीक्षा मिल गयी। कालान्तर में ये पूर्णाभिषिक्त भी हुए।

आचार्य श्री खिस्तेजी की यह अविच्छिन्न तान्त्रिक गुरु परम्परा आदिनाथ से प्रारम्भ होकर आदिशंकराचार्य, अप्पयदीक्षित एवं भास्करराय से होती हुई अद्यतन विद्यमान है। यह परम्परा निगमागममूलक उपासना विधियों पर आधारित हैं और मिश्रमार्ग के अन्तर्गत आती है। श्री भास्करराय ने चतुर्दश विद्याओं में परिगणित धर्मशास्त्र में तन्त्रों का अन्तर्भाव सिद्ध करते हुए उनकी वेदमूलकता को स्थापित किया है। श्री खिस्ते जी के दीक्षा गुरु श्री अम्बानन्दनाथ ने अपनी परम्परा में चली आ रही उपासना पद्धतियों में आचार्य अभिनवगुप्त की उपासना-पद्धतियों का भी समावेश करके अपनी परम्परा को और अधिक सशक्त बना दिया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। इसके कारण श्री खिस्ते जी की काश्मीर शैव दर्शन में भी मजबूत पकड़ बन गयी थी जिसकी झाँकी उनके निबन्धों में देखने को मिलती है। कालिदास और भास्करराय के साथ-साथ आचार्य अभिनवगुप्त में भी उनकी गहरी निष्ठा थी। श्री भास्करराय के सन्दर्भ में आचार्य खिस्ते की मान्यता है कि अपने स्वल्प जीवन के कारण भगवान् शंकराचार्य जिन कार्यों को अधूरा छोड़ गये थे, उनकी पूर्ति के लिए आचार्य श्री भास्करराय भारती दीक्षित जी का आविर्भाव हुआ था।

'वाराणसी और तन्त्र : एक दृष्टिकोण' नामक निबन्ध में श्री खिस्ते जी ने तान्त्रिक साधना की दृष्टि से वाराणसी का निरूपण किया

है। उनके अनुसार, ''वैसे तो समग्र सृष्टि शिवमयी है किन्तु वाराणसी भूतभावन सर्वगुरु शंकर की प्रिय आवासभूमि है। गंगा के तट पर अर्धचन्द्राकार रूप में यह नगरी अवस्थित है। इस रेखावृत्त में सर्वत्र शिव की व्याप्ति है। निगमागम शास्त्र शिवरस संचित हैं। सृष्टि के आरम्भ में शिव ही ब्रह्मा की सृष्टि करते हैं और उन्हें वेदों तथा अन्य विद्याओं से सम्पन्न कर ज्ञान की अनवच्छिन्न धारा बहाते हैं। इसी लिए वेदवाणी शिव की परम सत्ता का उद्घोष करती है। ज्ञान ही संसार में अन्तिम प्राप्य 'परमनिधि' है। इस ज्ञान की अध्येतव्य विद्याएँ दो प्रकार की हैं- पराविद्या और अपराविद्या। अपरा विद्या वेदों और शास्त्रों में फैली हुई हैं, उसका यथावत् अध्ययन गुरुमुख से करना चाहिए। पराविद्या को ब्रह्मविद्या भी कहते हैं जो शिवरूप सद्गुरु की कृपा से प्राप्त होती है।'' आगे चलकर वह कहते हैं कि ''आगमशास्त्र में पदार्थ की तीन अवस्थाएँ है- स्थूलदेवता का ध्यानीकृत रूप, मन्त्रात्मक सूक्ष्मरूप तथा पदवर्ती पृष्ठभूमि में वासनात्मक रूप। वासनाशब्द का अर्थ तेजोमयी सत्ता है जिसके ऊपर ही सूक्ष्म और स्थूलरूप की स्थिति सम्भव है। इस प्रकार वाराणसी आगमग्रन्थों के अनुरूप शक्तित्रिकोण का ही भाग है। भगवती गंगा पराशक्ति का रूपान्तर है। त्रिपुरारहस्य के माहात्म्य खण्ड में गंगा को 'रसमयी त्रिपुरा' कहा गया है। पराशक्ति संहारक्रम से सद्यः मोक्ष देने के लिए वाराणसी में तत्पर है।'' आगे चलकर वह कहते है कि ''पुराणों में वाराणसी को धनुष्याकार कहा गया है, जहाँ शिवरूपी पुरुष धर्मरूपी बाण से कलि का भेदन कर रहे हैं। वाराणसी क्षेत्र का नाम 'अविमुक्त', 'आनन्दवन' तथा 'महाश्मशान' आदि नामों से प्रसिद्ध है। शिव और शक्ति जिस स्थान को कभी नहीं छोड़ते अथवा सम्मिलित भाव से रहते हैं, वह शिव और शक्ति का पूर्ण सामरस्य ही तो परमधाम 'अविमुक्ता' है। 'आनन्दवन' नाम इस दृष्टि से सार्थक है कि भगवान् शिव अपने स्वरूपानन्द का आस्वाद यहाँ करते हैं। 'महाश्मशान' का अभिप्राय उस भूमि से है, जहाँ बर्हिमुख प्रवृत्तियाँ सर्वथा लीन होकर परम तत्त्व में समाविष्ट हों। सम्पूर्ण अज्ञान और वासनाओं का यहाँ दाह

होता है। शिव के शक्तिपात में सभी कर्मों का लय करने का सामर्थ्य निहित है। वाराणसी में भगवान् शिव का स्वरूप क्या है, इसका ज्ञान 'चिदम्बररहस्यतन्त्र' से होता है-

चन्द्राभश्चन्द्रमुकुटः कुठारमृगधारकः ।
वराभयकरः शम्भुः शिवो विश्वेश्वरोऽवतु ॥

ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत 'काशीरहस्य' में वाराणसी का ध्यान पराशक्ति के रूप में बतलाया गया है। काशी स्वयं मन्त्रमयी, प्रणवस्वरूपिणी अथवा देवीबीजस्वरूपा है। पराशक्तिस्वरूपा काशी शरणागतों का उद्धार भी करती है। 'काशीरहस्य' में यह भी वर्णित है कि 'कामकला' नाम्नी वेश्या का उद्धार उपदेश के माध्यम से स्वयं काशी ने किया था।''

इन्हें 'इण्डियन कौंसिल आफ फिलोसोफिकल रिसर्च' से १९८७ ई. में एक प्रोजेक्ट मिला था जिसके अन्तर्गत इन्होंने 'श्रीभास्करराय भारती दीक्षित : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' नामक एक विशाल ग्रन्थ तैयार किया था। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से सन् १९९३ में हुआ है।

पूज्य खिस्ते जी की अविच्छिन्न तान्त्रिक परम्परा का परिगणन आद्य शंकराचार्य के गृहस्थ शिष्यों की परम्परा के अन्तर्गत आती है। यद्यपि इस सृष्टि में अनादि काल से उपासना के अनेक मार्ग बने, उनकी परम्पराएँ बनी, तदनुरूप संस्कृतियों और सभ्यताओं का उद्भव हुआ, किन्तु वेदमूलक परम्पराएँ अनेक घात-प्रतिघातों के मध्य प्रवहमान सरिता की तरह अपने नये-नये पथ का निर्माण करती हुई श्री खिस्ते जी में क्रियात्मक रूप से जीवित थी। उपासना- परम्परा में शिथिलता और कालकृत विपर्यास दोष आते रहते हैं, जिनके कारण इन परम्पराओं का सांगोपांग विवरण प्रस्तुत करना अत्यन्त कठिन हो जाता है, फिर भी तीन-चार स्रोतों से उपलब्ध सामग्री के आधार पर इनका दिग्दर्शन किया जा रहा है।

प्रथम साधन का स्त्रोत है- 'श्रीगुरुपरम्पराचरित्र' नामक संस्कृत श्लोकबद्ध ग्रन्थ। इसकी रचना पं. रामकृष्ण सोमयाजी ने की है और इसका आधार परम्परागत अनुश्रुतियाँ हैं, जिन्हें लेखक ने अपने गुरुमुख से प्राप्त कर बारह हजार श्लोकों में निर्मित किया था। इस ग्रन्थ के पूर्वार्ध में ५४ सर्ग हैं। श्री सोमयाजी के शिष्य श्रीगोपालशास्त्री औढेकर की 'स्फूर्ति' नामक संस्कृत टीका के साथ इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रथम बार व्यंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई से सन् १९०७ ई. में हुआ था। इस श्लोकबद्ध ग्रन्थ का मराठी पद्यानुवाद महाराष्ट्र नांदेड़ (मराठवाड़ा) के सुप्रसिद्ध कवि श्री दे. ल. महाजन ने किया था जो चार भागों में महाजन साहित्य प्रकाशन मण्डल, नांदेड़ से १९७८-१९८९ ई. में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में आदिनाथ से आरम्भ कर श्रीयज्ञेशानन्दनाथ तक की परम्परा वर्णित है।

दूसरे साधनका स्त्रोत है- 'भास्करविलास' नामक लघु काव्यग्रन्थ। इसके रचयिता पं. जगन्नाथ शुक्ल (दीक्षानाम-उमानन्दनाथ) हैं। ये भास्करराय के प्रत्यक्ष शिष्य और तंजौर के राजा के सभा-पण्डित थे। आरम्भ में यह ग्रन्थ दो बार श्रीभास्करराय विरचित 'सौभाग्यभास्कर' के साथ वेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई से प्रकाशित हुआ था और आज भी यह विभिन्न नवीन संस्करणों में उपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ विशेषरूप से श्रीभास्करराय पर प्रकाश डालता है। इसमें उल्लिखित घटनाओं के साथ श्रीगुरुपरम्पराचरित्र की कथाएँ प्रायः समानता रखती हैं।

तृतीय साधन के स्त्रोत हैं- श्रीभास्कररायजी की कृतियों के प्रकाशन में सम्पादकों की भूमिकाएँ एवं विभिन्न स्थलों पर विद्वानों के विचार, जो श्रीभास्करराय को लक्ष्य कर व्यक्त किये गये हैं। ज्ञातव्य है कि आचार्य खिस्ते जी की तान्त्रिक गुरुपरम्परा आधुनिक युग में 'श्री भास्करराय की परम्परा' के नाम से ही जानी जाती है, अत एव श्रीभास्करराय पर प्रकाश डालने वाले सभी साहित्य और विचार इसका अनुमोदन कर सकते हैं।

चतुर्थ साधन है- आचार्य श्रीखिस्ते जी की स्वयं की कृति 'श्रीभास्करराय भारती दीक्षित : व्यक्तित्व एवं कृतित्व'। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से सन् १९९३ ई. में महान् कुलपति प्रो. वी. वेंकटाचलम् जी के सौजन्य से हुआ था। सौभाग्यवश मुझ अकिंचन को भी श्रीगुरुदेव के अनुग्रह से इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सेवा करने का अवसर मिला है। इस ग्रन्थ में आचार्य श्रीभास्करराय की कतिपय महत्त्वपूर्ण कृतियों के सार-संक्षेप के साथ-साथ उनके व्यक्तिगत जीवन एवं उनकी परम्परा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

उपर्युक्त स्रोतों एवं सूचनाओं के आधार पर श्रीखिस्तेजी की गुरुपरम्परा का क्रम इस प्रकार से है-

आदिनाथानन्दनाथ-आदिशक्त्यम्बिका-सदाशिवानन्दनाथ-
सदाशिवशक्त्यम्बिका-ईश्वरानन्दनाथ-ईश्वरशक्त्यम्बिका-रुद्रानन्दनाथ-
रुद्रशक्त्यम्बिका-ब्रह्मानन्दनाथ-ब्रह्मशक्त्यम्बिकानन्दनाथ-नन्दनानन्दनाथ-
सनातनानन्दनाथ-सनत्कुमारानन्दनाथ-सनत्सुजातानन्दनाथ-ऋभुक्षानन्दनाथ-
दत्तात्रेयानन्दनाथ-रैवतकानन्दनाथ-वासुदेवानन्दनाथ-व्यासानन्दनाथ-
शुकानन्दनाथ-नृसिंहानन्दनाथ-महेशानन्दनाथ-भास्करानन्दनाथ-
महेन्द्रानन्दनाथ-माधवानन्दनाथ-जिष्णुदेवानन्दनाथ-गौड़पादानन्दनाथ-
गोविन्दानन्दनाथ-आदिशङ्कराचार्य-पद्मपादाचार्य-बिम्बाम्बा-वाग्भवानन्दनाथ-
चिदानन्दनाथ-प्रसन्नानन्दनाथ-संभ्रमानन्दनाथ-परमात्मानन्दनाथ-
नीलकण्ठानन्दनाथ-शाम्भवानन्दनाथ-विश्वात्मकानन्दनाथ-प्रियानन्दनाथ-
क्रोडीशानन्दनाथ-वीरानन्दनाथ-चिन्मुद्रानन्दनाथ-संविच्छक्त्यम्बा-
बीजकाशक्त्यम्बा-भट्टानन्दनाथ-मदनानन्दनाथ-ज्ञेयानन्दनाथ-
अनुत्तरानन्दनाथ-भीमसिंहानन्दनाथ-शाकवृद्धडानन्दनाथ-
शिलाभट्ट्यरिकाम्बिका-भट्टानन्दनाथ-मदनानन्दनाथ-ज्ञेयानन्दनाथ-अनुत्तरानन्दनाथ-

भीमसिंहानन्दनाथ–शाकवृद्ध्यानन्दनाथ–
भटडानन्दनाथ–विक्रमादित्यानन्दनाथ–भोगानन्दनाथ–
क्लिन्नानन्दनाथ–कुलेश्वरानन्दनाथ–लीलानन्दनाथ–सहजानन्दनाथ–
कामानन्दनाथ–कौलेश्वरानन्दनाथ–स्वरानन्दनाथ–श्रीविद्यानन्दनाथ–
धर्माचार्यानन्दनाथ–दीपकानन्दनाथ–पराभट्टारिकाम्बा–घोरानन्दनाथ–
शक्तितारानन्दनाथ–अमृतानन्दनाथ–मातृगुप्तानन्दनाथ–मुक्तकेशानन्दनाथ–
प्रतिभानन्दनाथ–विष्णुदेवानन्दनाथ–विमलानन्दनाथ–संविदानन्दनाथ–
भोजानन्दनाथ–परशिवानन्दनाथ–मनोजदेवानन्दनाथ–गगनानन्दनाथ–
गेयादित्यानन्दनाथ–मूर्तिमदानन्दनाथ–आज्ञाशक्त्यम्बा–मौर्विकानन्दनाथ–
शिवादासानन्दनाथ–अभिनन्दकानन्दनाथ–धाराकदम्बानन्दनाथ–
भुवनानन्दनाथ–महेश्वरानन्दनाथ–त्र्यम्बकानन्दनाथ–जयगुप्तानन्दनाथ–
सदाशिवानन्दनाथ–श्वेताम्बरानन्दनाथ–देवदासानन्दनाथ–दुर्गासेनानन्दनाथ–
पाणिन्यानन्दनाथ–कपिलरुद्रानन्दनाथ–शङ्क्वानन्दनाथ–दीपकानन्दनाथ–
भासानन्दनाथ–कर्णोत्पलानन्दनाथ–उपमन्य्वानन्दनाथ–उमापत्यानन्दनाथ–
विद्यापत्यानन्दनाथ–हरणानन्दनाथ–वामनानन्दनाथ–सङ्कुलानन्दनाथ–
अद्भुतपुण्यानन्दनाथ–उत्प्रेक्षावल्लभानन्दनाथ–रामानन्दनाथ–
शिवस्वात्म्यानन्दनाथ–कपोलानन्दनाथ–रुद्रटानन्दनाथ–कुमारदासानन्दनाथ–
श्रीहर्षानन्दनाथ–शम्भ्वानन्दनाथ–पृथ्वीधरानन्दनाथ–हम्मीरानन्दनाथ–
वैद्यनाथानन्दनाथ–कालिदासानन्दनाथ–त्रिलोचनानन्दनाथ–रत्नाकरानन्दनाथ–
लोलटानन्दनाथ–मातङ्गदिवाकरानन्दनाथ–दामोदरानन्दनाथ–श्रुतधरानन्दनाथ–
शर्मवर्मानन्दनाथ–गोभिलानन्दनाथ–मयूरानन्दनाथ–माघानन्दनाथ–
गोपालानन्दनाथ–राजशेखरानन्दनाथ–चाणक्यानन्दनाथ–कृष्णमिश्रानन्दनाथ–
क्षेमेन्द्रानन्दनाथ–जयमाधवानन्दनाथ–अनन्तानन्दनाथ–विल्हणानन्दनाथ–

दण्डानन्दनाथ-सुरवर्मानन्दनाथ-भैरवानन्दनाथ-त्रिविक्रमानन्दनाथ-
वररुच्यानन्दनाथ-कृष्णभट्टानन्दनाथ-गुहेश्वरानन्दनाथ-सारस्वतानन्दनाथ-
भर्तृहर्यानन्दनाथ-कण्ठपण्डितानन्दनाथ-चन्द्राननानन्दनाथ-नार्मदेयानन्दनाथ-
बिल्वमङ्गलानन्दनाथ-उत्पलराजानन्दनाथ-शक्तिकुमारानन्दनाथ-
अरसीठाकुरानन्दनाथ-भवभूत्यानन्दनाथ-लक्ष्मणानन्दनाथ-
क्रीडाचन्द्रानन्दनाथ-शार्ङ्गधरानन्दनाथ-भारव्यानन्दनाथ-भैरवानन्दनाथ-
नागम्माम्बा-कुमुदानन्दनाथ-बाणानन्दनाथ-वाक्परानन्दनाथ-
नन्दिवर्धनानन्दनाथ-मुक्तापीडानन्दनाथ-माथुरानन्दनाथ-धर्मकीर्त्यानन्दनाथ-
हेतुकानन्दनाथ-नागवैद्यानन्दनाथ-भोजदेवानन्दनाथ-कर्पूरानन्दनाथ-
कुटुम्बानन्दनाथ-निवृत्तिदेवानन्दनाथ-ज्ञानदेवानन्दनाथ-मुक्ताम्बा-
भल्लटानन्दनाथ-भट्टस्वाम्यानन्दनाथ-लक्ष्मीधरानन्दनाथ-हरिगणानन्दनाथ-
विद्यातीर्थानन्दनाथ-विद्यारण्यानन्दनाथ-सायणाचार्यानन्दनाथ-
इन्दुराजानन्दनाथ-रासकानन्दनाथ-गोविन्दराजानन्दनाथ-भान्वानन्दनाथ-
जयदेवानन्दनाथ-महेश्वरानन्दनाथ-पीयूषवर्षानन्दनाथ-देवेशानन्दनाथ-
सर्वज्ञसिंहानन्दनाथ-भूपत्यानन्दनाथ-विष्णुगुप्तानन्दनाथ-भोगभट्टानन्दनाथ-
भेरीभाऽरानन्दनाथ-राघवचैतन्यानन्दनाथ-शङ्खधरानन्दनाथ-
भट्टारकानन्दनाथ-विष्णुशर्मानन्दनाथ-गोवर्धनोद्धरानन्दनाथ-
धनपालानन्दनाथ-मुरार्यानन्दनाथ-सुबन्ध्वानन्दनाथ-हरदत्तानन्दनाथ-
पुष्पाकरानन्दनाथ-उत्कटानन्दनाथ-विमर्शानन्दनाथ-पूर्णानन्दनाथ-
राजदेवानन्दनाथ-विनायकानन्दनाथ-वल्लभदेवानन्दनाथ-स्वभावानन्दनाथ-
हरिहरदेवानन्दनाथ-धर्मनारायणानन्दनाथ-सुभगानन्दनाथ-परिमलानन्दनाथ-
रेवादासानन्दनाथ-प्रशस्तानन्दनाथ-वसुन्धरानन्दनाथ-कुमुदानन्दनाथ-
गोविन्दभट्टानन्दनाथ-आनन्दानन्दनाथ-प्रकाशानन्दनाथ-भासुरानन्दनाथ-

उमापत्यानन्दनाथ–शुकानन्दनाथ–श्रीदेशिकानन्दनाथ–यज्ञेशानन्दनाथ–धर्मानन्दनाथ–धीरानन्दनाथ–भूमानन्दनाथ–अम्बानन्दनाथ–अम्बुजेशानन्दनाथ।

इस प्रकार २३३ गुरुओं की परम्परा का निदर्शन किया गया। श्रीभास्करराय जी का दीक्षानाम 'भासुरानन्दनाथ' है और वह इस परम्परा में २२४वें क्रम में प्रतिष्ठित है। यद्यपि इस पूरी परम्परा का परिचय विस्तार भय से यहाँ देना सम्भव नहीं है, तथापि २२३वें आचार्य से अब तक के गुरुओं का विवरण संक्षेप में इस प्रकार है–

'प्रकाशानन्दनाथ' का दीक्षा के पूर्व का नाम पं. शिवदत्त शुक्ल था। ये श्री भास्करराय जी के दीक्षा–गुरु थे। ये गुजरात के सूरतनगर में रहते थे और शऽराचार्य के उपासना मार्ग के पूर्णवेत्ता और महान् सिद्ध थे। इन्होंने श्रीभास्करराय जी को पूर्णाभिषेक दीक्षा एवं आचार्य का अधिकार प्रदान किया था।

श्रीभास्करराय जी का दीक्षानाम 'भासुरानन्दनाथ' है। इनका आवास कर्णाटक के अन्तर्गत बीजापुर राज्य था। इनकी माता का नाम कोणाम्बिका था और पिता श्रीगम्भीरराय संस्कृत शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान्, सोमयाग करने वाले, अनेक ग्रन्थों के रचयिता, राजनीतिकुशल पुरुष एवं बीजापुर के नवाब के मन्त्री थे। यवन राजा के आदेश से सम्पूर्ण महाभारत का फारसी भाषा में अनुवाद करने के कारण ये 'भारती' उपाधि से विभूषित हुए थे। श्रीभास्करराय जी के दादा यमाजि पण्डित और परदादा तुकदेव थे। तुकदेव के पिता एकनाथ थे। इनके गोत्र का नाम विश्वामित्र था। यद्यपि परम्परा से इनका परिवार भागवत सम्प्रदाय का अनुयायी था तथापि इनके पिता श्रीगम्भीरराय ने बीजापुर के राजवैद्य मुद्गलभट्ट के वंशज 'नारायण' नामक अपने मातुल से सम्पूर्ण आगमशास्त्रों की परम्परा और शिक्षा ग्रहण की थी। श्रीभास्करराय जी की प्राथमिक शिक्षा–दीक्षा शृंगेरी मठ से सम्बद्ध आन्ध्र प्रदेश के नारायणपेठ नगर के लोकापल्ली ग्राम के निवासी 'श्रीनृसिंहाध्वरी' जी से हुई थी। इसके अतिरिक्त श्रीगंगाधर बाजपेयी और रुक्मणणा पण्डित से भी इनकी

शिक्षा हुई थी। इन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है।

श्रीभास्करराय जी के पश्चात् गुरुक्रम में 'श्रीउमापत्यानन्दनाथ' का नाम आता है। इनका दीक्षापूर्व नाम श्रीगणेश दीक्षित था। ये भालकी निवासी कौण्डिन्यगोत्रज श्रीकाल दीक्षित के पुत्र थे।

उमापत्यानन्दनाथ के पश्चात् श्री शुकानन्दनाथ, श्री देशिकानन्दनाथ और श्री यज्ञेशानन्दनाथ का नाम आता है। ये तीनों ही आचार्य श्री गणेश दीक्षित की पुत्र-परम्परा में आते हैं। श्री यज्ञेशानन्दनाथ का दीक्षापूर्व नाम बाबा महाराज था। इनके शिष्य श्री रामकृष्ण सोमयाजी (दीक्षानाम-धर्मानन्दनाथ) हुए। इन्होंने गुरुमुख से परम्परागत कथाओं को सुनकर पूर्वोक्त 'गुरुपरम्पराचरित्र' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। इन्होंने गुरु की आज्ञा से सोमयाग भी किया था। इनके शिष्य श्री धीरानन्दनाथ हुए जिनका दीक्षापूर्व नाम श्री गोपालशास्त्री औढेकर था। ये शास्त्रों के अप्रतिम विद्वान् थे। गुरुपरम्पराचरित्र ग्रन्थ पर 'स्फूर्ति' नामक संस्कृत टीका इनकी ही कृति है। इनके शिष्य श्री भूमानन्दनाथ हुए। इनका दीक्षापूर्व नाम था- श्री नागेश शास्त्री। ये रामकृष्ण सोमयाजी के दौहित्र थे। ये भी परम तपस्वी थे और स्मार्ताग्नि का पालन करते थे। इनकी नित्यचर्या बड़ी नियमित थी।

इनके शिष्य हुए श्री रघुनाथ शास्त्री गोडबोले। इनका दीक्षानाम 'अम्बानन्दनाथ' था। ये महाराष्ट्र के बुल्ढाणा जिले में रहते थे। इनका एक केन्द्र मुम्बई भी था। इन्होने यावज्जीवन पर्यटन कर सम्प्रदाय को दृढ़ किया तथा अनेक आगमिक विधानों और क्रियाओं को पुनरुज्जीवित भी किया। इनके परिश्रम से आज भी यह सम्प्रदाय जीवन्त और क्रियाशील है। बुल्ढ़ाणा में इनके निवास पर आगम और तन्त्रशास्त्र की विविध शाखाओं की ३५०० से अधिक पाण्डुलिपियाँ आज भी विद्यमान है जिनका संग्रह इन्होने अपनी शिष्य मण्डली की सहायता से अत्यधिक श्रम करके किया था।

इनके शिष्य म.म.पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते जी थे जिनकी ख्याति 'साहित्यनिबन्धमञ्जरी' के रूप में सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। ये भी अपनी परम्परा के आचार्यों की ही भाँति संस्कृत साहित्य के विश्व-विश्रुत विद्वान् एवं महान साधक थे। इनका दीक्षानाम 'अम्बुजेशानन्दनाथ' था। इनकी चिरजीवनसंगिनी श्रीमती लक्ष्मीबाई भी पूर्णाभिषिक्त थीं और 'अम्बुजेश्यम्बा' दीक्षानाम से विभूषित थीं।

श्री खिस्ते जी इस परम्परा के गुरुमण्डल क्रम में २३३वें स्थान में प्रतिष्ठित हैं। इनकी यह परम्परा लोक में 'श्रीभास्करराय की परम्परा' नाम से प्रसिद्ध है। इस जीवन्त परम्परा में श्रीविद्या के कादि-विभाग के विधान से उपासना की जाती है। सौभाग्यवश इन पक्तियों के लेखक को भी इस विशिष्ट परम्परा का अनुग्रह प्राप्त है।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि श्री खिस्ते जी के व्यक्तित्व को उनके संस्कारों ने निर्मित किया है तथा युगीन सन्दर्भ, पारिवारिक परिवेश, संस्कारित वंशपरम्परा, सशक्त साधनापरम्परा ने पल्लवित और पुष्पित किया है। उनके पिता का कवि-व्यक्तित्व पुत्र में प्रतिबिम्बित हुआ है तो दूसरी तरफ उनकी गुरुपरम्परा का प्रकाश शिष्य में आमर्शित हुआ है। वह अत्यन्त सहृदयी व्यक्ति थे। एक तरफ अपने गुरुजनों के स्मरण मात्र से रोमांचित हो जाते थे तो दूसरी तरफ अपने शिष्यों को अपना सब कुछ समर्पित करने को भी तत्पर रहते थे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह जीवनमुक्त जैसा आचरण करने लगे थे। संस्कृत संस्थान के विश्वभारती पुरस्कार से प्राप्त धन का अधिकांश भाग उन्होंने दशाश्वमेध घाट पर रहने वाले भिक्षुक वर्ग के टोलियों में बाँट दिया था। वह सचमुच में महापुरुष थे।

अपने कुलपतित्व के प्रथम कार्यकाल में स्व. प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी ने आचार्य खिस्ते जी से उनकी समस्त रचनाओं एवं लेखों को अपनी संस्था से प्रकाशित कराने का अनुरोध किया था। तदनन्तर उनकी समस्त कृतियों की प्रेसकापी तैयार करके मेरे द्वारा प्रो. उपाध्याय

जी को हस्तगत कराया गया। उन्होंने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग में कार्यरत श्री हरिवंश पाण्डेय को वाराणसी के ही किसी प्रेस में टंकित किये जाने के उद्देश्य से सौंप दिया और इस ग्रन्थ का टंकण कार्य आरम्भ हो गया। दो बार प्रूफ रीडिंग का कार्य सम्पन्न होने के बाद, उक्त प्रेस के अचानक बन्द हो जाने के कारण आगे का कार्य अवरूद्ध हो गया। प्रकाशन हेतु तैयार की गयी अपनी प्रेसकापी भी नहीं मिल सकी। बहुत प्रयास करने पर कई वर्षों के बाद दैवयोग से खण्डितरूप में एक पुराना प्रूफ मुझे प्राप्त हुआ जिसको लेकर मैने पूर्व कुलपति प्रो. रमेश कमार पाण्डेय जी से इस ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन कार्य आरम्भ कराने की अभ्यर्थना की और उनके निर्देश पर प्रकाशन कार्य दिल्ली स्थित 'अमर प्रिंटिंग प्रेस' में आरम्भ हुआ।

प्रारम्भ में प्रगति सन्तोषप्रद रही, किन्तु कालान्तर में दुर्भाग्यवश लक्ष्य पर कुहासा छा गया। कालप्रवाह के शीघ्रगामी होने के साथ-साथ श्रीगुरुदेव के आदेश के प्रति अपना संकल्प पूर्ण न होने का पापभय भी मुझे सताने लगा। अन्त में, हमारी गहरी वेदना पर दैवी शक्तियों ने माननीय कुलपति प्रो. मुरली मनोहर पाठक के रूप में मुझ पर ख्रपा की और कार्य बिलम्ब से ही सही, किन्तु पूर्णता की ओर अग्रसर होने लगा। इसके लिए मैं माननीय कुलपति जी का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्त में इस ग्रन्थ के प्रकाशन कर्म में संलग्न श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के शोध विभागाध्यक्ष प्रो. शिवशंकर मिश्र जी एवं उनके सहयोगी अनुसन्धान सहायक डॉ. ज्ञानधर पाठक जी के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। मुद्रण कार्य में प्रवृत्त अमर प्रिंटिंग प्रेस के स्वामी श्री विशेष खत्री जी एवं उनके सहयोगियों को अनेकानेक धन्यवाद अर्पित है।

–शीतला प्रसाद उपाध्याय

विषयसूची

तरङ्गाः

स्तुतितरङ्गः

पृष्ठाङ्कः

–श्रीमहागणपतिः ३
–गङ्गा ६
–अम्बिका ११
–काली १२
–भगवतीविन्ध्यवासिनीसुप्रभातम् १३
–विन्ध्याटवी १५
–भैरवः १६
–रामेश्वरः १६
–हनुमान् १६
–योगीश्वरः १६
–दाक्षायणी १७
–इन्दिरा १७
–जननि जागृहि! १९
–जननी २१
–जयत्यसौ वसुन्धरा २२
–वसुन्धरा २३
–वसुधा २४
–धन्या धरित्री मम २५
–मातृभूमिः २७
–तद्भारतं भारतम् २८
–भारतभाग्यलक्ष्मीः २९

—भूरियं भूरिभाग्या २९
—जयति भारती भूरियम् ३०
—प्रबोधनम् ३१
—संलापः ३२
—महालक्ष्मीः ३४
—वाणी ३४

ऋतुतरङ्गः

—वसन्तविभावरी ३८
—निदाघः ४६
—वर्षा ४८
—शरद् ५५
—हेमन्तः ५९
—शैशिरीश्रीः ६२

समस्यातरङ्गः

—परम्परा ६६
—सिद्धयः ६७
—दक्षिणा ६८
—सम्भाव्यते ६९
—माधवीया ६९
—प्रत्यभिज्ञा ७०
—भारती ७०
—का कथा ७१
—भासां विलासः ७१
—कन्दलयति ७२
—मण्डनम् ७३
—जीवनं भारभूतं ७४
—किन्नाम तप्तं तपः ७४

–चूर्णयामः ७५
–कालस्य लीलायितम् ७५
–हिमालयो निम्नताम् ७६
–इन्दिन्दिरो निन्दति ७६
–धत्ते विधत्तेतराम् ७६
–प्रसरीसरीतु ७७
–कुशलीभवन्तु ७७
–याति चूडामणित्वम् ७७
–बाधा न साधारणी ७८
–नन्दनो भारतस्य ७८
–यावन्न धत्ते पदम् ७८
–वदन्तु धीराः ७९
–यज्ञोपवीतम् ७९
–कमलिनी ८०
–दिव्यौषधम् ८०
–नीले सुवर्णायते ८०
–अपौरुषेयम् ८१
–वेदाभिधानं महः ८१
–न जानीमहे ८२
–कृष्णमेघः ८२
–तासु तासु ८३
–नामापि न ज्ञायते ८३
–शिखण्डिनस्ते ८४
–परिवर्तनीयम् ८५
–गणयति ८५
–शल्यानि मे ८६
–धरित्रीसुतः ८६
–महीयते ८७

—गीर्वाणवाणी ८८

—काकली ८८

—धीमहि ८९

—चातुरी ८९

—भारतीं भारतीयाम् ९०

—देववाणी ९०

—सा दृश्यते ९१

—अद्वैतं सुखदुःखयोः ९२

—आलम्बते ९२

—माकरन्दाः ९३

—तावदेव ९३

—कलङ्कमञ्चति ९४

—चन्द्रलेखा पुनातु ९४

—निमज्जति ९५

—न प्रबुद्धां न सुप्ताम् ९५

—वाणीविलसितम् ९६

—तत्रैव हानिः ९६

—लम्पटाः ९७

—महामनीषी ९८

—हसितमहो नापि रुदितम् ९८

—को विहातुं समर्थः ९९

—चन्द्रः प्रवालप्रभः १००

—सङ्गमः १००

—सम्भ्रमी बम्भ्रमीति १०१

—चेतना १०२

—विश्वशान्त्येकनीडम् १०२

—माधुरी १०३

—हा हतो मन्दभाग्यः १०४

—वर्षितम् १०४
—करोति १०५
—सुमनसाम् १०५
—गन्धवाहः १०६
—ताम्बूलम् १०६
—उत्तरायणम् १०७
—मालिनी भोगलोकैः १०७
—मञ्जरी १०८
—धवलितम् १०८
—मधुबन्धुः १०९
—सम्बोधनम् ११०
—भारो भुवः १११
—पूर्णचन्द्रः १११
—राजते राजनीतिः ११२

व्यक्तित्वतरङ्गः

—लोकमान्यतिलकः ११३
—महात्मा गान्धी ११४
—महामना श्रीमालवीयः ११५

स्फुटतरङ्गः

—कालिदासः ११७
—परोपकरणम् ११८
—सहृदयः ११९
—सांगवेदविद्यालयः १२०
—कलिकाताहनुमत्स्थानम् १२१
—बाणच्छाया १२२
—प्रतिभा १२५
—मासत्रयी १२६

–प्रयागविद्यापीठम् १२६
–कुलगीतम् (काशीस्थ-सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य) १२७
–ध्वजगीतम् (काशीस्थ-सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य) १२९
–मंगलवचनम् १३०

साहित्यशास्त्रीयनिबन्धाः

मेघदूते काव्यरत्ने कालिदासो विशिष्यते १३५
बाणः कालिदासमनुहरति १४३
मम्मट-कालिदासयोर्विचारवीचयः १५२
दर्पणकारस्य कालिदाससूक्तिसमीक्षणम् १६३
कालिदासपद्येष्वलङ्कारदोषविवेकः १६८
व्यक्तिविवेककारस्य कालिदासकाव्यसमीक्षा १७२
विश्वनाथ-कालिदासयोर्विचारवीचयः १८८
महाकवेः कालिदासस्य रचनासु दोषाभासनिरासाः १९४
कालिदासपद्यव्याख्या – "न मृगयाऽभिरतिर्न दुरोदरं" २०७
कालिदासस्य सारस्वतमवदानम् २११
कालिदासस्य महेश्वरत्वं श्रीमदभिनवगुप्तपाददृष्ट्या २२९
कालिदासकृतिषु मन्त्रविद्या २४२
चिद्गगनचन्द्रिकाकारः कालिदासः २४७
कविकुलगुरोः स्थिरभक्तियोगः २५२
मेघदूतप्रस्तावनाश्लोकव्याख्या २५७
साहित्यशास्त्रे ध्वनिस्वरूपं रसविमर्शश्च २६२
दोषदृष्टिः २८४
काव्यस्य सत्यत्वम् २८९
वक्रोक्ति-वैभवम् २९६
रसगङ्गाधरे द्वितीयकाव्यलक्षणम् ३००
अर्थः सहृदयश्लाध्यः ३०४
शब्दार्थयोः सम्बन्धः ३१०
श्लेषालङ्कारविमर्शः ३१३

रसदर्शनस्य पृष्ठभूमिः ३२१
शान्तरसे काचिद् दृष्टिः ३३५
विक्रमोर्वशीये कश्चिद्विमर्शः ३४०
कैशिकी वृत्तिः ३४५
महाकविः श्रीजगद्धरभट्टस्तस्य रचना 'स्तुतिकुसुमाञ्जलिः' ३५०
राजशेखरस्य काव्यशास्त्रीया दृष्टिः ३६८
श्रीमतामतिरात्रयज्वनां कृतिः श्रीपदार्थदीपिका श्रीपदार्थव्यवस्था वा... ३७६
म. म. खिस्ते श्रीनारायणशास्त्रिणां जीवनेतिवृत्तम् ३८४
वासन्ती ३८६
कालिदासमहोत्सवः (राजस्थानस्थ-जोधपुरसंस्कृतकालेजस्य) ३९१
मैनुपुरीस्थसुरभारतीसेवासंस्थानम् ३९७
नूतनशिक्षानीतिः संस्कृतञ्च ३९८
पण्डित रघुदेव सरस्वती और 'विरुदावली' ४०४
कालिदास के राम ४११
श्रीसंकठास्तुतिः (हिन्दी अनुवाद) ४१५
आचार्य बलदेव उपाध्याय तथा उनकी कृति 'काशी की पाण्डित्य परम्परा' ४२४
प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र की शिक्षापद्धति और उसका आधुनिक सन्दर्भ में उपयोग ४३०
भारत की महाविभूति : आचार्य श्रीचन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती ४३७
छात्र परिषद् : अतीत और अनागत ४३९
भारत की राष्ट्रीयता का पर्याय है संस्कृत-भाषा ४४२
लोकमान्य की पावन स्मृति ४४४
सम्प्रदाय और साम्प्रदायिकता ४४६
हिन्दू धर्म के दो आधार ४४९

तन्त्रशास्त्रीयनिबन्धाः

त्रैपुर-दर्शनम् ४५५
आगम-परिचयः ४६३

स्पन्दब्रह्मविमर्शः ४७१
श्रीविद्याङ्घ्रिगीतविवरणम् (ध्वन्यालोकः) ४७८
आनन्दसागरस्तव-व्याख्या ५३३
श्रीभास्कररायदीक्षितानां दार्शनिकी दृष्टिः ५४५
आगमशास्त्रीयः पूजाक्रमः ५५३
आगमविषये केचिद्विचाराः ५५७
श्रीभास्करराय भारती दीक्षित और उनकी गणेशसहस्रनाम पर 'खद्योत' व्याख्या ५९३
निगम और आगम ६००
श्रद्धेय श्री कविराज जी तथा त्रैपुरदर्शन ६०८
'आनन्दसागरस्तव' एक परिचय ६१९
वेद और आगमः एक ही तत्त्व की दो धाराएँ ६२५

तरङ्गाः

स्तुतितरङ्गः

श्रीमहागणपतिः

कर्णतालपवनैरलीन् यथा वारयन्निखिलविघ्नडम्बरम्।
तन्नराकृति गजास्यविग्रहं चिन्तये किमपि मञ्जुलं महः।।१।।

शिञ्जितैश्चरणभूषणोद्भवै रञ्जयद् गिरिशशैलजान्तरम्।
भञ्जयद्द्विपदमङ्घ्रिसेविनामञ्जसा स्फुरतु मञ्जुलं महः।।२।।

कञ्जनाभमुखदेवसेवितं गञ्जनाय दितिजात्मनां द्विषाम्।
सञ्जनाय शुभसन्ततेर्गजव्यञ्जनं जयति मञ्जुलं महः।।३।।

कैलासाचलचारुगैरिकतटप्रान्ते नितान्तोल्लसत्-
क्रीडाकन्दलितात्मनो गणपतेः सन्ध्यामनुध्यायतः।
शुण्डाकाण्डसमुद्गतेन रजसा मूर्धानमाधुन्वतो
भालस्थः स धियं धिनोतु भवतां चन्द्रः प्रवालप्रभः।।४।।

हरगौरीप्रणयधरः सर्वाधिव्याधिसम्भ्रमापहरः।
रसराज इव गणेशः सिन्दूराभश्चिरं जयति।।५।।

विद्याः सर्वाश्चरणकमलोपासकेभ्यः प्रदातुं
स्वान्तर्गूढा इव विदधते यस्य लम्बोदरत्वम्।
सोऽयं काशीनगरविहरन्निर्मलस्वान्तविद्वद्-
वृन्दानन्दं जनयतुतरां कल्पनाकुञ्जरेन्द्रः।।६।।

प्रणमदमरनारीमौलिमन्दारमाला-
सुरभितमकरन्दस्नातपादारविन्दः।
रिपुतिमिरकदम्बध्वंसमध्याह्नहंसः
सपदि दिशतु सिद्धिं सिद्धिनाथो गजास्यः।।७।।

पर्यस्तिताऽसुरगणोऽनपहस्तिताशो
नास्तिक्यशून्यमनसां मतसुप्रशस्तिः।
उद्यन्मनस्तिमिरपुञ्जगभस्तिमाली
हस्तीन्द्रमञ्जुलमुखो मम सम्मुखोऽस्ति।।८।।

येनाऽग्राहि नमन्निलिम्पकरुणावश्येन विश्वात्मना
सिन्दूरारुणगण्डमण्डलमिलन्माद्यन्मिलिन्दं वपुः।
छन्दःकन्दलितप्रभावमतुलस्तम्बेरमाकारितं
तत् प्रत्यूहवनद्रुमौघदलनं तेजः परं धीमहि।।९।।

वाराणस्यां त्रिदशतटिनीनीरपूरान्तराले
स्वैरं क्रीडाविहितमनसः षण्मुखाद्यैः सुहृद्भिः।
वारं वारं तरलवपुषः पुष्करादुच्छलन्त्यः
कल्पन्तां वः सलिलकणिकाः श्रेयसे शम्भुसूनोः।।१०।।

शुचिस्वान्तो नीलाम्बररुचिरवेषो बहुविधै-
स्तपोभिः संसिद्धः समुदयदघोरक्रमभरः।
गणेशो योगीन्द्रो भुवि परमहंसार्चितपदः
कृपार्द्रः स्मर्तव्यः सकलभवबाधाप्रशमने।।११।।

विशालोदरश्चारुसिन्दूरपूरः
सुराणां गणैरर्चितः कार्यसिद्ध्यै।
स्वभक्तप्रमोदप्रदानैकवीरो
गणाधीश्वरो वन्दनीयो विभाति।।१२।।

वन्दामहे कमपि नन्दनकल्पवल्ली-
फुल्लप्रसूननिकरार्चितपादपद्मम्।
गौरीमनःकुमुदकाननयामिनीशं
स्तम्बेरमाभवदनं सदनं शुभानाम्।।१३।।

मन्दाराधिकदायिनं प्रणमतां स्पन्दात्कृपापाङ्गजात्
स्यन्दाद्दानजलस्य षट्पदकुलानन्दानुसन्धायिनम्।
छन्दायत्तकलाकलापलतिकाकन्दायमानं विभुं
स्कन्दाध्यापनतत्परं गजमुखं वन्दामहे सादरम्।।१४।।

ताराधीशशिखामणिं भवमहावाराशिपारप्रदं
मारारातिमनोमयूरपटलीधाराधराभ्यागमम्।
हाराकारभुजङ्गमावृततनुं नारायणाराधितं
पारावारमपौरुषेयवचसामाराद् गजास्यं श्रये।।१५।।

चण्डारातिचमूसमूहदलने दण्डाधिकारोद्यतं
खण्डाकारसुधामयूखशिरसं गण्डालिमालाकुलम्।
पण्डावत्प्रथमं प्रभातनलिनीषण्डाभिरामप्रभं
मण्डास्वादपरं भजे करिमुखं भण्डादिविघ्नापहम्।।१६।।

तालाङ्कस्तुतपौरुषं भवभयज्वालानवाम्भोधरं
मालाभिर्मधुरस्तवैश्च दिविषद्बालाभिराराधितम्।
कालारातिमनोविनोदनपरं सालान्तरालस्फुरद्
जालाकारमयूखमण्डितगृहं भालार्धचन्द्रं भजे।।१७।।

मानातीतपदस्थितोऽपि सुयशोगानानुरक्ताऽमर-
ध्यानाद्यः प्रथयाञ्चकार भजतां नानाविधं वाञ्छितम्।
भानां नायकमुद्वहन् कविगिरां पानाय कौतूहली
तानान्तर्गतनादभूः स कुशलाऽऽधानाय वः कल्पताम्।।१८।।

न धाता मुरारिः पुरारिर्बलारि-
र्न काली न लक्ष्मीर्न वाणी पुराणी।
नमस्यामृते नो नमस्या यदीयां
गजास्यो विधत्तां स वः सुप्रभातम्।।१९।।

क्षरन्तीं कपोलद्वयाद् दानधारां
समास्वाद्य माद्यन्ति यस्य द्विरेफाः।
यदर्चा हरत्याशु विघ्नस्य चर्चां
द्विपास्यो वितन्यात् स वः सुप्रभातम्।।२०।।

कराम्भोरुहैर्मोदकं दन्तखण्डं
सृणिं पाशमप्युद्वहन्निन्दुचूडः।
उपास्यः सुरेन्द्रादिभिः सिद्धिहेतो-
रिभास्यो विदध्यात् स वः सुप्रभातम्।।२१।।

लसद्दीर्घशुण्डोर्ध्वभागेन्दुखण्ड-
श्चरच्चञ्चरीकावलीचारुगण्डः।
गणेशः स विघ्नाद्रिभेदप्रचण्डः
शुभैर्मण्डयत्वद्य ते सुप्रभातम्।।२२।।

◆

गङ्गा

श्रीविष्णुपादसरसीरुहतः स्रवन्ती
यस्याः पुनाति भुवनानि मरन्दधारा।
सेयं समुच्छलिततुङ्गतरङ्गभङ्गा
गङ्गा तनोतु शुभदं तव सुप्रभातम्।।१।।

या मालतीस्रगिव शुम्भुजटान्तरस्था
फेनोच्चयैर्हसति पर्वतराजकन्याम्।
धन्या भगीरथनृपं कृपयाऽनुयान्ती
कुर्यादसौ सुरसरिन्नवसुप्रभातम्।।२।।

यस्यास्तटे किल बभूव भवत्यजस्रं
भूयो भविष्यति च यज्ञमहोत्सवश्रीः।
सा भुक्तिमुक्तिफलदा त्रिजगन्नमस्या
स्वर्गापगा जनयतात्तव सुप्रभातम्।।३।।

या बन्धुभावमवलम्ब्य तरङ्गहस्तै-
विन्ध्यस्थलं स्पृशति सन्निहितं जनन्याः।
ब्रह्मद्रवेति विदिता निगमागमज्ञैः
सा जुह्नुजा कलयताद् भुवि सुप्रभातम्।।४।।

अनेकजननार्जितत्रिविधतापपर्याकुलान्
विमृश्य वसुधातले विदलिताशयान् मानवान्।
द्रुता करुणया स्वयं तुहिनशैलमालातटा-
दुपैति धरणीतलं सुरतरङ्गिणी सत्वरम्।।५।।

निराकृति निरुद्यमं किमपि नामरूपोज्झितं
गदन्ति निगमाश्चिरात् सकलविश्वमूलं महः।
तदेव निजलीलया परिणतं सुधांशुच्छटा-
सहस्ररुचिजित्वरं सुरधुनीति धत्ते पदम्।।६।।

सरासुरनरोरगप्रभृतिसेविते देवि ! ते
स्फुटस्फटिकसप्रभें जलभरे मिमंक्षोः पुरः।
नमन्मुकुटमल्लिकामुखरषट्पदीगुञ्जितेः
स्तुवन्ति गुणगौरवं त्रिदशवाहिनीनायकाः।।७।।

प्रभातपवनोल्लसत्परिमले त्वदीये तटे
विहाय भवबन्धनं मदमर्दनं ध्यायतः।
तृणीभवति यौवनोन्मदसुराङ्गनालिङ्गन-
स्पृहानिगडिताशयो वसुमतीपतिग्रामणीः।।८।।

हिमालयवनावलीविकसिताऽतिसंख्योदयद्-
वनौषधिगुणाञ्चिता सकलरोगभोगापहा।
प्रवर्तयसि पावनं व्रतमिवार्तिनिर्वापणे
त्वदीयतुलनापदं क्व नु नदी परा विन्दतु।।९।।

सिताऽपि हसितास्पदं भवति नीरसं क्षीरम-
प्युदेति जनसाक्षिकं हृतगुणं पुनर्माक्षिकम्।
सुधारसमुधाकृतिक्षममहो त्वदीयं पयः
प्रदूषितमिति प्रथा व्यथयतीव नः साम्प्रतम्।।१०।।

भगीरथतपःफलप्रचलिते तुषाराचला-
न्निपत्य शशिशेखरोद्भटजटाकटाहान्तरे।
प्रयास्यभिमुखं ततो जलनिधेः पुनानाऽखिलान्
भुवस्त्वमसि भूषणं तव न दूषणं सम्भवेत्।।११।।

यया तुलितहारया सलिलधारया त्वं रयात्
स्पृशस्यनुपदं पदं क्षितितले तदुद्गीयते।
दुरन्तदुरिताटवीविदलनक्षमं सस्पृहं
मुकुन्दमदनान्तकप्रभृति दैवतानन्दितम्।।१२।।

हराट्टहसितप्रथाकुमुदवृन्दराकानिशा-
पतिप्रतिनिधिच्छवि स्फुरदुरुप्रभावं तव।
न कस्य भुवि कल्पते प्रशमसम्पदामर्जने
चिदेकरसचुम्बितं त्रिभुवनप्रशस्यं पयः।।१३।।

कनत्कनकपङ्कजोद्गतमरन्दविस्तारिणी
चलच्चटुलहंसकध्वनितमञ्जुसंराविणी।
नमन्मुनिशतार्चनक्रमपरम्पराधारिणी
सदाऽस्तु सुखकारिणी सुरधुनी जगत्तारिणी।।१४।।

विकचनलिनामोदोन्माद्यन्मधुव्रतमण्डली-
मधुरमधुरैर्गुञ्जाशब्दैः प्रगीतगुणोत्करा।
सकलजगतामुद्धारार्थं दिवः समुपागता
हरिचरणजा जागर्त्येषा परामृतदायिनी।।१५।।

हिमनगमहाराजोत्पन्ना सरोजविभूषणा
कथमिव गता भूताध्यक्षं कपर्दकधारिणम्।
इति यदि बुधः कश्चित्प्रश्नं तनोति कवित्ववा-
नहह! कतमः शब्दौघः स्यादिहोत्तरसंज्ञकः।।१६।।

त्रिदशनगरं गन्तुं मातस्तरङ्गकदम्बकै
रचयसि महासोपानौघैर्मनोहरपद्धतिम्।
धवलिततया तेषां मन्ये त्वया निहितं लस-
द्धवलिमगुणं वासो हंसैः प्रवर्धिततद्गुणम्।।१७।।

दिवि विहरतां गन्धर्वाणां प्रिया निगदन्ति तान्
दयित! धरणीमुक्ताहारं विलोकय सुन्दरम्।
अथ भुवमिता उत्कल्लोलां निरीक्ष्य तरङ्गिणीं
भगवति! नमो गङ्गे! तुभ्यं वचो ब्रुवते मुहुः।।१८।।

भगवति! भवत्पाथः पूरे निमज्जतु कोऽपि वा
त्रिदिवसुमैर्वक्षोपहारं बिभर्ति स भाग्यवान्।
अमरतरुणीलोलापाङ्गद्विरेफपरम्परा
मधु पिबति तद्वक्त्राम्भोजे चिराय सुनिश्चला।।१९।।

कलिबलभरैर्मालिन्याढ्ये कृते जगतीतले
श्रुतिनिगदिते लुप्तप्राये पवित्रसुकर्मणि।
त्वमिह सकलानेनः पङ्कात्समुद्धरसि स्वयं
भवति महतां कारुण्यार्द्रं सदैव हि मानसम्।।२०।।

तरणितनयापाथः पूरैस्तवोर्मिचयो यदा
सह मिलति सा गूढं यत्र प्रयाति सरस्वती।
सकृदपि जनस्तत्र स्नाति प्रकृष्टमसौ ध्रुवं
व्रजति परमं धाम प्राज्यप्रमोदमयं चंजं प्रभोः।।२१।।

जननि! निखिला हंसा एते विभान्ति भवद्यशः-
शकलसदृशा लोकान् सर्वानितो नु यियासवः।
इह हि भवतीं हित्वा कोऽन्यः सुरेषु वदान्यता-
प्रथितयशसा शुक्लीचक्रे दिशां वदनान्यहो।।२२।।

कथमपि शब्दै रचिता गङ्गागुणवर्णनात्मिका रचना।
खिस्तेबटुकेनेयं सहृदयचेतोविनोदाय।।२३।।

इयं गिरिविदारिणी कलुषवृन्दसंहारिणी
धरातलविहारिणी गिरिशमौलिसञ्चारिणी।
भ्रमोदयनिवारिणी शशिशतप्रभाधारिणी
ममाऽस्तु सुखकारिणी सुरधुनी जगत्तारिणी।।२४।।

अघौघविनिवारिणि प्रसृमरे भवद्वारिणि
प्रवेशविधये गृहेष्वपि निजासनं मुञ्चताम्।
नृणां परिजनान् निजान् नियमिनां निशम्योद्यमं
जडीकृतमना मनागमरनायकस्ताम्यति।।२५।।

महेश्वरजटाटवीविहरणोल्लसन्मानसे!
त्वदम्भसि तनुं निजां विजहतो विचित्राः कथाः।
स एष सुरसुन्दरीरपि विहाय पौरन्दरी-
र्हरेरपि दुरासदां निविशते दशां शाङ्करीम्।।२६।।

निराकृतिगुणोज्झितं किमपि पिण्डितं ब्रह्म यद्-
बुधैर्निगदितं जनान् सुखयितुं न तत् कल्पते।
यतो जनवदान्यया सकलमान्यया ब्रह्मणो
द्रवप्रकृतिभूतया धृतमिदं कृपार्द्रं वपुः।।२७।।

सिताऽपि हसितास्पदं भवति नीरसं क्षीरम-
प्यहो व्रजति माक्षिकं रसनसाक्षिकं तिक्तताम्।
किमन्यदधिकं स्तुवे त्रिदशवाहिनि! त्वज्जलं
निपीय मनुते सुधामपि मुधा जनो मादृशः।।२८।।

द्रवीकृतशिवाचलप्रतिभटं भवत्या वपु-
र्विलोचनपथं यदि श्रयति पुण्यभाजां क्वचित्।
व्यपैति तिमिरं दृशां विविधजन्मजातार्जितं
स्फुरत्यविरतं पुरस्त्रिभुवनैकदीपो हरिः।।२९।।

विपश्चिदतिमन्दयोर्द्विजवरेण्यचाण्डालयो-
र्धराधिपवराकयोस्त्रिदशराजमांसादयोः।
समुद्धरणकर्मणि व्यवसिता समा सर्वत-
स्तथापि करुणाविधौ त्वमसमाऽसि मातः क्षितौ।।३०।।

चलद्रुचिरहंसका परमहंससंसेविता
जडप्रकृतिधारिणी सकलजाड्यविध्वंसिनी।
पतन्त्यथ विहायसः शुभमतीन् नयन्ती दिवं
स्वतन्त्रगुणगौरवा जयति जह्नुराजात्मजा।।३१।।

◆

अम्बिका

करुणामृतरसवर्षिणि कमलोदरसोदराऽपाङ्गैः।
निजपदपूजनभाजां कृतभवभङ्गे महेशि! नः पाहि।।१।।

वृन्दारकवृन्दार्चितचरणा तनुकिरणकल्पितावरणा।
कुरुविन्दकान्तिचौरी वसतु ममान्तः सदा गौरी।।२।।

कमलासनगरलाशननलिनेक्षणविदितचारित्रे।
सरसिजसमाभिनयने नमोऽस्तु तुभ्यं जगन्मात्रे।।३।।

अभिनवपल्लवलीलापाटच्चरणपाणिपाथोजाम्।
करुणामरुणाकारां शरणीकरवाणि शर्मणे सततम्।।४।।

लीलाविलोललोचनपरिकल्पितनामरूपविस्ताराम्।
काञ्चनभासं काञ्चन चेतश्चिन्तय विहाय चञ्चलताम्।।५।।

◆

काली

या मालीकृतमुण्डमण्डिततनुर्व्यालीभिरालिङ्गिता
या तालीदलसन्निभा परिचितो यस्याः कपाली प्रियः।
या शालीकुरुते मनो मतिमतां सा लीलया नित्यया
नालीकोपमलोचना विजयते काली करालानना।।१।।

वाली येन हतः स्ववीर्यगुरुताशाली दशास्याधिकः
शैलाली गमिताऽम्बुधौ च सहसा सा सेतुपालीदशाम्।
सोऽप्यालीनमना यदङ्घ्रिकमले सा रश्मिमालीडिता
नालीकोपमलोचना विजयते काली करालानना।।२।।

जालीभूतविकल्पबद्धमनसां बालीभवन्त्यो गिरः
किं वाऽलीकपरायणाः प्रसुवते सद्भक्तिशालीहितम्।
साऽऽलीभिः परिवारिताऽमितकृपाधाराप्रणाली सतां
नालीकोपमलोचना विजयते काली करालानना।।३।।

पर्णालीनपिकावलीकलरवालीढः कवित्वक्रमो
मार्णालीव तनुर्महोदधिसुतालीलागृहं मन्दिरम्।
शालीना गृहिणी च यत्करुणया लभ्या घनालीव सा
नालीकोपमलोचना विजयते काली करालानना।।४।।

यस्या बाहुयुगं हरिः स भगवान् शम्भुर्मुखाम्भोरुहं
वक्षोजद्वितयं तुषारकिरणो मध्यं महेन्द्रात्मकम्।
वेधाः पादयुगं नितम्बगरिमा विश्वम्भरासम्भवः
सा वः कामदुघास्तु सर्वजननी दुर्गा निसर्गोज्ज्वला।।५।।

शिक्षाकल्पलतावने नवनवैर्विद्यापिशाचैर्वृता
मत्ताः सम्प्रति सञ्चरन्ति महिषीपुत्रा जगत्त्रासकाः।
तानेतान् विदलय्य सज्जनपरित्राणाय सज्जायुधा
साऽस्मान् पादनतान् धिनोतु तरसा दुर्गा निसर्गोज्ज्वला।।६।।

आदिक्षान्तसमस्तवर्णकिरणप्रद्योतिताशाम्बरां
यां ध्यात्वा रचयाञ्चकार भुवनस्तोमं विरञ्चिश्चिरम्।
मूलाद्ब्रह्मबिलावधिप्रसृमरप्रोद्दामविद्युत्समा
सा वः संहृतसम्भ्रमास्तु शुभदा दुर्गा निसर्गोज्ज्वला।।७।।

भगवतीविन्ध्यवासिनीसुप्रभातम्

भागीरथीतटसमुन्नतविन्ध्यशृङ्गे
या मण्डपे महति रत्नमये निष्ण्णा।
शक्तिः परा भगवतो नवचन्द्रमौलेः
सा सन्तनोतु नमतां भुवि सुप्रभातम्।।१।।

भक्तेप्सितानि सफलानि विधातुकामा
रूपं त्रिधा वहसि विन्ध्यगिरिप्रदेशे।
हे कालि! वाणि! कमले! कमलेक्षणे त्वं
बाधां विधूय जगतां कुरु सुप्रभातम्।।२।।

देवत्रयी तव समर्चनतः समर्था
सृष्ट्यादिकृत्यनिवहे नवहेमवर्णे!।
कर्णे कुरुष्व मधुरस्तवगीतकानि
भूयाद् भवानि भजतां भुवि सुप्रभातम्।।३।।

प्राचेतसीं दिशमियं जलपूरणाय
मन्दं प्रयाति रजनी शशिकुम्भहस्ता।
नक्षत्रमौक्तिकवितानमपि प्रलीनं
बुद्ध्यस्व देवि! जगतां कुरु सुप्रभातम्।।४।।

विन्ध्याद्रिकाननलतासु विकासभाजा-
मादाय सौरभमयं कुसुमौघहस्तः।
त्वां सेवते मधुकरैरनुगम्यमानो
मन्दानिलो विजयतां तव सुप्रभातम्।।५।।

प्रातः प्रबोधनविधौ तव सावधाना
गन्धर्वराजतनया विनयावनम्राः।
सूक्तैः सुधाधिकरसैरुपवीणयन्ति
त्वां देवि! मङ्गलदृशा कुरु सुप्रभातम्।।६।।

सामानि कर्णमधुराणि समुच्चरन्तो
ब्रह्मर्षयोऽङ्गणभुवं तव मण्डयन्ति।
सेवानिबद्धहृदयाः सकलाश्च देवाः
तान् पाहि देवि स्वदृशा कुरु सुप्रभातम्।।७।।

काश्मीरनीरमलयोद्भवसन्निभेन
बालातपेन तव पूजयितुं पदाब्जम्।
अम्भोजिनीपतिरयं दिवि सन्निधत्ते
देवि! प्रसीद सफलीकुरु सुप्रभातम्।।८।।

सम्प्रार्थिता कृतवती भवती सुराणां
संरक्षणं करुणया समये भयेभ्यः।
सम्प्रत्यनन्यशरणान् परिपालयाऽस्मान्
सौभाग्यदायिनि शिवे! कुरु सुप्रभातम्।।९।।

सानन्दमन्दहसिते! मणिमण्डपस्थे!
कामेश्वरप्रियतमे! करुणार्द्रनेत्रे!।
विन्ध्याद्रिवासिनि! विलोकय नः प्रपन्नान्
सर्वोपकारमधुरं कुरु सुप्रभातम्।।१०।।

हेमाम्भोरुहवासिनीं त्रिनयनां विद्युल्लताविभ्रमां
चक्रं शङ्खवराभयानि दधतीं चन्द्रार्धचूडाञ्चिताम्।
नानालङ्करणोज्ज्वलां सरगणैः सेव्यां मृगेन्द्रान्वितां
प्रातः प्रातरुपास्महे भगवतीं विन्ध्यालयोल्लासिनीम्।।११।।

■

विन्ध्याटवी

यस्या वसन्ति रमणीयगुहागृहेषु
योगैकदत्तमतयो यतयो महान्तः।
विन्ध्याटवी प्रवितनोतु मनोऽभिरामा
सा नित्यमङ्गलमयं तव सुप्रभातम्।।१।।

पादं यदीयमभिषिञ्चति पुण्यनीरा
तीरावतीर्णविबुधा तटिनी पवित्रा।
सेयं तपश्चरणपुण्यतरप्रदेशा
विन्ध्यस्थली वितनुतां तव सुप्रभातम्।।२।।

मुक्तामयीं स्रजमिवाऽविरतं दधाना
दुग्धाभिषेकमामिव कल्पयन्तः।
यन्निर्झराः सुखकरा जगतां जनन्याः
सा विन्ध्यभूर्वितनुतां तव सुप्रभातम्।।३।।

यस्यां नटत्यविरतं विकसत्प्रसून-
माद्यन्मिलिन्दमणिनूपुरझङ्कृताशा।
सा काऽपि नित्यतरुणी प्रकृतिर्वधूटी
सा शैलभूः कलयतात्तव सुप्रभातम्।।४।।

पद्यासु सानुषु तटीषु गुहासु यस्याः
संवित्तरङ्गितधियः कवयो रमन्ते।
वन्द्या भवन्ति सुजनैः शतशोऽभिनन्द्याः
सा विन्ध्यभूः प्रतनुतां तव सुप्रभातम्।।५।।

पादैकभागमधिकृत्य यदीयमम्बा
लम्बालका वसति कन्दरमन्दिरान्तः।
काली करालवदना मदनारिसेव्या
कुर्यादसौ वनमही तव सुप्रभातम्।।६।।

■

भैरवः

पौरन्दरीं दिशमुपेत्य जगज्जनन्या
भक्तान् भयादवति साधकवृन्दसेव्यः।
कालीसुतो बटुकभैरवनाथनामा
कामान् ददातु तनुतां स च सुप्रभातम्।।

■

रामेश्वरः

यः स्थापितो भगवता रघुनायकेन
लिङ्गात्मना पथि गयागमनप्रसङ्गे।
रामेश्वरो गिरिजया कलितार्धभागः
कुर्यादसौ तनुभृतां नवसुप्रभातम्।।

■

हनूमान्

देवेन्द्रपाशियमदिक्षु विराजमानो
मातुःपुर कनकशैलसवर्णदेहः।
भक्तार्तिभञ्जनपरः प्रभुराञ्जनेयो
तन्यात् विशुद्धमनसां भुवि सुप्रभातम्।।

■

योगीश्वरः

यो गीयते प्रथमसूक्तिषु यत्प्रसादाद्
यो गीयते जडधियां प्रथमो नरोऽपि।
योगीश्वरैः शुकमुखैः समुपासितोऽसौ
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः।।१।।

नो गीयते कतमयाऽस्य गिराऽभिधानं
रोगी यदीयकृपया विपदं धुनोति।
भोगप्रियः स सततं प्रमदानुयोगी
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः॥२॥

अन्योन्यदत्तकरतालनटज्जटाल-
योगीन्द्रवृन्दपरिवन्दितपादपद्मः ।
नृत्यन् प्रदोषसमये पुरतोऽम्बिकाया
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः॥३॥

चीर्णं तपः किमपि येन परैरसाध्यं
बाध्यं न विघ्ननिवहैर्द्युनदीतटेषु।
सर्वोपकारकरणप्रवणः स मान्यो
योगीश्वरो विजयते करुणार्द्रचेताः॥४॥

■

दाक्षायणी

मौलौ शेखरिणी शशाङ्ककलया वक्त्राम्बुजे हासिनी
ग्रीवायां मणिहारिणी हृदि लसद्वक्षोजविस्तारिणी।
मध्ये मञ्जुलमेखलावलयिनी हस्ताम्बुजेष्वस्त्रिणी
सा नः कामदुघाऽस्तु शैलशिखरे शम्भोश्चमत्कारिणी॥१॥

या हेलावशतो जघान महतो लोकप्रकोपोद्यतान्
दैतेयान् वसुधासुधाशनमहामन्त्रैः समाराधिता।
नानारूपधराऽपि याऽद्वयतनुः कारुण्यकादम्बिनी
भक्तानां शिवशैलशेखरगता सा पातु दाक्षायणी॥२॥

■

इन्दिरा

प्रतप्तकनकप्रभां तुहिनशैलकूटोन्नतै-
श्चतुर्भिरिभपुङ्गवैः कलशवारिभिः स्नापिताम्।
वराभयसरोरुहद्वयलसत्करां भास्वरा-
ऽम्बराऽऽवृतकलेवरां भज! मनः! परामिन्दिराम्॥१॥

अपारभवसागरोत्तरणविक्लवान् स्वाश्रितान्
जनान् विहितपूजनान् नयसि पूज्यभावं हठात्।
सरोरुहसमाश्रये! गुणगणानगण्यान् गुणी
प्रणीतगणितोऽपि सन् गणयितुं विभुः को भुवि॥२॥

कृतार्थितजनुर्गुरोरधिगताऽब्धिजासन्मनु-
र्दिनैः कतिपयैरथ व्रजति सिद्धिमिद्धां तु यः।
स एव धनदो भुवः सुरगुरुश्च नूत्नो भवे-
न्न किं फलति पद्मजाचरणसेवनाऽनोकहः॥३॥

समुज्ज्वलतरा लसत्कमलमालयाऽलङ्कृता
कृतार्थितभवार्दिता जलनिधिप्रमोदास्पदा।
सुराऽसुरनरोरगान् दुरितवञ्चितान् कुर्वती
मुकुन्दपदपङ्कजप्रणयिनी चिरं पातु नः॥४॥

वृथैव तपसा तनुर्व्रजति तानवं तैर्मखै-
र्वषट्कृतिसखैरलं ननु बुधाः! शृणुध्वं वचः।
प्रणम्रजनवाञ्छितं ददति मापदाम्भोरुहे
सकृत् स्तुतिवशादहो समवधीयतां मानसम्॥५॥

मुरारिनवनीरदान्तरविलासविद्युल्लतां
पयोनिधिकुलाम्बुजोत्करविकासभास्वत्कलाम्।
कलापतिकलाङ्किताऽलिकतटां जगन्मातरं
रमां हरिमनोरमां मनसि चिन्तयाम्यादरात्॥६॥

क्वणत्कनकनूपुरं विधृतकौसुमाभूषणं
समन्दहसिताधरं मलयजोपलिप्ताङ्गकम्।
अपाङ्गविलसत्कृपं किमपि मन्दिरं श्रेयसां
मुकुन्दमतिनन्दनं जयति पद्मसंस्थं महः॥७॥

पारावारसुते! सुते मयि मनाङ्माधुव्रतं विभ्रमं
बिभ्रन्निक्षिप! लोचनान्तरचरत्तारावपुर्युग्मकम्।
येनाऽहं चतुरैर्वचोविरचनैस्त्वत्पादपङ्केरुहा-
भ्यर्चायै प्रभवेयमन्यदखिलं याचे न वाचा रमे!।।८।।

■

जननि जागृहि!

अयि हिमाद्रिविभूषितमस्तके!
भुवनभाविनि! भारतमातृके।
जनमनःपरिशोधनहेतवे
जननि! जागृहि जागृहि जागृहि।।१।।

सुरगणैरपि सस्पृहमादृतो
नयविदां प्रथमः स जवाहरः।
दिवमवाप ततोऽपि वदत्यसौ
जननि! जागृहि जागृहि जागृहि।।२।।

नटति नीतिनटी कुटिलाशया
बहिरसौ बहिरङ्गबलोद्धता।
क्षपयितुं तदुपक्रमताण्डवं
जननि! जागृहि जागृहि जागृहि।।३।।

प्रतिपदं धनधान्यसमेधिता
प्रतिदिनं शरणागतरक्षिणी।
त्वमसि देवि! तथापि विपद्यसे
जननि! जागृहि जागृहि जागृहि।।४।।

तिमिरभारविजित्वरतेजसं
कलय लालबहादुरमुद्गतम्।
त्वमवलोकय लोचनपङ्कजै-
र्जननि! जागृहि जागृहि जागृहि।।५।।

जलनिधौ तव धौतपदं यश-
स्तव कथा प्रथिता हरिताङ्गणे।
किमु विषदसि देहि दृगञ्चलं
जननि! जागृहि जागृहि जागृहि।।६।।

वसति पौरुषमत्र गुणाधिकं
लसति दिव्यसतीचरिताद्धुतम्।
हसति भानुमपि प्रबलं महो
जननि! जागृहि जागृहि जागृहि।।७।।

परधनाहरणप्रवणाशयां
समुदितामिह मानवघस्मरीम्।
सपदि खण्डय चण्डि! पिशाचिकां
जननि! जागृहि जागृहि जागृहि।।८।।

अयि जगत्त्रयजित्वरविक्रमे
समदमोहमहासुरमर्दिनि।
प्रथमबोधमुदञ्चय पौरुषं
जननि! जागृहि जागृहि जागृहि।।९।।

दनुजमण्डलखण्डनपण्डिते
कलुषशोषणचण्डिममण्डिते।
प्रकटयाऽऽत्मबलं जगदुद्भटं
जननि! जागृहि जागृहि जागृहिं।।१०।।

सविनयास्तनयाः सनया गुणान्
प्रकटयन्तु जयन्तु रिपूनपि।
शिशिरयाऽऽशु दयासुधया स्वया
जननि! जागृति जागृहि जागृहि।।११।।

■

जननी

मरुन्मन्दस्पन्दाकुलितनवनीलोत्पलवनी-
रुचां सध्रीचीनैरनुदिवसपीनैः करुणया।
दृशां पातैर्नश्यद्भवदुरितजातैः प्रणमतां
विधत्तां नः सिद्धिं विधिहरिगिरीशादिजननी॥१॥

असह्यैरन्येषामपरिमितबाधाव्यतिकरै-
र्निरुद्धाऽपि स्नेहामृतमविरतं या स्वतनये।
प्रकामं वर्षन्ती कुशलशतसङ्कल्पकलनात्
प्रसन्ना सा लोके निरुपमगुणा भाति जननी॥२॥

गुरूणामाद्यानां परिगणनवेलासमुदये
श्रुतिर्मातुर्नाम प्रथमनमनीयं प्रथयते।
ततः श्रीमातेति श्रयतु रसनारङ्गमनिशं
पदं यस्यादम्बा जयति जगतामादिजननी॥३॥

विपुलं वचनं रचनं प्रमितं
हसितं लसितं भसितञ्च सितम्।
पुरतः पुरतोषकरी च कथा
बुधनीतिरियं सुयशोजननी॥४॥

कठिनश्रमलभ्यफलाधिगमे
स्वयमेव नरो यदि नोत्सहते।
जनकोपमितो जनकोऽपि कुतः
शमनी विपदामपि नो जननी॥५॥

नवरागकरम्बितकान्तिभरै-
र्मणिनूपुरशिञ्जितमञ्जुतरैः।
चरणक्रमणैः कवितातरुणी
मनसि प्रमदस्य न किं जननी?॥६॥

नवकोकिलकूजितकल्पगिरः
परितः सुहृदो रससिन्धुकिरः।
यदि सन्ति दशा त्रिदशाधिपते-
रधिका मम काऽपि मुदां जननी।।७।।

■

जयत्यसौ वसुन्धरा

तुषारशैलशेखरप्रभालसद्दिगन्तरा
स्रवत्तरङ्गिणीगणप्रसारहारभासुरा।
ललाटकुङ्कुमायितोदयानुरक्तभास्करा
पवित्रसामसस्वरा जयत्यसौ वसुन्धरा।।१।।

यदीयभूरिसाहसप्रबन्धबन्धुरो गिरां
प्रवाह एष सत्वरं दिगन्तराणि गाहते।
स्वदेशरक्षणक्षणप्रदत्तपूतजीवनान्
स्मरामि तान् नरोत्तमानुपात्तलोकवन्दनान्।।२।।

यदीयमञ्जुमृत्तिकाकणेषु जृम्भते चिरात्
प्रतापसिंहपौरुषं शिवाजिराजकौशलम्।
जगत्त्रयीविजित्वरी समस्तशत्रुघस्मरी
यदीयगौरवच्छटा जयत्यसौ वसुन्धरा।।३।।

विलोलवल्लरीमिलन्मिलिन्दवृन्दगीतयो
ध्वनन्ति कालिदासचारुसूक्तयो यदन्तरे।
रवीन्द्रवेणुनिक्वणा यदङ्घ्रिनूपुरस्वना
लसद्रसार्द्रमानसा जयत्यसौ वसुन्धरा।।४।।

विनिस्सरत्ययं ध्वनिर्हिमालयस्य कन्दरात्
जवाहरस्य मत्तवैरिकुञ्जरच्छिदो हरेः।
न हीयतां प्रवीरताऽपचीयतां न धीरता
न भारतीयता कदापि कापथेषु नीयताम्।।५।।

असीमभीमविक्रमक्रमा लसन्ति वाहिनी-
धुरन्धराः पुरस्सरा भुशुण्डिकोल्लसत्कराः।
यदीयतुङ्गहुङ्कृतिप्रहारशीर्णविग्रहाः
पतन्ति शत्रुपर्वता जयत्यसौ वसुन्धरा।।६।।

घनान्तरालचारिणी तडिल्लता यथाऽम्बरे
तथाऽस्ति शक्तिरत्र काऽपि भारते नरे नरे।
भयान्धकारहारिणी विपक्षलक्षदारिणी
जनप्रमोदकारिणी जयत्यसौ वसुन्धरा।।७।।

अशेषदेशनायकप्रशस्तिपुष्पशालिनी-
ममन्दबुद्धिकल्पनाप्रदीप्तरत्नमालिनीम्।
समुच्छलद्दयारसप्रसन्नपङ्कजेक्षणां
विशालसागराम्बरां नमामि तां वसुन्धराम्।।८।।

◆

वसुन्धरा

उदित्वरस्फारतरङ्गसङ्गर-
प्रणादभीमे पतिता पयोनिधौ।
वराहदन्ताञ्चलमञ्चशायिनी
चिराय जीयाज्जननी वसुन्धरा।।१।।

समुज्ज्वलं यस्य चरित्रचन्द्रिका-
मयूखलेखाभिरुदञ्चितं कुलम्।
तमेव मौलिस्थलफुल्लमल्लिका-
प्रसूनतां प्रापयते वसुन्धरा।।२।।

तृणीकृतस्त्रैणमपास्तकाञ्चन-
प्रलोभनं शोभनशुद्धभाषणम्।
इयं प्रसूते पुरुषं पुरातनं
नराऽऽकृतिं देवनुता वसुन्धरा।।३।।

◆

वसुधा

विश्वारम्भणकौतुकी स्वमहिमप्रेक्षानुरक्ताशयो
देवः कोऽप्युररीकरोति मनुजाकारं यदीयाङ्गणे।
विद्वद्वीर-समिद्ध-सिद्ध-निवहध्येया श्रुतीनां गणै-
र्गेयाऽस्मद्वसुधा सुधाशननुता देयादमन्दां मतिम्।।१।।

नाऽऽयाताः कति नामसागरसरिद्दुर्लङ्घ्यशैलाध्वना
दर्पान्धाः शकहूणबर्बरमुखाः संख्यातिगा दस्यवः।
मातर्भारतभूतधात्रि! भवती धन्या यदन्यायतो
मत्तानामिह धूलिलीनवपुषां तेषां न शेषः क्वचित्।।२।।

लब्धुं ज्ञानकणान् सुधासमधिकान् लोकोत्तरार्थाञ्चितान्
क्लेशान् मार्गभवानपास्य सहसा श्रद्धानुविद्धान्तराः।
धावं धावमुपाययुर्भरतभूविद्वत्पदाम्भोरुह-
द्वन्द्वाराधनसाधितेप्सितगुणोत्कर्षाः पुरा यात्रिणः।।३।।

तेष्वेव प्रथमानसद्गुणगणश्चीनावनीतश्चलन्
प्राप्तो भारतभव्यभूमिमसमां पुण्यैर्निपेयां दृशा।
प्रादुर्भूततथागताद्भुतकथासारं स्वदेशं नयन्
अस्तौषीदितिहासलेखनचणः श्रीह्वेनसाङ्गः सुधीः।।४।।

इत्थं तत्तदशेषदेशगुरुता मूर्ध्नि प्रतिष्ठापिता
यस्याः साऽद्य निरुद्ध्यते वसुमती शिष्यैः स्वकैरेव चेत्।
नाऽऽश्चर्यं स्वहितेऽपि शून्यमनसां तृष्णापिशाचीहृत-
स्वान्तानां स्थितिरीदृशी गुरुकराघातैकशोध्याऽधुना।।५।।

यावन्ति स्वपदानि शङ्करगिरौ न्यस्तान्यमूनि ज्वल-
न्मिथ्याहङ्कृतितुङ्ग! पिङ्गलरुचे! वाचं ममाकर्णयेः।
तावन्ति ग्रथितानि घोरविपदां सूत्राणि नैजस्थिति-
व्युच्छेदाय गिरीशभैरवगणक्रीडास्थलानि त्वया।।६।।

उच्छिन्नाखिलतापसान्निजमठान्निर्माय शस्त्रावली-
व्यालीढान् विरचय्य साधुजनतां सन्ताप्य यन्निर्दयम्।
योद्धुं कामयसे मलीमसमते! नूनं त्वदीयं यशः
सान्द्रध्वान्तसहोदरं चिरतरं दिग्भित्तिषु स्थास्यति।।७।।

संख्यामात्रपरिग्रहेण महता सेनासु किं माद्यसि
प्रागल्भ्यं परमाणुजास्त्रकलने कर्तुं किमुत्ताम्यसि।
सङ्घीभूतसमस्तलोकपरिषत्तेजोमयी चण्डिका
मानध्वंसनशंसनाय गगनाभोगे समुज्जृम्भते।।८।।

दृप्यद्दानवदुर्विचाररचनामाया यथेच्छं जग-
न्मञ्चे सञ्चिनुतात् चराचरपरीतापज्वरोपक्रमम्।
शक्तः पङ्कजलोचनः समयितुं तौ नूतनौ दानवौ
प्राचीनौ मधुकैटभाविव पुनर्मायापहारी हरिः।।९।।

मातर्भारति! भारतीयवदनाम्भोजस्थिते! त्वामहं
याचे किञ्चन चिन्मयं तव महश्चित्ते निधत्तां पदम्।
शुद्धिर्बुद्धिषु सिद्धिरस्तु महतां देशो विशेषोन्नतो
भूयाद्ध्वस्तरिपुश्च मङ्गलमयी शान्तिः समुन्मीलतु।।१०।।

◆

धन्या धरित्री मम

अम्भोधौ गमिताऽपि कन्दुकदशां कल्पान्तवाताहतैः
कल्लोलैः कवलीकृताऽपि सहसा दिङ्मूलकूलङ्कषैः।
प्रादुर्भूय महावराहवपुषा देवेन दन्ताञ्चले
प्रोन्नीता जगतां हिताय जननी धन्या धरित्री मम।।१।।

यत्र प्रादुरभूत्पुरा परिणतप्रज्ञावतामन्तरे
ज्योतिः किञ्चन वेदवाङ्मयमयं शङ्काकलङ्कापहम्।
विद्या यज्जनिताः कलाश्च सकला यां मण्डयन्त्यन्वहं
सा विश्वाधिकवैदुषीनुतपदा धन्या धरित्री मम।।२।।

यो नैव द्विरभाषत क्षितितले चापे द्वितीयं शरं
नाऽऽधत्ते स्म हृदाऽपि यस्य दयिता जाता द्वितीया क्वचित्।
मर्यादापरिपालने न सदृशो यस्य द्वितीयः पुमान्
तस्य श्रीरघुनन्दनस्य जननी धन्या धरित्री मम।।३।।

बन्धान्मोचयितुं निजां वसुमतीं सन्धां विधाय व्यधाद्
यो दुर्धर्षरिपुव्रजेऽधिसमरं शार्दूलविक्रीडितम्।
चीर्णं येन मुनिव्रतं स तनयः प्राप्तः प्रतापो यया
सा वीरप्रसवार्चिताङ्घ्रियुगला धन्या धरित्री मम।।४।।

मह्यां दुर्मतिराहुणा मलिनिते स्वातन्त्र्यसूर्योदये
सह्या यस्य न गौरवक्षतिरभूदार्यावनीरक्षणे।
तेजस्वी स शिवाजिरित्युदयभाक् सह्याद्रिसिंहाग्रणी-
र्यस्याः सा करवाललालितकरा धन्या धरित्री मम।।५।।

पाथोधिं प्रविलङ्घ्य भारतधरामाक्रम्य तद्वैभवं
भुञ्जानानवलोक्य ताम्रवदनान् कूटक्रमाग्रेसरान्।
वाचा यः शिथिलीचकार तिलको ज्वालाकरालत्विषा
यस्याः सा नृपनीतिरीतिमहिता धन्या धरित्री मम।।६।।

यस्योन्मेषविशेषशीलनवशाद्देशाद् बहिः संस्थितै-
रप्यारम्भि भुशुण्डिकासहचरैराजादसेनाध्वनिः।
स स्वच्छन्दपराक्रमो विरुरुचे यस्याः सुभाषः सुतः
सा विद्युद्वलयप्रसाधितवपुर्धन्या धरित्री मम।।७।।

शस्त्रास्त्रेषु गतस्पृहो मतिमतामेकोऽप्यनेकाधिको
यः सत्याग्रहधारयाः प्रखरय चिच्छेद बन्धं भुवः।
यस्याः कोऽप्यतिमानवः समजनि श्लाघ्यः सतां मोहनः
सा सर्वाधिकसत्त्वसौरभमयी धन्या धरित्री मम।।८।।

नानाद्वीपसमागताऽमितधरानाथप्रशस्तक्रमां
नीतिं यः प्रबबन्ध सूत्रनिवहैराशान्तसञ्चारिणीम्।
सञ्जातः स जवाहरो हरगिरिप्रोत्तुङ्गशृङ्गोपमो
यस्या मानविवर्धनश्चिरमसौ धन्या धरित्री मम।।९।।

भाषाभिर्विविधाभिरुद्गतरसस्यन्दैः प्रबन्धैश्चिरात्
सिञ्चन्ती हृदयानि तत्त्वविदुषां सौहार्दबद्धादरा।
विज्ञानोन्नमनप्रियाऽप्युपनिषत्सिद्धान्तशुद्धान्तरा
सा कल्पद्रुमवल्लरीव भजतां धन्या धरित्री मम।।१०।।

यत्र स्वादुजला वहन्ति सरितो धान्यानि सूते धरा
पर्याप्तानि फलप्रदा विटपिनो कूजन्ति मञ्जु द्विजाः।
लोकातिथ्यपरा नरा युवतयः सौन्दर्यशीलोज्ज्वलाः
सा स्वर्गादतिरिच्यते न किमहो धन्या धरित्री मम।।११।।

◆

मातृभूमि

सर्गस्थितिप्रलयकेलितरङ्गितस्य
बीजात्मिकेव सकलस्य चराचरस्य।
भूषाहिरत्नकिरणारुणिता विधत्तां
शम्भोः शशाङ्ककलिका कलिकालभङ्गम्।।१।।

वाग्देवताविहरणैकनिकेतनेऽस्मिन्
विद्यालताकुसुमसौरभपूरिताशे।
स्वातन्त्र्यशालिगणतन्त्रशुभावतार-
स्फारद्युतौ सुसदने शुभमस्तु सद्यः।।२।।

काश्मीरद्युतिरञ्जितालिकतटा वक्षःस्थलान्दोलित-
स्वर्वाहिन्यमलोदकोर्मिविकसन्मुक्तालतालङ्कृता।
पादाम्भोजलुठत्पयोनिधिकरव्याकीर्णरत्नार्चिता
विश्वस्मिन् जयिनी शिवप्रणयिनी भूदेवता दीव्यतु।।३।।

चन्द्रोपेन्द्रमहेन्द्रकेलिसदने व्याख्यायते यत्सुखं
विज्ञानाद्भुतशालि यद्विलसितं प्रत्यन्तदेशान्तरे।
सस्यश्यामलिते निसर्गललिते तद्भारते भ्राम्यतः
सानन्दं सुरवाङ्मयं रसयतश्चित्ते न धत्ते पदम्।।४।।

सूत्रे यत्र धरा न रत्नकनकस्तोमं परं प्रातिभं
ज्योतिः किञ्चिदचञ्चलं बुधजनस्वान्तान्धकारापहम्।
कुम्भाद्याकृतिधारिणी सुरभिला कृत्स्नाऽपि यन्मृत्तिका
ब्रह्मैवेति महर्षयोऽभिजगदुर्भूमातरं तां भजे।।५।।

विद्वद्वरेण्यतिलका कृतमोहनाशा
नित्योन्नतिस्थिरजवाहरशैलकीर्तिः।
राजत्सुभाषणरसा सुतवल्लभाऽस्मान्
सा भारती वसुमती सुमतीन् करोतु।।६।।

■

तद्भारतं भारतम्

गङ्गा-सिन्धु-कलिन्दजा सहचरी गोदावरी यत्र सा
कावेरी तनुतेतरां सुमनसां कृष्णाऽपि तृष्णाक्षयम्।
यद्भूमौ विकसन्ति सौरभभृतः काला वसन्तादयः
सन्तोषाय सतां सहोदरतया तद्भारतं भारतम्।।१।।

वाणी वेदमयी चराचरगुरोर्निःश्वासनिस्यन्दिनी
भाषाः सर्वदिशासु कर्णमधुराः सूते स्वसन्तानवत्।
विश्वेषां हितचिन्तनं दृढतरं धर्मस्य मूलं मतं
सर्वेषामपि मङ्गलैकसदनं तद् भारतं भारतम्।।२।।

यत्राकारधरोऽथवा विगलिताकारोऽस्ति विश्वेश्वरः
सम्मान्योऽस्ति समस्तलोककरुणापीयूषवर्षः प्रभुः।
यस्यैव प्रतिबिम्बतां विदधते सञ्चारिणो मानवा
यत्रेयं प्रथिता विचारसरणिस्तद् भारतं भारतम्।।३।।

■

भारतभाग्यलक्ष्मीः

मन्वादिदर्शितदिशा विदुषां समाजाद्
यावद्विनिःसरति निर्मलनीतिरीतिः।
शङ्काकलङ्करहिता महिता समन्तात्
तावत् स्थिरा भवति भारतभाग्यलक्ष्मीः॥१॥

वाताहतैः परिवृतापि महातरङ्गै-
रम्भोनिधौ गिरिवरेण विघूर्णिताऽपि।
भेजे प्रसन्नपुरुषोत्तमसाहचर्यात्
चर्यां स्थिरां सपदि भारतभाग्यलक्ष्मीः॥२॥

दानोल्लसत्करतलाः सचिवद्विपेन्द्रा
यस्याः पुरः सविनयं नमयन्ति मौलिम्।
सा काऽपि सम्प्रति खगेन्द्रशतैरुपास्या
शस्या न कस्य भुवि भारतभाग्यलक्ष्मीः॥३॥

चापल्यमाप विलयं विमदो मदोऽभूद्
द्वेषः शशाम समता ममतां विधत्ते।
वाग्देवतासहचरी विजरीहरीति
श्रेयस्करी यदिह भारतभाग्यलक्ष्मीः॥४॥

◆

भूरियं भूरिभाग्या

प्रसरदसमकीर्तिज्योत्स्नया यस्य धौता
त्रिभुवननमितेयं भाति यस्य प्रभावात्।
स जयति तनयोऽस्याः कालिदासः कवीन्द्रो
जयति भुवनभूषा भूरियं भूरिभाग्या॥१॥

तुहिनकणनिपातम्लानपद्मोपमेयं
विबुधवर! मुखं ते मानसं दन्दहीति।
शुभयुगरविरुच्चैरेति मा गा विषादं
ननु कलय धरायां भूरियं भूरिभाग्या॥२॥

राकाज्योत्स्नावदातं प्रवहति सलिलं पावनं कुत्र गाङ्गं
रामः कुत्राऽभिरामः समजनि जगतीभालसिन्दूरबिन्दुः।
पीयूषोद्गारिवाचः क्व नु खलु कवयो नन्दनं मन्दयन्त-
स्तन्मन्ये सर्वमान्या भरतनरपतेर्भूरियं भूमिभाग्या।।३।।

◆

जयति भारती भूरियम्

समस्तवरसम्पदां प्रसवभूमिरर्घातिग-
प्रभूतमणिहारिणी हिमकिरीटविद्योतिनी।
श्रुतिस्मृतिमहामणिस्फुरितदिव्यताटङ्किनी
मुखायितमृगाङ्किनी जयति भारती भूरियम्।।१।।

अमन्दकविकल्पनारुचिरकल्पवल्लीभव-
प्रबन्धकुसुमावलीकलितकान्तकण्ठस्थली।
यशोंऽशुधवलीभवद्भुवनकालिदासप्रसू-
रसूचितशिवेतरा जयति भारती भूरियम्।।२।।

मदान्धबलसंयुताऽऽगतशकेन्द्रमुख्याऽहित-
प्रमत्तगजगण्डयोर्निशितभल्लदण्डोपमा।
स्वसंस्कृतिसमुन्नतिक्षणविचक्षणा सन्ततं
नतञ्च मनुते सुतं जयति भारती भूरियम्।।३।।

कृषीबलकुलाहितश्रमसमृद्धकेदारभू-
प्रवृद्धकलमाञ्चिता ललिततोयकुल्यावलिः।
हरिन्मणिगणार्चिता किमु नवीनकौशेयभृत्
जनप्रमदवृद्धिकृद् जयति भारती भूरियम्।।४।।

◆

प्रबोधनम्

दिगन्तरनिरन्तरप्रसृमरान्धकारच्छटा-
मतङ्गजघटाकटस्थलविभेदकौतूहली।
जगद्विदितविक्रमः कनकपुञ्जपिङ्गप्रभः
प्रभाकरमृगाधिपो गगनकाननं गाहते।।१।।

पतन्तु शिरसि क्षणाद् विततवह्निपिण्डोच्चया
नदन्तु शतशोऽथवा करभुशुण्डिका मण्डलैः।
वियद्वलयमस्तु वा विकटविद्युदुद्योतितं
स्वदेशतनयः पदात्पदमनाकुलं न्यस्यति।।२।।

मदं व्रजथ! रे! वृथा विपिनलीनतापीनता-
हताः! सुमतिहीनताकवलिता! जनद्रोहिणः।
मता जगति चीनता यदि भजेत्समीचीनतां
न चेद्भवविलोचनानलविलीनता शिष्यते।।३।।

सभासु परिभासुराक्षरविलेखनाडम्बरैः
सदस्यमुखतर्पणैः क्षणमभीष्टलाभोऽस्तु वः।
इयं कपटनाटकाभिनयनैपुणी सत्वरं
रणाङ्गणठणत्क्रियाविदलिता लयं यास्यति।।४।।

चतुर्दशसमाः समाशयतया वनान्याश्रयन्
निशाचरनिपीडनान्यसहत स्थिरो राघवः।
तथाऽपि रणचण्डिकावदनकुण्डवैश्वानरे
जुहाव दशकन्धरो वपुरियं कथा स्मर्यताम्।।५।।

वृका विपिनगह्वरे पिशितखण्डतृष्णाजुष-
श्चरन्तु परितो मृगान् विकलयन्तु दन्तांशुभिः।
महीध्रकटकस्थलीपरिणते करीन्द्रे क्रमं
विधातुमयमुत्थितो वनविकम्पनः केसरी।।६।।

कृतं कुमुदकौमुदीकचकलामहेलास्तवैः
शृणुध्वमधुनोद्धतं प्रधनवाद्यधीरध्वनिम्।
हिमालय इहाऽऽह्वयत्यविरतं प्रचण्डोच्छल-
त्तरङ्गभुजमण्डलैर्जलनिधिर्नरीनृत्यते।।७।।

अये! नयविकल्पनाकुटिल! हीन! पीन! क्षणं
विचारय रयात्कृतं परिणमेन्न ते भूतये।
महाप्रलयताण्डवप्रणयिनः प्रयासि द्रुतं
शिरोऽधिपरिलम्बिताद्भुतकपालमालान्तरम्।।८।।

जगत्रयपवित्रतापरिणतिर्धरा भारती
सुरासुरनरार्चिता सकलकामधेनूयते।
इयं मनुजजीवनं क्षरदमन्ददुग्धामृतै-
रिरक्षिषति बन्धुतारुचिरमन्दिरस्थायिनी।।९।।

◆

संलापः

मङ्गलफलभरनमिता हृदयङ्गमिता महेश्वरेणाऽपि।
भ्रमरहिता दिव्यलता कविवरविदिता चिरञ्जयति।।१।।

परिम्लानप्राये सदसि सुरवाणीविलसित-
प्ररोहे दिङ्मोहे तिरयति सतामुद्यमपथम्।
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालस्नपितभुवना काऽप्यभिनवा
कला शम्भोश्चान्द्री कुशलकुमुदं कन्दलयतु।।२।।

मिथः स्पर्धाबन्धप्रचुरनवदुर्नीतिघटना-
नटत्क्लेशाकेशिप्रधनपरिणद्धा यदि धियः।
कथं वा भूमातुः समुदयविधातुः सुकृतिनः
फलोत्कर्षाऽऽशंसा पदमपि निधत्तां क्षितितले।।३।।

इयं पुण्या भूमिः स्रवदमलतोयाभिरभितः
सरिद्भिः संसिक्ता निरवधिकधान्यैकजननी।
स्वदेशीयानन्यानपि च परिपुष्णाति दयया
कुपुत्रे जातेऽपि क्वचिदपि कुमाता न भवति।।४।।

पुरो वा पश्चाद्वा गमयतु मनः कोऽपि तरसा
रसायामेतस्यां तुहिनशिखरादम्बुधितटम्।
कवीन्द्रैरुन्नीतं चरितमवदातं रघुपते-
र्मिलत्कर्णाभ्यर्णं भवति भवनिर्णेजनजलम्।।५।।

धरापुत्राः! कोऽयं किरणनिकुरम्बैर्दिनकरे
प्रदीप्तेऽपि स्वैरं नयनपुटनिद्रापरिकरः।
विधूयाऽन्तर्ध्वान्तं सपदि समवेता भरतभू-
सुरक्षादक्षत्वं विशदयत शौण्डीर्यचरितैः।।६।।

प्रसन्ना गैर्वाणी प्रणवरवतेजःप्रसृमर-
प्रभावा भावानामधिहृदयमुद्बोधजननी।
दिशन्ती विश्वस्मिन्नयविनयसञ्चारसरणिं
तमिस्रं भिन्दाना भवतु जयगानाय भवताम्।।७।।

समुद्धूता धूलिः स्मरति ननु पानीपतभुवां
प्रतिज्ञावीराणां तृणमिव शरीराणि जहताम्।
न लुप्ता सा कालावरणपरिवीताऽपि सुचिराद्
निशाकान्तस्यान्तर्निवसति घनश्यामवपुषा।।८।।

प्रतापः स्वौजःश्रीशमितपरतापः स्मृतिपथं
समारूढो बाजी स च यदि शिवाजी नरहरिः।
निरस्यन्नालस्यं भरतवसुधायास्त्रिभुवनी-
नमस्यं तद्रूपं पुनरपि विधास्यत्यविचलम्।।९।।

निपीय प्रत्यन्तागतजनवितीर्णां मधुमुखीं
गिरां हालां कालानलसहचरीं लुण्ठितधियाम्।
कवीन्द्राणामेषा परिषदमृतस्यन्दनिपुणै-
र्झणत्कारैस्तारैर्विजयगरिमाणं गुणयतु।।१०।।

■

महालक्ष्मीः

उत्फुल्लाम्भोरुहस्था द्रुतकनकनिभैरङ्गकैर्भासमाना
शुभ्राभ्यां दिग्गजाभ्यां करधृतकलशाम्भोभिरासिच्यमाना।
हस्तैरम्भोजयुग्मं वरमभयमपि श्रेयसे सन्दधाना
पद्मा पद्मायताक्षी प्रणतजनमनोहर्षवर्षाय भूयात्।।१।।

सानन्दमन्दहसिता कनकावदाता
सिक्ता घटाम्बुभिरमन्दमतङ्गजाभ्याम्।
सौभाग्यसम्पदभिवृद्धिकरी नताना-
मास्तां चिराय कमला कमलायताक्षी।।२।।

तडित्पीता पीताम्बरहृदयनीता सुरवधू-
समाजैरुद्गीता शरदुदितशीतांशुवदना।
सुधावृष्ट्या दृष्ट्या प्रणतजनवाञ्छाधिकफलं
वितन्वाना धन्या सलिलनिधिकन्या विजयते।।३।।

■

वाणी

दिक्सुन्दरीणां वदनाम्बुजालीं
काश्मीरनीरैरुपरञ्जयन्ती।
सहस्रभानोः प्रथमावतीर्णा
प्रभेव वाणी जयतात् पुराणी।।१।।

यस्याः प्रसादाच्चतुराननः सन्
बिभर्ति वेदान् वदनेषु वेधाः।
मेधागुणं वः परिवर्धयन्ती
सा वाग्विधत्तां चतुराननत्वम्।।२।।

वौषट्-वषट्कारपरायणाऽपि
धूमाभिताम्राननपङ्कजाऽपि।
मातेव विश्वस्य हितं दिशन्ती
सा वैदिकी वाग्भवतः पुनातु॥३॥

समाधिसन्धानपरायणाना-
माविर्भवन्ती दहरान्तराले।
छन्दोभिरान्दोलितपादपद्मा
पद्मासना काऽपि धियं धिनोतु॥४॥

या सोमहोमैरथ वाजपेयै-
र्मखैरसंख्यैर्भुवनं पुनाना।
नादात्मनाऽऽपूरितसर्वलोका
जागर्ति साऽद्यापि निरस्तशोका॥५॥

समाः सहस्त्रं तपसि प्रसक्ता
महर्शयो यच्चरणानुरक्ताः।
रहस्यजातान्यखिलान्यविदन्दन्
सा मान्द्यमस्माकमपाकरोतु॥६॥

निरस्तशङ्का निहतान्तराया
निरीतयो निर्गतदुःखपङ्का।
यया भवेमाऽधिगतार्थकामाः
सामात्मिका सा स्वयमाविरस्तु॥७॥

प्रसन्नवर्णा वदनारविन्दात्
प्रवाहयन्ती मधु कर्णपेयम्।
वल्मीकजन्मानमुपेयुषी सा
रामायणी रञ्जयते जगन्ति॥८॥

कृष्णाश्रयाऽप्युद्गतपाण्डुवंशा
लसत्प्रशंसा वचसां प्रवृत्तिः।
भीष्मार्थसाराऽपि रसैरुदारा
वैयासिकी कस्य न विस्मयाय॥९॥

आसादितख्यातिभरा बुधेषु
भासादयो यां पुपुषुः प्रबन्धैः।
सा नाट्यरङ्गे विहितावतारा
हारायते हन्त हरिद्वधूनाम्॥१०॥

माद्यन्मिलिन्दावलिलाल्यमाना
धम्मिल्लमल्लीव सुराङ्गनायाः।
मनांसि सम्मोहयितुं प्रवीणा
गुरोः कवीनां भणितिर्विभाति॥११॥

समुच्छलन्तीव तरङ्गभङ्गैः
सा शोणगङ्गासलिलानुषङ्गात्।
बाणस्य वाणी कविताकृपाणी
धुरन्धरस्याऽपि मदं भिनत्ति॥१२॥

प्रत्यग्रशब्दस्फुरदर्थसार्थ-
चमत्क्रियोदञ्चितचातुरीका।
का वा परा दण्डिकवीश्वरस्य
तुलां समारोहति बन्धरीतिः॥१३॥

तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रो
व्यधायि धीरोऽपि स रामचन्द्रः।
यया समन्तात् करुणां किरन्त्या
सा वाग्विभूतिर्भवभूतिरेव॥१४॥

वैदर्भमार्गादुदितापि यस्य
काश्मीरजा सत्कविताकुमारी।
चालुक्यराजं वरयाञ्चकार
स बिल्हणः श्लाघ्यतमः कवीनाम्॥१५॥

चिन्तामणेश्चिन्तनतो यदन्त-
र्लुठन्ति वैदुष्यकवित्वलीलाः।
धीलालितोऽसौ तनुते प्रहर्षं
श्रीहर्षसूरिर्विबुधोत्तमानाम्॥१६॥

चन्द्रावदाता चतुरोपसेव्या
नृत्यत्पदा चञ्चललोचनेव।
न कस्य चेंतश्चुलुकीकरोति
क्षणं श्रुता पण्डितराजवाणी॥१७॥

आसिन्धुतीराद्गिरिराजमौलिं
मुहुर्व्रजन्ती मधुरं क्वणन्ती।
पूर्वापरौ तोयनिधी स्पृशन्ती
विद्याधरी भाति सरस्वती नः॥१८॥

संख्यावतामग्रसरैरसंख्यै-
र्नीराज्यमानाऽभिनवैः प्रबन्धैः।
बाधास्वथाऽऽधाय शरप्रहारान्
प्राज्यं स्वसाम्राज्यमियं दधातु॥१९॥

कुसारकल्याणपरायणेयं
प्रमोदिताशेषगणाधिनाथा।
शिवैकरूपा गिरिनन्दिनीव
वाणी पुराणी श्रियमातनोतु॥२०॥

■

ऋतुतरङ्गाः

वसन्तविभावरी

उन्निद्रचन्द्रवदना मदनाभितप्ता
शप्ता निलिम्पललनेव भुवं प्रपन्ना।
दुर्दैवतो दयितसङ्गमभङ्गदूना
निःश्वासलुब्धमधुपा मधुयामिनीयम्।।१।।

स्फारानुतापरभसेन विकीर्य तारा-
हारान् वियन्मरकताङ्गणवेदिकायाम्।
ज्योत्स्नावदातवसना श्वसनाऽनुयाता
या ताम्यदम्बुजमुखी सुमुखी विभाति।।२।।

अत्राऽप्यसौ मलयभूधरचन्दनाली-
व्यालीकरालकरलोत्कटवैभवेन।
स्पृष्टा वनाऽवनिचरेण समीरणेन
ग्लानिं प्रयाति नलिनीव करीन्द्ररुग्णा।।३।।

ईषद्विकस्वरमुखं कुमुदं स्पृशन्ती
नीलोत्पलं निजकपोलमुपानयन्ती।
सम्फुल्लपाटलिदलानि परामृशन्ती
धत्ते धृतिं न मधुमासमनस्विनीयम्।।४।।

उत्सङ्गसङ्गतमनोज्ञमिलिन्दवीणा-
क्वाणैः क्षणान् गमयितुं कतिचित् प्रवृत्ता।
दूना पिकालिरुतरीतिवियोगगीति-
व्याहारतोऽपि रमते न वनस्थलीषु।।५।।

एनां वियोगदहनाऽसहनां समुद्य-
त्सौन्दर्यसारसमवायनिषेव्यमाणाम्।
आलोक्य कम्पविगलत्कुसुमाश्रुधारा-
मारादिमा वनलताः सहसोत्सृजन्ति।।६।।

कह्लारचारुमकरन्दकरम्बिताङ्गी-
मालिङ्गितुं नवसखीमिव सम्मुखीना।
वापीं न याति बहुकण्टकलब्धविघ्ना
निघ्नाऽतिदुर्वहरतीशशरज्वरस्य।।७।।

पुष्पासवं परिनिपीय विलोलवल्ली-
दोलासु खेलनकलाकुशला विलोक्य।
रोलम्बवृन्दललनाः कलनादशीलाः
कोलाहतेव हृदि मोहमियं बिभर्ति।।८।।

को वा प्रियस्तव मनस्विनि! कुत्र देशे
किं वाऽप्रियं विहितमत्र च कोऽभ्युपायः।
किञ्चित् प्रपञ्चय वचः परिषिञ्च सद्यः
पीयूषसागरतरङ्गपरम्पराभिः ।।९।।

नो किञ्चदाह भजते न च मौनमुद्रां
वेणुस्वनेन विरहार्तिमुदीरयन्ती।
नूनं व्यथाऽतिशयलम्बितवक्त्रचन्द्रा
मन्दं प्रयाति मधुमासविलासिनीयम्।।१०।।

◆

चर्चाचन्दनकल्पिता न भसितं देहे ललाटाजिरे
कर्पूराऽमलखण्डमण्डनमिदं नेन्दोः कला राजते।
शीतं वारि जटाकटाहनिहितं गङ्गेति मिथ्या कथा
यनैवं विहिता गतिः स्मररिपोः पायाद् वसन्तः स वः।।११।।

नित्योदित्वरतेजसो दिनमणेर्मन्दप्रभावा क्वचिद्
यातुं सम्प्रति चेष्टते प्रतिदिनं हीना हिमानी शनैः।
व्याधूयाऽऽवरणं तुषारकिरणश्चञ्चत्करः प्राप्तवान्
कान्तोदन्तमिलत्प्रसादरमणीवक्त्रारविन्दश्रियम्।।१२।।

उत्फुल्लस्थलपद्मिनीपरिचितो माद्यन्मधूकान्वितः
स्वैरोद्यन्नवकाञ्चनारकलितः प्रोद्यत्पलाशाञ्चितः।
रक्ताशोककरम्बितः सरसिजश्रेणीप्रमाणीकृतः
साम्राज्यैकधुरन्धरो रतिपतेर्मन्त्री मधुर्जृम्भते।।१३।।

कासारेषु हिमीभवज्जलगलद्गात्रेषु मन्त्राक्षरं
ध्यायन्तीव निषेदुषी यदतनोत्तीव्रं तपः पद्मिनी।
तत्पुण्यादिव पाणिना भगवता नारायणेनाऽऽदरात्
स्पृष्टाऽऽमोदमिलन्मिलिन्दमधुरव्याहारिणी दृश्यते।।१४।।

उन्मीलन्मकरन्दतुन्दिलतरे माकन्दवृन्दे चिरं
स्निह्यन्ती मधुपावलिः कलयते यद्गुञ्जितोपक्रमम्।
तन्मन्ये हरभालनेत्रदहनज्वालापतङ्गायितं
भूयो जीवयितुं रतेः सहचरं सा जञ्जपूकायते।।१५।।

कालेऽस्मिन् विकसत्प्रसूननिवहप्रस्यन्दिमाध्वीरसा-
ऽऽस्वादालोलषडङ्घ्रिगीतविवशस्वान्ते नितान्तं जने।
प्रेयस्या वदनेन्दुवीक्षणसुखैर्हीनोऽध्वनीनो दिने-
ऽप्यामीलन्नयनोऽनुविन्दति कुहूवाचं यथार्थाक्षराम्।।१६।।

स्वाङ्गेषु प्रविलिप्य चन्दनरसं रेणूत्करैः कौसुमैः
आबध्नन् पटवाससौरभरुचिं सङ्गीतभङ्गीगुरुः।
मन्दं मन्दमुदञ्चयन् पदमसौ क्रीडावने सञ्चर-
त्येको वञ्चयितुं लताः कुसुमिता बन्धुर्मनोजन्मनः।।१७।।

चेतश्चुम्बिनवीनवेणुरणितव्यामुग्धनारीशत-
स्वान्तप्रान्ततरङ्गितस्मरकलाकौतूहलोपक्रमः।
पुष्पाढ्यां वनमालिकां तरलयन् हल्लीसकक्रीडितै-
र्मल्लीपुष्पशुचिस्मितो मधुरयं कृष्णोपमां गाहते।।१८।।

वाग्देवीवरिवस्यया प्रमुदिताः प्रादुर्भवत्प्रातिभ-
ज्योत्स्नालोकसमुन्मिषन्नवकलासौगन्धिकश्रेणयः।
पद्मानन्दविधायिनं द्विजगणैरासेवितं माधवं
वाग्वीणाक्वणितैः क्वचित् सुकवयः सम्प्रीणयन्तः स्थिताः।।१९।।

धारायन्त्रविमुक्तशीकरकणस्पृष्टा विलोलेक्षणा
रोमाञ्चं क्वचिदञ्चति प्रियकरे विन्यस्य हस्ताम्बुजा।
निन्दन्ती तरुकण्टकं विवलितग्रीवाऽभिरामाऽपरा
श्यामा काऽप्यविषह्यमन्मथशरक्षेपं विधत्ते दृशा।।२०।।

रोषावेशवशीकृतेन सहसा दग्धः पुरा शम्भुना
निःशेषोऽपि कथं प्रसूनविशिखस्त्रैलोक्यमाक्रामति।
ज्ञातं श्रीजगदम्बिकासकरुणाऽपाङ्गप्रसर्पत्सुधा-
धाराभिः परिरक्षितोऽयमखिलव्यापारपारङ्गमः।।२१।।

मासेऽस्मिन् सुहृदां गणैः प्रियगुणव्याख्यानविद्याचणैः
सार्धं गीतिकलाविलासनिपुणैर्वक्रोक्तिबद्धादरैः।
सायं पानकमण्डलप्रणयिभिः कालं नयन्तो जना
वैदग्धीमधुराशयाः स्वजनुषां साफल्यमातन्वते।।२२।।

दोलारूढनितम्बिनीमुखरितप्रान्ते वनान्ते पुरो-
धावत्कोकिलवृन्दसूचितजगज्जैत्रप्रतापोदयः।
व्याधुन्वन्निव कौसुमं निजधनू रत्या चलन्त्या समं
सभ्रूभङ्गमवेक्षितो विजयते कामो वसन्तागमे।।२३।।

सम्प्राप्तो मलयाचलात् परिमलोद्वाही समीरः प्रिय
श्रुत्वेत्थं खगकूजिताद् व्रततयो व्यावल्गितव्याकुलाः।
प्रत्युत्थानविधानकम्पितशिरोभागाः प्रसूनेक्षण-
व्यासक्तभ्रमराञ्जना विदधते प्रेम्णः परामौचितीम्।।२४।।

भीतः शीतभरादतीतदिवसेष्वाकृष्टचित्तोऽपि यां
शुण्डाग्रेण मनोरमां कमलिनीं पस्पर्श नैव क्षणम्।
तामद्याऽधिकसौरभामलिरवव्याजान्निषेधोन्मुखीं
क्रीडापुत्तलिकापदं गमयते स्तम्बेरमः कानने।।२५।।

साकं मानवती मनोभिरधुना व्योम प्रसादोन्मुखं
सार्धं सत्कविसूक्तिभिः सरसता तोये निधत्ते पदम्।
सत्रा पुष्यति वल्लरी विरहिणीसञ्जीवनाशाशतैः
मारः सम्प्रति दर्शितोज्ज्वलकरः साकं तुषारांशुना।।२६।।

श्रीखण्डाऽचलतश्चलन् प्रमदयन् कर्णाटलीलावतीः
आन्ध्रीर्मन्मथमन्थराः पुलकयन् लाटीः समुत्कण्ठयन्।
वैदर्भीश्चतुराशयास्तरलयन् गङ्गातरङ्गान्तर-
व्यासङ्गी मलयानिलो विहरति स्वैरं धरित्रीतले।।२७।।

वासन्ते समये द्विजैः श्रुतिसुधासंवर्षिभिः सादरं
प्रारब्धक्रम एष काननभुवामभ्यन्तरे संवसन्।
रक्ताम्भोजवनानले मधुकरव्याजात् तिलान् निक्षिपन्
त्रैलोक्यं वशयत्यमन्दमहिमा यज्वा मनोजाभिधः।।२८।।

सानन्दं परिधाय पल्लवमयीं शाटीं नवैः पाटली-
पुष्पैः कञ्चुकमारचय्य कलिकाहारा विहारावनौ।
सायं स्वच्छशशाङ्कदर्पणतले दृष्ट्वा मधुश्रीर्मुखं
जाने वासकसज्जिकेव परितः पन्थानमालोकते।।२९।।

सन्नद्धे मदनाधिराजपृतनासञ्चालनैकक्षमे
भूलोके मधुवीरशेखरमणौ दत्तं पदं सत्वरम्।
कान्तारे नवपल्लवैः कमलिनीखण्डे द्विरेफैस्तरु-
श्रेण्यां कोकिलकूजितैर्मृगदृशि प्रेयोऽभिसारोत्सवैः।।३०।।

कालेऽस्मिन् सुरवृन्दवन्दितपदां विघ्नौघविच्छेदिनीं
वह्निव्याजनिजप्रतापमहिमप्रध्वस्तपापेन्धनाम्।
आशापूर्तिविधायिनीं प्रणमतामाशाम्बराऽलङ्कृतां
पाशाडम्बरहारिणीं प्रणमत श्रीहोलिकां कालिकाम्।।३१।।

सायं पश्चिमदिङ्नटीप्रणयिनं भानुं वसन्तोत्सवे
दत्तोत्साहममन्दकुङ्कुमरसोल्लासैरिवाऽऽलिम्पति।
क्षिप्त्वा तारकमौक्तिकानि पुरतः सद्यः स्वकार्यान्तर-
व्यासक्तेरिव भानुमानपि गतो रीतिः प्रभूणामियम्।।३२।।

श्रीमत्संस्कृतभारतीपरिचयाद् यच्चित्तरङ्गस्थले
लास्यं सन्तनुते चलन्मृदुपदा मत्कल्पनाकामिनी।
प्रादुर्भूतमिदं तदेव कतिचित्पद्याऽनवद्याकृति
श्रीदेवीचरणार्पितं विजयतां वासन्तिकं वर्णनम्।।३३।।

■

हित्वा जीर्णांशुकमिव गलत्पर्णपुञ्जं वनश्री-
र्धत्ते वासः किसलयरुचां हारि हारीतवर्णम्।
यत्सन्ध्यासु श्रयति कुसुमामोदमैत्रीं समीर-
स्तत्सम्प्राप्तो मदननृपतेरग्रदूतो वसन्तः।।३४।।

नाऽवश्यायस्तरुषु विपुलो नाऽतिदीर्घा त्रियामा
नो मूकत्वं वनविटपिनां नो दिशो मन्दभासः।
नो शीतांशुस्तुहिनपिहितो नैव मन्दा मिलिन्दा
नो मानस्याप्यवधिरधिको हन्त लब्धो वसन्तः।।३५।।

आसाद्यापि त्रिपुरमथनालोकनाद्भस्मभावं
प्राप स्थानं यदिह सुदृशां मन्मथो लोचनेषु।
तच्चातुर्यं निरवधिमधुस्यन्दपीयूषदानै
रक्षाहेतोर्व्यधित मतिमान् बन्धुभावाद्वसन्तः।।३६।।

शब्दग्रामस्तुरगनिकरो मत्तमातङ्गसार्थ-
प्रख्यश्चार्थः सहृदयसभा नन्दनं वन्दनीयम्।
पेयं सूक्तामृतमविरतं सा शची बुद्धिरेका
मान्यो भूमीसुरसमुदये सत्कवीन्द्रो वसन्तः।।३७।।

यद्दक्षिणामपि विहाय चिरानुरक्तां
सक्तो रविर्धनदवल्लभयाऽधुनेति।
मत्राऽपराद्ध्यति मनोभवभूपराज्य-
प्राज्यप्रभावसचिवश्चपलो वसन्तः।।३८।।

■

गिरीन्द्रान्तर्द्रोणीष्वयमपगमय्याऽतिशिशिरान्
क्वचिन्मासान् भूयोऽभ्युदयसमयावेक्षणपरः।
मधुः श्रावं श्रावं मदनजययात्राकलकलं
ददानः सङ्केतं तरुशिखरमुत्कन्धरयति।।३९।।

घनध्वान्ताक्रान्ता निभृतपतगालीकलरवा
स्मितज्योत्स्नाशून्या कुसुमकलिकानामपचयात्।
वनप्रत्यासन्ने हृदयदयिते चन्द्रवदना
तुषारप्रावारं व्यपनयतिं नारीव रजनी।।४०।।

स्मरक्षोणीपाले विधृतकरवाले वसुमतीं
समाक्रम्याऽशेषा रचयति निदेशानविरतम्।
निपीय स्वच्छन्दं सदसि मकरन्दं प्रभुगुणान्
भृशं गायन्त्येते शतगुणितवाचः परभृताः।।४१।।

इह प्राज्ये राज्ये कुसुमधनुषः क्रीडनविधौ
न भीतिर्भूतेशान्निटिलनयनोल्लासिदहनात्।
इति ख्यातुं लोके तिलकतरुजालैर्विकसितैः
समन्ताद् दिग्भागान् ऋतुपतिरसौ वैष्णवयति।।४२।।

हिमानीसाम्राज्यादवसितबलो वासरमणिः
कुमारीमाराद्धुं वसतिमतनोद्दक्षिणदिशि।
ततः प्रत्यायातः पुनरपि महस्वी स्वकिरणै-
रुपादत्ते लक्ष्मीं विदलदरविन्दैकनिलयाम्।।४३।।

पटानां लुण्टाकः शिशिरसमये तीव्रतमया
तुदन् लोकान् गत्या मरुदवगतः शत्रुरिव यः।
वसन्तोपाध्यायादधिगतगुणः सोऽयमधुना
दधानः सौरभ्यं सकलमपि लोकं वशयति।।४४।।

शिवं लक्ष्यीकुर्वन् सुरगणसमुत्साहितबल-
स्तदीये भालाग्नौ समभवदपाङ्गो रतिपतिः।
तपस्तप्त्वा भूयो हिमगिरिसुतायाः समुदयन्
अपाङ्गात्पूर्णाङ्गो त्रिभुवनमनङ्गो विजयते।।४५।।

जलान्तःस्थे दुर्गे शतदलसरोजे कृतपदा
विदन्ती वृत्तान्तान् भ्रमरचरसङ्घातगदितान्।
करस्पर्शं भानोरपि विदधती नीतिकलया
जगन्नेत्री काचिद् भजति निजसाम्राज्यपदवीम्।।४६।।

दिशाञ्चेन्नैर्मल्यं विरचयसि शाखाशतजुषां
द्विजानां वाग्मित्वं प्रथयसि यदि स्वैरवचनैः।
उपेक्षाक्षीणानां सरसयसि चेन्मानसमियं
वसन्त! त्वत्कीर्तिर्भुवनजयिनी स्थास्यति तदा।।४७।।

चिरान्मन्दस्पन्दानपि तरुणयन्ती सुरगिरां
निगुम्फे निष्णातान् नियतसमये कोविदवरान्।
समुन्मीलन्नानाविधनवनिबन्धावलिमिलन्-
मिलिन्दा वाग्वल्ली परिषदियमामोदयतु व।।४८।।

■

निदाघः

दिनकरकिरणालीबाणविध्वस्तधैर्यः
श्रयति शिशिरकालो दूरदेशप्रवासम्।
तदधिगतमिदानीं ग्रीष्मवीरोऽधिकारं
सरभसमधितिष्ठत्येष दुर्वारगर्वः।।१।।

प्रखरकरनिपातैः सर्वतः सम्प्रवृतै
रसमखिलमिलायाः शोषयन् कोषहेतोः।
सचिवमिव नियुङ्क्ते ग्रीष्ममुग्रस्वभावं
नृपतिरिव कुनीतिव्यापृतस्तिग्मभानुः।।२।।

अविरलजलराशिर्यः पुरा सारसानां
श्रुतिमधुरनिनादैर्मोदयामास पान्थान्।
समुदयति निदाघे शुष्यदम्भःप्रबन्धः
स विकलयति चित्तं वीतरागस्तडागः।।३।।

चलशफरविनोदैर्या पुरा कामिनीनां
नयनकमललीलामुल्लसन्तीं बभार।
सिकतिलजलमीलन्मीननेत्राऽधुनाऽसौ
सरिदपि विरहार्तिं व्यञ्जयन्ती प्रयाति।।४।।

करविधृतशलाटून् पादपान् व्याधुनानाः
कुसुमितलतिकानामङ्गमुन्मर्दयन्तः।
नयविनयविहीनाः स्वैरसञ्चारशीला-
स्तपनसमयजाता इत्वरा वान्ति वाताः।।५।।

दिनकरसहवासादुग्रभावं प्रसन्ने
व्यथयति च नितान्तं वासरे दीर्घकालम्।
गमयति सह तेन प्रातिकूल्येऽपि कालं
भृशतरकृशगात्री यामिनी कामिनीव।।६।।

हिमसमयनियोगान्निष्क्रियाः क्वाऽपि लीनाः
समुदयमुपयाताः साम्प्रतं लब्धवीर्याः।
निशि मशकयुवानः कर्णजापप्रवीणाः
शयनमपि जनानां न क्षणं ते सहन्ते।।७।।

परिभवति धरित्रीं व्योममध्याधिरूढे
खरकिरणकशाग्रैरुन्मदे चण्डभानौ।
वलयितनिजगात्राश्छायया कण्ठदेशे
कथमपि विपदं तां पादपा लङ्घयन्ति।।८।।

रचयति मृगयूथं साधुरोमन्थमन्त-
र्विशति किसलयानामण्डजानां कुटुम्बम्।
विरलजलमिदानीं कर्दमाक्रान्तरूपं
वनमहिषवराहाः पल्वलं संश्रयन्ते।।९।।

परिलुठति पयोधौ सूर्यबिम्बे समन्ता-
दुपवनभवनानां हर्षमासूत्रयन्ती।
सुरभयति दिगन्तान् तापितान् हासभासा
युवतिजनमनोज्ञा वल्लिका मल्लिकायाः।।१०।।

सुरभिमधुरगन्धैः फेनकैर्धौतगात्रा
वसनमपि तनीयः श्वासहार्यं दधानाः।
सह च सहचरीभिः पेयमास्वादयन्तो
मधुसमयमिवैनं ग्रीष्ममालोकयन्ति।।११।।

सुलभसलिलपूरे मज्जनोन्मज्जनानां
विलसितमतिकालं कल्पयन्तः सहेलम्।
स्वजनविहितदूराह्वानशब्दप्रतीपा
निजगृहमपि यातुं शावका नोत्सहन्ते।।१२।।

विरचितनवधारायन्त्रचञ्चत्तुषारैः
पुलकिततनुगात्रा दत्तहस्ताः प्रियाभिः।
उपवनपथविद्युद्दीपसन्दर्शितास्या
हरनयनविलीनं मारमुन्मीलयन्ति।।१३।।

मधुरतररसालस्तोयपूर्णालवालः
कुसुमरचितमालश्चारुसङ्गीतशालः।
भवतु रसिकसेव्यः पाटलामोदमाद्य-
न्मधुकरकुलगीतः श्रेयसे ग्रीष्मकालः।।१४।।

वर्षा

मेघश्यामलवर्णो वज्रध्वानाट्टहासमुखरोऽसौ।
साम्प्रतमधिगगनान्तं राजति वर्षामहाकालः।।१।।

समुन्नतपयोधरां मृदुलशाद्वलश्यामलां
सदैव सरसान्तरां सकलतापसंहारिणीम्।
ससम्मदशिखावलीकृतकलापबालान्विता-
महो रसिकसत्तमाः! भजत कालबालामिमाम्।।२।।

नैदाघात्पांसुपूरान्मलिनितमचिरान्मार्गमुच्चैः पतद्भि-
र्धारासारप्रपातैर्विमलितसरणिं हन्त सम्पादयन्तः।
वंशानुद्यत्करीरान्मधुरनिनदितैः काननेषूत्सृजन्तः
प्रच्छाद्याशावकाशं सतिमिरवपुषो वारिवाहा विभान्ति।।३।।

परिस्फूर्जत्पाथोधरनिकररुद्धान्तरतया
दिवाऽपि श्यामाभे लसति गगने पान्थवनिताः।
समुत्कण्ठाधिक्यान्नृपपथनिखातेक्षणयुगाः
प्रदोषान्वर्षाणां कथमपि नयन्त्याकुलतया।।४।।

कालेऽस्मिन् कुसुमायुधो बहुविधान् पुष्पात्मनः स्वान् शरान्
लब्ध्वा पञ्चशरेत्यपास्य सहसा संज्ञां नवोत्साहवान्।
तारुण्याङ्कितकामिनीकुचमहाप्राग्भारपीठस्थितो
मन्दं मन्दममन्दसाहसतया यूनां मनो विध्यति।।५।।

उन्मीलन्नीपपुष्पोल्लसितपरिमलासक्तगन्धान्धभृङ्ग-
प्रारब्धामन्दगुञ्जारवमिषवचनैस्तर्जयन् दीर्घमानाः।
अम्भोबिन्दुप्रबन्धैरुपवनसदनावासिनो भोगिलोकान्
जाताह्लादान् वितन्वन् जलधरसमये गन्धवाहः प्रयाति।।६।।

एणीदृङ्मञ्जुवेणीविशकलनपरो वाससां त्रासकर्ता
कासारोपान्तवासान् जनयति सहसाऽऽसारसंसिक्तगात्रान्।
बर्हिप्रारब्धकेकाकलरवकलितो विद्युदुद्दामहासो
झञ्झावातोऽद्य झञ्झारवमपि जनयन् हर्षवर्षास्तनोति।।७।।

ज्वालाजालानुविद्धैरनुदिनमुदितैरंशुभिश्चण्डभानोः
सन्तप्ताशेषदेशां विदलितहृदयां वीक्षमाणां धरित्रीम्।
निर्याताः सद्य एव त्रिदशपतिपुरादुह्यमानाः समीरैः
सिञ्चन्तो भूमिभागान् सुहृद इव घनाः कर्षकान् हर्षयन्ति।।८।।

पाणिस्पर्शैः कठोरैर्विलुलितवसना ग्रीष्मदुशासनेन
व्यग्रा तापं दधाना यदिह वसुमती द्रौपदीत्राणहेतोः।
दध्यौ देवं दयालुं सपदि जलधराकारमालम्ब्य सोऽपि
प्रेम्णा शाटीशतानि व्यतनुत रुचिरैः शाद्वलानां वितानैः।।९।।

वर्षर्तौ तोयदेभ्यः पतति जलभरे चत्वरेष्वालयानां
नौका निर्माय पत्रैस्तरलकरतलैर्मन्दमान्दोलयन्तः।
बालाः क्रीडाविनोदैर्विकसितहसितास्तासु भग्नासु मग्ना-
स्वन्योन्यं दूषयन्तोऽप्यविरलसहजस्नेहभाजो रमन्ते।।१०।।

कालेष्वन्येषु यान्त्यो नियमितगतयः प्रेयसां वासभूसी-
मर्यादामाश्रयन्त्यो नयनपथगता याः पुरा निर्झरिण्यः।
आकण्ठाग्रं धयन्त्यो मुदिररसझरीं प्रस्खलन्त्यो रजोभि-
र्व्याकीर्णाः साम्प्रतं तास्तटनिकटतरून् भ्रंशयन्त्यः प्रयान्ति।।११।।

सार्धं स्निग्धैः सुहृद्भिर्जलधरसमये नागराः सानुरागा
बाह्योद्यानानि नानाविधकुसुमलतामोदितानि प्रविष्टाः।
आस्वाद्य स्वादुभङ्गामुदयदभिनवस्वैरकाव्योत्तरङ्गा-
स्तुष्टा मिष्टाशनाद्यैः सुरपतिविभवं तुच्छभावं नयन्ति।।१२।।

दिव्यैः कुम्भैरिवाऽम्भः पतति शिखरिणां मूर्ध्नि धारासहस्रै-
र्वन्यश्रीनायकानामवनिधरपदप्राज्यराज्याभिषेके।
सल्लक्यामोदलुब्धः कटतटविलुठद्भृङ्गमालः पुरस्ता-
दाधत्ते सन्निधानं पदभरविनमद्भूतलो यूथनाथः।।१३।।

आनीलाम्भोदमालारचितयवनिकोल्लासिनि व्योमरङ्गे
तालाबद्धे मृदङ्गे नदति शिखिकुलोद्गीतचारुस्वराढ्ये।
नृत्यन्ती स्वर्णवर्णा सचकितनयनन्यासमाविर्भवन्ती
दिक्कोणान्नादयन्ती तडिति तडिदुदेत्यन्तरालीयते च।।१४।।

मञ्जर्यामर्जुनस्य क्षणविहितपदो लाङ्गलीलग्नरागः
केतक्यामोदलुब्धोऽप्यनुसरति न तां कण्टकच्छेदभीरुः।
मालत्यां कोमलायां विहितपरिचयोऽप्यद्य भृङ्गः सहेलं
यूथीजालप्रविष्टो गमयति समयं वारिदस्य प्रसादात्।।१५।।

व्योमास्थानीमुपेतं सकलवसुमतीनन्दनं श्यामलाङ्गं
पाथोदं यावदेते वनभुवि शिखिनो वाग्भिरभ्यर्चयन्तिः।
तावत्तालाधिरूढैर्मकमकितरवैः कर्णशूलायमानैः
पाण्डित्यं नाटयन्तो दिशि दिशि बहवो दर्दुराः प्रोच्छलन्ति।।१६।।

आबन्धन्नम्बुजाक्षीकुचकलशयुगे दाम मुक्तफलाना-
मानम्राणां तरूणां मधुरतरफलां संवितन्वन् समृद्धिम्।
वंशानां वृद्धिहेतुर्जलदनरपतिः शास्ति लोकानिदानीं
भौजङ्गीं नीतिभङ्गीं कवलयतु हठान्नीलकण्ठस्य कण्ठः।।१७।।

◆

श्यामः कामान् भक्तिभाजां प्रवर्षन्
वृन्दारण्यव्योमवाटीविहारी।
राधाविद्युद्विभ्रमालिङ्गिताङ्गो
बाधां भिन्द्यात् कोऽपि मे वारिवाहः।।१८।।

आपूरत्यतितरां तटिनीः पयोभिः
सिञ्चत्यमन्दमभितो वसुधाप्रदेशान्।
सान्निध्यतोऽपि जगतां परितापहारी
किं वा सुखं न तनुते भुवि वारिवाहः।।१९।।

सन्मार्गमेव कलुषीकुरुते जलौघै-
र्मण्डूकसर्पनिवहान् समदान् विधत्ते।
शीतज्वरेण मनुजान् विकलीकरोति
श्रेयः किमर्जयति सम्प्रति वारिवाहः।।२०।।

◆

मृदङ्गमनुनादयत्यभिनवाम्बुदे काकली-
कलां श्रुतिमनोरमां श्रयति बर्हिणां मण्डले।
मयूखशतभासिताऽखिलदिगन्तरा साम्प्रतं
सुवर्णरुचिरा कवेर्नटतु सूक्तिसौदामिनी।।२१।।

निदाघसमयोग्रतागतरसा रसाऽऽविर्भवद्
घनाघनजलच्छटामविरतं निपीयाऽधुना।
स्फुरत्पुलकजालकैर्हरिदुदञ्चितैः शाद्वलैः
प्रमोदपरिमेदुरा स्पृशति वाग् विपञ्चीं कवेः।।२२।।

समुन्नतघनस्तनां दिवमवेक्ष्य केकारवं
भुजङ्गभयभञ्जनो यदि करोति चित्रं न तत्।
पथि प्रचुरकर्दमे मकमकायमाना मुधा
निजां प्रणयवेदनामभिनयन्त्यहो दर्दुराः।।२३।।

समीकृतनतोन्नते क्षितितले जलैराविले
सुखं शफरिकाशिशून् गिलति तीक्ष्णदंष्ट्रस्तिमिः।
चिरन्तनखलोद्यमं प्रकटयन्नयं सर्वतः
सरत्यथ पदात्पदं किमपि हन्त गण्डूपदः।।२४।।

निपातयति वृक्षकान् फलभरं हरत्यञ्जसा
तरङ्गशतघट्टनैस्तुदति तीरसंस्थाः कुटीः।
कटीतटपटीर्हरन् मृगदृशां घनानुज्ञया
प्रभञ्जन इहाधुना वितनुतेतरां ताण्डवम्।।२५।।

रजोभिरभितो भृता मलिनयन्ति वासांस्यमू-
स्तटिन्य इति साधवः परिहरन्ति ताः साम्प्रतम्।
इमास्तु सलिलोच्चयैः प्रविदलय्य केदारकान्
गतागतपथेष्वपि प्रकटयन्ति बाधाशतम्।।२६।।

निरुद्धगतिरप्यसौ विपुलयन्त्रकारागृहे
प्रकाशनकृते महानगरमार्गसञ्चारिणाम्।
स्वकीयमचिरप्रभापदमुदीरितं प्राक्तनै-
र्न मुञ्चति मनस्विनी घनदिनेषु सौदामिनी।।२७।।

परस्परविचारणास्फुरितनूतनप्रातिभ-
प्रसन्नसुरभारतीविभवपूरिताशान्तरा।
चकास्तु धरणीतले प्रशमितान्तराया रयात्
उदित्वरयशोभरा कविवराहिता सङ्गतिः।।२८।।

◆

उन्मीलत्प्रतिभाप्रसूनमुकुलेष्वामोदसंवर्धिनी
चिन्तासन्ततिदावतप्तमनसां सन्तोषपोषावहा।
नृत्यत्सत्कविकेकिमण्डलनुता जागर्ति वाराणसी-
व्योमस्था कविभारती नवरसोल्लासाय कादम्बिनी।।२९।।

◆

राधाविद्युद्विभ्रमालिङ्गिताङ्गी
बाधाजालच्छेदिनी भक्तिभाजाम्।
नित्यं वृन्दारण्यसञ्चारशीला
तृष्णां भिन्द्यात् कृष्णकादम्बिनी वः।।३०।।

हेलाक्रान्तदिगन्तराः प्रविदलन्नीपस्पृशो मारुता
मायूरी मधुवैखरीत्यविरलं कर्णान्तमालम्बते।
संयाते मधुरां मदीयहृदयालम्बे विलम्बे पुनः
सम्प्राप्ताः सखि दुर्निवारगरलज्वालाकरा वारिदाः।।३१।।

विद्युन्मण्डलदन्तपङ्क्तिमसकृत्संदर्श्य घोरारवै-
र्भिन्दन् दिक्कुहराणि पादपलताकुञ्जान् बलाद् भञ्जयन्।
कालः कोऽपि कराल एष विरहिप्राणोपहारप्रिय-
स्त्राणं नास्ति परं रुदन्ति तदिति क्लेशादिमे वारिदाः।।३२।।

◆

घननीलजलदमाला दैवदशेवाद्य विश्वस्य।
जातविषा भुजगा अपि दृप्तखलानां वहन्ति साधर्म्यम्।।३३।।

मर्यादालङ्घिन्यो नद्यः स्वेच्छानुगा रमण्य इव।
सान्द्रेन्द्रगोपपङ्क्तिः सन्ततिततिरिव विभाति निःस्वस्य।।३४।।

निर्झरधारा निपतति लक्ष्मीर्वणिजां यथाऽद्य कोषेषु।
सङ्कुचति पङ्कजाली सज्जनवागिव कथासु धूर्तानाम्।।३५।।

कर्दमकलुषः पन्था दाम्भिकजनचित्तमार्ग इव।
स्फुरति पुरः खद्योतः पण्डितमानीव वैधेयः।।३६।।

भेकाः समुच्छलन्ति व्याख्यातारः सभासु यथा।
शिशिरयति वारिधारा किञ्चित्कालं दयेव धूर्तस्य।।३७।।

गगने नृत्यति विद्युत् काऽपि दुराशा यथा दरिद्रस्य।
विहरति शिखण्डिनिवहो धनिकस्वान्ते नवाभिलाष इव।।३८।।

नीपः पुलकितदेहः प्रोन्नतपदमाप्य दास इव।
नीरं भिनत्ति तीरं कुतनयचरितं यथा कुलं लोके।।३९।।

■

दिनकरपरीतापोद्रेकाद्विलूनकलेवरां
सरभसचलद्वात्यादण्डप्रताडितमण्डलाम्।
सुहृदिव धरां दर्शं दर्शं चिकित्सितुमादरात्
सरसकरभृत् प्रावृट्कालः पुरः पदमादधौ।।४०।।

क्वचिदपि गता हाराकारा विभान्ति न तारकाः
दिनमणिरपि क्षीणोद्योतः कथा शशिनस्तु का।
सजलजलदाकारामारान्मतङ्गजवाहिनीं
नयति गगनाभोगं जेतुं जगज्जलदागमः।।४१।।

गमयतितरां कालः काञ्चित् स्थितिं धरणीतले
विषमघटनाचित्रां मन्ये परस्परबाधिकाम्।
शशिकरनवज्योत्स्नारम्या न सम्प्रति यामिनी
मुदिरमलिना तोयक्लिन्ना जनैरुपभुज्यते।।४२।।

ध्वनति गगने मन्दं मन्दं बलाहकनायके
वनभुवि शिखी केकारावं तदुत्तरमुज्जगौ।
तदनु पतितः पङ्केऽप्युच्चैरसह्यपरध्वनि-
र्मकमकचमत्कारां भेको धुनोति गिरां गतिम्।।४३।।

नवतृणमयी भूमिः शय्या कदम्बवनानिलः
स्फटिकविशदं पयं पाथः स्रवद् गिरिगह्वरात्।
पिकशुकमुखोद्गीतं गीतं प्रियं सरसात्मनां
तरुणहरिणीनेत्रा स्निग्धा भवेद्यदि सन्निधौ।।४४।।

विशति जलदे व्योमोद्यानं प्रवर्षति बिन्दुभिः
समुदितनवोत्साहाः काश्यां शिवप्रणयाश्रयाः।
उपलयुगलादुन्मज्जन्तीं निपीय भयापहां
चिदमृतझरीं भङ्गां तुङ्गां भजन्ति मनःस्थितिम्।।४५।।

◆

शरद्

यस्य स्वान्तसरोरुहे करतलव्यालोलवीणारण-
त्कारेर्व्यञ्जयितुं रसान्नवनवान् उत्कण्ठते भारती।
यस्य स्नान्ति दिगङ्गनाः सुयशसां दुग्धाब्धिपूरोदरे
चेतो धावति तं शरत्समुदये कान्तं कवीनां गुरुम्।।१।।

मल्ली वेल्लति यूथिका विकसति स्वैरञ्च शेफालिका
पुष्पाणि प्रविमुञ्चति प्रणयिनी यन्मार्गनिर्माजने।
कान्ता किञ्च कुमुद्वती मधुकरव्याहारमन्दाक्षरै-
र्यस्य स्वागतमातनोति हृदये सोऽयं निधत्ते पदम्।।२।।

पूर्वं मानसमाश्रिताः कविगिरा वर्षासु हर्षाकुला-
स्ते सम्प्रत्युपयान्ति भारतभुवं हंसावतंसाः पुनः।
मन्दान्दोलितचामरोपमचलत्पक्षैर्वलक्षैरमी
मान्यं वीजयितुं कविं कलरवैः कोलाहलं कुर्वते।।३।।

दृष्ट्वा श्रीकविसार्वभौमरचनाचर्चोत्सवं धीमता–
माद्यः पीतपयोनिधिर्मुनिरपि प्रीतिं दधानः पराम्।
नैर्मल्यं तनुते समस्तपयसां माधुर्यमुद्भावयन्
काव्यालापपिपासितान् सहृदयान् सन्तर्पयत्यञ्जसा।।४।।

कादम्बाः कलहंससारसबकक्रौञ्चादयः कानने
कूजन्तीव यशः कवेरनुपमं दिङ्मूलकूलङ्कषम्।
उन्मीलत्कुसुमावलीवलयितो गुञ्जन्मिलिन्दाञ्चितो
व्याधूयाऽपरसौरभं तरुवरः सप्तच्छदो माद्यति।।५।।

सन्नद्धे कविनायकस्य रचनासम्मानचर्चोत्सवे
निर्धौतेव वनस्थली रचयते फुल्लप्रसूनाञ्जलिम्।
हर्षोत्कर्षवशीकृतेन मनसा तस्यागमे शारदी
लक्ष्मीर्वर्षति मौक्तिकानि नभसस्तारागणच्छद्मना।।६।।

किं ब्रूमः कविशेखरस्य सुषमासम्मानसक्तात्मनां
विज्ञानां नवकल्पनाविरचनप्रागल्भ्यमत्यद्भुतम्।
यद्वार्ताश्रवणेऽप्यहो परिणता मेरौ दिशां दन्तिनः
कैलासं खनतीव हन्त! वृषभो शम्भोः पदाम्भोजभाक्।।७।।

सिञ्जन्मञ्जुलहंसका तिलकिता बन्धूकरागश्रिया
ज्योत्स्नाजालनवाम्बरा परिलसत्पूर्णेन्दुबिम्बानना।
कुन्दस्पन्दितसुस्मिता मधुरया गीत्या कवीनां गुरुं
प्रेम्णा सम्प्रति सेवते शरदियं सौन्दर्यरङ्गस्थली।।८।।

◆

अमला कमलासनसन्निहिता
विहिताऽखिलभक्तकदम्बहिता।
महिता विधिशौरिहरैर्जयतात्
सहिता कृपया शरदिन्दुमुखी।।९।।

विधृतोज्ज्वलचन्दनपाल्यगणा-
ऽम्बरतारकहारनिगूढतनुः।
त्रिदशीव धरावलये दयितं
विचिनोति नु किं शरदिन्दुमुखी।।१०।।

घनसन्तमसच्छिदुरैः किरणैः
कविकैरवजागरणप्रसिताः।
भ्रमरक्वणितैर्मुरलीरणितै-
रियमेति सखे! शरदिन्दुमुखी।।११।।

कलिकारदना विलसन्मदना
सुरभिश्वसना जलमुग्वसना।
कलहंसकशिञ्जितमञ्जुपदा
समुदेति मुदे शरदिन्दुमुखी।।१२।।

परितो हरितो हरितो दधती
कुसुमस्तबकाम्बरसंवलिता।
ललनाः कलनादपरास्तनुते
ललितेव सखी शरदिन्दुमुखी।।१३।।

■

अगणितखलज्वालाजालाकुले वसुधातले
क्षणमपि पदन्यासत्रासादपह्नुतमानसम्।
सकलजगतां मातः प्रातस्तनाम्बुजलोचने!
शिशिरयतु मां मन्दस्पन्दा तव स्मितकौमुदी।।१४।।

विमलवदना दिक्सुन्दर्यः समुच्छ्वसितान्तरा
कुमुदसुषमाः ताराहारान् बिभर्ति विभावरी।
सुमुदयपदं प्राप्ते चन्द्रे न का प्रणयोन्मुखी
भजति सहजासङ्गं भङ्गं विना ननु कौमुदी।।१५।।

सुविहितपदन्यासां लब्ध्वा कदाऽपि मनोरमां
परिणतमते! किं वा कुर्या वृथा कपिचापलम्।
भवति भवतो मञ्जूषेयं सुवर्णमयी न च
प्रमदविधये ध्वान्तध्वंसक्षमा न च कौमुदी।।१६।।

■

भूषापदं निटिलसीमनि येन नीतो
बालेभदन्तकुटिलाकृतिरर्धचन्द्रः।
देयादसौ श्रुतिशतैरुपगेयकीर्त्तिः
श्रेयांसि भक्तहृदयाम्बुधिपूर्णचन्द्रः।।१७।।

अत्युच्छलद्भृगणतोयकणं कलङ्क-
रोलम्बचुम्बितमुखं त्रिदिवोपनीतम्।
नेत्रोत्पलैस्त्रिदशवामदृशां समर्च्यं
पीयूषभाजनमिदं न तु पूर्णचन्द्रः।।१८।।

■

मरालमालाधवलाम्बरश्रीः परागरागाञ्चितकञ्चुकेयम्।
मुदे कवीन्द्रस्य न कस्य भूयाद् वधूः स्मरस्येव शरन्नितान्तम्।।१९।।

पुरा घनालीप्रतिरोधतान्तं सुधाकरं सम्प्रति वीक्ष्य कान्तम्।
प्रसाधिताशं पुरतो विभान्तं प्रमोदमभ्येति शरन्नितान्तम्।।२०।।

लसत्प्रसूनावलिमादधाना चलद्द्विरेफोदितमञ्जुगाना।
स्वयं प्रयान्ती रसिकेव कान्तं मनो हरत्येव शरन्नितान्तम्।।२१।।

■

अद्योद्यानावलीनामभिनवसुषमाशिल्पिनि क्षोणिरङ्गं
नानावर्णैर्मरन्दैः शबलयति शरद्वासरे सूत्रधारे।
धूताऽशेषान्तराया कविपरिषदसौ स्वान्तरङ्गप्रसूतै-
र्वाग्वल्लीनां विनोदैः सुरभयतु हरित्सुन्दरीणां मुखानि।।२२।।

तामिस्त्रे दिङ्मुखेभ्यो विरमति किरणश्रेणिभिर्बालभानो-
र्मञ्जिष्ठामञ्जुवर्णे नभसि विकसिते पद्मिनीलोचनान्ते।
गुञ्जाव्याजानुरागस्तुतिपदमुखरे षट्पदानां कदम्बे
प्राचां वाचामुदारा समुदयतुतरां काव्यपीयूषधारा।।२३।।

जाड्ये दूरं प्रयाते नवमिहिरकरैः प्रोज्वले दिग्वधूना-
मास्ये लास्ये मरुद्भिर्विहितपरिचये वीरुधां चक्रवाले।
माङ्गल्यं वेणुनादं दिशति परभृते वाङ्मयात् पुण्डरीकाद्
उद्भूता हर्षवर्षं विदधतु भवतां बिन्दवो माकरन्दाः।।२४।।

यत्प्रत्यग्ज्योतिरन्तःपरिणततपसां प्राक्तनानामृषीणा-
मज्ञानध्वान्तजालं तिरयितुमुदितं भास्वरं भानुतोऽपि।
नानाशाखान्तरालोल्लसितफलभरानन्दिताशेषविश्वं
भूयस्तद्भिन्नशोकं श्रुतिमयमनिशं कर्णपूरायतां नः।।२५।।

व्याहारं विश्वसारं कमपि कविगुरोः संस्मरन्तीव चित्ते
ध्यानावस्थैकताना चिरमिह यदभूद् वाङ्मयी देवता नः।
नव्यैः काव्यप्रबन्धैः सहृदयपरिषन्माननीयैरिदानी-
मुन्निद्रा पाणिवीणां रणयतु तरसा कङ्कणक्वाणमिश्राम्।।२६।।

यस्याः पादाब्जयुग्मे जलधिकरतलोल्लासितो रत्नराशिः
पूजापुष्पाञ्जलित्वं श्रयति मलयजालेपसौरभ्यरम्यः।
धत्ते श्वेतातपत्रं शिरसि च शिखरी देवतात्मा यदीयः
सा नो मानोन्नतास्तादवनिरविरतं मण्डिता पण्डितेन्द्रैः।।२७।।

■

हेमन्तः

यत्तेजो जगदेकजीवनतया प्रस्पन्दमानं दिशां
तामिस्त्रं कवलीकरोति तरसा जाड्यं धुनीतेतराम्।
तत्सम्प्रत्यपहस्तितं करतलोन्मुक्तैस्तुषारैः शरैः
कालः कोऽप्यनुकूल एष भवतो हेमन्त! भूमण्डले।।१।।

आक्रान्ता वसुधाऽखिलाऽपि भवता लीलागृहाणि श्रिया-
मम्भोजानि विलुण्ठितानि विगलत्पत्राः कृताः पादपाः।
मूकस्त्वच्चरितेषु मञ्जुवचसां मन्ये द्विजानां गणो
लीनः क्वाऽपि तवाऽथ शासनदशा कां वा दिशं यास्यति।।२।।

यः सद्यः शिशिकीकरोति नयने तप्तात्मनां प्राणिनां
यस्मिन् कन्दलितान्तरा कुमुदिनी सौरभ्यमभ्यस्यति।
यस्मादेव विकस्वराः कविगिरश्चेतश्चमत्कुर्वते
विच्छायः स सुधाकरोऽपि विहितः कस्मादकस्मात्त्वया।।३।।

येषां सन्ति विभूतयः सुविमलागारेषु दारेष्वमी
विद्युद्गर्भहसन्तिकासहचराः केलिं वितन्वन्ति ते।
भ्रश्यज्जीर्णकुटीरकोणनिलया ये किम्पचानाः पुन-
स्तानायासयितुं विभर्षि कुतुकं हेमन्त! मन्तुस्तव।।४।।

उद्दण्डान् जनलुण्ठकानविनयव्यापारकादम्बरी-
पानोष्णीकृतविग्रहात्र भवतो भीतिः क्वचिद् बाधते।
क्लिष्टान् रात्रिषु वाहनैरवितरं केदारसञ्चारिणो
ग्राम्यान् पीडयितुं प्रगल्भधिषणस्त्वत्तो न मत्तः परः।।५।।

त्वद्राज्ये कविकोकिला विदधते वाचंयमत्वव्रतं
शून्याः काननवीथयोऽपि विकसद्भृङ्गाङ्गनागुञ्जुनैः।
बर्हाणां विनिपातनेन शिखिनो भग्नोद्यमा नर्तने
कोऽयं नूतनशासनस्य महिमा यत्रोत्सवश्रीरियम्।।६।।

व्याघ्रीणां प्रसवोत्सवैर्यदि भवान् श्लाघ्यः सुहृन्मण्डले
कस्मै हन्त फलाय रक्षणविधिर्वन्यामवन्यां कृतः।
हिंस्राणां परिपालनप्रवणता कस्याऽपि नेत्रोत्सवो
निर्बाधं भ्रमतो जनस्य तु परः प्राणापहारोद्यमः।।७।।

हे हेमन्त! तवाऽखिलानि चरितान्यालोच्य खिन्नाशया:
मुञ्चन्त्यश्रु लता: प्रसूनमिषतो वात्याकशाताडिता:।
अन्तर्जीवनसम्भृताऽपि सरसी वाष्पोद्गमैराविला
प्रात: प्रातरुदीक्ष्यते नयविदां मा गा वृथा वाच्यताम्॥८॥

■

हैमन्तीषु निशासु शीतशिखरिप्रालेयजालावली-
लीलावाहिनि वाति निर्धनकुटीकोणान्तिके मारुते।
गेहिन्या परिदीपितोऽप्यविरतं व्याकीर्णपर्णोच्चयै:
फूत्कारैरुपबृंहितोऽपि शतधा वैश्वानर: शीतति॥९॥

साहित्याध्वविहारिणी सुकृतिनां वाणी मनोहारिणी
प्राक्पुण्यै: प्रगुणीकृता यदि मुखे खेलाविलासोद्यता।
सद्यस्तद्वचसा शशाङ्कति मुखं बाणन्ति पुष्पाण्यपि
क्रीडापल्वलति क्षणाज्जलनिधिर्वैश्वानर: शीतति॥१०॥

कालेऽस्मिन् कलिकेलिकल्मषमसीलिप्तेऽपि य: सद्गुरौ
श्रद्धामिद्धगुणां विधाय भजते सर्वात्मना शाङ्करीम्।
गेहं स्वर्गति दासति क्षितिपतिस्तस्याशु सङ्कल्पतो
वात: खञ्जति चूर्णति क्षितिधरो वैश्वानर: शीतति॥११॥

■

वदनविवरोद्भूतैर्वाष्पैर्मुहुर्जठरान्तरे
नियतवसतिं वह्निं बाला वदन्ति परस्परम्।
स्थविरगदितै रात्रिं दीर्घां नयन्ति कथाद्भुतै:
सुखयति मिलन्नानाभोज्य: शिशूंस्तुहिनागम:॥१२॥

हृदयदयितं मन्दच्छायं विलोक्य विभाकरं
वदनशशिनं म्लानं धत्ते चिरं गगनस्थली।
क्वचिदपि गता मुक्ताकारा: स्फुरन्ति न तारका:
कुकविरचनाकार: सारोज्झितस्तुहिनागम:॥१३॥

■

उषसि सरसामम्भोजिन्या विलोक्य विपन्नता-
मुदयति परं वाष्पोद्रेको यदीयविचेष्टितैः।
चरमवयसां विध्यत्यङ्गं समीरशरोत्करै-
र्मदयति शिशून् कोऽयं स्वैरी विभाति हिमागमः।।१४।।

तुहिनकिरणालोके स्तोके प्रसूनशरोत्करे
विरलविभवे भृङ्गव्राते निलीय निषेदुषि।
विरमति मनाङ् नैवोत्साहाज्जगद्विजयी स्मरः
सुहृदिह बली दत्तोत्साहो यतोऽस्ति हिमागमः।।१५।।

चण्डांशोः शमयन् प्रतापमखिलं पुण्ड्रेक्षुकाण्डान्तरे
माधुर्यं परिवर्धयन्नवनवैर्धान्यैर्धरां मण्डयन्।
उद्वाष्पैः सलिलैः शिशून् प्रमदयन् देवस्य चेतोभुवः
क्रीडाकन्दलमुन्नयन् क्षितितले मन्यो हि मान्यागमः।।१६।।

स्वेच्छामात्रविकल्पजल्पनखनिप्रोद्दण्डपाखण्डता-
भाजां दुर्मदमर्दनाय सुधियां मान्यो हि मान्यागमः।
प्रोदञ्चद्गरलावलीढतरलत्रासप्रदानव्रत-
स्फीतोद्दामभुजङ्गभञ्जनकृते मान्यो हिमान्यागमः।।१७।।

◆

शैशिरीश्रीः

यस्यां मन्दौ रविसितकरौ तेजसा संविधाने
दीप्तोऽप्यग्निर्निमिषति भृशं का कथा तारकाणाम्।
व्यावृण्वाना तुहिनधवलैः स्वैर्यशोभिर्धरित्रीं
सैषा विद्वत्कविगणसभा शैशिरीश्रीर्विभाति।।१।।

तीव्रं तप्त्वा मनुमनुपमं शीतशैलान्तराले
लब्धोद्रेकः प्रतिवदजनान् जेतुकामः पृथिव्याम्।
अभ्यायातो वनपरिसरं दीर्घहस्तावलेपै-
र्व्याधुन्वानो वहति पवनः पण्डिताखण्डलत्वम्।।२।।

शुण्डादण्डैर्विटपिनिवहोत्क्षेपदक्षा वनान्ते
मत्ता नागाः खनितवसुधामण्डला पोत्रिणश्च।
शृङ्गैः पङ्कान् शिशिरसमये विक्षिपन्तो लुलायाः
लोकक्लेशप्रवणमनसां रीतिमुन्नाटयन्ति॥३॥

संसेवन्ते दहनसहितान् काष्ठकूटान् समन्ताद्
मध्येमार्गं सुजनरचितान् यात्रिणः सानुरागाः।
नानाकार्येष्वथ नियमिता यत्र कुत्रापि लभ्यां
भानोर्भासं तरुणरमणीपाणिकल्पां स्पृशन्तिः॥४॥

वीताशङ्का शिशिरभयतश्चत्वरे सञ्चरन्तो
बाष्पोद्गारान् वदनविवरादुत्सृजन्तः सहेलम्।
वह्निं लीनं जठरपिठरे हेतुसाध्यादिवार्ता-
क्लेशं हित्वा मधुरवचनैः शावकाः साधयन्ति॥५॥

शय्योत्थायं विहितमतयो व्योमयात्रासु केचित्
प्रत्यासन्ना गगनगमनस्थानयानस्य यत्नात्।
सद्यः प्रोद्यद्दिनकरकराच्छादयित्र्या हिमान्या
भग्नोत्साहाः पुनरपि निजावासमेवाऽऽश्रयन्ते॥६॥

रुद्ध्वा वातागमनमभितो विद्युदूष्मानुकूले
हर्म्ये रम्ये पटुतरपटप्रावृताशेषकायाः।
माध्वीपानालससुनयनादत्तहस्तावलम्बा
नूत्ना यक्षाः शिशिररजनीरुत्सवैर्यापयन्ति॥७॥

सम्प्रत्येके सह सहचरैर्बद्धकक्षाः प्रयान्तो
हस्ताहस्तिद्रुतविरचितारोहणा वाहनेषु।
कुम्भस्नाने निहितहृदया हेमकुम्भस्तनीना-
मङ्गासङ्गात् सुकृतमधिकं भाग्यलभ्यं भजन्ते॥८॥

भङ्गा मूका वनपरिसरे नो पिका वावदूका-
श्चन्द्रज्योत्स्ना क्षरति न रसं पुष्पबाणा विशीर्णाः।
वातो यातो मलयनिलयः किन्तु कामः प्रकामं
लब्धोत्साहो नगरतरुणीतुङ्गवक्षोरुहेषु॥९॥

श्रद्धाशुद्धाः शुचितरधियो ब्रह्मवेलाप्रबुद्धा
गङ्गास्नाने शिशिरवशतो दन्तवीणाप्रवीणाः।
जप्यं किञ्चिन्मनसि सततं भूसुरा भावयन्तः
सन्त्यद्यापि क्षपितकलुषा ये क्षितिं धारयन्ति॥१०॥

वाराणस्यां सुरवरगिरां रक्षणे दक्षिणाना-
माशास्तम्भः किरणमसृणो विश्वविद्यालयोऽयम्।
स्वान्तोद्यानप्रकटकवितापुष्पसौरभ्यरम्या
नम्या सर्वैरिह सहृदयैः शैशिरीश्रीरुदेतु॥११॥

■

ब्राह्मे मुहूर्ते त्रिदशापगायां
मिमङ्क्षतां संयतमानसानाम्।
भूयो हिमानीजनितो न रोद्धुं
प्रवृत्तिमीष्टे खलु गात्रकम्पः॥१२॥

नवं वयः कान्तिमती तनुश्री-
र्यदा मनोजस्त्वयि दत्तझम्पः।
ततः प्रियस्पर्शवशंवदायाः
किमत्र चित्रं यदि गात्रकम्पः॥१३॥

अकारणोद्भूतपराभ्यसूया
विषप्रभावस्थिरमानसानाम्।
दुरन्तदुष्कर्मणि नैव शङ्का
न वा भयं नाऽपि च गात्रकम्पः॥१४॥

शिवाभ्यर्चनानन्दसन्दोहधारा-
निमग्नान्तरङ्गः कृती कोऽपि धन्यः।
यदीयेक्षणे प्रेमवारिप्रवाहः
सरोमोद्गमो मोदते गात्रकम्पः।।१५।।

विलोलालकानां शिशूनां प्रभाते
हिमानीवृते पाठशालोन्मुखानाम्।
विनोदं विधत्ते मुखे दन्तवीणा
सबाष्पा मुहुः कल्पितो गात्रकम्पः।।१६।।

■

समुन्मीलत्कुन्दावलिमिलितमन्दानिलदिशा
समारब्धस्पन्दानुपवनमिलिन्दान् विरचयन्।
समन्दाक्षान् यूनः कुसुमशरसन्धानविकलान्
विधत्ते सानन्दान् प्रणयरसबन्धाय शिशिरः।।१७।।

कीर्णाऽनेकतुषारहारनिकरः सिद्धार्थविद्धाखिल-
प्रान्तः कान्तदिवाकरांशुमसृणस्पर्शः प्रभातोदये।
रोमाञ्चाहितकञ्चुको मृगदृशां वक्षोरुहालिङ्गन-
व्यासङ्गप्रणयी प्रवाति शिशिरे सानन्दमन्दानिलः।।१८।।

■

समस्यातरङ्गः

परम्परा

निरस्तदुस्तर्कतमिस्रडम्बरा
नमज्जनानन्दविधानसत्वरा।
शिवादिमद्देशिकरूपभास्वरा
प्रणम्यते काऽपि मया परम्परा॥१॥

प्रभावती तावदियं भवेद्धरा
समस्तविज्ञानविशेषसादरा।
प्रकाशते यावदुपासनाशतै-
र्विवर्धिता वेदविदां परम्परा॥२॥

सुधारसस्यन्दविमर्दनोद्धुरा
विवेकसिद्धाञ्जनदानतत्परा।
महाकवीनां भरतावनौ चिरा-
दुदञ्जिता भाति गिरां परम्परा॥३॥

कवीश्वरैः संस्कृतवाङ्मयाम्बुधि-
प्रमन्थनोपात्तसदुक्तिमौक्तिकैः।
विभूष्यते यत्कविभारतीबुधै-
र्धिनोति सास्मान् महिता परम्परा॥४॥

मृता कथं स्यादमृताशिनामियं
सरस्वती सारवती रसातले।
प्रमाणयन्तीव निजाशयोदयं
विभाति नव्या कविता परम्परा॥५॥

विवर्णभावं दधती मुखे मुहुः
स्खलत्पदा दर्शितदोषसञ्चया।
रसप्रदानेन चिकित्सिताऽपि किं
निरामया स्यात्कुकवेः परम्परा।।६।।

नवीनशिक्षाक्रमभारधारणे
क्षमेति निर्णीतगुणाधिकारिभिः।
विलोक्यतां नूतनरासभास्वरा
गवेषणोपाधिभृतां परम्परा।।७।।

तिरोहिते दूषणघोषणा जने
पुरः प्रणामाञ्जलयः स्मिताञ्चिताः।
चकास्ति काचिच्चरणस्पृशामियं
निशाचराणां महती परम्परा।।८।।

भवदवभवं तापं पापं निरस्य चिरस्य या
दिशिति कुशलोद्रेकं सेकं सुधामयमान्तरम्।
भरतवसुधासौभाग्यश्रीरुपैतु मुदे पुनः
सकलजगतां विद्यावल्लीविकासपरम्परा।।९।।

■

सिद्धयः

मल्लानां भुजमण्डले नयविदामाभाशणोपक्रमे
ध्याने योगजुषां स्वरे च मधुरे सङ्गीतभङ्गीभृताम्।
प्राचीने रससङ्ग्रहे च भिषजां रूपे कुरङ्गीदृशां
सत्काव्ये प्रतिभावतामभिमताः खेलन्त्यहो सिद्धयः।।१।।

यः सर्वामररश्मिपुञ्जविहिताकारामुदाराशयां
भक्तानामवने नवीनकवने स्फारां गिरं तन्वतीम्।
दुर्गामाश्रयते यतेन मनसा सङ्कल्पकल्पद्रुमाः
सद्यस्तस्य समुद्भवन्ति जगतामिष्टार्थदाः सिद्धयः।।२।।

नीपैरुल्लसितं पयोदनिवहैरुद्गर्जितं केकिभिः
सानन्दं परिनर्तितञ्च सहसा वातैरभिस्पन्दितम्।
गोपस्त्रीहृदयान्तरं स्मृतिभुवा साटोपकास्कन्दितं
वंशीचुम्बनचञ्चले मधुरिपौ लीलोदिताः सिद्धयः।।३।।

◆

दक्षिणा

देवः कोऽपि समर्च्यतां हरिहराकारावतारोच्चयात्
पूजा काऽपि विधीयतां बहुविधा नास्माकमत्राग्रहः।
विद्वद्वैदिकमल्लतल्लजमये विश्वेशलीलालये
किन्त्वेका यजमान! मानसदृशी देया महादक्षिणा।।१।।

नेत्रे किं श्रुतयोऽथवा करगताः पञ्चैव भूतानि वा
सन्त्येते वसवो नु हन्त चलिता रुद्रा नु मुद्रात्मकाः।
इत्येवं यजमानपाणिपुटकात्प्रादुर्भवन्ती भृशं
विप्राणां तरलीकरोति हृदयं प्राणाप्रिया दक्षिणा।।२।।

काप्युग्रा परिपीयते प्रणयिनी यस्यां कषायीकृता
भोज्यं यत्र च तिन्तिणीरसयुतो नव्यौदनः प्राप्यते।
भाषा यत्र च टङ्कताडितशिलातुल्या तथाप्युच्चकै-
र्लोकानन्दनचन्दनैकजननी धन्यैव दिग्दक्षिणा।।३।।

सज्जः सज्जनपीडनाय सततं पैशुन्यपारङ्गतः
सङ्गत्या खलमण्डलस्य सदसां सद्यः सदस्यायितः।
दुष्कर्मातिशयात्पिशाचपदवीं जीवन्नपि प्राप यः
प्राप्या भैरवदीर्घदण्डविषमा तेनाऽधुना दक्षिणा।।४।।

यत्रात्मा यजमानतां कलयते श्रद्धा च पत्नीयते
कायः काष्ठगणायते स्वहृदयञ्चाधारवेदीयते।
मन्युर्यत्र पशूयते समुदितं तीव्रं तपोऽग्नीयते
यागेऽस्मिन् श्रुतिसम्मते निगदिता वाङ्निर्मला दक्षिणा।।५।।

या विश्वप्रसवोद्धुराऽप्यविरतं ख्याता कुमारी श्रुतौ
या नग्नाऽपि कुलाङ्गनासु नियतं लज्जात्मना दीव्यति।
नीरूपाऽपि च या बिभर्ति बहुधा रूपाणि सा शाम्भवी
वामा वाञ्छितपूरणाय भवतां भूयात्सदा दक्षिणा।।६।।

सम्भाव्यते

धरासुरकुलाङ्कुरैः सविनयाऽनुबद्धादरैः
श्रुतिस्मृतिसमर्जने यदि मनः समाधीयते।
ततः सितयशोलतासुरभितालयस्थापनात्
चिराय सुरभारती समुदयोऽपि सम्भाव्यते।।१।।

स्वभावचपला मतिः स्फुरति शास्त्रजाले गतिः
समुन्नतपदे स्थितिर्बुधजनावमाने रतिः।
यदि प्रथमयौवनज्वरपराहतस्येदृशी
दशा परिमितोऽधिके वयसि किन्न सम्भाव्यते?।।२।।

समुन्नतघनस्तनस्फुरितविभ्रमारम्भया
न यस्य विकलीकृतं किमपि मानसं रम्भया।
धनं तृणमिवातुलं जगति येन वा भाव्यते
महापुरुषशेखरप्रथमताऽस्य सम्भाव्यते।।३।।

माधवीया

दिक्सुन्दर्यो विमलवदनाः सस्मिताश्चन्द्रिकाभिः
प्रातर्वातः परिमलपरीरम्भरम्यो यदेति।
लब्धोन्मेषा यदिह विपिने काकली कोकिलानां
स्वाराज्यश्रीस्तदिह परितो दृश्यते माधवीया।।१।।

चञ्चन्नेत्रभ्रमररुचिरा चन्दनालेपसम्पत्-
सौरभ्याढ्या सकलनयनानन्दसन्दोहहेतुः।
कण्ठाश्लेषप्रणयनिपुणा विस्फुरच्चारुवर्णा
बाधां राधा हरतु सुधियां स्रग् यथा माधवीया॥२॥

■

प्रत्यभिज्ञा

यश्चिद्व्योम्नि प्रसृमरतमःस्तोमसंरुद्धमार्गः
क्षीणः क्षीणः श्रयति कलया दुर्विभाव्यामवस्थाम्।
पूर्णाहन्तामृतमविकलं प्राप्य स स्वात्मचन्द्रः
प्राप्नोति स्वां स्थितिमिति मता शाङ्करी प्रत्यभिज्ञा॥१॥

सम्प्राप्तेऽपि प्रणयिनि पुरो विस्मृताशेषवृत्ता
ज्वालाजालैर्मदनदहनस्यावृतेवाऽऽकुलाङ्गी।
नैवाऽज्ञासीत्किमपि ललना किन्तु सख्याः प्रबोधात्
यत्प्रेयांसं परिचितवती साप्यहो प्रत्यभिज्ञा॥२॥

■

भारती

नन्दनावचितपुष्पभृत्करै-
र्याऽमरैर्विहितपादवन्दना।
बन्धनानि मनसो भिनत्तु मे
सारतीव्रमतिदाऽद्य भारती॥१॥

यत्कृपातरणिमात्रसंश्रयाद्
गोष्पदीभवति वाङ्मयाम्बुधिः।
सा समस्तसुरवृन्दवन्दिता
नन्दिताऽऽनतजनाऽस्तु भारती॥२॥

भानुमानपि न यत्र भासते
नानुमानमपि याति यत्पदम्।
तत्पदप्रदवदान्यतावती
साऽवतीर्णकरुणाऽस्तु भारती।।३।।

■

का कथा

सत्पक्षाः सुयशोविनिर्मलरुचो ब्रह्मानुरक्ता द्विजाः
प्रोत्तुङ्गं प्रविलङ्घ्य शैलशिखरं सन्मानसं यान्ति ते।
गेहप्राङ्गणवृक्षपोतकशिखाक्रीडैकहेवाकिनो
व्यायामस्तव चाटकैर! विरम स्पर्धासु तैः का कथा।।१।।

साहित्याध्वविहारिणीं सुमनसां सद्यो मनोहारिणीं
वाचं चारुपदक्रमां सुमधुरच्छन्दोऽम्बरप्रावृताम्।
आकृष्यैव नयन्ति ये निजपथे दुर्बोधपङ्काहते
तेषां मास्तु समागमः कविकुलालापे पुनः का कथा।।२।।

तावच्चण्डमरीचिताण्डवभयं तावद्रजोदण्डकाः
तृष्णा तालुविशोषिणी कृतपदा पान्थ! त्वया क्षम्यताम्।
आयातस्तरसा रसातलसुधावर्षातडिन्मण्डितो
नीलः कोऽपि नवाम्बुदः शमयिता दुःखाध्वनां का कथा।।३।।

■

भासां विलासः

कविकुलनलिनानामुन्मिषत्सौरभाणां
सहृदयमधुपालीलालिताभ्युद्गमानाम्।
अभिनवरससेकः कोऽपि जीवातुरेकः
कमलभववधूटीहासभासां विलासः।।१।।

भवगहनविसर्पद्भूरिचिन्तावितान-
प्रबलदवपरीतस्वान्तसन्तापतान्तिम्।
शिशिरयति वयस्योद्गारकर्पूरपूर-
च्छुरणधवलितानां हासभासां विलासः॥२॥

नियतिविहितनानाजन्मसन्तानसान्द्री-
कृतदुरिततमिस्राबन्धनान्मुक्तिहेतोः।
समुदयति कदाचिच्चारुकारुण्यपुण्य-
प्रमुदितगुरुवाणीबोधभासां विलासः॥३॥

दमयसि न दुरन्तं दुर्वहं गर्वभारं
नयमसि न शिरश्चेदग्रतस्तापसानाम्।
न भवति गतिरुच्चैस्तावकीना न चाऽयं
तव भवति विभूत्यै भाग्यभासां विलासः॥४॥

■

कन्दलयति

अनभ्यस्ते कोषेऽप्यकृतपरिपोषे पदगणे
प्रमाणेऽप्यस्पृष्टेऽप्यनुदयति मीमांसनविधौ।
दृढः श्रद्धाबन्धस्त्रिपुरहरवामाचरणयोः
कवीनां वाग्वल्लीं वदनकमले कन्दलयति॥१॥

सरोमाञ्चोदञ्चत्तुहिननिकुरम्बाकुलतया
जडान् यूनस्तन्वन् निजशरशरव्याश्रितमतीन्।
वितीर्णं हेमन्ताभिधनिजवयस्येन तरसा
धनुर्धुन्वन् कामः किमपि कुतुकं कन्दलयति॥२॥

न गीतिर्भृङ्गाणां पिकवचनरीतिर्न च वने
न हंसानां शंसा क्वचिदपि न केकाकलकलः।
न चन्द्रो निस्तन्द्रस्तदिह मदनः केन विधिना
न जाने हेमन्ते भुवनविजयं कन्दलयति॥३॥

न च स्नानं ध्यानं निरवधिविधानं जपविधे-
र्न च ज्ञानं दानं विमलमवदानञ्च रचितम्।
विधत्ते कल्याणं सपदि न तथा श्रीशिवगुरो-
र्यथाऽपाङ्गालोकः प्रशमविभवं कन्दलयति।।४।।

◆

मण्डनम्

लोकोल्लङ्घिगुणानुबन्धजटिलां नूत्नां कवित्वच्छटां
व्याख्यातुं समुदित्वरेषु सदसि स्वायम्भुवेष्वाग्रहात्।
सारासारविचारचारुवचसां सौजन्यधन्यात्मनां
विद्योद्यानविहारिणां सुमनसां मौनं परं मण्डनम्।।१।।

ज्ञानं ब्रह्मनिरूपणप्रणयिनां गानं सभाध्यासिनां
दानं वैभवशालिनां मतिमतां सानन्दमाभाषणम्।
हास्यं वामदृशां कवीन्द्रवदने लास्यं सुधास्यन्दिनां
सूक्तानामिति मे विभाति वसुधामान्यं चिरं मण्डनम्।।२।।

लब्ध्वा मन्दरघर्षणानि शतशः क्षीरोदनीरोदराद्
उद्भूतो बहुधाऽथ राहुवदनग्रस्तो निरस्तो बहिः।
पीताऽशेषरसोऽपि कैश्चन ततः क्षामोऽपि वामो दृशां
जातो हन्त शशी कयाऽपि कलया शम्भोः शिरोमण्डनम्।।३।।

लज्जा क्वाऽपि ममज्ज सज्जनकथा नीता व्यथापात्रतां
नीतिर्भीतिमुपेयुषी विगलिता सत्यस्य हत्योद्यमः।
यद्दिल्लीनगरे गरीयसि गिरां दूरे जराजर्जरै-
रारब्धं नयमार्गखण्डनमुत स्वीयं शिरोमण्डनम्।।४।।

◆

जीवनं भारभूतम्

मन्दं मन्दं नदति मुदिरे मोदमाना मयूरा
नृत्यारम्भैर्वनपरिसरे स्वागतं व्याहरन्ति।
लोकान् वाचा मधुरसमुचा नार्चयन्ति क्षणं ये
तेषामीर्ष्याकलुषितगिरां जीवनं भारभूतम्।।१।।

कालव्यालो दशति तरुणान् निर्घृणो दीर्घमायु-
र्निन्दत्यन्ये विकलकरणाः पूरुषा जीर्णदेहाः।
सस्यं शुष्यत्यनुदिनमितश्चान्यतो वारिपूरः
क्रूरः कालो नटति बहुधा जीवनं भारभूतम्।।२।।

येषामन्तःकरणसरणिर्वीतरागानुषङ्गा
गङ्गाम्भोभिश्चिरपरिचयः सन्ततं साधुसङ्गः।
सौजन्यश्रीललितवपुषामीदृशां भासते किं
कालेऽप्यस्मिन् मलिनचरिते जीवनं भारभूतम्।।३।।

प्राक्पुण्यौघाद् गुणवति कुले जन्म लब्ध्वाऽथ हृद्यां
विद्यामुच्चैः पदमपि न ये त्यागलेशं भजन्ते।
प्रातः प्रातः पणकगणनव्याकुलानाममीषां
तृष्णादासीमुषितमनसां जीवनं भारभूतम्।।४।।

■

किन्नाम तप्तं तपः

प्रातः प्रातरुपास्यतां सुरसरित्तीरं समीराञ्चितं
जप्यं किञ्चन चिन्त्यतां हरिहराकारे चिरं लीयताम्।
तृष्णावारवधूपदाम्बुजरणन्मञ्जीरमञ्जुस्वन-
व्यामोहाकुलितैः स्थितं यदि बुधैः किं नाम तप्तं तपः।।१।।

शापक्षीणकलेवरोऽपि कुटिलाकारोऽपि मारोद्यमं
कुर्वाणोऽपि कलङ्कमङ्कमिलितं नित्यं दधानोऽपि यत्।
मूर्ध्नि स्वे निहितोऽसि विश्वगुरुणा त्वं कर्मणां साक्षिणा
शीतांशो! कथय त्वया तदतुलं किं नाम तप्तं तपः।।२।।

■

चूर्णयामः

भव्या सुरासुरशिरोनमिताङ्घ्रिपद्मा
पद्माश्रिता जयति भारतभूतधात्री।
धात्रीव या त्रिजगतामिह तद्विरुद्धान्
दिग्दन्तिदन्तमुसलानपि चूर्णयामः।।१।।

व्यासाक्षपादभरतादिगिरां प्रवाहै
रिक्तान् जनानपि धिया परिपूर्णयामः।
भीमार्जुनोदितदिशा समरप्रतीपान्
दिग्दन्तिदन्तमुसलानपि चूर्णयामः।।२।।

■

कालस्य लीलायितम्

पूर्वस्यां दिशि पद्मरागरुचिरं संवीक्ष्यते मण्डलं
चण्डांशोर्नवनीतपिण्डमिव यत् सायं वपुश्चैन्दवम्।
तन्मासर्तुमुखैर्निजैः प्रियसुहृद्वृन्दैर्मुहुः कन्दुक-
द्वन्द्वं निक्षिपतः परस्परमिदं कालस्य लीलायितम्।।१।।

येनोन्मूलिततुङ्गपादपमदाध्मातेभकुभस्थल-
च्छेदोड्डामरविक्रमेण हरिणा भ्रान्तं वनाभ्यन्तरे।
तस्याद्य स्थविरस्य शीर्णवपुषः कर्षन्त्यमी केशरान्
काकाः केचन कानने कटुतरं कालस्य लीलायितम्।।२।।

यत्तातः किल बाहुदण्डविलसत्कुद्दालकः काष्ठभिद्
ग्रामेष्वाप परिश्रमेण महता मुष्टिद्वयीपारणाम्।
दैवात्तत्तनयो नयोन्नतमतिः सम्प्राप्य तुङ्गं पदं
शस्त्रज्ञानपि धिक्करोति यदि तत् कालस्य लीलायितम्।।३।।

देशो यस्य नवीननीतिरचनाचातुर्यचारुक्रमा-
दाश्वस्तः परचक्रभञ्जनविधौ धत्ते स्म धैर्यं महत्।
सोऽयं सत्यसुधाम्बुधिः शितमतिर्यत्ताशकन्दे लयं
प्राप्तो लालबहादुरस्तदखिलं कालस्य लीलायितम्।।४।।

■

हिमालयो निम्नताम्

न चण्डकरमण्डलं तुहिनपिण्डशीतं भवे-
न्न वा व्रजति मन्दतां जलधिमध्यगो वाडवः।
न भारतभटः क्षणं त्यजति शौर्यमत्युत्कटं
न याति महिमालयो भुवि हिमालयो निम्नताम्।।१।।

मृगाधिपतिपृष्ठतः परिलुठन्तु कीटाः शतं
न तैः किमपि हीयते समशौर्यवारांनिधेः।
कदर्यजनसेनया गुणविहीनया लङ्घितो
न याति महिमालयो भुवि हिमालयो निम्नताम्।।२।।

■

इन्दिन्दिरो निन्दति

प्रसन्नमन्तर्ललितं प्रबन्धं कवेरुदञ्चन्नवभावबन्धम्।
रसज्ञवृन्दं रसयत्यमन्दं नेन्दिन्दिरो निन्दति यन्मरन्दम्।।1।।

भ्रामं भ्रामममनातरं परिमलारम्भेण सम्भावित-
स्वैरोद्यन्मधुमासवैभवभरे लीलावनाभ्यन्तरे।
राधामञ्जुमुखाम्बुजोद्भवसुधासौरभ्यरप्ये परा-
ऽऽनन्दे लग्नमनास्तरून् कुसुमितानिन्दिन्दिरो निन्दति।।२।।

■

धत्ते विधत्तेतराम्

दोलां पङ्कजलोचना सुमनसां वृन्दान्मिलिन्दावली
चञ्चत्पञ्चमचातुरीं पिकवरः सौरभ्यमम्भोजिनी।
सङ्गीतं नवभृङ्गसंहतिरिह प्राप्ते मधौ कौतुका-
दारोहत्यवरोहति प्रकुरुते धत्ते विधत्तेतराम्।।

■

प्रसरीसरीतु

देवी गिरां मनसि मे विजरीहरीतु
शक्तिं निजां निरुपमां वितरीतरीतु।
सूक्तिः सदा सरलताञ्च बरीभरीतु
चेतश्चमत्कृतकरी प्रसरीसरीतु।।

■

कुशलीभवन्तु

दैवस्य खण्डपरशोश्चरणाभिघाताः
पापात्मनां शिरसि ते मुशलीभवन्तु।
द्रुह्यन्ति ये कविजनाय मनोज्ञवाचां
शुद्धात्मनां पुनरिमे कुशलीभवन्तु।।

■

याति चूडामणित्वम्

देहं गेहं तृणमिव हृदा मानयन् मानवित्तो
धीरः क्लेशैर्जगति बहुभिर्वन्द्यतामभ्युपैति।
सूर्याग्नौ स्वां तनुमविकलामाहुतीकृत्य नूनं
चन्द्रः शम्भोः शिरसि सहसा याति चूडामणित्वम्।।१।।

कामं सन्तु प्रकटितमहाकाव्यभव्यार्थबन्ध-
प्रौढव्याख्याविदितधिषणाः पण्डिता मण्डिताशाः।
धन्यो मान्यः कविरिव कविः केवलं सूक्तिवर्षी
रत्नं लोके न खलु निकषो याति चूडामणित्वम्।।२।।

कालः कश्चित् कुटिलचरितः कल्पनां नाधिशेते
यः संयोगं घटयितुमलं वञ्चनायैव पुंसाम्।
प्राप्तः पाणिं यदि नरपतेर्नेत्रहीनस्य दैवाद्
मृत्खण्डो वा मणिरपि समं याति चूडामणित्वम्।।३।।

■

बाधा न साधारणी

मान्द्यं विन्दति चन्दनं कमलिनीपत्रञ्च न त्रायते
शैवालं शिथिलीकृतं समुदितैः किन्तालवृन्तानिलैः।
इत्थं जल्पति कल्पनाहितमतिस्तस्या वयस्याजनो
राधायाः शिशिरोपचारकरणे बाधा न साधारणी।।१।।

नानादेशधुरन्धरार्चितपदद्वन्द्वस्य यस्याऽनिशं
बाहुस्तम्भनिवासिनी विजयते शान्तिर्जयश्रीरिव।
ब्रह्माण्डग्रहमण्डले वलयिते राकेटरक्षोगणै-
स्तस्योदेति जवाहरस्य पुरतो बाधा न साधारणी।।२।।

■

नन्दनो भारतस्य

द्विजबटुरसहायः शेमुषीमात्रकायः
समुदितनयदीव्यन्मौर्यसाम्राज्यमायः।
विजनतृणकुटीरैकाश्रयः सर्वमान्यः
प्रशमितनवनन्दो नन्दनो भारतस्य।।१।।

मध्येमार्गं धरायाः सलिलनिधिमहापोतवीथीनिरोधे
वाणिज्योद्गाढरागात्समरभरसमारम्भसम्भावनायाम्।
विश्वस्मिन्नीतिरीतिप्रगुणितमतयो यन्मुखस्पन्दमेकं
सिद्धान्तं कामयन्ते स परमनुपमो नन्दनो भारतस्य।।२।।

■

यावन्न धत्ते पदम्

पौराणां परिषत्सु बान्धवजनेष्वानन्दसन्दोहद-
स्नेहोदारसुहृत्कथासु गृहिणीविस्रम्भवार्तास्वपि।
तावद्भाति सदादरो नरमणेर्दैवाद्रसज्ञातले
देहीत्यक्षरदुर्निबन्धरचना यावन्न धत्ते पदम्।।१।।

आकृष्टैर्जटिलैः पदैः कतिपयैरस्थानसंस्थापितै-
श्छन्दोबन्धनबन्धुराऽपि भणितिर्न स्यात्प्रशस्या विदाम्।
मृद्वीकामधुमाधुरीसहचरी नैसर्गिकी वाग्झरी
विद्वन्मानसजित्वरी कविमुखे यावन्न धत्ते पदम्।।२।।

■

वदन्तु धीराः

कीरावली कलरवा वसुधा सुधांशो–
रंशुच्छटा सुनयनानयनान्तपातः।
नावर्जयन्ति यमिमे पुरुषावतारं
सारं तदीयचरितस्य वन्दन्तु धीराः।।१।।

सीरायुधस्य महिमानमुदञ्चयन्ती
वीरादृता रणमहोत्सवपूरणाय।
सन्त्यज्यते न बहुधापि निरस्यमाना
नीराऽद्य चित्रमिह किं प्रवदन्तु धीराः।।२।।

■

यज्ञोपवीतम्

वामार्धोद्यत्कुचपरिसरालिप्तकाश्मीरनीरै–
रारक्तश्रीः सितभसितभाभासितो दक्षभागे।
मन्दाक्रान्ताखिलवपुरसौ वासुकिश्चित्रवर्णः
शुद्धां बुद्धिं दिशतु शिवयोर्दिव्ययज्ञोपवीतम्।।१।।

सन्ध्या वन्ध्यापदमपगता वेदवर्णा न कर्णा–
भ्यर्णं यान्ति क्वचिदपि कथागोचरं योगकर्म।
सम्प्रत्येकं कतिपयगुणाधारमाराद्द्विजानां
कण्ठोपान्ते लुठति नयनानन्दि–यज्ञोपवीतम्।।२।।

वदति नववधूटी विप्रकर्मानुरक्तं
दयितमतनुनव्याकल्पविन्याससक्ता।
शिरसि रचय केशान् छिन्धि सद्यः शिखां तां
परिहर हृदि रज्जुस्पर्धि-यज्ञोपवीतम्॥३॥

■

कमलिनी

तुषारव्यापारैः खलनिकरसञ्चारसदृशै-
रविस्फूर्जत्तेजस्युपरमति नाथे दिनमणौ।
विलुप्यद्व्यालोलभ्रमरपरिवारा मुकुलिता-
धरस्पन्दा सन्दानितहृदयबन्धा कमलिनी॥

■

दिव्यौषधम्

शास्त्राभ्यास! भजस्व मौनपदवीं सौजन्य! निद्रां व्रज
स्वेच्छाचार! कृतं त्वदीयकथया पुण्य! प्रयाहि द्रुतम्।
वाञ्छस्यद्य समुन्नतं यदि पदं भद्र! स्फुटं श्रूयतां
भण्डोद्दण्डपिचण्डपूरणकला तस्याऽस्ति दिव्यौषधम्॥१॥

क्लेशावेशवशीकृतस्य नितरां बाधाप्रबन्धोदयैः
किंकर्तव्यविमूढताहतधियो धर्मैकतानात्मनः।
चिन्तासन्ततितापपापविलयव्यापारपारङ्गमं
स्वच्छन्दामृतवर्षि विश्वजननीनामैव दिव्यौषधम्॥२॥

■

नीले सुवर्णायते

प्रादुर्भूतघनध्वनिप्रतिभटैर्ध्वानैर्दिशः कम्पयद्
भासां वासरनायकस्य निवहैरालिङ्गितं सर्वदा।
वेगाल्लोकविलोचनातिगवपुर्मानं विमानं नभो-
विस्तारे निकषे महेन्द्रमणिवन्नीले सुवर्णायते॥

■

अपौरुषेयम्

निजाङ्घ्रिपङ्केरुहभक्तिभाजां
निरन्तरायाभ्युदयैकसक्तम्।
उमाङ्गसञ्जातमनन्तगेयं
महः परं किञ्चिदपौरुषेयम्।।१।।

द्राक्षासु साक्षादमृतोपमासु
वाग्वल्लकीमञ्जुलगुञ्जितेषु।
माधुर्यधुर्यं यदुदेति तत्त्वं
विदग्धवैद्यं तदपौरुषेयम्।।२।।

स्त्रियो धियां किन्निधयो न सन्ति?
प्रकर्षतन्त्रं भुवि पौरुषेयम्।
मुरारिमारादवमत्य रूढा
यदिन्दिरा किन्तदपौरुषेयम्।।३।।

■

वेदाभिधानं महः

विश्वेषामशिवप्रमोषविधये बद्धावधानं दधत्
नानाशास्त्रकलाकलापकलनाबीजाञ्जलिं स्वान्तरे।
शिष्याचार्यपरम्परापरिचयप्रादुर्भवत्प्रातिभ-
ज्योत्स्नाऽऽलोकमनोहरं विजयतां वेदाभिधानं महः।।१।।

कल्पान्तप्रथमानभैरवरवव्याघूर्णमानाम्बुधि-
त्वङ्गद्भूरितरङ्गसङ्गरवशाद् व्यालुप्तमप्यञ्जसा।
प्रोन्नीतं नृवराहविग्रहवता देवेन दंष्ट्राबलाद्
ध्वान्तं नाऽद्य हिनस्ति किन्नु जगतां वेदाभिधानं महः।।२।।

■

न जानीमहे

शैलेन्द्रात् सुरवाहिनीव भगवद्वक्त्राम्बुजादुद्गता
विद्या वेदमयी मखानलशतज्वालागलत्किल्विषा।
सायं प्रातरुपासिता बटुगणैस्तेजोमयी भारते
भूयो धास्यति लास्यमास्यसदने किं वा न जानीमहे।।१।।

श्रद्धाराद्धगुरुप्रदत्तविभवाऽऽबद्धाशयाः शान्तये
लोकानां निरुपाधिकश्रमजुषः शीलैकशालायिताः।
सर्वाकारमनोहराः सहृदया लभ्या धरित्रीतले
द्वित्राश्चेत्पुरुषेण मङ्गलमतः किं वा न जानीमहे।।२।।

सेवन्तामितर वराभयकरव्यापारविश्वासित-
स्वान्ताद्भक्तजनादुपात्तविविधाऽऽहारोपहारान् सुरान्।
ज्वालाजालजटालमाशु पिबतो हालाहलं हेलया
रक्षायै जगतां वयं वरमितो देवान्न जानीमहे।।३।।

■

कृष्णमेघः

शम्पा यस्मिन्नकम्पा निवसति जगताम्पालने सानुकम्पा
यस्य श्लाघां निलिम्पाः श्रुतिमधुरपदैः साधु सम्पादयन्ति।
पुण्यैः कश्चिद् विवेकी सरसकवितया जायते यस्य केकी
तृष्णां व्याधूय पुष्णात्वयममृतरसैर्वृष्णिभूः कृष्णमेघः।।१।।

वृन्दारण्योद्भवासु प्रचलदलिकुलस्पर्धिनेत्रोत्पलासु
व्यावल्गाद्विभ्रमासु स्मितसितसुमनःसौरभामोदितासु।
तारुण्यश्रीफलासु प्रणयरससुधास्वादनायोत्सुकासु
क्रीडन् कान्तासु तासु प्रमदयतु मनःकाननं कृष्णमेघः।।२।।

नैसर्गिकप्रणयिनां हृदयालवाले
ककारुण्यवारि विकिरन् भवतापहारि।
संवित्तडिद्किरणदर्शितसत्यमार्गः
सान्निध्यमञ्चतुतमां मम कृष्णमेघः।।३।।

■

तासु तासु

चेतोमिलिन्द! भवबन्धविभेदनाय
सन्धेहि देशिकपदाम्बुरुहानुबन्धम्।
अत्युग्रकण्टकशताकुलितासु मा गा-
स्तृष्णानदीतटविचारलतासु तासु॥१॥

आमन्त्र्य कान्यपि पदानि पुरः प्रसर्प-
न्नाट्योत्कटासु विकटारभटीहठासु।
को वा रमेत विरसासु मृषानुबद्धा-
ऽऽश्लेषोत्सवासु कुकवेः कवितासु तासु॥२॥

काचिन्नटीव निजरूपमुदीक्षमाणा
सा चिन्नटी नटति जीवनरङ्गभूमौ।
प्रारम्भबाल्यतरुणत्वजराविराम-
चित्रासु दर्पणदशास्विह तासु तासु॥३॥

व्यस्तन्यस्तप्रशिथिलपदश्रेणितन्तन्यमान-
प्रौढिच्छायाच्छुरणविरलीभूततत्त्वार्थभासु।
छन्दोबन्धच्छविरविरुचां कालरात्रिप्रभासु
स्निग्धः को वा भणितिषु भवेद् भूतजातासु तासु॥४॥

भर्तुः कोपाद् विरहविधुरस्याशु यक्षस्य वाचं
तत्प्रेयस्याः श्रवणमणितां प्रापयन् कृष्णमेघः।
नुन्नः खिन्नः कविकुलगुरुप्रेरणामारुतेन
स्नेहाबन्धं व्यतनुत पथि ग्रामकान्तासु तासु॥५॥

■

नामापि न ज्ञायते

आबाल्याद् गुरुसन्निधानवशतः प्रोन्मीलितप्रातिभा-
ऽऽलोका लोकसमादृताः सदसतोर्भेदावगाहक्षमाः।
विद्वांसोऽपि कलौ खलीकृतधियो सज्जन्त्यसज्जल्पने
तेनैवाद्य विवेकवासितहृदां नामापि न ज्ञायते॥१॥

कालिन्दीकमनीयकूलविलसत्कादम्बवाटीनट-
द्वीपीलोचनकैरवामृतकरे कारुण्यधाराधरे।
लग्नं यस्य मनो मनाङ्मतिमतो धन्यस्य तस्यान्तिके
कालस्यास्य कलेः कलेवरपुषो नामापि न ज्ञायते।।२।।

श्रीमद्भारतभूमिदास्यदलने सन्धानुबन्धाच्चिरं
बन्धात्तां विरहय्य कीर्तिविशदास्तुङ्गं पदं लेभिरे।
ये तुच्छीकृतकीर्तयो निजतनुच्छेदेऽपि मौनं श्रिता-
स्तेषां हन्त! महात्मनां जनमुखे नामापि न ज्ञायते।।३।।

वामा यत्र चरन्ति पूरितपुराऽऽरामा निशासङ्गमे
सामाद्या न गिरः स्फुरन्ति परितः कामार्थमात्रोद्यमे।
दामान्यत्र नवे युगे न च पुनर्धामानि धर्मात्मनां
'मामा'वादवशाद् विशुद्धमनसां नामापि न ज्ञायते।।४।।

◆

शिखण्डिनस्ते

उन्मज्जतीव गगनान्नवकज्जलाभा
  सेना घनाघनमयी विषमायुधस्य।
बालां मृणालमृदुलामुपतापयन्तः
  केकां किरन्ति परितश्च शिखण्डिनस्ते।।१।।

ये सज्जनान् व्यथयितुं विहिताऽवतारा
  भारा भुवः कलहयोजनमात्रसाराः।
ये भोगिभोजनविदः परकार्यसिद्धि-
  व्यापारिता भुवि चरन्ति शिखण्डिनस्ते।।२।।

एकाकिनाऽपि जगदभ्यधिकेन पुंसा
  वंशो निजः सुयशसा न विलिप्यते किम्।
श्रीमत्कुमारचरणाश्रयणप्रभावाद्
  एकस्य गौरवभृतोऽद्य शिखण्डिनस्ते।।३।।

कूलङ्कषा न नयने नयति प्रसादं
नो शाद्वलच्छविरुदेति मुदे जनस्य।
वैश्वानरे जठरसीमनि दीप्यमाने
नोत्कण्ठयन्ति च मनांसि शिखण्डिनस्ते।।४।।

■

परिवर्तनीयम्

उल्लङ्घयन्तु सरितः परितः प्रमत्ताः
क्षुद्रा निजस्थितिममूर्जलदागमेन।
उच्चैर्हरस्य शिरसि स्थितिमाप्तवत्या
गङ्गे! त्वया न चरितं परिवर्तनीयम्।।१।।

वाग्देवतार्चनवशाद् गुरुसन्निधानाद्
अभ्यासतोऽपि कविता वृणुते पुमांसम्।
तस्मात्परस्य सुकवेर्न कदापि काव्यं
सर्वापहारविधया परिवर्तनीयम्।।२।।

रम्यप्रसूननिवहां न विनोदवाटी-
माटीकते भुजग! भीतिभरेण लोकः।
गर्वं त्यज त्वमुपसीदति नीलकण्ठः
स्थानं त्वया ननु रयात् परिवर्तनीयम्।।३।।

■

गणयति

सुधास्यन्दी मन्दीकृतभवनिदाघभ्रमिभरो
जगन्नाथादीनामपि लयमुपेतो मधुझरः।
इदानीं के वा स्युर्नववचनहेवाककलिता-
श्चिरादेवं वाणी परिचलितपाणिर्गणयति।।१।।

प्रियस्येन्दोर्जन्मान्तरविरहसातत्यविधुरा
तदीयां सोदर्यामपि परिचरन्ती कमलजाम्।
अमा रात्रिः सेयं विपुलतरदीपावलिमिषात्
पुनः संयोगस्यावधिदिवसबिन्दून् गणयति।।२।।

■

शल्यानि मे

विद्वांसः सकलागमाम्बुधितलस्पर्शक्षमा मन्दर-
प्रायास्ते कवयः सुधाधिकरसप्रस्यन्दिनो जाग्रति।
धत्से यत् खलखेलितानि वसुधे! प्रदुर्भवद्दुर्नया-
न्यन्तस्तापकराणि तानि हृदये सन्त्येव शल्यानि मे।।१।।

द्राक्षामाक्षिकमाधुरीसहचरे वाचां कवेर्निर्झरे
स्वर्वाहिन्यमलोर्मिकौतुककरे चेतोहरे दीव्यति।
न्यस्तान्याग्रहशालिना कविकलावन्ध्येन मध्ये यदि
द्वित्राणि स्वपदानि भान्ति सततं पाण्डित्यशल्यानि मे।।२।।

नेयं कृष्णनिशा दिशां प्रियसखी शून्या विवर्णाम्बरा
वामा काऽपि कलाधरस्य विरहाद्दग्धा वियोगाग्निना।
नक्षत्राणि समुन्मिषन्ति न पुनस्तस्याः समस्ताङ्कक-
व्याप्तानि प्रतिभान्ति मन्मथधनुर्मुक्तानि शल्यानि मे।।३।।

■

धरित्रीसुतः

दानं यस्य न कीर्तनेन सुलभां बध्नाति मैत्रीं क्वचिद्
मानं यस्य मनो न चुम्बति पदं लब्ध्वाऽपि लोकोन्नतम्।
पानं सूक्तिसुधैव यस्य यशसां दिक्सुन्दरीणां मुखे
गानञ्जीवति स क्षमार्द्रहृदयो धन्यो धरित्रीसुतः।।१।।

यो नाऽऽरोपितभारमुज्झति मनाङ् न द्रुह्यति स्वामिने
न स्वान्ते कपटं बिभर्ति तनुते नोल्लङ्घनं वर्त्मनः।
तादृक् साधुगुणालयः श्रमपरः सम्माननीयो वरं
सर्वेषां महिषीसुतोऽपि न धराभारो धरित्रीसुतः॥२॥

■

महीयते

अहीनमौलिस्थलपादताडनाद्
अहीनसम्भाव्यपराक्रमक्रमः।
महीधरोत्तुङ्गतनुः स्वदंष्ट्रया
महीधरः कोलहरिर्महीयते॥१॥

मनः प्रतिस्पर्द्धिविमानचालन-
क्रमात्तनक्षत्रसहस्रभेदिनाम्।
दिने दिने द्यौरपि सन्निधानतो
निधानतोषाभ्युदया महीयते॥२॥

तरुणिमपरानन्दस्पन्दावहाऽमृतसम्भृता-
दपि मदमिलद्रम्भासम्भावनासुखदायकात्।
विभवविटपिच्छायाच्छन्नान्महेन्द्रपुरादपि
प्रथितसुषमासीमा धन्या महीह महीयते॥३॥

मुदितमनसो मन्दं मन्दं निसर्गगुरुक्रमं
पथिविदधतः पादन्यासं गजाधिपतेर्यदि।
सपदि शुनकस्तुच्छः पुच्छोद्धरो विजिगीषया
चलति पुरतो हेलाशूरः कथं स महीयते?॥४॥

■

गीर्वाणवाणी

शाणीभूता निगमकनकाऽनर्घ्यभावप्रमाणी-
कारे वाणी भवति विदुषां या विवादाऽऽहवेषु।
पाणिन्यस्ता प्रभवति परं सा तथा नो कृपाणी
पाणिन्यस्ता वशयति यथा चारुगीर्वाणवाणी।।१।।

यद्दिव्यप्रणिधानधौतकलुषे प्रत्यङ्मुखे दर्पणे
सद्यः कन्दलितं चिदंशुलहरीविश्वावभासोद्यतम्।
ज्योतिः किञ्चन तत्तपांसि चरतां प्राचां ऋषीणां जगत्-
कल्याणाय विकस्वरं विजयते गीर्वाणवाणीमयम्।।२।।

नानादर्शनसद्विमर्शनमयी साहित्यसौहित्यभूः
शिल्पाकल्पकलाप्रसूरगणिता भाषाः सृजन्ती त्विषा।
विज्ञानोन्नयनक्षमा नवनवान् मार्गान् दिशन्ती धिया-
मद्याऽपि क्षितिमौलिमण्डनमणिर्जीव्यादियं भारती।।३।।

◆

काकली

उपतापपापशमनी वनीलसत्-
कलकण्ठकूजितरसातिशायिनी।
जयतादिलानिटिलचन्दनावली
कविभारतीसुकविवृन्दकाकली।।१।।

चैत्रे चित्रलताप्रसूनविकसत्सौरभ्यहेलामिलद-
भृङ्गालीललितानुयातपवनप्रेङ्खोलिते मानसे।
क्षारं क्षेप्तुमिव क्षते समुदिता माकन्दमाध्वीरसा-
ऽऽस्वादोन्मादिवनप्रियास्यकुहरात् कस्मादियं काकली।।२।।

वर्णस्तुल्यगुणः पदस्थितिरपि प्रायः समाना मधौ
कान्तारान्तरसञ्चरोऽपि सदृशः कान्तारताडम्बरः।
सानन्दं मकरन्दसङ्गतिविधौ सम्यं परं दुर्विधे-
र्वाम्यं काक! वराक! कोकिलकुलोद्गीता न ते काकली।।३।।

◆

धीमहि

गुर्वीभिर्न विकत्थनाभिरमितामुर्वीतले स्वात्मनः
सत्कुर्वीमहि वैदुषीं परिमलस्पन्दानुमेयोदयाम्।
नाऽसूयां हृदये दधीमहि महीदेवोपदेशस्पृशः
स्वान् दोषान् शमयेमहि श्रुतिमतं सत्यं परं धीमहि।।१।।

येनाऽग्राहि नमन्निलिम्पकरुणावश्येन विश्वात्मना
सिन्दूरारुणगण्डमण्डलमिलन्माद्यमिलिन्दं वपुः।
छन्दःकन्दलितप्रभावमतुलस्तम्बेरमाकारितं
तत्प्रत्यूहवनद्रुमौघदलनं तेजः परं धीमहि।।२।।

सन्ध्या यद्वसनायते दिनमणिर्यस्य प्रदीपायते
शीतांशुर्मुकुरायते वसुमती यत्पादपीठायते।
वेदो यद्वचनायते परशिवोऽप्याज्ञाविधेयायते
यद्भक्तस्तिलकायते मतिमतां तद्दैवतं धीमहि।।३।।

■

चातुरी

नाऽऽटोपोत्कटधातुवादघटना नो कोषपोषक्रमो
नो वेमा न तुरी धिनोति हृदयं नो दर्शनस्पर्शनम्।
सज्जा सज्जनरञ्जनाय सुकवेरेका विवेकानुगा
यावत्काव्यविधौ विधौतवचनन्यासा स्थिता चातुरी।।१।।

यच्चञ्चाऽऽयसविग्रहो गणयते संख्या असंख्या अपि
प्राप्यो नीरनिधेस्तलादपि च यत्पन्थाः प्रकाशोज्ज्वलः।
यत्तैलं लवणाम्भसोऽप्युदयते शैवालजालाशनं
यत्पुष्टिश्च तनोस्तनोति तदियं वैज्ञानिकी चातुरी।।२।।

येषां लोचनगोचराः सहचरा मुक्तामणिस्पर्धिनो
बाष्पाम्भप्रचया मनोरमगिरामग्रेसराः सर्वदा।
दुर्धर्षा अपि वश्यतामुपगतास्तेषां नराः किङ्कराः
लक्ष्मीरप्यनुवासरं कृतपदा सा काप्यहो चातुरी।।३।।

ग्रन्थग्रन्थिरुपेक्ष्यतामभिनवा व्याख्याऽपि विख्याप्यता-
माचार्येषु पुरातनेष्ववमतिस्तारस्वरैर्गीयताम्।
किञ्चिन्नूतनसूत्रवार्तिककथाकन्था समुच्चीयता-
मेषा पण्डितपुङ्गवत्वकलनासम्पादिका चातुरी॥४॥

आवृत्य स्वतनुं तुषारवसनैरुत्कम्पिताभ्यन्तरो
यद्वृद्धः शिशिरः प्रयातुमधुना धत्ते पदानि क्षितौ।
सा नूनं मकराधिरोहणवशादुद्वेगमातन्वतो
मार्तण्डस्य कराग्रकाञ्चनकशाक्रीडोद्भवा चातुरी॥५॥

■

भारतीं भारतीयाम्

छन्दःपादाभिरामां घनजघनलसत्तर्कविद्याप्रसारां
पार्श्वोद्यत्सांख्ययोगां हृदयसरसिजोद्भासितब्रह्मतत्त्वाम्।
वक्षोजव्याप्तवेदां पदमयवदनामागमोद्भासिभालां
काव्यालङ्कारहास्यां भजत भगवतीं भारतीं भारतीयाम्॥

■

देववाणी

सर्गारम्भे दहरकुहरोद्भिन्नबालार्ककोटि-
प्रत्यग्राभा प्रणिहितधियां याऽन्तरे ब्रह्मभाजाम्।
आविर्भूता क्रमसमुदयैरुल्लसन्ती चतुर्भिः
सा वो भावोन्मिषितविभवा भासतां देववाणी॥१॥

स्वेच्छानृत्यप्रवणकरुणोद्वेलबालेन्दुचूड-
प्रेङ्खत्पाणिप्रगुणडमरुध्वानधीरावतारा।
पाणिन्याद्यैर्विमलविविधाकारसूत्रोपनद्धा
श्रद्धाराध्या जयति सुधियां सन्ततं देववाणी॥२॥

नीरक्षीरक्रमसमरसौ माधुरीसाधुरीति-
स्यन्दानन्दौ रविहिमकरौ चिन्मयस्याऽम्बरस्य।
सा शब्दार्थौ कविकुलगुरोरञ्जसाऽऽसञ्जयन्ती
शिञ्जद्वर्णा तरुणयतु वः शेमुषीं देववाणी।।३।।

◆

सा दृश्यते

चण्डांशोरपि बाहुमण्डलबलं मन्दं विधत्ते हठात्
शैथिल्यं नयति प्रतापममितं धूमध्वजादुद्गतम्।
कीर्त्या शुभ्रतुषारभासुररुचा लिम्पत्यशेषं जगत्
शौर्यश्रीः शिशिरस्य लोकमहिता सर्वत्र सा दृश्यते।।१।।

यामालम्ब्य सुहृद्गणे पुरजने पुत्रे कलत्रेऽपि वा
शिष्ये स्वामिनि सेवकेऽपि च मनोवृत्तिं जनश्चेष्टते।
तत्कार्यावसरे हिताहितपरीपाकप्रकारोद्गमे
तेषां वित्तिरुपात्तसद्गुणगणा सर्वत्र सा दृश्यते।।२।।

दूरादेव तिरस्कृता बुधगणैर्नालोकिता तापसैः
न ज्ञाता शिशुभिर्नृपैरपि सभामध्याद् विनिःसारिता।
नारीभिर्न निरीक्षिताऽपि च पुरा या भारते साम्प्रतं
नृत्यन्ती खलतानटी प्रतिपदं सर्वत्र सा दृश्यते।।३।।

इन्दुर्विन्दति वक्रतां फणिपतिर्धम्मिल्लतां पल्लव-
ग्रामः कोमलपाणितां धनुरपि भ्रूभङ्गतामञ्चति।
यस्याऽसीमकलाबलात्कविकुलाराध्यस्य नो दृश्यते
सादृश्यं वचनार्णवेऽपि महतां सर्वत्र सा दृश्यते।।४।।

◆

अद्वैतं सुखदु:खयोः

विश्वस्मिन् विभवेऽपि यस्य विगलद्वस्त्रा तनुः श्रेयसी
स्तोत्रं यस्य च पाणिपीडितमुखोद्गारैकसाराक्षरम्।
गङ्गावह्निभुजङ्गचन्द्रशकलान्येकत्र देहे वहन्
अद्वैतं सुखदु:खयोरनुभवत्येकः स योगीश्वरः।।१।।

विद्वन्मण्डनमूढयोः कुलवधूवारस्त्रियोः केसरी-
धावद्वारणयोर्दिनेशतमसोः कादम्बकाकोलयोः।
ऐक्यं चेन्नवजन्मनाऽपि विधिना सम्पाद्यते कौशला-
दद्वैतं सुखदु:खयोरिति तदा धत्तां समस्यापदम्।।२।।

■

आलम्बते

जाता पल्लविनी लता स्तवकितप्रान्ता प्रसूनस्मित-
स्नाता पङ्कजिनी मिलन्मधुकरव्याहारपारङ्गमा।
मन्दं मन्दमुदञ्चयन् परिमलं पाटीरवाटीविटः
सोऽप्यभ्येति समीरणो वसुमती तारुण्यमालम्बते।।१।।

कालेऽस्मिन्नवसूक्तिकल्पलतिकाजाले चिरोपेक्षया
म्लायत्पुष्पकदम्बके सहृदयोद्यानेऽतिदीने पुनः।
लक्ष्मीं कामपि बिभ्रता भगवता नारायणेनादृता
सानन्दा कविभारती नवरसोल्लासं समालम्बते।।२।।

औद्धत्यं नृपनीतिरीतिपदवीं वाचाटता वैदुषीं
नग्नत्वं नवनृत्यतां चपलता चातुर्यलीलाविधिम्।
स्त्रीवेशानुकृतिश्च नागरिकतां नव्ये युगोपक्रमे
छन्दोबन्धनहीनताऽपि कविताकारं समालम्बते।।३।।

■

माकरन्दाः

अभिनवकमनीयोद्गारसौरभ्यलुभ्यद्
रसिकमधुपमालालालिताः सत्कवीनाम्।
इह विकसति संसत्पद्मिनी यत्प्रसूता
मधुरपदविलासा बिन्दवो माकरन्दाः॥१॥

भ्रमरवर! मतोऽसि त्वं हि मानी हिमानी-
दलितदलमशेषं कीर्तिशेषं सरोजम्।
गमय कमपि कालं यावदुष्णांशुजालं
स्फुरति यदुपलभ्या बिन्दवो माकरन्दाः॥२॥

मरकतरुचिनीले व्योमकासारमध्ये
विकसति शशिबिम्बं फुल्लकह्लारमेव।
विमलमणिसवर्णास्तारकास्ताः समस्ताः
पवनरयविकीर्णा बिन्दवो माकरन्दाः॥३॥

■

तावदेव

यावन्न सद्गुरुगिरामविरामधारा
सारस्वती द्युतिमती हृदि सन्निधत्ते।
नानाविकल्पमलिना कलिना प्रयुक्ता
शङ्कान्धकारपदवी खलु तावदेव॥१॥

सोऽयं तुलामधिवसन्नपि तिग्मतापः
किञ्चित्कदर्थयतु नाम करेण भानुः।
कालेन वृश्चिकगृहं गमितो न याव-
द्दर्पानुबन्धमुपयातु स तावदेव॥२॥

निद्रावसाननयनोपमितं नलिन्या
यावन्मिलिन्दचलितं कुमुदं बभासे।
कर्पूरपूरविशदस्मितमाविरासीत्
प्राचीमुखं गगनसद्मनि तावदेव॥३॥

■

कलङ्कमञ्चति

नृपासनस्था वसुधातले स्थिराः
पुरा यशश्चारुगुणैः प्रपेदिरे।
परञ्जनः सम्प्रति कम्पमानसः
प्रशासकः कन्न कलङ्कमञ्चति।।१।।

विलोचनानन्दकरोऽपि सन्ततं
स्रवत्सुधासारधरः सुधाकरः।
वियोगिनां प्राणहरो यतोऽभव-
त्ततः प्रभृत्येव कलङ्कमञ्चति।।२।।

न लङ्घिता यद्यपि गेहदेहली
न वा युवानोऽपि विलोकिता नवाः।
तथाप्यसूयालुजनैरुदीरितं
मनोरमा कन्न कलङ्कमञ्चति।।३।।

धरातलालङ्करणानि सर्वतो
निमील्य पद्मानि करैरुदित्वरैः।
प्रियामुखाब्जेन पराजितो रुजा
निशाकरः किन्नु कलङ्कमञ्चति।।४।।

◆

चन्द्रलेखा पुनातु

प्रत्यासन्ना हुतवहशिखोद्भासिभालेक्षणस्य
क्रुद्ध्यद्गौरीनयनविशिखैर्व्याकुलत्वं भजन्ती।
त्वङ्गद्गङ्गाचपलचरणन्यासदूनाऽपि शम्भो-
मौंलौ लब्धस्थितिरनुपमा चन्द्रलेखा पुनातु।।१।।

स्वेदोद्भेदं शिशिरयति या शैलराजात्मजाया
मन्दस्यन्दैरमृतविसरैः पुष्पबाणाहवेषु।
ज्योत्स्नाव्याजाद्विकिरति च या चारुकर्पूरपूरं
सा वः शम्भोर्निटिलनिलया चन्द्रलेखा पुनातु।।२।।

◆

निमज्जति

नौरिवाम्भोनिधौ चान्द्री कलेव घनमण्डले।
सेवाव्रतानां भाग्यश्रीरुन्मज्जति निमज्जति।।१।।

दास्याम्बुधेरुद्धृताऽपि पुरुषोत्तमविक्रमैः।
देशश्रीः किमु भूयोऽपि नोन्मज्जति निमज्जति।।२।।

◆

न प्रबुद्धां न सुप्ताम्

विद्याभ्यासे नियमितमनाश्छात्रवर्गोऽयमास्तां
क्रान्तिः काचिद्भुवनदमनी तैरथोद्भावनीया।
पौर्वापर्यव्यपगतमिदं जल्पतां नायकानां
प्रज्ञां मन्ये नयविगलतां न प्रबुद्धां न सुप्ताम्।।१।।

जातः पातः प्रमुखपदतः स प्रतापोऽपि यातः
काऽतः श्लाघा स्वयमनुचरैर्दूरमुत्सारितोऽसि।
स्वप्नालोके सृजसि बहुधा प्राज्यसाम्राज्यरेखां
बुद्धिं मन्ये विधुरविजयां न प्रबद्धां न सुप्ताम्।।२।।

तारापुष्पप्रकरविपिने काऽपि वापी सुधाढ्या
यस्यां केलिं निशि कलयते दिग्बधूनां कदम्बम्।
दूरीभूते प्रणयिनि तदा सन्निषण्णां विषण्णां
कोकीमेकामहह कलये न प्रबुद्धां न सुप्ताम्।।३।।

◆

वाणीविलसितम्

जडीभूतप्राये रुचिरकविसम्मेलनविधौ
विधौतस्वान्तैर्यत्किमपि नवमाधायि कुतुकम्।
प्रयागे तन्मन्ये त्रिदशतटिनीभानुतनया-
समाश्लेषस्वैरोल्लसितसुरवाणीविलसितम्।।१।।

महर्षीणामन्तःकरणपरिणामात्मकतया
यदेतत्पञ्चाशत्परिगणितवर्णाकृति महः।
यदन्तर्माणिक्यं प्रगुणतरविज्ञानवपुषाऽ-
प्यगण्यं तत्पुण्यं जयति सुरवाणीविलसितम्।।२।।

दृशा दीनो हीनोऽप्यभिनववयोबुद्धिविभवै-
र्विरिञ्चिर्जीनोऽपि प्रथयतु कथं सृष्टिरचनाम्।
दरस्मेरापाङ्गं क्वणितमणिवीणासहचरं
न सान्निध्यं विन्देद्यदि सपदि वाणीविलसितम्।।३।।

जगज्ज्वालज्वालावलयमयहालाहलमिल-
त्तमिस्रप्राग्भारप्रशमनभिषज्यं विजयते।
सुधासारं सारस्वतनवनवोन्मेषकलना-
समुद्यत्सौन्दर्यं किमपि कविवाणीविलसितम्।।४।।

◆

तवैव हानिः

जग्ध्वा चिराय बिसिनीशकलानि सार्धं
यूथ्यैर्निजैः सह सरोवरकेलिसङ्गात्।
दुग्धाम्बुभेदनकलां समुपेक्षसे चेद्
हंसावतंस! यशसान्तु तवैव हानिः।।१।।

वाग्देवताकरुणया समवाप्य वाचं
पुण्ड्रेक्षुकाण्डमधुरामभिनन्दनीयाम्।
निन्दाविधौ यदि नियोजयसे परेषां
विद्वद्वरेण्य! किमतो न तवैव हानिः।।२।।

वाराणसीमधिवसन्नपि सर्वकालं
गङ्गावगाहनशिवार्चनतत्परोऽपि।
तृष्णानटीकुचतटीपरिरम्भवाञ्छां
नो चेज्जहासि विबुधेन्द्र! तवैव हानिः॥३॥

■

लम्पटाः

सपदि नगरी रक्षादक्षैर्निगृह्य शिरोरुह-
प्रचयरचनां भद्राकृत्योपवेश्य खरासने।
पथि पथि जनोद्गारैस्तारैर्भृशं परिभाविता
मदनरसिकाः सीदन्त्यद्य प्रियामधुलम्पटाः॥१॥

दिवसमखिलं पायं पायं सरोजवनीष्वमी
रसमविरलं भृङ्गाः सायं व्रजन्ति वनान्तरम्।
इति कुमुदिनी यावन्मत्वा यदोल्लसितानना
पुनरपि पुरावृत्तास्तस्यामेते मधुलम्पटाः॥२॥

जननमरणक्लेशावेशप्रमादपरम्परा-
परिचयपराभूते भूते त्रिलोकनिकेतने।
न खलु मनसो वृत्तिं शक्ता निवारयितुं बुधा
अपि भववनादामोदश्रीविगाहनलम्पटाः॥३॥

त्रिभुवनवशीकारस्फारोद्यमप्रतिभाभटा
मदननृपतेर्यात्रारम्भप्रमोदकरा नटाः।
शरदि विकसत्पुष्पश्रेणीपरागपरावृता
विदधति वनक्रीडा गीतिं मुहुर्मधुलम्पटाः॥४॥

■

महामनीषी

दिगन्दरोद्भिन्नदुरन्ततर्क-
तमिस्रविद्रावणचण्डरश्मिः।
न कस्य विश्वस्य वचःप्रपञ्चो
नमस्यतामेति महामनीषी॥१॥

वधूर्विधातुर्वदनाम्बुजानि
जराविशीर्णानि विधूय यस्य।
मुखाम्बुजे सज्जति वीतलज्जा
स कोऽपि धन्योऽस्ति महामनीषी॥२॥

कलिप्रभावान्मलिनायमान-
यशोविताने जगदीश्वरस्य।
कथांशुनिर्धौतदिगन्तरोऽयं
शशीव मे भाति महामनीषी॥३॥

अशेषतः शेषगिरामभूमौ
विशेषवैदुष्यपदे निषण्णः।
न शेमुषी संशयिता यदीया
स काशते कोऽपि महामनीषी॥४॥

निरस्य तृष्णां तरुणीं हठेन
नितान्तकृष्णार्पितमानसेन।
कृताऽन्तिके शान्तिरियं महिम्ना
स भाति विज्ञानमहामनीषी॥५॥

■

हसितमहो नापि रुदितम्

इयं वन्ध्या धेनुः सकलजनकल्याणभणिति-
र्नयज्ञानां नाऽस्मन्मनसि कुतुकं कन्दलयति।
पुनः प्राप्ते संसद्भवनपदनिर्वाचनविधौ
वशीकुर्याल्लोकान् न हसितमहो नापि रुदितम्॥१॥

प्रयाते हेमन्ते श्रयति शिशिरे दूरपदवीं
मधौ लब्धस्पन्दे मदनपदबन्धे श्रुतिगते।
कथं वा नाऽऽयातः प्रिय इति मृगाक्ष्या पथि दृशं
प्रयच्छन्त्या कस्मान्न हसितमहो नापि रुदितम्॥२॥

■

को विहातुं समर्थः

अध्यारूढः पदमविरताराधनासाधनाद्यै-
र्गर्वोन्नद्धश्चटुषु पटुभिः पूरितश्रोत्रमार्गः।
दूरीभूतैर्विनयकुशलैः कार्यहेतोर्वितीर्णं
पत्रं पुष्पं पुरुषतिलकः को विहातुं समर्थः॥१॥

संन्यस्यापि श्रुतिशतशिरोवाचमुच्चार्यतारं
हारं कण्ठे स्फटिकदृषदां सन्निवेश्यांशुसारम्।
सारङ्गाक्षीकरकिसलयन्यस्तपूजोपहारं
द्वारं सिद्धेरिव यतिपतिः को विहातुं समर्थः॥२॥

व्याख्यातुश्चेत्पदमधिगतं विश्वविद्यालयान्त-
स्तत्प्राप्तव्यं तदधिकमुपाचार्यपीठं परस्तात्।
प्राप्ते तस्मिन् भवति तरसाऽध्यक्षभावाभिलाषः
सिद्धे तस्मिन् कुलपतिपदं को विहातुं समर्थः॥३॥

भूरिक्लेशैर्भवमरुमहामार्गकान्तारजन्यै-
र्निर्विण्णोऽपि श्रुतबुधजनोद्गीतवाग्वैभवोऽपि।
यावद्देही न भवति शिवे! त्वत्कृपापाङ्गपूत-
स्तावत्तृष्णामणिगुणनिकां को विहातुं समर्थः॥४॥

■

चन्द्रः प्रवालप्रभः

सन्ध्योपासनलालसे स्मरहरे ध्यानैकताने स्थिते
सासूयं गिरिनन्दिनी प्रचलितुं धत्ते स्म यावत्पदम्।
तावत्तामनुनेतुमाशु पदयोर्विन्यस्तमौलेरभू-
ल्लाक्षारञ्जनमञ्जुलो भगवतश्चन्द्रः प्रवालप्रभः।।१।।

श्रौतस्मार्तविधौ विधौतमनसां विद्यानवद्यात्मनां
कालेनाऽद्य मलीमसेन विहिता का वा द्विजानां दशा।
पूर्वाद्रेः शिखरे प्रतिष्ठितपदोऽप्यन्तस्त्रपाभ्युद्गमाद्
व्यर्थैव द्विजराजतेति कलयंश्चन्द्रः प्रवालप्रभः।।२।।

निर्बन्धात्सुहृदः स्मरस्य शतशस्तीव्रैर्मयूखाशुगै-
र्निघ्नन् वल्लभविप्रयोगदहनप्लुष्टाः सरोजेक्षणाः।
तत्पापप्रशमाय सिन्धुसलिले मग्नस्तदभ्यन्तरे
तप्तो वाडववह्निना समुदये चन्द्रः प्रवालप्रभः।।३।।

नक्षत्राकृतिमौक्तिकानि दधता नीलाम्बरेणाऽऽवृता
दिव्या काचन कामिनी कुमुदिनीहासा मता यामिनी।
तस्या स्फाटिक एष भाति चषकः कादम्बरीसम्भृतः
प्राणेशागमनोत्सवाय न पुनश्चन्द्रः प्रवालप्रभः।।४।।

■

सङ्गमः

यद्यप्यत्र कलिन्दजासुरधुनीनद्योर्निपेया दृशा
सा काचित् प्रणयस्थली परिमिलत्कल्लोलकोलाहला।
गुप्ता तत्र सरस्वती पुनरियं सत्काव्यधारामृते-
ष्वाविर्भूय धिनोति नस्तदपरः सोऽयं विदां सङ्गमः।।१।।

आयाते कुसुमायुधस्य सचिवे माद्यन्मिलिन्दे मधौ
तद्भीत्या शिशिरेण बन्धनगृहान्मुक्ता हिमानीमयात्।
अद्येयं रजनी चिराद्विरहिणी मन्दानिलोच्छ्वासिनी
स्पृष्टा हन्ता सुधाकरेण नयनानन्दावहः सङ्गमः।।२।।

दक्षास्ते बहवो वसन्ति नियतं कक्षासु तत्र स्पृहा
व्यर्था वीक्षणमात्रके जनशतैर्ग्रन्थालयः सङ्कुलः।
सायं हे सहपाठिनि! श्रमपरीहाराय याचे क्षणं
कृष्णापानगृहे न च प्रतिहतस्तत्राऽऽवयोः सङ्गमः।।३।।

■

सम्भ्रमी बम्भ्रमीति

कोपाटोपस्फुरदुरुसटामण्डलं चण्डनादं
ज्वालामालाकवलितचलन्मेघनाम्भःप्रवाहम्।
दृष्ट्वा सिहं जगति जयिनं कान्दिशीको नियाजी
शुष्यद्वक्त्रः शिथिलवचनः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति।।१।।

यस्याऽऽलम्बादुदयपदवीं पाकनीतिः प्रपन्ना-
पाणिः स्कन्धे जनयति बलं यस्य मिथ्या निनादे।
सञ्जातो न क्षणसहचरो निर्घृणो याहियेत्थं
ध्यायं ध्यायं धृतिविगलितः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति।।२।।

परां भूतिमिच्छन् मनुष्यौघयाजी
नियाजी प्रपेदे पराभूतिमेव।
निशम्येति हा हा वदन् याहिया खाँ
मुहुः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति स्वगेहे।।३।।

पुनरपि दनुजौघच्छेदहेतोर्भवानी
किमवनिमवतीर्णा शौर्यपूर्णेन्दिरेति।
विगलितनयजालस्तत्क्षणात्क्षीणशौर्यो
व्यपगतनिजकालः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति।।४।।

क्षुद्राः पाका वराका पितृवनरतयो हन्त काका न का का
सञ्जाता दुर्दशा वः शमयत सहसा चापलं पापलग्नम्।
सिंही विन्ध्याद्रिमध्यात् त्रिभुवनजयिनी जृम्भते यन्निनादै-
श्चीनः श्वा क्वाऽपि लीनो धवलगृहकरी सम्भ्रमी बम्भ्रमीति।।५।।

■

चेतना

नीरक्षीरविचारसारचतुरा यस्याः प्रसादाच्चिरात्
कीर्तिस्फाटिकवाटिकासु कवयः क्रीडन्ति वाग्गुम्फनैः।
साऽन्तर्ध्वान्तविकारदारणवलद्विद्युत्सहस्रोज्ज्वला
सान्निध्येन धियं समुन्नयतु मे काचित्परा चेतना।।

■

विश्वशान्त्येकनीडम्

यस्योदीच्यामुदञ्चत्तुहिनमणिभरोत्तुङ्गशीर्षो हिमाद्रि-
र्व्यूढोरस्कः शिलाभिः प्रथयति परमां निर्भयं धैर्यमुद्राम्।
यस्याऽवाच्यां विधत्ते नयविनयकथासाक्षिभिस्तैस्तरङ्गै-
रम्भोधिर्दक्षिणत्वं तदिह पदमहो विश्वशान्त्येकनीडम्।।१।।

प्रातः प्रातः प्रयातास्तरणिसमुदये रञ्जिताशावकाशे
कूजन्तो मञ्जुनागध्वनिभिरभिनवैर्निद्रितान् बोधयन्तः।
उन्मीलत्प्रातिभश्रीप्रसरकिसलयास्वादमाधुर्यधुर्याः
सत्पक्षा ये द्विजास्ते विदधति वसुधां शन्तिसंवासनीडम्।।२।।

त्यक्त्वैश्वर्यं समस्तं भरतवसुमतीं पारतन्त्र्याब्धिमग्ना-
मुद्धर्तुं बद्धसन्धः करधृतलगुडो जीर्णकोपीनवासाः।
भ्रामं भ्रामं जगत्यामखिलहितमयं दर्शयन् स्नेहमार्गं
यो व्यद्योतिष्ट योगी तदुदितसरणिर्विश्वशान्त्येकनीडम्।।३।।

शक्तिः सर्वत्र सुप्ता प्रतिकणपरमाण्वन्तरे सा प्रयत्नै-
रुद्बोध्या युद्धहेतोरतिविततमुखी भाति रात्रिञ्चरीव।
सा चेद्यत्नोपसेव्या भवति धनधराधामधान्याभिवृद्ध्यै
कल्याणस्यैकभूमिर्विकसति हृदयानन्दनीडे जनानाम्।।४।।

धर्मः सत्कर्मयोगं वदति गुरुगिरः सर्वतो बन्धुभावं
सन्धातुं सन्दिशन्ति श्रुतिरपि च मनःसाम्यमेवाऽभिधत्ते।
तस्मादुच्छिद्य मिथ्याग्रहजटिलतरग्रन्थिमन्तः प्ररूढं
प्रेयांसो भूमिपुत्राः! श्रयत सुरभितं विश्वशान्त्येकनीडम्।।५।।

राकाशीतांशुबिम्बं शिशिरितनयनं यद्वदेकं तरङ्ग-
श्रेण्यामानन्त्यमेति स्वरमधुरकला वंशवाद्यच्छटासु।
सेयं संवित्तिरेवं प्रतिपथविचरत्प्राणिसार्थेषु लीना
दीना पुण्यैर्विचारै रचयति सुधियां विश्वशान्त्येकनीडम्।।६।।

द्वेषावेशादिशून्ये सकलजनसमाधानमार्गैकताने
तुष्ट्या पुष्ट्या च लोकान् सुखयति परितो बुद्धिभाजां समाजे।
प्रोदञ्चच्चित्तपुष्पस्रवदमितमधुस्यन्दसौरभ्यरम्यं
भूयाद् भूयो जगत्यां त्रिदिवसमधिकं वन्दितं विश्वनीडम्।।७।।

वसुधायां सुधाधारावर्षहर्षप्रदायकम्।
मिलन्मनोमिलिन्दाढ्यं विश्वनीडं विराजताम्।।८।।

■

माधुरी

प्रसन्नकमलासनप्रियतमाकटाक्षच्छटा-
ऽनुकम्पितकवीश्वरामृतरसोर्मिकिर्मीरिता।
पुरे पुररिपोरियं सुरभिला यशोविभ्रमै-
स्तनोतु सुमनोमुदं सुकविभारतीमाधुरी।।१।।

दुरन्तभवचिन्तनाऽऽमयदशा कृशा यद्वशात्
प्रशाम्यति कुशासनोद्भवदमन्ददोषव्रजः।
नवीननयनिर्मलां परिणतिं मनोदर्पणो
बिभर्ति यदि सेव्यते सुकविभारतीमाधुरी।।२।।

समुन्नतशिरोधरात्कविहिमालयादुद्गता
तरङ्गशतसङ्गता विपुलराजहंसाञ्चिता।
चुचुम्बिषति सत्वरं सहृदयाशयाम्भोनिधिं
किमु त्रिपथगामिनी सुकविभारतीमाधुरी।।३।।

■

हा हतो मन्दभाग्यः

सायं प्रातः किमपि कलयन्नात्मनः स्थानलाभं
मध्येघस्त्रं दिनकरकरैर्दूरतो वार्यमाणः।
प्राप्यादेशं मधुनरपतेरेष भिक्षुर्जडात्मा
मन्दं मन्दं व्रजति शिशिरो हा हतो मन्दभाग्यः॥१॥

शीतेऽतीते सपदि चलितः पद्मिनीकेलिवापी-
मन्धीभूतः परिमलपरिस्पन्दमानो मिलिन्दः।
गत्यावेगाद्विष्टपघटिते जालके कण्टकानां
भाग्नोद्योगो विरहविधुरो हा हतो मन्दभाग्यः॥२॥

वित्ते वित्तेश्वरसमधिके लोकमानेऽतिमाने
सम्पन्नासु प्रमुखविषयास्वादनावासनासु।
वृत्तिर्नान्तर्वलति भगवद्ध्यानसोपानमार्गे
यस्य स्तोकं जगति स नरो हा हतो मन्दभाग्यः॥३॥

नानादेशाटनपटुतया प्राप्तपर्याप्तवित्तः
सत्तारूढश्चिरविरचिताऽनेकलोकप्रपञ्चः।
वाराणस्यां वयसि चरमे शास्त्रवेदी स्वभावाद्
दुर्नीतिं चेद् भजति बहुधा हा हतो मन्दभाग्यः॥४॥

■

वर्षितम्

लीनं नीलनभस्तले प्रचलितैर्विद्युल्लताविभ्रमै-
र्हीनं दर्दुरदीर्घदण्डकपदोद्गारैर्विहारस्थलम्।
पीनं नूतनशाद्वलाहितपदं यूथं गवां दृश्यते
हंसैर्हर्षितमुल्लसद्भिरभितो दूरेगतं वर्षितम्॥१॥

प्रागौदार्यधुरन्धरेण धरणी धाराधरेणादरात्
सिक्ता तोयकणैर्दधार मधुरामाशालतां कामपि।
पश्चात्क्वाऽपि गतेन तेन करुणाहीनेन कालान्तरे
क्षीणा चेदनुकम्पिताऽपि तदिदं मन्ये मुधा वर्षितम्॥२॥

■

करोति

वातेरिताऽमितविशीर्णविकीर्णपर्ण-
पूर्णान्तरा वसुमती शिशिरावसाने।
काये विधूय पलितं ललितं विधातुं
कल्पं वसन्तभिषजाऽभिहितं करोति॥१॥

मन्दानिलेन मलयाचलसम्भवेन
सायन्तनोपवनकेलिसमुत्सुकेन।
काचिल्लता तरलिता कलिता रसेन
चेतश्चलं मृगदृशां सहसा करोति॥२॥

सुप्तोत्थितेव तुहिनावरणानुबन्धाद्
वासः प्रसूनशतचित्रितमादधाना।
चन्द्रानना प्रियतमस्य मधोः सपर्या-
पर्यायचारुहसितं रजनी करोति॥३॥

संसारमारवपथभ्रमिघूर्णिताना-
मन्योन्यमर्दनविगर्हितचेष्टितानाम्।
एका चिराय कुशलं कविभारतीयं
पीयूषपूरपरिवाहमयी करोति॥४॥

सुमनसाम्

प्रभातप्रोन्मीलत्सरसिजवनीसौरभजुषां
गिरामाचार्याणां न भवति तुला मन्दवचनैः।
समुद्यत्सौरभ्यप्रसरपरिभूताऽखिलगुणा
न कस्तूरी दूरीभवति खलु गन्धैः सुमनसाम्॥१॥

स्वभावादेवाऽस्मिन् जगति कलिताऽनल्पकुतुका
प्रवृत्तिः श्वापुच्छी परहितविघाते हतधियाम्।
परं न व्यत्येति क्षणमपि समीपागतमनः-
प्रसादैकासक्ता नयविनयरीतिः सुमनसाम्॥२॥

वनान्ते वासन्ते समुदयति काले कति न वा
परागैरालिप्तं विदधति धरित्रीपरिसरम्।
मता सौभाग्यश्रीः स्मरशरपराधीनतरुणी-
कुचद्वन्द्वाश्लेषाधिगममुदितानां सुमनसाम्॥३॥

सौरभ्ये समुदित्वरे सुमनसां पद्मालये स्वागत-
प्रोन्मीलद्दलसञ्चये नवमरुद्वन्दागमस्पन्दिनि।
शिञ्जुन्मञ्जुपदक्रमा सहृदयक्षीरोदनीरोदरात्
काव्यश्रीः समुदेतु माधवमुदे स्वैरोल्लसद्विभ्रमा॥४॥

◆

गन्धवाहः

उन्मथ्नन् कामिनीनामपरिमितमहामानमातङ्गयूथं
स्कन्धारूढैः पिशङ्गैः पवनविदलितैः केसरैर्भासमानः।
सम्प्राप्तः काननान्ते मदननरपतेः प्राज्यसाम्राज्यलक्ष्मी-
प्रोद्यत्तुङ्गध्वजाङ्को मलयगिरिदरीकेसरी गन्धवाहः॥१॥

विरमति न कदाचिद्विश्वसञ्जीवनार्थात्
सुखयति परितप्तान् प्राणिनः स्पर्शमात्रात्।
सुरभयति समन्तादन्तरं दिक्तटानां
कथमिव स न वन्द्यो बान्धवो गन्धवाहः॥२॥

यः संवासं भुजङ्गैः सह मलयगुहाभ्यन्तरे दीर्घकालं
कृत्वा यात्राप्रवृत्तो नगनगरसरित्पुष्पवाटीपथेषु।
चातुर्यादेष मार्गे प्रथमपरिचयादेव गुच्छस्तनीनां
कौमार्यं वल्लरीणामपहरति मधौ वञ्चको गन्धवाहः॥३॥

◆

ताम्बूलम्

नतजनतिमिरविरामं विधातुकामं जगन्मातुः।
नूतनरविकररुचिरं चिरं शिवायाऽस्तु ताम्बूलम्॥१॥

परवशतया कथञ्चिन् मनसि निगूढोऽपि पङ्कजेक्षणया।
रागो यद्बहिराप्तस्तदेव वदने विभाति ताम्बूलम्।।२।।

कोकनदे कमनीये बालातपसङ्गसौभाग्यम्।
अनुहरति कामिनीनामधरदलासङ्गि ताम्बूलम्।।३।।

सौहार्दसंविधानं श्रियां निधानं रुजां समाधानम्।
आधानं प्रतिभायाः प्रियं कवीनां सदैव ताम्बूलम्।।४।।

■

उत्तरायणम्

मन्दतामुपगतेन भानुना दक्षिणा हरिदुपाश्रिता चिरम्।
सम्भृताधिकबलेन साम्प्रतं कल्प्यते नियतमुत्तरायणम्।।१।।

शीत! भीषमसि किं मुहुर्मुहुः क्षीणमेव तव विद्धि पौरुषम्।
सत्वरं नवतुरङ्गचङ्क्रमैरेष याति रविरुत्तरायणम्।।२।।

भारतीयभटरक्षणव्रती चण्डभानुरनुधावति ध्रुवम्।
पीनचीनपरिमर्दवाञ्छया दीर्घदूरपथमुत्तरायणम्।।३।।

मन्दमन्दमुदयन्ति काननाभ्यन्तरेषु कलविङ्ककेलयः।
मारुतो दिनमनोरमस्तनौ भाति नूनमिदमुत्तरायणम्।।४।।

भारतीयनयवर्त्मवेदिनामग्रणीरिव विभाति भास्करः।
वामपक्षविजयाऽऽशया रयादभ्युपैति सहसोत्तरायणम्।।५।।

यौवने कृतपदः परिस्फुरन्निर्मलाम्बरधरः प्रभाकरः।
पद्मिनीप्रणयितामुपाययौ संश्रयन् गमनमुत्तरायणम्।।६।।

■

मालिनी भोगिलोकैः

कलिकलुषमलानां क्षालिनी भक्तिभाजा-
मपरिमितविभूतेः पालिनी याऽनुभूता।
तुहिनकिरणखण्डाऽलङ्क्रिया शालिनी सा
शिवतनुरवतान्मां मालिनी भोगिलौकैः।।१।।

सरसिजनिभवक्त्रा पुष्पिताग्राङ्गणश्री-
र्गजगतिरनुकूला स्वागतोदारभावा।
भ्रमरविलसितोद्यल्लोचना यूथिकाऽऽढ्या
भवति भुवि निषेव्या मालिनी भोगिलोकैः।।२।।

■

मञ्जरी

निर्याते जगताञ्जयाय विलसत्कोदण्डकाण्डे चलद्-
वाचालद्विजराजिगीतचरिते देवे मनोजन्मनि।
सोत्कण्ठं किमु दक्षिणेन मरुता स्पृष्टा रसालद्रुमे
मन्दान्दोलितमौलिमीलितमुखी दृष्टा मया मञ्जरी।।१।।

विद्याः सन्तु सहस्रशो बुधमुखप्रक्षानैकक्षमा
दुष्पूरोदरगर्तपूरणकृते नाडिन्धमा धीमताम्।
सौरभ्यस्पृहयालुविज्ञमधुपश्रेणीसमाराधिता
साऽन्या काऽपि कवीन्द्रकल्पकतरोर्वाङ्माधुरीमञ्जरी।।२।।

मोहध्वान्तमयी तमी नयनयोर्मार्गावरोधाय नः
प्रत्यासीदति चेतनाकुमुदिनी सङ्कोचमाचामति।
मातः सर्वदिगङ्गनाननपरिष्वङ्गातुरा सत्वरं
वक्त्रेन्दोरुदिता तवास्तु पुरतो हासप्रभामञ्जरी।।३।।

■

धवलितम्

अनन्ताभिश्चिन्तावितत‌कुहनाभिर्विरचित-
प्रभूताकाराभिर्मम हृदयमेतत् कवलितम्।
न किं भूयो भूयाद् भगवति भवत्याः पदनख-
प्रभाजालैर्दूरीकृततिमिरभारं धवलितम्।।१।।

प्रनृत्यद्वामाक्षीचलचरणमञ्जीरमधुराः
प्रवर्धन्तां वाचो जगति सुकवीनामभिनवाः।
परन्त्वेको धन्यः कविकुलगुरुर्यस्य यशसा
मुखं दिक्कान्तानामविरतमुदीते धवलितम्।।२।।

अपङ्काः पन्थानः किरणनिकरैरम्बरमणे-
र्विलीनाः पाथोदा गगनविपिनान्ते क्वचिदपि।
वृथा मण्डूक त्वं परिरटसि वाटीपरिसरे
पुरः पश्योद्यानं शरदि कलहंसैधवलितम्।।३।।

◆

मधुबन्धुः

अपसरति शैशिरीश्रीः श्वश्रूरिव कर्मतो गहनात्।
सुषमा नवा वधूरिव भाति तदीयः प्रियश्च मधुबन्धुः।।१।।

अनवरतशास्त्रचिन्तानिपुणतरस्याऽपि दुःस्वभावस्य।
हृदयं सविषं यद्यपि वाग्विसरो भाति मधुबन्धुः।।२।।

विगलिततनुरपि मतिमान् सुहृत्सहायाज्जगज्जयं तनुते।
भ्रमयति यतीश्वरानपि मदनः सन्नद्धमधुबन्धुः।।३।।

बहवो वयमिति काका रटन्तु नाकाधिपत्वमात्मनो भूयः।
कोकिल! तव निर्णेष्यति कालः पदवीं क्षणेन मधुबन्धुः।।४।।

शीतभानुमहसा घनसारोल्लासितानि हरितां वदनानि।
स्वागताय मरुदेति दिगन्तान्मन्मथस्य पवनो मधुबन्धुः।।५।।

पुष्पबाणरमणीरमणीये चारुचन्द्रमुकुरे वदनं स्वम्।
यावदाकलयति स्म मनोभूस्तावदेष ददृशे मधुबन्धुः।।६।।

किं धनेन बहुना भवनेन व्योमचुम्बिशिखरेण च तस्य।
यस्य न स्फुरति शब्दविलासः प्रातरम्बुजवनीमधुबन्धुः।।७।।

कापिली भणितिरस्तु विलीना गोतमस्य कतमा पदरीतिः।
कालिदासवचसां भुवि यावन्निर्झरो विजयते मधुबन्धुः।।८।।

◆

सम्बोधनम्

पञ्चाशत्कोटिसङ्ख्यासमधिकवदानाम्भोरुहे! विश्वमातः!
प्रातः स्वातन्त्र्यदीप्ते! धरणि! चरणयोरेतदावेदयामि।
प्रोन्मीलल्लोलनीलाम्बुरुहसहचरी लोचनश्रीस्त्वदीया
दुर्वारक्लेशतप्तान् शिशिरयतु सुतान् बाङ्गलादेशभक्तान्।।१।।

गङ्गा सम्प्राप्तभङ्गा नररुधिरभराक्रान्तधावत्तरङ्गा
पद्मा सद्मानि हित्वा विगलितविभवा याति वाताहतेव।
सीमन्तिन्यः समन्तात् पतितनयसमालम्बहीना विलीनाः
शोकाग्नौ भूतधात्रि! प्रलयमुपगता किन्त्वदीयानुकम्पा।।२।।

कन्या धन्याः शतघ्नीशतविततमुखोद्गीर्णधूमध्वजानां
ज्वालाजालान्तरालं स्वयमभिपतिता रोशनाराप्रधानाः।
द्यामारूढा दिगन्तच्छुरिततनुरुचो विद्युदुद्योतभासः
सोद्योगान् मुक्तिसेनासमरसमरसान् नूनमुत्साहयन्ति।।३।।

प्राचीनः शाठ्यपीनः शिशिरगिरिभुवामन्तरा घूर्णमानो
दैतेयः सूत्रधारश्चपलयति पुरः काकपाकं वराकम्।
मायामेतस्य भिन्धि प्रबलगिरिगुहोद्गारहुङ्कारमन्त्रै-
रुन्मीलद्विस्फुलिङ्गैः प्रलयहुतवहाकारजाग्रत्प्रतापे।।४।।

माद्यन्मण्डूकतुल्यः परिरटति मुहुर्याहि याहीति लोकान्
युद्धायाऽऽबद्धबुद्धीन् परवशकरणः खान्तचञ्चत्कलङ्कः।
हेलानिक्षिप्तपादे क्षणमपि चलिते सिन्धुरे भारतीये
भ्रष्टघ्राणाङ्घ्रिपाणिः परिणमति पुरा मृत्तिकासत्तयैव।।५।।

कालाम्भोदालिकैश्ये! रविशशिशिखिभृल्लोचने! बाहुदण्ड-
व्यावल्गन्मण्डलाग्रे! जलनिधिवसनानद्धकाञ्चीकलापे।
नक्षत्रश्रेणिमाल्ये भरतवसुमति! प्रीणितप्राणिवर्गे!
दुर्धर्षदैत्यसङ्घादव जननि! जवोदग्रसिंहाधिरूढे!।।६।।

उद्वेल्लत्सिन्धुवेलातरलकरतलोन्मुक्तमुक्तासहस्र-
प्रत्यग्राभ्यर्चनाभिर्विमलितचरणे! चेतने! चेतयाऽऽशु।
बाहुस्तम्भावलम्बात्तव वसतु पुनर्बाङ्गलाशौर्यलक्ष्मी-
र्ढक्कानादेन ढक्का-नगरविरचितोत्तुङ्गसौधासनेषु।।७।।

■

भारो भुवः

उन्माद्यद्दनुजेश्वरक्रमसमुच्छेदानुबद्धात्मना
लीलोपात्तदशावतारचरितारम्भेण यो विष्णुना।
नीतः स क्षयमप्यसौ शतगुणीभूतः पुनः साम्प्रतं
प्रच्छन्नासुरकिल्बिषैर्गिरिशताकारोऽस्ति भारो भुवः।।१।।

सञ्चारो धनिराजपूरुषगृहाभ्याशे चिरं सेवितो
व्यापारो मठमन्दिरादिविलयस्थैर्यव्यवस्थाविधेः।
आहारोऽपि परस्य सद्मनि यथालाभं कलौ नारदा-
ऽऽकारो धार्मिकपुङ्गवौ न किमहो जागर्ति भारो भुवः।।२।।

यच्चित्तं विकलीकरोति न मनाक्कान्ताकटाक्षच्छटा
वीणावेणुमृदङ्गसङ्गतिरपि प्रायो न यस्य प्रिया।
प्रोन्मीलद्भगवत्कथामृतरसस्यन्देऽपि मन्दादरो
यो लोके नरवेषभृत्पशुगुणाधारः स भारो भुवः।।३।।

■

पूर्णचन्द्रः

भूषापदं निटिलसीमनि येन नीतो
बालेभदन्तकुटिलाकृतिरर्धचन्द्रः।
देयादसौ श्रुतिशतैरुपगेयकीर्त्तिः
श्रेयांसि भक्तहृदयाम्बुधिपूर्णचन्द्रः।।१।।

अत्युच्छलद्भगणतोयकणं कलङ्क-
रोलम्बचुम्बितमुखं त्रिदिवोपनीतम्।
नेत्रोत्पलैस्त्रिदशवामदृशां समर्च्य
पीयूषभाजनमिदं न तु पूर्णचन्द्रः।।२।।

■

राजते राजनीतिः

परपुरुषविमोहव्यापृता मञ्जुहास-
च्छविसहजसपर्यातोषिताशेषचित्ता।
प्रतिदिवसनवीनस्वामिगा वारनारी-
सरणिमनुसरन्ती राजते राजनीतिः।।१।।

चन्द्रो वैरं वहति कमले ख्यातमेतत्तथाऽपि
स्निग्धापाङ्गी भवति कमला बन्धुभावं स्मरन्ती।
मध्ये तस्याऽऽपतति चरणो वारणस्येव यावत्
तावज्जाता विधिविधुरता राजते राजनीतिः।।२।।

■

व्यक्तित्वतरङ्गाः

लोकमान्यतिलकः

सम्मान्ये भारतेऽस्मिन् महितभुवि महाराष्ट्रदेशे बुधाढ्ये
प्रादुर्भूतः स्वदेशोन्नयनमखविधौ सर्वदा लब्धदीक्षः।
वाग्मी तेजोंऽशुजालप्रसभपरिहृतारातिघूकप्रसारो
भूमातुर्भालचुम्बी तिलक इव मतो लोकमान्यो वदान्यः।।१।।

विद्या हृद्याः समस्ताः सरित इव मुदा वारिधिं यं प्रयान्त्यः
सान्द्रानन्दैकहेतुं प्रियमिव दयिता भेजिरे मोदमानाः।
गौराङ्गोत्तुङ्गशैलच्छलबलदलने नूतनो वज्रपाणि-
र्भारोद्धाराय भूमेर्बुधकुलतिलकः कोऽप्यसौ प्रादुरासीत्।।२।।

ज्ञानं ज्ञानेशपादात् प्रगुणनयकथां रामदासोपदेशात्
सन्धामिद्धां शिवाजीनरपतिचरिताद् विक्रमं बाजिरावात्।
आदायैतान् गुणौघान् भरतवसुमतीदुःखविध्वंसहेतो-
र्धात्राऽयं निर्मितोऽभून्नयविनयविदामग्रणीर्लोकमान्यः।।३।।

स्वातन्त्र्यं जन्मसिद्धं मततिति सहसा यन्मुखाम्भोजमध्या-
दुद्यन्मन्त्रायमाणं ब्रिटिशनृपबलं ध्वस्तधैर्यं व्यधासीत्।
ताम्रास्यव्यूहगन्धद्विपमथनमहाकेशरी देशरीति-
प्रेमाबद्धो मनस्वी विजयसहचरो बालगङ्गाधरोऽभूत्।।४।।

गीताशास्त्रार्थमर्म प्रकटयतितरां वेदविद्याविवेक
स्वच्छन्दं संविधत्ते गणयति निपुणं राजराजं धुनोति।
व्याहारैरेव सद्यो वशयति जनतासिन्धुकल्लोलमालां
मूर्धन्यो धीधनानां तिलककुलमणिर्नीतिमार्गप्रदीपः।।५।।

ब्रह्मक्षत्रतपोनिधिः स भगवान् जातः पुनः कोङ्कणे
किं वा श्रीशिवभूपतिः स्वघटनापूर्त्यै गृहीतोदयः।
सम्प्राप्तः किमु नूतनेन वपुषा श्रीबाजिरावः कृती
कर्तुं भारतरक्षणं समुदभूत् श्रीबालगङ्गाधरः।।६।।

यस्मिन् विस्मयकारि वाङ्मयचमत्कारैकधाराधरे
भूभारोद्धरणैकबद्धहृदये मध्येसभं गर्जति।
नानासैनिकसन्निवेशजटिलाऽप्याघूर्णमाना भयात्
प्रत्यन्ताधिपतेश्चिराय नगरी निद्रा दरिद्राऽभवत्।।७।।

कारागारनिपातितोऽपि रिपुणा संयम्य चेतश्चिरं
ग्रन्थान् यः प्रणिनाय शास्त्रजलधिं मथ्नन् धिया तीव्रया।
सम्मानं विदुषामविन्दत परं बन्दीकृतोऽप्यङ्गणे
सौरभ्यं किमु पारिजातविटपी नाऽन्यत्र सञ्चारयेत्?।।८।।

यस्यैवाऽद्भुतबुद्धिवैभवबलात् तीव्रात्तपःसञ्चयाद्
अद्येयं वसुधा सुधाशननुता स्वातन्त्र्यमालम्बते।
तस्य श्रीतिलकस्य पुण्यचरितोदारस्य सारस्वत-
स्वच्छन्दप्रसरस्य पादयुगले भूयात् प्रणामाञ्जलिः।।९।।

■

महात्मा गान्धी

सञ्चारी तुहिनाचलो नु मनुजाऽऽकारो नु रत्नाकरो
कारुण्यामृतवर्षणैककुतुकी दिव्यो नु धाराधरः।
सत्त्वश्रीपरिमण्डितोऽखिलगुणाधारो नु बुद्धः स्वयं
सिद्धः कोऽपि धरातले समुदितो गान्धी हताधिव्यथः।।१।।

चक्री यो न जनार्दनः स्मरबलध्वंसी विषादी न यो
धाता नीतिपथस्य यो न विदितो लोके रजोमूर्तिभृत्।
नित्यं पुण्यजनप्रियोऽपि न च यो रात्रिञ्चरः कीर्त्यते
गान्धी भारतभूमिभालतिलकः सोऽयं कथं वर्ण्यताम्?।।२।।

येनाऽकारि विवेकहारि विगलच्छस्त्रप्रहारव्यथं
जन्यं किञ्चन भारतावनिनवस्वातन्त्र्यसम्प्राप्तये।
यद्वाचां विसरेण सर्ववसुधावासी जनो निर्मल-
स्वान्तः कान्तगुणो व्यधायि पदयोस्तस्यैष पुष्पाञ्जलिः।।३।।

चित्रचरित्रपवित्रितभुवनत्रितयो नयोन्नतस्वान्तः।
समजनि महीमहात्मा गान्धी तपसाऽञ्चितो दान्तः।।४।।

■

महामना श्रीमालवीयः

शङ्कातङ्ककलङ्कमार्जनमिलद्गङ्गातरङ्गायितं
विस्फूर्जन्नवकल्पनांशुलहरीविद्योतिताशाङ्गणम्।
सन्तोषैकनिधानमीशकरुणाधाराभिषिक्तं जगत्-
कल्याणाय विकस्वरं विजयते विद्याभिधानं महः।।१।।

येनाऽऽरम्भि निरस्तदम्भकुहनाव्यापारमाराधनं
विद्याभ्युन्नतिहेतवे भगवतश्चन्द्रार्धचूडामणेः।
लोकोद्धारधुरन्धरेण कृतिना श्रीविश्वविद्यालया-
ऽऽकारः कोऽपि करम्बितः स विजयी श्रीमालवीयोत्तमः।।२।।

संख्यातीतनृपालमौलिविलसन्माल्योपलाल्याङ्घ्रिणा
न स्वार्थः कलितः कदाऽपि कलया येनाऽन्वहं भ्राम्यता।
विद्यामन्दिरसुन्दरीकृतिचमत्कारैकहेवाकिना
तप्तं किञ्चन तत्तपो यदधुना प्रत्यक्षतामञ्चति।।३।।

यस्योद्वीक्ष्य कलाकलापकलने विद्यावतां सङ्गमे
सम्माने च मनस्विनामनुदिनं संवर्धमानं मनः।
वाग्देवी स्मितचारुचन्दिरमुखी चञ्चद्विपञ्चीलया
स्वर्गस्थाऽपि सखी सरोजवसतेः पारं मुदा गाहते।।४।।

दीनोद्धारविधानसादरमना दारिद्र्यविद्रावणो
यश्चक्रे सुरवाहिनीपरिसरे मन्त्रोपदेशाध्वरम्।
गीताभागवतार्थसार्थविवृतिप्रस्यन्दमानेक्षणो
धर्माध्वानमलञ्चकार तरसा भिन्दन् कलेस्ताण्डवम्।।५।।

तस्याऽद्य पुण्यपरिपाकपवित्रमूर्तेः
विद्याकलोपवनसेचनवारिदस्य।
काऽपि स्मृतिः समुदिता मुदितान्तरङ्गान्
अस्मान् विशोधयतु धीविभवप्रदानैः।।६।।

गौरीपतेश्चरणपद्मपरागपूतः
स्वर्गापगासलिलचुम्बितभालभागः।
सोऽयं हिमालय इव प्रथितः पृथिव्याः
पुत्रोऽभवन्मदनमोहनमालवीयः।।७।।

कूजद्द्विजावलिनिषेवितसर्वशाखः
सत्कल्पनाकुसुमितः फलिताऽखिलार्थः।
श्रीमालवीयजनितश्चिरमस्तु विश्व-
विद्यालयो वसुमतीतलपारिजातः।।८।।

तस्याऽद्य वार्षिकगुणस्मरणप्रसङ्ग-
प्रद्योतितस्वधिषणैर्धिषणोपमेयैः।
पुष्पाञ्जलिः सुरगिरां निहितः पदाब्जे
दीव्यत्वशेषबुधवृन्दमिलिन्दमान्यः।।९।।

■

स्फुटतरङ्गाः

कालिदासः

तुषारगिरिशेखरस्रवदमन्दाकिनी–
प्रवाहरसमाधुरीसहजसाधुरीतिस्पृशः।
गिरः सहृदयाशयं सुरभयन्ति यस्याऽनिशं
स भारतशिरोमणिर्जयति कालिदासः कविः।।१।।

क्वणत्कनकनूपुरोच्चलितचारुसिद्धाङ्गना–
कदम्बकसमन्विता तुहिनशैलमालान्तरे।
यदीयकवितानटी त्रिदशवृन्दनेत्रोत्सवं
विवर्धयति कौतुकात् स खलु कालिदासः कृती।।२।।

प्रसन्नशशिशेखरार्पितशशाङ्कलेखारसैः
प्रसूनशरचेतनामभिनवां विनिर्माय किम्।
व्यधाद्भुवि शकुन्तलां भुवनलोभनीयामसौ
कवीन्द्रकुलवन्दितो जयति कालिदासः सुधीः।।३।।

असह्यविरहव्यथाविकलयक्षरक्षाविधौ
विधौतहृदयो दयोपनतदूतभावोऽम्बुदः।
कुबेरनगरीमगाद् यदुदितेन दीर्घाध्वना
स कारुणिकशेखरो लसति कालिदासः कृती।।४।।

यदि वहसि पिपासां काव्यपीयूषपाने
मतिमुकुरमलानां मार्जनं चेन्मतं ते।
निरूपमनिगमार्थोन्मेषचन्द्रातपश्री–
विलसितमधुमासः सेव्यतां कालिदासः।।५।।

■

परोपकरणम्

पवनावकीर्णनवमेघकुन्तला
जनजीवनाऽवनविधौ पटीयसी।
गगनस्थली हृदयसम्भृतं रसं
जगतां हिताय परितो निषिञ्चति।।१।।

निखिलाः प्रसीदत वसुन्धरासुता
भवत प्रमोदमिलिताः परस्परम्।
इति जल्पतीव शुककोकिलावली
कलकण्ठकूजितमिषेण सर्वतः।।२।।

गिरिवृन्दनिर्झरशतोल्लसन्नदी-
नदसिक्तसस्यपरिमेदुरच्छविः।
सकलस्य मानवकुलस्य पालने
वसुधा सुधार्द्रहृदया प्रसीदति।।३।।

रजनी निजाङ्कमधिरोप्य कोमलं
जननीव शाययति मञ्जुगीतिभिः।
दिवसोऽपि कर्मसु नियोजयन्नयं
दिशतीव बान्धवहितानुचिन्तनम्।।४।।

सरसाशयस्य मुखमारुताहतः
कलमेव वेणुरनुगुञ्जति क्षणात्।
मधुरेण वाङ्विनिमयेन विश्वतः
शिशिरीकुरुध्वमहितान् हितानपि।।५।।

अनुवासरं विकसदम्बुजोपमं
हृदयं निवेदयत विश्वबन्धवे।
शतधा तदङ्घ्रिकिरणैर्विकस्वरं
सुरभीकरिष्यति दिगन्तमण्डलम्।।६।।

■

सहृदयः

सदसद्विचारचतुरात्मनामपि
प्रतिपत्तिरत्र नवभारते हता।
तदरुन्तुदं किमपि देश एष नः
सकलाधिकोऽपि विकलत्वमेति यत्॥१॥

दधता चिरात्प्रभृतिपक्षपातिता-
मपि पक्षिजातिजननात्कनीयसा।
न विमुच्यते सलिलदुग्धभेदनं
विमलप्रभेण सततं पतत्त्रिणा॥२॥

प्रसरत्तुषारशिशिरेष्वथोदयत्-
परितापशालिषु दिनेषु वाऽन्वहम्।
सरसीरुहाणि किरणैरुदित्वरैः
सुरभीकरोति ननु वासरेश्वरः॥३॥

जनताजनार्दनसमर्चनोन्मुखी
मधुमक्षिकाततिररण्यचारिणी।
यदुपाहरत्यविरतं सुधाधिकं
मधु तन्न कस्य परितुष्टये सतः॥४॥

कठिनश्रमाकुलितमानसाञ्जनान्
निशि निद्रयाऽपि परिवर्जितानिव।
शिशिरीकरोति किमु याचितः क्वचित्
सुहृदग्रणीरिव विभावरीश्वरः॥५॥

पथि भानुभानुपरिशोषितान्तरान्
पथिकानुदित्वरपिपासयाऽऽकुलान्।
भुवि कूप एव निजजीवनार्पणैः
परितर्पयन्मनुजतो विशिष्यते॥६॥

नरजातिवर्जिततृणादिभक्षिणी
सरला शिशोरपि वशंवदा स्वयम्।
अमृताधिकेन परिपुष्णती नरान्
पयसाऽत्र गौरिव परः क्वचिज्जनः?।।७।।

■

साङ्गवेदविद्यालयः

गङ्गातीरतरङ्गसङ्गशिशिरो भूनिर्जराग्रेसरो
गीताभिर्वसुधासुधाश्रुतिवचोधाराभिराराधितः।
श्रीमल्लक्ष्मणपाणिपङ्कजभवो राजेश्वरप्रातिभ-
ज्योत्स्नाधौतदिगन्तरोऽयमतुलो विद्यालयो द्योतते।।१।।

यत्सम्प्रत्यपि भारते गुरुमुखाम्नायक्रमादुद्गता
शास्त्रन्यायपरिष्कृता बुधनुता पारम्परी दृश्यते।
सोऽयं काशिकसाङ्गवेदविलसद्विद्यालयप्राङ्गण-
व्यागुञ्जद्बुधमञ्जुवाङ्मयनटीपादाब्जशिञ्जारवः।।२।।

प्रत्यब्दं गणनाथपादकमलाभ्यर्चासु चर्चाशतै-
रुन्निद्रा पुनरेति लोचनपथं शास्त्रार्थकल्लोलिनी।
भूयो भारतवर्षभावुकभरं सम्भावयन्तो यतो
वाग्देवीसमुपासका हृदि परं सन्तोषमातन्वते।।३।।

आबाल्यादनुवासरं मतिमतामग्रेसरैः स्वैर्गुणै-
र्नीतः काञ्चन काञ्चनीमिव रुचं नेत्रप्रभोल्लासिनीम्।
षष्ट्यब्दं समवापितोऽपि भजते विद्यालयः साम्प्रतं
तारुण्यं करुणावशाद् भगवतो बालेन्दुचूडामणेः।।४।।

श्रीराजेश्वरशास्त्रिसूरितिलके प्राप्ते पदं शाङ्करं
म्लानः किञ्चिदयं विधास्यति पुनः पाण्डित्यपुण्यप्रभाम्।
यातेऽप्यस्तमहीधरं दिनमणौ तद्रश्मिपुञ्जच्छटा-
ज्वालामालिनि सन्निवेशितपदा सायं समुद्वीक्ष्यते।।५।।

शङ्कातङ्कनिरासकौशलजुषां सत्तर्कवारांनिधि-
प्रोद्यत्तुङ्गतरङ्गसङ्गरविदां विज्ञातविद्याहृदाम्।
यः शास्त्रार्थविनिर्णयोऽत्र विदुषामाविर्भवत्युज्ज्वलः
सोऽयं भासितदिङ्मुखो मणिरिव प्रेम्णा जनैर्धार्यते।।६।।

श्रीकाशीशविभूतिभिर्धवलयन् दिक्सुन्दरीप्राङ्गणं
नित्यं श्रीगिरिधारिणाऽपि महता न्यस्तः स्वहस्ताम्बुजे।
वर्षीयानपि सन्निषेव्य सततं शास्त्रामृतं भेषजं
जीव्यादेष नवार्थसार्थसहितो गीर्वाणविद्यालयः।।७।।

■

कलिकाताहनुमत्स्थानम्

विद्वद्वृन्दैरमन्दप्रसृमररचनारञ्जिताऽशेषदेशै-
रुद्भास्वच्चारुवेषैः प्रतिपथविकसत्सारसारस्वतश्रीः।
कल्याणी कालिकायाः प्रणतकवियशःपालिकायाः पुरीयं
गङ्गाशुभ्रांशुकायास्तिलकति निटिले वङ्गभूम्यङ्गनायाः।।१।।

भाषासाहित्यसम्पत्समुपचयविधौ पत्रसम्पादनादौ
प्रारब्धाऽपूर्वयत्ना जनहृदयदरीध्वान्तदीपच्छटेव।
नूत्नोत्साहं सृजन्ती तरुणकरतले लेखनीनां कदम्बे
वाग्देवीरत्नकोषं विपुलयति चिरात् पूरियं सूरिसेव्या।।२।।

विद्यास्रोतस्विनीनां जलधिरिव जगज्जालरक्षैकदक्षः
साक्षात् त्र्यक्षावतारो दनुजकुलवनीभञ्जनोत्पातवातः।
यत्र श्रीमान् हनूमानधिवसतितरां मन्दिरं सुन्दराङ्गं
भक्तप्रेमानुबन्धान्नमति न मतिमांस्तत्र को वाऽभ्युपेतः।।३।।

प्रत्यब्दं विज्ञवर्यानिह विविधकलाकोविदानाह्वयन्तः
विद्योद्यानप्रसूनैः पवनभवपदाम्भोजमभ्यर्चयन्तः।
मर्यादां भारतीयां पुनरपि पदवीमुन्नतिं प्रापयन्तः
सन्तस्ते साधुवादैः सनति सदसि नः पूजनीया जयन्ति।।४।।

■

बाणच्छाया

आनन्दमन्थरतरङ्गिततारकाणि
सञ्जीवनानि रतिनायकसायकानाम्।
लोलालिलालितसरोरुहसोदराणि
मातुर्जयन्ति नयनान्तनिरीक्षणानि।।१।।

आसीदसीमनरनायकमौलिरत्न-
नीराजिताङ्घ्रियुगलो बलभित्समानः।
राजच्चतुःसरिदधीशविभूषिताया
भर्ता भुवः स विदिशानगराधिनाथः।।२।।

राजा स शूद्रक इति प्रथिताभिधानो
मानोन्नतः प्रतिभटप्रमदेभसिंहः।
यत्पाणिलालितकृपाणजले वसन्ती
लक्ष्मीर्व्यधात्कुनृपसङ्गतिदोषभङ्गम्।।३।।

तस्यामसौ प्रणतभूमिपमौलिमाला-
संलालिताङ्घ्रिकमलः कमलानिवासः।
चिन्ताभरापगमशान्ततया महान्तं
भारं भुवः कुवलयोपमितं बभार।।४।।

स्निग्धैः प्रबुद्धमतिभिः सचिवैः परीतो
भूपालनीतिकथयाऽमितया कदाचित्।
मूर्धाभिषिक्तनरनायकवंशदीपै-
र्मित्रैर्विचित्ररचनानिरतः कदाचित्।।५।।

आकम्पमानमणिकुण्डलमण्डितास्यः
सङ्गीतभङ्गिमधुरैः स मृदङ्गसङ्गैः।
आबद्धसत्कविकुलः सरसैः समस्या-
ऽऽलापैः कदाचिदमितैर्मृगयाविलासैः।।६।।

कालं निनाय कमलाकुचचन्दनाङ्क-
वक्षःस्थलो वसुमतीयुवतीभुजङ्गः।
सत्यप्युदारपरिपूतकुले मनोज्ञ-
लीलाविलासकुशले रमणीसमाजे।।७।।

आसीदमुष्य रमणीष्वरुचिर्नृपस्य
लीलाविलासकुशलास्वपि हेतुशून्या।
जन्मान्तरोपचितकर्मनियन्त्रणेन
संजायते खलु जनस्य तथाविधा धीः।।८।।

प्रातः कदाचिदरविन्दविकासिनेत्र-
मास्थानमण्डपगतं नरलोकपालम्।
अन्तः प्रविश्य विनयावनता प्रणम्य
द्वाःस्थाऽब्रवीदसिलताविलसत्कराब्जा।।९।।

भूपालभालतिलकीकृतपादरेणो !
देव ! स्थिता बहिरुपात्ततनू रमेव।
चाण्डालवंशदुहिता सहिता शुकेन
विज्ञापयत्यखिलभूतलनायकं त्वाम्।।१०।।

अम्भोनिधिः सकलरत्ननिवासभूमि-
र्यद्वत्तथैव हि भवान् वसुधातलेऽस्मिन्।
तस्मादिमं शुकमुदीर्णसमस्तशास्त्र-
मादाय देवचरणान्तिकमागताऽस्मि।।११।।

देवः प्रमाणमधुनेति निशम्य वाचं
राजाऽऽदिदेश सकुतूहलचित्तवृत्तिः।
'अन्तः प्रवेशय' ततो नृपदर्शनाय
सान्तर्विवेश सनकैः कमनीयकान्तिः।।१२।।

अन्तःस्थिताऽमितमहीपतिमध्यसंस्थं
तं हाटकाद्रिमिव पर्वतराजिसेव्यम्।
आकल्परत्नरुचिकर्बुरदेहकान्ति-
मिन्द्रायुधावलिपरिष्कृततोयदाभम्।।१३।।

मुक्ताकलापरुचिरस्य वितानकस्या-
धस्तात् शशाङ्कमणिनिर्मितपीठसंस्थम्।
उद्धूयमानवरचामरवीज्यमानं
पीयूषफेनविमले वसने वसानम्।।१४।।

आकल्पकान्तिपरिरञ्जितमीशनेत्र-
वह्निप्रभाशबलितस्मरभावभाजम्।
आजानबाहुममरेन्द्रमिवावतीर्णं
राजानमैक्षत मदङ्गजकन्यका सा।।१५।।

दूरस्थितैव परिवीक्ष्य करेण लोल-
सद्रत्नकङ्कणधरेण सुकोमलेन।
सा वेणुयष्टिमवलम्ब्य सकृत्सलीलं
भूपालबोधनकृते भुवमाजघान।।१६।।

येनाऽखिलस्य नरपालकुलस्य तस्या-
मुद्वेलकान्तिरसपूरमहासरस्याम्।
चक्षुः सरोरुहकुलं प्लवते स्म लोल-
ताराद्विरेफमुदिताद्भुतभावशालि।।१७।।

राजेश्वरः स कुतुकाकलितान्तरङ्गो
'दूराद्विलोकय' पदश्रुतिलोलनेत्राम्।
जीवेन केनचिदुदारदुकूलभाजा
मातङ्गवंशमणिनाऽधिगताग्रभागाम्।।१८।।

लोलालकाकुलमुखेन शुकोत्तमं तं
संबिभ्रता कनकपञ्जरमध्यसंस्थम्।
चाण्डालवंशतनयेन तदाऽनुयातां
लावण्यपण्यभुवमुल्लसिताक्षिपद्माम्।।१९।।

आगुल्फलम्बिनवमेचककञ्चुकेन
संच्छादितामुपरि लम्बितरक्तवस्त्राम्।
सन्ध्यातपेन पतता परिरञ्जिताङ्गीं
नीलोत्पलावलिमिव स्फुटमीक्ष्यमाणाम्।।२०।।

◆

प्रतिभा

करकलितवर्णरञ्जितभुवना कविभास्करप्रभवा।
प्रतिभाप्रभा बुधानामुन्मीलयतु लेखनीकलिकाम्।।१।।

अधिहृदयसदनमुज्ज्वलसुवर्णरचितान् पदार्थसन्दोहान्।
सुकवेर्निवेशयन्ती प्रतिभालक्ष्मीश्चिरं जयति।।२।।

गङ्गातरङ्गभङ्गान् कटाक्षयन्ती शिवानुरागपरा।
सुकविप्रतिभागिरिजा कुमारकल्याणमादिशतु।।३।।

संशयतिमिरनिरासं या सन्तनुते विचारमार्गेषु।
कविजलदहृदयनिलया सा प्रतिभा विद्युदुल्लसतु।।४।।

मर्यादाञ्चितमृदुपदविन्यासवती प्रसादहासवती।
निजरीतिमनुसरन्ती प्रतिभाकुलकामिनीव बाभाति।।५।।

सुधियां तापं शमयति गमयति कुमुदं विकासवैदग्ध्यम्।
पीयूषसारशिशिरा प्रतिभा मान्या शशाङ्कलेखेव।।६।।

मुखरितवीणानुगुणप्रणीतकाव्यानुरागिणी सुकवेः।
प्रतिभासरस्वती वः सन्निहिता मङ्गलं तनुताम्।।७।।

◆

मासत्रयी

धाराधरानभिनवानवलोक्य यत्र
केकी विनर्तयति पिच्छभरं रसेन।
ग्रामेयिकामधुरगीतिविकासकीर्ति-
राषाढ एष वितनोतु मनोमुदं वः॥१॥

सस्यश्यामलशाद्वलस्थलमिषात् शाटीं दधाना धरा
भ्राम्यत्कर्षकहर्षदाननिरता राज्ञीव संराजते।
रक्षाबन्धनदक्षिणाभिरतुलानन्दा भ्रमन्ति द्विजा
नद्यः पूर्णजला वहन्ति भवताद्वः श्रेयसे श्रावणः॥२॥

पङ्कातङ्कसुदुश्चराऽखिलपथो धाराधराऽऽडम्बरा-
क्रान्ताऽऽशावलयो विकासिकुसुमश्रेणीसमभ्यर्चितः।
नन्दानन्दनगोकुलेशचरिताऽऽनन्दाब्धिमज्जज्जनो
मासो भाद्रपदः सदा विजयते विख्यातकीर्तिर्भुवि॥३॥

■

प्रयागविद्यापीठम्

गङ्गासङ्गोच्छलितसलिला यत्र सारस्वताम्भः-
सम्भिन्नाङ्गी प्रवहति धुनी सा कलिन्दात्मजाऽपि।
श्वेतश्यामारुणमणिगणाऽऽपूरिता भूमिदेव्या
धत्ते हारश्रियमयमहो तीर्थराजः प्रयागः॥१॥

यत्राऽनेकैर्निरवधियशःस्तोमसोमांशुजालै-
र्भूमीपालैः सविधि विहिता दानधाराप्रसाराः।
धर्मो यत्र श्रुतिनिगदितः सम्भृतः स्थैर्यलक्ष्या
विद्वद्वृन्दैः स जयतितरां तीर्थराजः प्रयागः॥२॥

भित्वा भूमिं भुवनजननी निर्गता यत्र तस्मिन्
प्रादुर्भूतः सुरगणनुत तीरभुक्तिप्रदेशे।
गङ्गानाथः श्रुतशतदलाम्भोजहंसावतंसो
यात्राऽऽवासं व्यतनुत चिरं बोधमार्गप्रदीपः॥३॥

वाराणस्याममरवचसां वर्धयन् रत्नकोषं
य: सन्तोषं कमपि विदुषां साहचर्यादवाप।
नानग्रन्थप्रणयनपटुर्य: प्रयागे परस्ताद्
अन्तर्वाणिप्रणयिहृदय: सर्वलोकार्चितोऽभूत्।।४।।

विद्याज्योतिर्जडिमतिमिरोत्सारकं यस्य भूय:
शिष्यश्रेणीहृदयमुकुराभ्यन्तरादुज्जिहीते।
तस्याऽद्यापि प्रथितसुयशोविग्रहाभ्यर्चनार्थं
विद्यापीठं व्यरचि तदिदं शास्त्रपुष्पावकीर्णम्।।५।।

आविर्भूता: सकलभुवनानन्दना नन्दनास्ते
यस्मादासन् विपुलविभवा: पञ्चकल्पद्रुमाभा:।
मान्य: सोऽयं विमलधिषणालङ्कृतो देववाणी-
लीलावास: समजनि सतां नन्दनोद्यानकल्प:।।६।।

विद्वन्मौले: स्मृतिमनुपमां सुस्थिरां संविधातुं
तस्योदारैर्भरतवसुधाशेखरै: शासकेन्द्रै:।
केन्द्रीयाङ्कं विविधविषयान्वेषणोद्भासिताङ्गं
प्रेमाऽऽबद्धं सदनमधुना भाति वाग्देवताया:।।७।।

गङ्गानाथप्रसृमरयशश्चन्द्रिकाधौतहर्म्यं
कूजद्विद्वद्विहगनिवहानेकगीताभिरामम्।
काले काले कुसुमितनवान्वेषणाऽऽमोदिताशं
विद्यापीठं जयतु जगतां भूयसे मङ्गलाय।।८।।

■

कुलगीतम्
(काशीस्थ-सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य)

समुद्यत्सहस्रांशुमाणिक्यपुञ्ज-
प्रभाभासुरं ज्योतिरन्त:श्रुतीनाम्।
दधानो जगन्मण्डले जागरूक:
सदा विश्वविद्यालयोऽयं विभाति।।१।।

क्वणत्कच्छपीमञ्जुनादैरमुष्मिन्
महुर्व्यञ्जयन्ती रहस्यानि वाचाम्।
चिराद् भारती भारतीयान् पुनीते
सदा विश्वविद्यालयोऽयं विभाति।।२।।

कृपापाङ्गपूतः शशाङ्कार्धमौलेः
प्रसिद्धिं गतः प्राक्तनैः पण्डितेन्द्रैः।
यशोमौक्तिकैर्मण्डयन् दिग्वधूटीः
सदा विश्वविद्यालयोऽयं विभाति।।३।।

अशेषासु विद्यासु लब्धाधिकारा
धियं यत्र शिष्याः समुद्योतयन्तिः।
कवीन्द्रैरुपास्यः कलामञ्जुलास्यः
सदा विश्वविद्यालयोऽयं विभाति।।४।।

नवज्ञानविज्ञानविद्याप्रयोगैः
समुद्योतयन्नूतनोन्मेषदेशान्।
विशेषानशेषासु भाषासु चिन्वन्
सदा विश्वविद्यालयोऽयं विभाति।।५।।

समुज्जीवयन् बोधिसत्त्वाऽवदान-
प्रदानैर्दिगन्तान् महावीरवाग्भिः।
किरन् शाङ्करीं वाग्झरीं चित्तभूमौ
सदा विश्वविद्यालयोऽयं विभाति।।६।।

जगद्वन्द्यविद्वत्प्रणीताननन्तान्
प्रबन्धान् सरस्वत्यलङ्कारहारान्।
हृदब्जे वहन् भारतज्ञानदीपः
सदा विश्वविद्यालयोऽयं विभाति।।७।।

इहोदारशास्त्रार्थसम्पूर्णताश्री-
रिह स्यन्दते सूक्तिधारा कवीनाम्।
इहैव स्थिता भावना भारतीया
सदा विश्वविद्यालयोऽयं विभाति॥८॥

■

ध्वजगीतम्
(काशीस्थ-सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य)

उन्नमन् भारतस्याद्य भाग्योदये
नव्यभव्याकृतिर्गीयमानोन्नतिः।
चित्रचक्राङ्कितो मञ्जुमुद्राञ्चितो
धूयतां धूयतां जन्मभूमेर्ध्वजः॥१॥

दास्यतामिस्रमुक्ता धरा भारती
स्वाधिकारप्रभाभासमानाऽसमा।
हन्त हृष्यन्ति गायन्ति सन्तोऽन्वहं
जन्मभूमिध्वजो धूयतां धूयताम्॥२॥

उन्मदः शासकैः पादघातैश्चिरं
बोधितः कोपितो देशकण्ठीरवः।
जृम्भते धीरगम्भीरनादैरसौ
वन्द्यतां वन्द्यतामेष देशध्वजः॥३॥

गान्धिना नेहरूश्रीसुभाषादिभिः
यः श्रमः संश्रितो विश्रुतोपक्रमः।
वर्णयंस्तत्कथामद्भुतां वेल्लितै
राजतां राजतां राजमान्यो ध्वजः॥४॥

यस्त्रिभिर्विश्वमूलैर्गुणै रञ्जितो
विष्णुना किन्नु चक्रेण संरक्षितः।
भारतीयैर्भृशं भूतये भावितो
भ्राजतां भ्राजतां भारतीयो ध्वजः॥५॥

लोकमान्यादिभिर्माननीयाशयै-
र्लोकमान्यः कृतः पद्मबन्धुप्रभः।
विश्वमान्योऽधुना भव्यभावालयः
स्तूयतां स्तूयतां राष्ट्रमौलिध्वजः॥६॥

आहिमाद्रेरथाप्यासमुद्राच्चिरं
कामरूपादिकच्छप्रदेशावधि।
स्थापितो मानितो नन्दितो वन्दितो
वन्द्यतां वन्द्यतां जन्मभूमिध्वजः॥७॥

■

मङ्गलवचनम्

धामायितस्फुरितसामा स्मरारितनुवामार्धवासकुशला
कामादिदोषशतदामात्मिका ललितनामावलीपरिचिता।
भामामणिर्जयति यामाश्रयन्ति ननु रामादयोऽपि तरसा
क्षामाऽपि सा शिखरिजाया विवर्धयतु मामाश्रितं चरणयोः॥१॥

भासा दरस्फुरितहासात्तया जयसि कासारजस्य सुषमां
नासामणेस्तव च दासायिता जननि! सा सारता शशिरुचाम्।
भासादयोऽपि नुतिमासादयन्ति हृदि वासात्तवैव गिरिजे!
व्यासादिभिर्नियतमासार्चिता मधुरलासावहा भवसि मे॥२॥

वीणामुद्यत्सरिगमपदालापिनीं वामभागे
दक्षे कीरं कमपि च करे कोविदं लालयन्ती।
लीलोन्मीलन्नयनमुकुला बालचन्द्रावतंसा
श्यामा कामान् दिशतु नमतां कामधेनुः कवीनाम्॥३॥

सानन्दमन्दहसितां ससितांशुखण्डां
भण्डासुरप्रशमनीं नमनीयपादाम्।
पादान्तलग्नसुरवृन्दकिरीटरत्नां
प्रत्नागमार्थकलितां ललितां नमामि॥४॥

सजलजलदाकारं स्फारं वपुर्दधतो हरे-
रभिनवकिटेर्दंष्ट्राचन्द्रे कलङ्ककलोपमाम्।
जलधिकुहरादुद्गच्छन्तीं चराचरमातरं
भरतवसुधामृत्स्नां कृत्स्नां वचोभिरुपास्महे।।५।।

स्फुरत्तरुणवारिदावलिसमानदेहप्रभा
वराभयकरा शरासनधरा दयाम्भोनिधिः।
विलम्बिकचमण्डला विविधपुष्पमालोज्ज्वला
चकास्तु हृदयाम्बुजे त्रिदशनायिका रेणुका।।६।।

■

साहित्यशास्त्रीयनिबन्धाः

मेघदूते काव्यरत्ने कालिदासो विशिष्यते

विश्वविश्रुतयशःस्तोमधवलीकृतधरातलस्य कविकुलगुरोः कालिदासस्य कृतिषु सर्वातिशायि परमानन्दरसस्यन्दि काव्यरत्नं मेघदूताभिधं नाम।

यद्यपि धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादकत्वादीनि भूयांसि प्रयोजनानि काव्यानां मम्मटादिभिरुद्घोषितानि सन्ति–

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षयते।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

इत्यादिना।

परं सर्वातिशायि अनितरसाधारणं प्रयोजनं परमानन्दावाप्तिरेव, तच्च तेनैव 'सद्यः परनिर्वृतये' इति वदता स्वीकृतम्। सा परानिवृतिः खलु बाह्यविषयान्तरप्रमोषपूर्वकं स्वात्मस्वरूपाऽविभिन्ने भगवति परमानन्दसमुद्रे मज्जनात्मिका इति कथञ्चिद्वक्तुं शक्यम्।

अयमेवार्थः शब्दान्तरैरेवमुच्यते–चिदात्मन आनन्दांशस्य आवरणभङ्ग इति। उक्तञ्च–'चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एवे'ति ग्रन्थान्तरे। अयं हि रसास्वादमहोत्सवः कविकुलगुरोः कृतिषु यथानुभूयते विशेषतस्तदीये मेघदूते न तथाऽन्यत्रेति वक्तुं न शङ्कावकाशः स्वल्पोऽपि शिष्यते। एतदभिप्रायेण दशरूपककारोऽप्याह–

'आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमःस्वादुपराङ्मुखाय॥'

रामायणमहाभारतादीनामुपजीवनेनैव प्रवृत्तानि प्राचां कवीनां वचःस्रोतांसि, परं न केवलं कथावस्तुमात्रानुवादे तेषां तात्पर्यमपि तु नवनवरसोल्लासमहिम्नैव जेगीयते। तदुक्तं ध्वन्यालोककारेण– 'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेण आत्मलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इति।

'व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां कवित्वलाभो महाकवीनां न वाच्यवाचकरचनामात्रेण' इति च।

कालिदासीये वाङ्मये विमर्शविषयीकृते किन्नाम तद्वस्तु यन्न नयनगोचरतामुपयाति। स्वाभाविकञ्चेदम्–

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहोभारो महान् कवेः॥

इत्यभियुक्तोक्तिः कालिदासवचसि सर्वात्मना सङ्गच्छते; किन्तु वयमल्पीयसि कालखण्डे वर्तमाना अंशांशग्रहणेऽप्यप्रगल्भाः कतिपयैरेव शब्दप्रसूनैः मेघदूतस्य रसपक्षं किञ्चिदुपस्थाप्य महाकवेः सपर्यां निर्वर्तयितुं कामयामहे।

मेघदूतीयं कथावस्तु उत्पाद्य कविना नूतन एव दूतवृत्तान्तो मेघमवलम्ब्य प्रदर्शि। ऐतिहासिककथावस्त्वपेक्षया स्वोत्प्रेक्षिते वस्तुनि निर्वाहः कठिनतरो भवतीति ध्वनिकारादयोऽपि वदन्ति।

यद्यपि मल्लिनाथः प्राचामुक्तिमेवमनुवदति–'सीतां प्रति रामस्य हनूमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देशं कविः कृतवानित्याहुः' इत तदुपोद्बलकानि कानिचित् स्थलान्यपि दृश्यन्ते। यथा–

'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु', 'रामगिर्याश्रमेषु', 'रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु', 'दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः', 'इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा' इत्यादीनि। यक्षपत्न्याः सीतायाश्च विरहावस्थावर्णन-सादृश्यमपि दृश्यते, तथापि न कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहे संरम्भः।

विभावानुभावसञ्चारिणां प्रपाणकरसन्यायेन साधारणीकरणे सम्पन्ने रसास्वाद इति काव्यतत्त्वविदः प्रतिपद्यन्ते। अस्मिन्महनीये दूतकाव्ये यक्षस्तत्पत्नी च परस्परालम्बनभूतौ, प्रावृट्कालः, पुनरुद्दीपनविभावः, सन्देशप्रेषणाश्रुपातादिरनुभावः, आवेगदैन्यादिः सञ्चारिभावश्चेति भावानां स्थितिः।

सहृदयसमाजः काव्यनाट्याद्यनुसन्धानवेलायां प्रथमतो नटादिबुद्धिं गृह्णाति। 'अयं नटो नटी वेति', तदनु शिक्षाभ्यासादिवशाद् रामोऽयं, दुष्यन्तोऽयं, सीता शकुन्तला वा इयमिति बुद्धिरुन्मिषति, ततः परं नायको नायिका वा इति बुद्धिः, तदनु धाराधिरोहणक्रमेण रसोत्कर्षे केवलम् 'आनन्दः आनन्दः' इत्याकारिका चित्तवृत्तिः, सा चानुभावैकगोचरा समाधिदशाया इव रसास्वाददशाया व्युत्थानकाले केवलं शब्दैस्तस्यानुवादः क्रियते। तदुक्तम्–

'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्' इत्येवंविधायां रसास्वादधारायां सर्वैर्विद्वद्भिरङ्गीकृतायामपि कविकुलगुरुः प्रतिभोल्लासमहिम्ना प्राथमिकीं कक्षामुल्लंघ्यैव काव्यं प्रस्तौति–

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥

अत्र कश्चिदिति पदव्याख्यायां टीकाकृतो व्याचक्षते–'कश्चिदनिर्दिष्टनामा यक्षो देवयोनिविशेषः' इति। कथावस्तु यत्र प्रतिष्ठितं तस्य नायकस्य, तद्रतेरालम्बनभूताया नायिकायाश्च नामनिर्देश एव नास्ति–

'या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः'।
'तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम्'।

इत्यादिना सर्वनामपदैरेव तदभिधानात्। एवं कविना नायिकादिपरिचय एव न प्रदत्तः कुतस्तरां कथावस्तुन उपक्षेपो निर्वाहश्च सम्भवेत्। वैयाकरणा अपि ब्रूयुः–'सर्वनाम्नां बुद्धिस्थतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्ने शक्ति'रिति

सर्वोऽप्यर्थो बुद्धिस्थ एव न शब्दात्मककविव्यापारगोचरतामुपयातुमर्हतीति।

एवंविधायां विप्रतिपत्तौ दरकुमुलितलोचनाः सहृदया विदांकुर्वन्तु–कविना बुद्धिपूर्वकमेव तथा विहितम्। नहि नायकादेर्नामकुलगोत्रादीनां रससिद्धौ किञ्चित्प्रयोजनं तस्य प्राथमिकक्षण एव परिक्षीणवात्। प्रतिपदं ध्वन्यमानैरर्थैश्चमत्कृतचेताः सामाजिको नैव नायकादिपरिचयमाकांक्षते। तथा हि–'कान्ताविरहगुरुणा' इति विशेषणं शापस्य दुर्भरत्वं व्यञ्जयद् यक्षस्यानुकम्पनीयतां प्रत्याययति अथवा कान्ताविरहे गुरुः शिक्षक इत्यर्थकरणेऽपि प्रकारान्तरेण स एवार्थो व्यज्यते।

'अस्तङ्गमितमहिमा' इति विशेषणेनापि यक्षस्य दूरश्रवणदूरगमनादिकं सामर्थ्यं शापेनैवापगतमित्युक्तम्, न पुनः 'अस्तङ्गतमहिमा' इत्युच्यते। एतेन महिम्नोऽपगमे शाप एवापराद्ध्यति, न पुनर्यक्ष इति कविहृदयपक्षपातः स्फुटं प्रतीयते। एवं 'वर्षभोग्येण' इत्यत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया', 'अत्यन्तसंयोगे च' इत्यादिशब्दानुशासनवशात् समासे प्रतीयमानो वर्षावधिकः कालो दुस्तरतां व्यनक्ति, भर्तुः शापेन इत्युक्त्या स्वामिनो हि सेवकेषु साधारणापराधेऽपि दण्डोद्यता भवन्तीत्यभिप्रायः सम्बन्धषष्ठ्या सुतरां व्यज्यते।

'रामगिर्याश्रमेषु', 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' इत्यनेन भगवत्याः पतिव्रताशिरोमणिभूताया जानक्याः सम्पर्कात्तादृशेष्वाश्रमेषु अधिवासात्सद्यः शापनिर्मुक्तिः संभाव्यते। 'स्निग्धच्छायातरुषु' इति सान्द्रच्छायाप्रधानमेरुवृक्षतले परिभ्रमणाऽऽवासादिव्यापारेण विरहतापापनोदने किञ्चित्साहाय्यं भवेदित्यर्थोऽपि व्यज्यते। 'आश्रमेषु' इति बहुवचनबलादेकत्रानवस्थानलक्षणा उन्मादाऽवस्था सूच्यते। किञ्च स्निग्धाः स्नेहशीलाश्छायातरवो यत्रेति व्याख्याने तरवोऽपि तथाविधां यक्षस्यावस्थामालोक्य छायाप्रदानेन तमनुगृह्णन्तीति व्यङ्ग्यार्थपरम्परया विप्रलम्भोत्कर्षः परां कोटिमधिरोप्यते।

एवंविधैस्तत्तत्पदपदांशादिप्रतिपन्नैरर्थैरार्द्रीभूतचेताः सहृदयो रससरसीतीरमवतरन् प्रथमां नामगोत्रादिजिज्ञासामतीत्यैव प्रवर्त्तत इति महाकवेः कालिदासस्यैव एवंविधं वैशिष्ट्यं नाद्यावधि कस्याप्यन्यस्य क्वचिद्दृष्टं श्रुतं वा।

रसाभिव्यञ्जनाय प्रवृत्तस्य कवेः शब्दार्थविन्यासे सावधानता सुतरामपेक्षिता। विप्रलम्भशृङ्गारः सुकुमारतरः, ईषदपि व्यत्यासे तस्य हानिरिति मन्वानेन महाकविना तदनुगुणमेव मन्दाक्रान्तावृत्तमवलम्बितम्।

मन्दाक्रान्तायां चतुर्भिः, षड्भिः, सप्तभिश्चाक्षरैर्विरामो भवतीति विरहविक्लवस्य नायकस्य सन्देशावसरे किञ्चिद्विश्रम्य, निःश्वस्य, निःश्वासविच्छेदे कथनं शोभनं भवेदिति कवेराशयः। काश्मीरकेण कविना क्षेमेन्द्रेण सुवृत्ततिलके निरूपितमिदम्–

'मन्थराक्रान्तविश्रब्धैश्चतुर्भिः प्रथमाक्षरैः।
मध्यषट्केऽतिचतुरे मन्दाक्रान्ता विराजते'॥

प्रायो मेघदूतपद्येषु यथोचितं सर्वत्रैव यतिविच्छेदः क्वचित् समाससन्ध्यादिकं वर्तमानमपि न प्रतिबन्धकमपि तु रसानुगुणमेव। साकल्येन अर्थस्यानुसन्धानमपि अक्लिष्टतयैव तथाविधरचनया सम्भवत्येव।

'अर्थहीनोऽपि मधुरः शब्दो लोकप्रियङ्करः।
वीणावेणुमृदङ्गादीन्यत्रोदाहरणानि नः॥'

इत्युक्तदिशा–

'कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरङ्गैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य पूर्णो भवतोऽयमञ्जलिः॥'

इत्युक्तनयेन च महाकवेरस्य रचनायां प्रसन्नमधुरायां शब्दविन्यासोऽपि तथाविधस्तालबद्ध इव प्रतीयते। यथा–

'विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहागाः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥'

अत्र परस्परसाम्मुख्येन विशेषणविन्यासादर्थक्रमेण दृष्टिपथमवतरन् सहृदयहृदयचमत्कारमर्पयति, 'तुलयितुमलम्' इत्युक्त्या उपमालङ्कारो भवन्नपि

बिम्बप्रतिबिम्बभावेनैव दृष्टिपथमायातीति तन्मुखेन सादृश्यप्रतीतिरधिकचमत्कारकारिणी दृश्यते। क्रमेण क्रमिकाणां समन्वय इति नियमदर्शनाद् यथासंख्यनामालङ्कारोऽप्यत्र वाच्यतया साहाय्यमाचरति।

परस्परशोभाजननस्य प्रतीयमानत्वे अन्योन्यनामालङ्कारोऽपि ध्वनिमर्यादया भासते। एवमलङ्कारगवेषणायां कविसूक्तिरेषा कामधेनुरिव शतमलङ्कारान्प्रादुर्भावयेदिति प्रसक्तानुप्रसक्तिं विहाय प्रकृतमनुसराम:।

सम्भवनतोऽप्यलङ्कारा यदि न रसानुगुणास्तर्हि भारायमाणैस्तै: किं प्रयोजनम्। अत्र पद्ये मेघस्य प्रासादानाञ्च परस्परसादृश्यवर्णनया 'समानशीलव्यसनेषु सख्य'मिति न्यायेन सौहार्दमुत्पाद्य सन्देशप्रापणे किमप्यानुकूल्यं हृदयावर्जकं प्रदर्शितं कविना इति सर्वोऽपि व्यवसायोऽयं रसास्वादप्रयोजक इत्येव नो विवेचनीयं वर्तते।

रसास्वादनव्यापारे स्वभावचित्रणं यदि साधु न क्रियते, तर्हि महती हानि:। प्राय: कालिदासस्य नायका: सर्वेऽपि धीरोदात्तस्वभावतां नातिक्रामन्ति। मेघदूतमिदं कस्याप्यन्यस्य रचना यदि स्यात्तर्हि नूनं धीरललितप्रकृतिरेव यक्षप्रतिकृतिस्तत्रोपलभ्येत। मेघदूते तावत्–

'तस्य स्थित्वा कथमपि पुर: कौतुकाधानहेतो–
रन्तर्वाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।'

अन्तर्वाष्पत्वादयं स्तम्भिताश्रु इति धीरोदात्तप्रकृति: सूचिता कविना। इदमपि विप्रलम्भरसानुगुणमेव। 'प्रकृतीनां विपर्यय:' इति दोषप्रकरणे साहित्यकारैरिदं भृशं विविच्यते। एवममङ्गलपरिहारे सर्वथा जागरूक: कविकुलगुरुर्यक्षस्य स्वप्नदर्शने–

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दशाश्लेषहेतो–
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशा: पतन्ति॥

अत्र–

महात्मगुरुदेवानामश्रुपातः क्षितौ यदि।
देशभ्रंशो महद्दुःखं मरणञ्च भवेद् ध्रुवम्।।

इति स्मृतिदर्शनात् किसलयेष्वेव स्थलीदेवतानामश्रुपातं वर्णितवान् न भूमौ इत्यमङ्गलं परिहृतं भवति।

प्रियजनसादृश्येन मनोविनोदनं विरहिणां व्यापारः परं यक्षस्य रतेरालम्बनभूता प्रणयिनीसादृश्यमेव केनापि नार्हतीति प्रतिपादयितुं कविरुपक्रमते–

श्यामास्वङ्गंचकितहरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते चण्डि! सादृश्यमस्ति।।

अत्र लतादिषु पदार्थेषु यावत्तत्तदङ्गसादृश्यं सम्भावयामि तावदेव तस्य निःसारता चित्तमारोहति अहमनया सादृश्यसम्भावनयाऽपि कृताऽपराधोऽस्मि नूनं प्रणयिनी कुपिता इत्यर्थं मनसि निधाय सम्बुद्धिः चण्डि! इति।

अत्रायमर्थः सूक्ष्मतयाऽवधेयः – उत्प्रेक्षा नाम अनिश्चयात्मकं सम्भावनाकारं ज्ञानम्, अनिश्चयात्मकसम्भावनयाऽपि तत्तद्वस्तु तुलनापदं न लभते किं पुनर्निश्चयेन। एवं 'हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते चण्डि! सादृश्यमस्ति' इत्यनेन 'हन्त' इत्युपमानान्वेषणनिष्फलतया विषादसूचकं निजप्रणयिन्याः सौन्दर्यस्यालौकिकत्वाद् हर्षसूचकमपि।

'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इति कोशात्।

पर्य्यवसाने नायिकासौन्दर्यस्य निरुपमताप्रतीतिरेव मुख्या। विप्रलम्भ शृङ्गारस्य रसान्तरातिशायित्वं कविना स्वकण्ठरवेणोक्तम्, नायं यक्षश्चलप्रकृतिः किन्तु स्थिरस्वभावस्तदीयं प्रेमापि तादृशमेव।

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।

अत्र स्नेह-प्रेमशब्दयोः पौनरुक्त्यं नाशङ्कनीयम्। क्रमेण स्नेहशब्दस्य तत्प्रवणत्वमर्थः, प्रेमशब्दस्य वियोगासहत्वं चार्थः। अभोगादेव इष्टे वस्तुनि स्नेहाः प्रेमराशीभवन्ति, उपचयं प्राप्नुवन्तीति तदर्थः। एवम्–

न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हिं वस्त्रादौ भूयान् रागः प्रवर्धते।।

इत्युक्तदिशा शृङ्गारस्यावतारक्रमोऽपि प्रदर्शितः।

एवं सर्वाङ्गीणं परिशुद्धं प्रेम दर्शयता महाकविना मेघदूतव्याजेन किमप्यद्भुतं काव्यं सहृदयहृदयानन्दाय समुल्लासितम्।

■

बाणः कालिदासमनुहरति

वाग्देवताविलासस्य कालिदासस्य भारती।
स्वीकृता निजया भङ्ग्या बाणेनेति विविच्यते।।

अत्र तावत् सूक्ति-रमणी-हृदय-पञ्चबाणस्य भट्टबाणस्य कविकुलगुरुकल्पनानुसरणचातुरी किञ्चिद् विचारयितुमुपक्रम्यते। कालिदासात्परवर्तिषु कविषु द्वावेव तादृशौ ख्यातौ, याभ्यां कालिदासानुकरणे स्वप्रतिभोद्भावने च काचित्कवित्वसमुचिता विशिष्टा स्वसरणिः प्रादर्शि। तयोरेको बाणभट्टः, अपरश्च भवभूतिः।

तत्र भवभूतिविषये कैश्चिद्विद्वद्भिस्तुलनादृग् उन्मीलिता लिखितमपि यत्र तत्र परिदृश्यते। बाणमधिकृत्य तु न कृतस्तथा प्रसासः कैरपि, कृतोऽपि वा नास्माकं दृशोर्गोचरीभूतः, अतस्तत्र प्रवृत्तिरियं दिङ्मात्रप्रदर्शनाय।

महाकविकालिदासस्य प्रथममेव सुस्पष्टतयोल्लेखो भट्टबाणस्य हर्षचरिते, 'ऐहोल' इति ख्यातस्थानादुपलब्धे शिलालेखे च वर्तत इत्यामनन्ति संशोधनकोविदाः। नामग्राहीः अनयाऽपि दृष्ट्या कालिदासानन्तरभावी प्रथमः प्रख्यातः कविर्भट्टबाण एवेति प्रतीयते। स च कालिदासात्कियत्प्रमाणं काव्यतत्त्वं प्रतिजग्राहेति सम्प्रति विवेचनीयं वर्तते।

तत्रापि हर्षचरिते भट्टबाणः प्रत्यक्षसंवृत्तवृत्तान्तलेखमर्यादया बद्धस्तादृशं प्रतिभाप्रभावं पर्यवस्थापयितुं नाऽशक्नोद् यथा कादम्बरीनिर्माणावसरे। कादम्बर्येव च भट्टबाणस्य प्रतिभानिकषभूमिः। अतः प्रधानतया तत्रत्यानि स्थलानि महाकविकालिदासप्रतिभाप्रतिच्छायारञ्जितानि विवेचयिष्यन्ते।

कादम्बरीमङ्गलाचरणे प्रथमं पद्यमिदम्–

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः।। इति।

रघुवंशे दशमसर्गे रामजन्मवृत्तान्तात्पूर्वं देवैः क्रियमाणायां विष्णुस्तुतौ प्रथममिदं पद्यम्–

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने।। इति

अस्यैव कालिदासकृतस्य श्लोकस्य सूत्ररूपस्य व्याख्या बाणभट्टकृतेन मङ्गलाचरणेन प्रकटीभवति। कालिदासेन केवलं सृष्टि-स्थिति-संहारकारिता भगवतो वर्णिता, बाणेन तस्यां तत्तद्गुणहेतुकताऽपि परिवर्धितेति विशेषः।

कादम्बरीमूलकथा बृहत्कथातः संगृहीता बाणेन, परमिदानीं बृहत्कथाया अनुपलब्ध्या रूपान्तरं बृहत्कथामञ्जरीरूपेण कथासरित्सागररूपेण च समुपलभ्यते। बृहत्कथागता कादम्बरीमूलकथा कथासरित्सागरस्य ऊनषष्टितमतरङ्गान्तर्गतमकरन्दिकोपाख्याने द्रष्टव्या। तत्रत्यानां पात्रदेशकालादीनां बाणेन स्वेच्छया यत्परिवर्तनमकारि, तत्र भूयान् महाकवेः कालिदासस्यैव प्रभावः। यद्यपि कथासरित्सागरस्य काल एकादशशतकासन्नः, परं बृहत्कथाया मूलरूपमेव बाणेन गृहीतमित्येव निश्चित्य ततो भेदः प्रदर्श्यते।

कथासरित्सागरस्य काञ्चनपुरी बाणस्य विदिशा सञ्जाता। एवं रत्नाकरपुरमेवोज्जयिनीरूपेण समायातम्। हिमालयपादे रोहिणतरुर्विन्ध्याटव्यां शाल्मलीतरुत्वं प्राप्तः। एवमेव सुमनाः शूद्रकः सञ्जातः, ज्योतिष्प्रभः सोमप्रभश्च क्रमेण तारापीडत्वं चन्द्रापीडत्वं च प्रापितौ। मनोरथप्रभा महाश्वेतारूपं मकरन्दिका च कादम्बरीरूपं दधार। अन्यान्यपि पात्राणि देशकालावस्थाश्च भेदेनैव रूपान्तरं ग्राहितानि भट्टबाणेन। कवेः पात्रादिपरिवर्तने कथावस्तुचित्रणे च निरङ्कुशं स्वातन्त्र्यमिति, तत्र नास्माकं किमपि वक्तव्यमस्ति। विचारणीयमेतावन्मात्रमेव यद् एवंविधपरिवर्तनसमये भट्टबाणस्य मनीषादर्शे किमासीत् प्रतिबिम्बितम्? मम तु प्रतिभाति महाकवेः कालिदासस्य भारत्येव तत्र प्रेरणाहेतुत्वं भजते।

उपक्रम एव विदिशावर्णने–'वेत्रवत्सा परिगता विदिशाऽभिधाना नगरी राजधान्यासीत्' इति बाणोक्तिः पूर्वमेघे विद्यमानं पद्यं स्मारयति।

यथा–

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्ध्वा।
तीरोपान्तं स्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्
सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि।।

इति। अस्य श्लोकस्य प्रथमपादे वर्तमाना 'प्रथितविदिशालक्षणां राजधानी'-मिति पङ्क्तिर्बाणभट्टप्रतिभाध्वनि सञ्चरन्ती मुखान्निर्ययौ 'विदिशाऽभिधाना नगरी राजधान्यासीत्' इत्येतैः शब्दैः। मेघस्य वेत्रवत्याश्च परस्परं प्रणयबन्धः कामुकत्वसाफल्यञ्च बाणेन पूर्वनिर्दिष्टवाक्ये वेत्रवतीविशेषणेष्वाहितं यथा– 'मज्जन्मालवविलासिनीकुचतटास्फालनजर्जरितोर्मिमालया जलावगाहनागतजय-कुञ्जरकुम्भसिन्दूरसन्ध्यायमानसलिलया' इत्यादिभिः शब्दैः। बाणः स्वप्रतिभया रूपान्तरापादने नितरां पटुरिति तु स्वीकर्तव्यमेव। एवं पुरतश्चाण्डालकन्य-कावर्णने 'यक्षाधिपलक्ष्मीमिव अलकोद्भासिनी' इति श्लिष्टशब्दानादाय बाणो यक्षनगरीमलकां स्मरति।

एवं पम्पासरोवरवर्णने कालिदासवाक्यानि सूत्ररूपेणादाय बाणो विस्तृततरान् कल्पनाप्रवाहान् प्रावर्तयत्। यथा–

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्य पारिप्लवसारसानि।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः।।

इति पद्यमादाय '. . . सारसितसमदसारसम्, उपान्तकेतकीरजः-पटलबद्धकूलपुलिनं . . . वनराजिभी रुद्धतीरम्' इत्यादि, अग्रे च पम्पाभिधानं पद्मसर इति, मध्ये चास्य बहूनि विशेषणानि सन्ति परं मूलभूतान्येव कानिचित् प्रदर्शितान्यत्र। पूर्वोक्तश्लोकस्यैवाग्रे कालिदासो लिखति। यथा–

अत्राऽवियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये! सस्पृहमीक्षितानि।।

इति पम्पासरोविहारिणां चक्रवाकानां वर्णनं बाणेन भङ्ग्यन्तरेण पूर्वोक्तमेवोपात्तं यथा– 'यत्र च विकचकुवलयप्रभाश्यामायमानपक्षपुटान्यद्यापि मूर्तिमद्राम-शापग्रस्तानीव मध्यचारिणामालोक्यन्ते चक्रवाकनाम्नां मिथुनानि' इति। अत्र कुवलयप्रभासम्पर्कं वर्णयितुं शापकल्पना कृता। पूर्वत्र 'रथाङ्गनाम्नां द्वन्द्वानि' इति कालिदासोक्तिः। इह तु 'चक्रवाकनाम्नां मिथुनानि' इति बाणोक्तिः। बाणस्य बुद्धौ कियान् कालिदासप्रभाव इत्येतावतैव शक्यमनुमातुम्। एवं जाबाल्याश्रमे सन्ध्यावर्णनप्रसङ्गे सर्वोऽपि कविकुलगुरोरभिप्रायः परिगृहीतो बाणेन। यथा रघुवंशे–

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥

इति नन्दिनीवर्णनमेव, 'क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या तपोधनैरदृश्यत' इति बाणोक्तौ प्रतिबिम्बितमवलोक्यते।

अत्र तुलनया कालिदासकल्पनायां यद्रामणीयकं तद्बाणो नैन प्राप्तवानिति कथनीयमापतति। कालिदासेन सूर्यप्रभामुद्दिश्य कृतं वर्णनं सन्ध्यायां योजितं बाणेन। सूर्यप्रभानन्दिन्योः प्रसन्नश्लेषेण यथा तिलतण्डुल-वत्पृथगर्थोपलब्धिर्न तथा बाणोक्तौ प्रतिभाति। पावित्र्यातिशयः सादृश्यञ्चेत्युभयं प्रतिपाद्यं कालिदासस्य। बाणस्य तु कपिलासन्ध्ययोः साम्यमात्रम्।

इत्थमेव कालिदासस्यालकावर्णनमुपजीव्य उज्जयिनीवर्णने भूयान् संरम्भो भट्टबाणस्य प्रतिभाति। महाकविना सूत्ररूपेण यदुज्जयिनीवर्णनमुप-क्रान्तमासीत्–

स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणा गाङ्गतानाम्।
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्॥

इत्युक्त्या मन्ये तदेव भट्टबाणेन शतशो गद्यप्रवाहैर्व्याख्यातम्। तत्र च परिगृहीताः कामं कविकुलगुरोः प्रतिभामयूखाः। स्थालीपुलाकन्यायेन तत्रत्यान् कांश्चिदंशानुद्धरामः–

'आत्मनिवासोचिता भगवता महाकालाभिधानेन . . . प्रमथनाथेन अपरेव पृथ्वी समुत्पादिता' इति बाणोक्तिः,

भर्त्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।

इत्यनया कालिदासोक्त्या संवदति।

'गगनपरिसरोल्लेखिशिखरमालेन कैलासगिरिणेव सुधासितेन प्राकारमण्डलेन परिवृता' इत्येषा भणितिः,

अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः।

इत्युत्तरमेघप्रथमपद्यमनुहरति।

इत्थमेव क्षिप्रावर्णने—'यौवनमदमत्तमालवीकुचकलशलुलितसलिलया भगवतो महाकालस्य शिरसि सुरसरितमालोक्योपजातेर्ष्ययेव सततसमाबद्ध-तरङ्गभ्रुकुटिलेखया खमिव क्षालयन्त्या क्षिप्रया परिक्षिप्ता' इति बाणगद्यरेखा,

तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम्।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता॥

इति पूर्वमेघस्थं गङ्गावर्णनं स्मारयत्येव। अत्रापि पूर्वनिर्दिष्टक्षिप्रावर्णनापेक्षया कालिदासोक्तौ भावगाम्भीर्यं सौन्दर्योन्मेषश्च समधिक इति सूक्ष्मेक्षिकया प्रतीतये। क्षिप्रा तु हरशिरसि गङ्गामालोक्य समुपजातेर्ष्या तरङ्गभ्रुकुटिं बध्नती क्रोधोद्धतं यातीति बाणस्याशयः।

कालिदासस्त्वभिप्रैति यत्—हरस्य भगवतो देहार्धधारिण्या जगदम्बया गौर्या सह स्पर्धमाना गङ्गा साफल्यमवाप, यतः साऽपि शैलराजस्य पुत्री, तस्मान्न आभिजात्ये न्यूनता, सगरपुत्राणामुद्धरणात्तस्याः पापापनोदने सामर्थ्यमपि सुप्रथितम्। 'फेनव्याजेन विहस्येति' कालिदासोक्तौ विशेषः। सपत्न्याः पुरत

एव वल्लभस्य केशग्रहणमकरोदिति नायिकायाः सौभाग्योत्कर्षः कविना सर्वाङ्गीणतया समुन्मीलितः। अन्यच्च–'यस्याञ्च . . . व्यर्थीकृतसुरतप्रदीपाः सञ्जातमदनानलदिग्दाहा इव यान्ति कामिनीनां भूषणप्रभाभिर्बालातपपिञ्जरा इव रजन्यः' इति बाणोक्तेः प्रेरणाभूमिः–

अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः।

इत्यलकावर्णनसरणिरेवेति प्रतिभाति।

इत्थमेव चन्द्रापीडदिग्विजयप्रयाणवर्णने बहुलं रघुवंशस्थरघुदिग्विजयसादृश्यं तत्र तत्र वर्णनावसरे पुरःस्फुरति।

दिङ्मात्रं यथा –'जर्जरयन् वसुन्धराम्, उत्सिञ्चन् सरितः, रिक्तीकुर्वन् सरांसि, चूर्णयन् काननानि, समीकुर्वन् विषमाणि, पुरयन्निम्नानि, नमयन्नुन्नतान्, उन्नमयन् अवनतान्, प्रतिच्छन्नुपायनानि' इत्यादिचन्द्रापीडस्य प्रयाणवर्णनं रघोर्वर्णनञ्च। यथा–

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः।। इति,

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः।।

इति च संवदत्येव।

चन्द्रापीडस्य प्राच्यादिप्रादक्षिण्यक्रमेण प्रयाणं यथा–

'प्रथमं प्राचीम्, ततस्त्रिशङ्कुतिलकाम्, ततो वरुणलाञ्छनामनन्तरञ्च सप्तर्षि- ताराशबलां दिशं विजिग्ये।'

अस्य गद्यभागस्य प्रथमा पङ्क्तिः कालिदासादेव गृहीता, यथा–

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः।

इति। रघोरपि प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन दिग्विजययात्रायाः क्रमो वर्तते।।

चन्द्रापीडस्य विद्याभ्यासानन्तरं राजकुलप्रत्यावर्तनकाले नगरसुन्दरीणां राजपुत्रविलोकनौत्सुक्यवर्णनं कालिदासस्य रघुवंशकुमारसम्भवयोर्निर्दिष्टया वरयात्रावलोकिनीनां पुराङ्गनानां वर्णनया भूयसा साम्यं भजते। दिङ्मात्रं यथा–

बाणोक्तिः–काश्चिदार्द्रालक्तकरसपाटलितचरणपुटाः कमलपरिपीतबालातपा इव नलिन्य इति। कालिदासोक्तिः–

प्रसाधिका लम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान।। इति।

एवं बाणस्योक्तिः–

'काश्चित् सम्भ्रमगतिविगलितमेखलाकलापाकुलितचरणकिसलयाः शृङ्खलासन्दानमन्दसञ्चरिण्य इव करिण्यः' इति।

कालिदासस्योक्तिः–

अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्नमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रसना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा।।

इति च। इत्युभयोः स्थलयोर्यदि क्रियते परीक्षणं तर्हि स्फुटीभवति कालिदासस्य वस्तुवर्णने प्रसादातिशयो भावप्राधान्यञ्च। बाणस्य भरः केवलमुपमायामेव दृश्यते।

अन्या चात्रैव सन्दर्भे बाणोक्तिर्यथा–

'अन्याश्च मरकतवातायनविवरविनिर्गतमुखमण्डला विकचकमलकोषपुटामम्बरतलसञ्चारिणीं कमलिनीमिव दर्शयन्त्यो ददृशुः' इति।

तस्मिन्नेवार्थे कालिदासस्य पद्यं यथा–

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवाऽऽसन्। इति।

बाणेन मरकतवातायनकल्पनामुद्भाव्य किञ्चिन्नवीकरणाय कृतियत्नः, किन्तु ततोऽपि प्रसन्ना नेत्रभ्रमरभाजामाननसहस्रपत्राणां कल्पना कविकुलगुरोरिति को नाम सचेता नाऽभिमन्येत। एवं कियद्वा उदाह्रियताम्। बहूनि स्थलानि पुरस्तादापतन्ति विचार्यमाणानि।

'चन्द्रापीड'पदं पर्यायेण भगवतः शिवस्य वाचकम्, महाश्वेतापदं गौर्याः सूचकम्, अप्रत्यक्षरूपेण भट्टबाणस्याऽचेतने चित्तभागे कुमारसम्भवादिगतानां वस्तूनां प्रतिबिम्बसत्तां सूचयतीति मन्ये।

महाश्वेतायाः स्वरूपवर्णने कियताप्यंशेन तपस्यन्ती गौरी प्रतिबिम्बितेवाभाति।

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते॥

कालिदासोक्त्या 'बालरश्मिप्रभाभिरिव निर्मिताभिरुन्मिषत्तडित्तरलतेजस्ताम्राभिरचिरस्नानावस्थितविरलवारिकणतयाप्रणामलग्नपशुपतिचरणभस्मचूर्णाभिरिव जटाभिरुद्भासितशिरोभागाम्' इत्यादि बाणोक्तिस्तुलनीया।

अन्यदपि तत्रैव द्रष्टव्यम्–

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्।
बबन्ध बालारुणबभ्रुवल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति॥

इत्येषा महाकवेरुक्तिरेव,

'गौरीसिंहसटामयेनेव चामररुचिराकृतिना स्तनयुगलमध्यनिबद्धग्रन्थिना कल्पतरुलतावल्कलेन कृतोत्तरीयकृत्याम्' इति बाणरचनायां पदमादधौ। गौरीपदग्रहणेन च स्फुटमेव गौरीकथायाः कुमारसम्भवस्थायाः स्मृतिः स्वसत्तां प्रमाणयत्येव।

कुमारसम्भवे पूर्वरागो जन्मान्तरसम्बन्धमूलकत्वेन विप्रलम्भो वा शृङ्गाररसः कल्प्यते, महाश्वेतावृत्तान्ते तु करुणविप्रलम्भ इति ततो भेदः।

न चैतावता बाणस्य रचनायां मूलभूता प्रतिभैव नासीदित्यस्माकमभिप्रायः, किन्तु बाणस्य प्रतिभातिशयो महाश्वेतावृत्तान्तादेव प्रवर्तमानः परिलक्ष्यते। पुरतश्च भावोद्रेकस्य तत्तच्चित्तवृत्तीनामारोहावरोहयोर्यादृशं चित्रणं बाणकृतौ तादृशमन्यत्र कुत्रापि साहित्यक्षेत्रे दुर्लभमित्येव दृढं प्रतिपादयामः।

परमेतावत् सत्यं यद् बाणप्रतिभायाः प्रेरणा महाकविकालिदासकृतिभ्य एवोन्मिषितेति।

संस्कृतसाहित्यशास्त्रीयदृष्ट्याऽन्यसादृश्यस्य त्रयः प्रकाराः– १. प्रतिबिम्बकल्पम्, २. आलेख्यप्रख्यम्, ३. तुल्यदेहिवच्चेति।

तत्र पूर्वं प्रकारद्वयं न विशेषतः शोभावहम्, जीवितायमानस्य काव्यतत्त्वस्य तत्राभावात्। तृतीयस्तु प्रकार आश्रीयते महाकविभिः। अत एव बाणेनापि तदेव विहितम्। यदुक्तं ध्वन्यालोके–

'तत्त्वस्यान्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्॥' इति।

'पुराणरमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत् परां शोभां पुष्यति, न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते' इति। अनया सरण्या कालिदासरचनाऽनुगृहीता बाणसरस्वती कमप्यद्भुतं विलासमाविश्चकारेति समञ्जसमेव सर्वम्।

महाकविकालिदासात् परवर्तिषु सर्वेष्वेव महाकविषु तदीयप्रतिभालोकसम्पातादेव वाङ्मयविकासः समजनीति को नाम नाङ्गीकुर्यात्?

■

मम्मट-कालिदासयोर्विचारवीचयः

कालिदासरचनासु दुषणं मम्मटेन परिकल्पितं तु यत्।
तस्य भूषणपदत्वसिद्धये तन्यते नवनिबन्धगुम्फनम्॥

काव्यप्रकाशे प्रथमत एव काव्यप्रयोजनविचारावसरे 'काव्यं यशसे' इति प्रतीकं विवृण्वन्नाचार्यमम्मटः 'कालिदासादीनामिव यशः' इति यशस्वितायां कालिदासस्य तदानीमपि प्रतिभटः कश्चिन्नासीदित्यावेदितवान्। एतेन कविपरम्परायां कालिदासो निरुपम इत्यत्र न मम्मटस्यापि विप्रत्तिरासीदिति स्फुटीभवति।

भुवनोपजीव्यत्वं खलु महाकवेः कालिदासस्य। कालिदासादनन्तरं सुरभारतीं सेवमानेषु कविमूर्धन्येषु को वा तदीयसूक्तीनामधमर्णो नास्ति, भवभूतिर्बाणो वा, भारविर्माघो वा तदीयसरणिमनुसृत्यैव निजां कविकर्मनैपुणीमधिरुरोह, इत्यत्र नास्ति स्वल्पोऽप्यवसरो विचिकित्सायाः।

तत्रभवता समीक्षकशिखामणिना क्षेमेन्द्रेणापि कवित्वसंस्कारोपजननाय कालिदासप्रबन्धपरिशीलनं मुख्योपायतया निर्दिष्टम्–

'पठेत्समस्तान् किल कालिदासकृतप्रबन्धानितिहासदर्शी।'

इत्यादि वदता। एवंविधायामपि स्थितौ गुणदोषपरीक्षणनिकषोपलानां मम्मटादीनां दोषदर्शनविचारावसरे महाकवेः कालिदासस्य भारती 'हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा' इति तदुक्तरीत्वा कियतीमात्मनो निर्दुष्टतां प्रमाणयितुं प्रागल्भत इति विचारयामः। तत्र प्रथमतस्त्रिविधाश्लील-दोषोदाहरणप्रसङ्गे–

'मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः।

रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्हीं।।'

इति विक्रमोर्वशीयस्थे पद्ये 'विनाशात्' इति पदेन मरणरूपममङ्गलं व्यज्यते, वाच्योऽर्थस्तु प्रियाया अत्यन्तमदर्शनमित्येव। तस्मादमङ्गलव्यञ्जकत्वादिदमसाधु इति मम्मटस्याशयः। तत्रेदमालोचनीयम्–

प्रकरणादिज्ञानस्य बलवत्त्वाद् नाशपदाद् अदर्शनमेव पुरः स्फुरति, तत्रैव वक्तृतात्पर्यविश्रान्तिः। ननु व्यञ्जनाया बाधितार्थबोधकत्वमपि धर्मिग्राहकमानसिद्धमिति नयेन वाच्यार्थं बाधित्वापि वैयञ्जनिकबोधो भवेदेव, पदस्यैव तत्रापराधात्? इत्यपि न सुवचम्; यतोऽत्र नृत्यन्तं मयूरं प्रेक्ष्य तस्य हर्षकारणं विचिन्तयन्तो राज्ञ उक्तिरियम्। उर्वश्या अत्यन्तापगमादेव स्वप्रतिद्वन्द्विकेशकलापापगमः। अत एव मयूरो नृत्यतीति राजाऽवगच्छति। किञ्च विरहस्य परां काष्ठामधिरूढस्य नायकस्य पुरूरवसः पुनरपि प्रियासङ्गमो भवेन्न वेति सन्दिहानस्य तादृशी भणितिः परं विप्रलम्भोत्कर्षं सूचयति तदीयामुन्मादावस्थाञ्च। स्फुटमेतत् तत्प्रकरणालोचनेनेति निरवद्या महाकविसूक्तिः प्रतिभाति। एवं–

'स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती
पुनः पुनः केसरदामकाञ्जीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण
द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य।।'

इति कुमारसम्भवस्थे पद्ये पार्वत्या परिधृतायां केसरदामकाञ्च्यां कामधनुषो मौर्व्या द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यमासीत्। परं तद् द्वितीयत्वं कर्मधारयसमासे परपदार्थप्राधान्याद् गुणीभूतमिति विधेयस्यानिर्वाहाद् अविमृष्टविधेयांशो नाम दोष इति मम्मटो विवेचयति। तत्रेत्थं समाधीयते–

न खलु मौर्वीगतं द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यमिति राजाज्ञा। उत्प्रेक्षायां क्वचिद् विषये कस्यचिद् वियषिणः सम्भावना क्रियते। इत 'केसरदामकाञ्ची' उत्प्रेक्षाया विषयः, विषयी तु कामस्य द्वितीयमौर्वी। न च द्वितीयत्वविशिष्टमौर्व्युत्प्रेक्षायां किमपि बाधकं प्रतिभाति।

एका प्रसिद्धा मौर्वी कामस्य सर्वविदिताऽस्त्येव। इयन्तु द्वितीया कामस्य मौर्वीति कवेराशयस्याकलनात् समञ्जसमिदमेव। किञ्च यदि द्वितीयत्वमात्रस्योत्प्रेक्षणं न मौर्व्याः, तर्हि विषयिविषयभावो नोपपद्येत। केसरदामकाञ्च्याः सम्भावनायां विषयत्वं कामस्य द्वितीयमौर्व्याश्च सम्भावनायां विषयित्वमिति व्यवस्था भग्ना स्यात्। 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशिष्टे चोपजायत' इत्यादिनियमानुसन्धानाच्च कालिदासोक्तमेव रमणीयम्। तथैव-

'वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता
दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि! मृग्यते
तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥'

इति बटुवेशधरेण हरेण साभिप्रायमारब्धायां हरनिन्दायां तद्धितार्थं गुणीभूतेऽन्यपदार्थे विधेयस्य गुणीभावः। यथा 'वपुर्विरूपाक्ष'मित्युक्तम्, तथैव अग्रेऽपि 'जनिः अलक्षिता' इति वाच्यम्, येन जनुषोऽलक्ष्यत्वेन हरस्य निन्दाधिक्यं प्रतीयेत।

कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्ठान्नमितरे जनाः॥

इति न्यायेन सकलबन्धुजनाभ्यर्थनीयं कुलमपि हरस्य नास्तीति कवेराशयः। स च 'अलक्ष्यजन्मता' इति पदेन न स्फुटभावमुपयातीति मम्मटोऽभिप्रैति। तस्मादत्रापि अविमृष्टविधेयांशो जागरूक एवेति स्थितौ कालिदासपक्षादुच्यते-

यथा-'वपुर्विरूपाक्षमि'त्यत्र वपुरुद्दिश्य विषमेक्षणत्वं विधेयभावेन व्यवस्थापितं न तथा 'अलक्षिता जनिरि'त्यत्र उद्देश्यविधेयभावावगमो भवति; किन्तु पदगतदोषोद्धारेऽपि वाक्यदोषप्रसङ्गः शिरस्यापतति। तथापि 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादिवदत्रापि पदयोर्वैपरीत्येन सन्निवेशात् 'जनिः अलक्षिता' इत्येवंरूपतया वक्तव्येऽपि तद्विपरीताभिधानाद् वाक्यगतमविमृष्टविधेयांशत्वं दुष्परिहरमेव।

अन्यच्च-'अलक्ष्यजन्मता' इति पदेनापि जनमतः कुलगोत्रादेरविज्ञानमित्यर्थः स्फुटीभवत्येव। भावार्थकः 'तल्'प्रत्ययोऽपि अलक्ष्यत्वं

स्फुटमवगमयति, तदुद्देश्येनैव तस्य प्रयोगात्। अत्र वाक्यार्थपर्यालोचने स्वल्पमपि दूषणं नावशिष्यते, यत उत्तरार्धे निर्दिष्टमिदं समष्टिरूपेण यत्, वरेषु यत्किमपि वरणीयत्वोपयुक्तं जनैरन्विष्यते तदेकमपि वस्तु हरे नास्तीति, पूर्वार्धे व्यष्टिरूपेण पृथग्वाक्यविन्यासैर्निर्दिष्टम्– वपुर्विरूपाक्षम्। अलक्ष्यजन्मता, वसु दिगम्बरत्वेन निवेदितमेवेति। पूर्वोत्तरार्धयोः परस्परसाकाङ्क्षतया उत्तरार्धे स्फुटतया प्रतिपादनाच्च तदन्वयितया पूर्वार्धस्य तत्र स्वल्पोऽपि विधेयांशतिरस्कारो नानुभूयते। क्रियान्वयेन स्फुटतयाऽर्थावगमे तदन्तर्गतानां समासादीनामकिञ्चित्करत्वात्। अत एव सारबोधिनीकारेणाप्युक्तम्–

'वस्तुतस्तु त्रिलोचने जन्मनोऽप्यसिद्धतया विशिष्टस्यालक्षितजन्मनो विधेयतया अलक्षितेत्यस्य विशेषणस्य पूर्वोपादानमुचितमिति रचितः पाठः समीचीनः' इति। एवमग्रे पदांशगतदोषोदाहरणप्रसङ्गेन कुमारसम्भवीयमधस्तनं पद्यमुदाहारि मम्मटेन–

'तद् गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्य-
मर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यै
बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः।'

अत्र 'द्ध्यै' 'ब्ध्यै' इति मम्मटस्याशयः। तट्टीकाकृतोऽप्येवं व्याचक्षते–'प्रार्थनेऽतिमधुरभाषणस्यैवौचित्येन अस्यात्र दोषत्वम्' इत्युद्योतकारः। 'अत्र नायकनायिकावृत्तान्तरूपरसस्य सम्भवात्तद्व्यञ्जकवर्णवैधुर्येणास्य दूषकतेति' सारबोधिनीकारः।

तदेतत्सर्वमप्रासङ्गिकम्। तथा हि–अत्र कामेन शिवं प्रति वशीकरणोद्योगे स्वीकृते, इन्द्रस्तद्गमनमनुजानातीति प्रसङ्गः। अत्र स्फुटतया कस्यापि रसस्य भावस्य वा नोपलब्धिः, येन तद्विघाताशङ्का जायेत। परम्परया रसस्पर्शस्तु सर्वत्रापि काव्ये स्वीकृत इति तद्विचारानुधावनं व्यर्थमेव। यदि वर्णयोरनयोः श्रवणोद्वेजनकरत्वमनुभवसाक्षिकं सहृदयानां तर्हि कं वा रसभावादिकं प्रतिबध्नीयादियं पदांशद्वयी?

कामस्य प्रशस्तिस्तु कृतैव मघवता। यथा–

'बीजाङ्कुरोत्पत्त्यै सलिलं यथा प्रधानकारणायते, तद्वत् स्कन्दस्योद्भवाय भावन्' इति वदता। तदेवमर्थस्यापि स्फुटतयोपलब्धौ कटुत्वेनाभिमतयोः पदांशयोरर्थप्रतिबन्धकत्वमपि नास्तीति दूषकताबीजाऽन्वेषणे निर्मूलमेवायमाक्षेपः प्रतिभाति।

इतोऽग्रे पदांशगतनिहतार्थदोषोदाहरणत्वेन पद्यमिदमुपन्यस्तं मम्मटेन–

'यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां
सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागा-
मकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्॥'

इति। अत्र हिमालयोत्कर्षवर्णने 'धातुमत्ताम्' इत्यत्र धातवो गैरिकादयः सन्त्यस्येति धातुमान्, तस्य भावो धातुमत्तेति कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेनेति न्यायात्सम्बन्धः सूच्यते। परं 'मत्ता'शब्दस्योन्मत्तस्त्रीवाचकत्वं प्रसिद्धम्, तेन प्रसिद्धेन पुरःस्फुरितेनार्थेन पूर्वोक्तोऽप्रसिद्धोऽर्थो निहन्यत इति 'निहतार्थता'नाम दोष इति मम्मटाचार्यो निश्चिनोति।

इदमपि न विचारसहम्। तथा हि–प्रसिद्धेनार्थेन पुरःस्फुरितेन तदितरोऽर्थो यत्र बलादिवाभिभूतो न झटिति बोधगम्यो भवेत्तत्रैवायं दोषः। झटित्यर्थानुपस्थापकत्वं तेन च सहृदयोद्वेगजनकत्वमस्य दूषकताबीजम्; परन्तु हिमालयवर्णनप्रसङ्गे जागरूके 'धातुमत्ता'मिति पदश्रवणसमकालं कस्य वा सचेतसश्चेतसि 'मत्ता'पदांशमात्रोपस्थाप्यमान उन्मत्तस्त्रीरूपार्थः पदमादधीत? तस्मान्निर्दुष्टमिदं महाकवेः सूक्तम्।

एवं भग्नप्रक्रमदोषोदाहरणप्रसङ्गे कुमारसम्भवस्थं पद्यमेतदुद्धृतं मम्मटेन–

'ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥'

इत्यत्र सप्तर्षयः शिवपार्वत्योर्विवाहविषये यतमाना माध्यस्थ्यं भजन्तो हिमालयेन सह सम्मन्त्र्य तदुक्तिं शिवाय निवेद्य स्वस्थानं जग्मुरिति प्रसङ्गः। अत्र 'अस्मै' इतीदमः प्रक्रमात् 'तद्विसृष्टा' इत्यत्रापि 'अनेन विसृष्टा' इत्येव वक्तव्यम्। न च तदिदमोरर्थाभेदः, इदमः प्रस्तुतप्रत्यक्षपरामर्शकत्वादिति विवृण्वन्ति प्रदीपकारादयः। तस्मादत्र सर्वनामविषये भग्नप्रक्रमः।

अत्रेदमालोचनीयम्—येन रूपेणोपक्रमतेनैवोपसंहारः कर्तव्यः। अन्यथा अर्थप्रतीतिर्बाधिता सती सहृदयोद्वेगं जनयेदित्येतदेव दोषस्यास्य स्वरूम्। अत्र 'तद्विसृष्टा' इत्यत्र भगवतः शिवस्य प्रसिद्धतमत्वात्तच्छब्दो नार्थप्रतीतिं स्थगयति। किञ्च भगवता शिवेन परिणयवार्तायां माध्यस्थ्यहेतोः पूर्वं स्मृता एते मुनयः—

'स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम्।
ऋषीञ्ज्योतिर्मयान् सप्त सस्मार स्मरशासनः।।'

इति कुमारसम्भवे तत्प्रकरणे स्फुटम्। एवं तच्छब्दोऽत्र पूर्वानुभूतार्थे प्रक्रान्तार्थे वा प्रयुज्यमानो न स्वल्पमपि दोषमावहतीति कालिदासीयं पदमेव रमणीयमिति।

अस्मिन्नेव दोषविचारे पर्यायविषयकप्रक्रमभङ्गोदाहरणे पद्यमिदमालोचितं मम्मटाचार्येण—

'महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टि-
स्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते
द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा।।'

कुमारसम्भवे प्रथमसर्गे हिमालयस्य पार्वत्यां वात्सल्यवर्णनमिदम्। अत्र 'अपत्यसामान्यसत्तायामपि' अपत्यविशेषे वात्सल्यमधिकमासीदिति वक्तव्ये 'पुत्रवत्' इत्यभिधानमनुचितम्, 'अपत्यवतः' इत्येव सामान्येन प्रतिपादनीयम्। यथा दृष्टान्ते पुष्पसामान्यसत्तायामपि पुष्पविशेषे (चूतरूपे) द्विरेफमालाया विशेषत आसक्तिरित्युक्तम्। एवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः

समानाकारताभङ्गात् प्रकृते पर्यायविषये भग्नप्रक्रमतादोषः प्रादुर्भवतीति मम्मटस्याशयः।

अत्र समाधीयते–यद्यपि पुत्रापत्यशब्दयोः सम्भवति सामान्य-विशेषभावः; परन्त्वत्र महाकविना पुत्रशब्दः सन्ततिसामान्यार्थ एव प्रयुक्तः। तथा हि 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्या'मिति नियमात् पुत्राश्च दुहितरश्च पुत्राः, तेऽस्य सन्तीति पुत्रवान्, भूमार्थे 'मतुप्' प्रत्ययः। एवमेव व्याख्यातं च मल्लिनाथेन। एवञ्च नात्र प्रोक्तदोषावसरः।

वृत्तिग्रन्थे स्वयं मम्मटाचार्येणापि किञ्चिदत्र अस्वरसमिव प्रदर्शयता लिखितं यत् 'अत्र सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये स्नेहोऽभूद् इति केचित्समर्थयन्ते' इति। समुचितञ्चैतदाभाति। सत्स्वपि पुत्रेषु कन्यायामन्यस्मै दास्यमानायां भवत्येव पितुः स्नेहः किञ्चिदधिक इत्यनुभवगोचरमिदं व्यवहारेऽपि। तत्राप्यशेषगुणशालिन्यां लोकोत्तरसौन्दर्यसम्भृतायामादिशक्तेरवतार-भूतायामुमायां हिमवतः स्नेहधारा विशेषतः प्रावर्तत इत्यत्र न नाम किमप्यसम्भावनीयम्।

पूर्वोक्तं मम्मटाचार्यस्य वृत्तिग्रन्थं व्याकुलयन्तष्टीकाकाराः परस्परविरुद्धं व्याचक्षिरे। तत्र चण्डीदासादयस्तु दोषराहित्यमेव स्वीकुर्वन्ति। एवमग्रे–

'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥'

इति शाकुन्तलनाटकस्थे पद्ये 'गाहन्ता'मिति कर्तृकारकवाचकतिङ्प्रक्रमे तृतीयपादे 'क्रियता'मिति कर्मकारकवाचकस्योपादानात् कारकविषये भग्नप्रक्रमत्वमिति मम्मटाचार्यः।

वस्तुतस्तु–अर्थप्रतीतिव्यवधायकस्य, कस्याप्यनौचित्यस्य वाऽत्राननुभवाद् दोषस्थितिरपि नास्त्येव। यत्तु मम्मटाचार्यैरपि कल्पिते पाठे 'विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवरा मुस्ताक्षतिं पल्वले' इत्यत्र सूकरपदस्य ग्राम्यत्वाद् बन्धशैथिल्याच्च 'विश्रब्धः कुरुतां वराहनिवहो मुस्ताक्षतिं पल्वले' इति युक्तं पठितुम्।

एवञ्च–आत्मनेपदप्रक्रमभङ्गोऽपि न, इत्यादिकमुद्योतकारो लिखितवान्। तत्सर्वमाहोपुरुषिकामात्रम्, प्रकृतार्थप्रतीतिप्रतिबन्धकतायाः पद्येऽस्मिन् लेशतोऽप्यननुभवात्।

एवमक्रमदोषस्योदाहरणतया निर्दिष्टे कुमारसम्भवीयेऽस्मिन् पद्ये–

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां
समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावत-
स्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥'

यत्पदानन्तरं यत्पदोपादानमुचितं तपोऽन्यत्र तदुपादानं यत्र भवेत्तत्र 'अक्रमत्वं' नाम वाक्यदोषः। अत्रोदाहरणे कपालिसमागमप्रार्थनया शोच्यत्वप्रतीतौ तात्पर्येण यथा कलाशब्दानन्तरं 'च'कार उपात्तस्तथैव 'त्वञ्चेति' वक्तव्यमासीत्, परं तत्र 'च'कारस्य 'लोकस्ये'ति पदानन्तरमुपादानात् क्रमस्याभावात् 'अक्रमत्वम्', तेन शोच्यतायां युष्मत्पदसम्बोध्यायास्तथा समुच्चयो न प्रतीयत इति मम्मटाभिप्रायः।

अत्रेदं विमृष्टव्यम्– पद्येऽस्मिन् शोच्यत्वप्रतीतौ चन्द्रकला पार्वत्योरुभयोरपि समकक्षतया परिगणनं बटुवेषधरेण भगवता हरेण पूर्वमेव कृतम्–'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयता'मिति वदता। तदनु कलावतः कान्तिमती सा कला च, अस्य लोकस्य कान्तिमती नेत्रकौमुदी त्वञ्चेत्यभिहितम्। एवं शिवसमागम- प्रार्थनया शोच्यत्वप्रतीतौ कलातो न स्वल्पापि न्यूनता भगवत्यामुमायां प्रतीयते, उपक्रमेणैव तस्य प्रतिपादनात्। न च वराकः 'च'कारस्तथाऽपराध्यतीति सहृदया एव प्रमाणम्, तस्मान्निर्दुष्टमिदं पद्यम्। एवम् 'अमतपरार्थ'नाम्नि दोषे रघुवंशस्थं ताटकावधवर्णनमिदमुदाहृतम्–

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसितं जगाम सा॥

इत्यत्र वाक्यार्थात्प्रकरणवशात् प्रतीयमाने बीभत्सरसे श्लेषबलाद् 'अभिसारिका'-वृत्तान्तस्य प्रतीयमानतया शृङ्गाररसोऽपि व्यज्यते, स च प्रकृतरसविरोधी,

ज्ञेयौ शृङ्गारबीभत्सौ तथा वीरभयानकौ।।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः।।

इत्युक्तत्वात्। ततश्च प्रकृतरसविरुद्धरसोपस्थापकतया वाक्यस्य सदोषत्वमिति मम्मटाचार्यस्य दृष्टिः।

अत्रेदमवधेयम्–प्रकरणस्य नियामकत्वात् प्रकृतोऽर्थस्ताटकावधमात्रपरो बीभत्सरसास्वादपर्यवसायी च। श्लेषेण पुनर्द्वितीयार्थबुद्धौ समुल्लसितयामभिसारिकावृत्तान्तः प्रतीयते। तेन च शृङ्गाररसानुभवः। एवं 'अर्थभेदेन' शब्दभेदः, 'यावन्तोऽर्थास्तावन्तः शब्दाः' इत्याद्यालङ्कारिकनयेन शृङ्गाररसाभिव्यञ्जकाः शब्दा अपि पृथग्भूता एव। केवल श्लेषबलादभिन्ना इव भासन्ते। यदुक्तं मम्मटनैव श्लेषप्रकरणे–"वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेष' इति। एवमनयो रसयोः सामानाधिकरण्याभावान्न विरोधः। प्रत्युत कवेरेकशब्दाश्रयेण परस्परविरुद्धरसचमत्कारप्रदर्शनसामर्थ्यसूचनादुत्कर्ष एव प्रतीयते।

किञ्च वैयञ्जनिकबोधस्याऽऽवृत्त्या स्वीकृतत्वादेकस्मिन् प्रकरणे तदभिव्यङ्ग्ये रसे च पर्यवसिते प्रकरणभेदेन पुनरपि रसान्तरप्रतीतौ बाधकं नास्तिः। नापि नैरन्तर्यविरोधः, श्लेषस्य तत्र व्यवधायकत्वादिति कालिदासोक्तिः शोभनैव।

रसदोषप्रकरणे मम्मटाचार्यैः– रसस्यानुभूतस्यापि पुनः पुनर्दीप्तावुदाहृतं कुमारसम्भवीयं रतिविलापप्रकरणम्। अनुभूतो हि रसो भूयोभूयश्चर्व्यमाणो नवीनचमत्काराभावात्सामाजिकानुद्वेजयतीति मम्मटाशयः।

तत्रेदं विचिन्तनीयम्। कुमारसम्भवे चतुर्थसर्गे सति कामदाहे–

अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूर्विबोधिता।
विधिना प्रतिपादयिष्यता नववैधव्यमसह्यवेदनम्।।

इत्यादिना तस्या विलापप्रकार उपवर्णितः। एवं करुणरसोद्रेके जाते, स्वजनकर्तव्यनिर्वाहाय तां सान्त्वयितुं कामबन्धौ वसन्ते प्रत्यासन्ने तदीयावलोकनाद् भृशं वर्धमानशोकावेगा सा वक्षस्ताडनरोदनादिकं चकारेति कविना

स्ववचोभिरेव तदौचित्यं पर्यवस्थापितम्। यथा—

तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसम्बाधमुरो जघान च।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते॥

एवमौचित्येन निर्व्यूढो रसो भूयोभूयश्चर्व्यमाणोऽपि नोद्वेगाय प्रभवेदिति सहृदयहृदयसाक्षिकमेवैतत्।

अस्मिन्नेव प्रकरणे 'प्रकृतिविपर्ययदोषोदाहरणतया कुमारसम्भवे शिवयोः सम्भोगशृङ्गारवर्णनमुपात्तं मम्मटाचार्येण। प्रकृतिः स्वभावश्चरित्रं वा, तत्प्रतिकूलतया वर्णने सोऽयं दोषः। यस्यां प्रकृतौ यद्वर्णनमुचितं तत्प्रतिकूलं वर्णनमित्यर्थः, यदाधुनिकैः 'चरित्रचित्रण'मित्युच्यते। तत्र दिव्यप्रकृति- भाजोरुमामहेश्वरयोः प्रकटश्शृङ्गारवर्णनं प्राकृतजनसाधारणरीत्या निबद्ध्यमानं तयोर्दिव्यस्वभावतां सामाजिकानां भक्तिरूपिणीं प्रवृत्तिञ्च प्रतिबध्नातीति मम्मटाचार्यस्याशयः।

यद्यपि आपाततो मम्मटाचार्यस्य शिक्षा समीचीनैव प्रतिभाति; किन्तु महाकवेः कालिदासस्य प्रतिभाप्रभव्याप्तौ दृग्गोचरीकृतायां तत्र न स्वल्पमपि दूषणमवशिष्यते। भगवता शिवेन दग्धे मन्मथे जगतः सकलाऽपि प्रवृत्तिः प्रतिरुद्धा भवेत्, अतो भगवान् नित्यमुक्तोऽपि जगदनुग्रहाय मन्मथमप्यनुगृहीतवान्, न तु विषयलोलुपतयैवेन्द्रियसुखानि सिषेवे, इत्यर्थः सूचितो महाकविनाऽस्मिन् प्रकरणे—

एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः।
शैलराजसदने सहोमया मासमात्रमवसद् वृषध्वजः॥

इति वदता। किञ्च भगवतो वास्तविकं यद्रूपं तदपि न विपर्यस्तं कविना—

एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः।

इत्यादौ 'जगद्गुरु'प्रभृतीनि पदानि प्रकृतिस्वरूपं नान्यथा कुर्वन्तीति न प्रकृतिविपर्ययदोषावकाशोऽपि।

किञ्च महाकवे रसोपनिबन्धने यदि तादृशं पाटवं सहृदयैरनुभूयेत, यत्र न तदास्वादस्य स्वल्पोऽपि प्रतिरोधः, तत्र सन्नपि दोषो न प्रतिबन्धकः,

कविशक्तितिरोहितत्वात्। तदुक्तम्–

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झगित्यवभासते।। इति।

तस्मान्नितान्तनिरवद्या महाकवेः सूक्तितरङ्गिणी पीयूषपूरैस्त्रिलोकीमापूरयन्ती भारतवर्षस्य सौभाग्यसम्पदमहर्निशमभिवर्धयन्ती विराजते।

श्रीमन्मम्मटाचार्यैरपि शिष्यशिक्षार्थं तत्र तत्र सूक्ष्मेक्षिकया दोषानुत्प्रेक्ष्य तद्विवेचनप्रकारवर्णनया सर्वे वयमनुगृहीता एवेति तेषां पाण्डित्यप्रकर्षे कस्य न वा साधीयसी श्रद्धा स्यात्।

■

दर्पणकारस्य कालिदाससूक्तिसमीक्षणम्

अमन्दानन्दसन्दोहमकरन्दकरम्बिता।
कालिदासकवीन्द्रस्य जीयाद् वचनमञ्जरी॥

प्रथमं दर्पणकारेण अविमृष्टविधेयांशाभिधस्य दोषस्य उदाहरणतया परिगृहीतं रघुवंशस्थलम् 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इति। अत्राऽयमाशयो दर्पणकारस्य रघूणामधिकारस्य समुद्रपर्यन्ततायाः प्रत्यायनं कवेरभीष्टम्, तच्च विधेयताप्रतिपाद्यम्। परं समासेन सा विधेयता न सम्यक् प्रतीयते; किन्तु समुद्रपर्यन्तत्वविशिष्टक्षितीशत्वमेव प्रतीयत इति प्रोक्तदोषप्रसक्तिदुर्वारा विवक्षितविधेयांशतिरस्कारादि इति।

अत्र प्रतिविधीयते–न खल्वत्र समुद्रपर्यन्तत्वमात्रं विधेयम्: किन्तु समुद्रपर्यन्तक्षितिनायकत्वमेव। किमत्र प्रमाणमिति चेत्, कवेर्विरचनैव प्रमाणम्।

यदि कवेः समुद्रपर्यन्तत्वमात्रे प्राधान्यविवक्षा अभविष्यत्तर्हि सबिन्दुकत्वमरचयिष्यत् कविवरस्तावता वृत्तभङ्गादिदोषाभावात्। कवेरुक्तिरपि तदनुगुणा–'तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः' इति। मल्लिनाथोऽपि विवृणुते– 'आजन्मशुद्ध्यादिभिः कर्तृभि'रिति। तस्मात् तादृशक्षितीशत्वादेरेव विधेयत्वप्रतिपत्तिः सुस्फुटा श्लोकचतुष्टयेन। प्रबन्धप्रवृत्तानां षष्ठ्यन्तविशेषणानां पूर्व–पूर्वसाकाङ्क्षाणां विधेयतया प्रतीतिरुपजायते। विशेषणविशेष्ययोः समानलिङ्गवचनतया स्वारसिक एव अन्वयबोधः प्रवर्तते। अयं विधेयाविमर्शदोषः समासेऽसमासे च परिदृष्टः। विधेयतया विवक्षाया एव प्राधान्यात्। क्वचित्तु समासेऽपि न विधेयताबुद्धिः प्रतिबध्यते। यथा–'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यादौ। अतो यदि 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इत्यत्र समुद्रपर्यन्तत्वं विधेयमित्याग्रहस्तदा तदपि प्रतीयतान्नाम। इत्थं महाकवेर्वचसि न दूषणावसरः।

इतोऽग्रे वाक्यदोषेषु 'अधिकपदस्य' उदाहरणतया पद्यमिदमुपन्यस्यते दर्पण कारेण–

'अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः।
स्पृशन् करेणाऽऽनतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः॥'

अत्र ईप्सितद्रविणलाभानन्तरं जिगमिषुः कौत्सो 'वाचमुवाच' इत्यत्र 'उवाच' इति 'वच्'धातुनैव निर्व्यूढे कार्ये 'वाच'मिति पदमधिकम्। विवक्षिताऽन्वयाऽनुपयुक्तपदशालित्वमेव 'अधिक'पदत्वमित्युच्यते।

अत्राऽयमाक्षेपोऽपि निरस्यते–तथा हि पूर्वमेतत् पदार्थः परिशीलनीयः। तदनुसारं दूषणगवेषणा करणीयेति प्रशस्तः पन्थाः। तादृशेन लोकोत्तरेण रघोः प्रभावेण पूरिताभिलाषः शतशः क्रमशः क्रमेलकेषु वडवासु च गोणीपरिमितं कनकराशिं गुरुदक्षिणार्थमादाय सन्तुष्टचेता जिगमिषुर्महर्षिः कौत्सः कीदृगवस्थ इत्यालोच्यते चेत् स्फुटमिदं प्रतीयेत यद् अत्यन्तं प्रसीदच्चेताः स्वकार्यपूर्त्या तत्प्रतिदानाय पुण्यमपि अंशतो व्ययीकर्तुं तत्पर असीत्। किञ्च 'कृते प्रतिकृतं कुर्यादेष धर्मः सनातनः' इत्युक्तदिशा विशिष्टां वाचमुदीरयति स्म न तु साधारणीम्, अत एव महाकविना प्रकरणानुकूलानि पदानि प्रयुज्यन्ते। तथा हि 'प्रजेश्वर'मिति। ईष्टे इति ईश्वरः प्रजानामुपलक्षणतया ऋष्यादीनामपि कार्येषु सामर्थ्यमावहतीति तादृशम्। प्रीतमना महर्षिरिति पदयुगली साभिप्रायैव। यतोऽत्यन्तं सन्तुष्टचेताः स्वतपसा महर्षिदशां निग्रहानुग्रहसामर्थ्यलक्षणामधिष्ठितः कौत्स इत्यर्थः। एवं 'वाच'मित्यस्य विशिष्टामाशीर्लक्षणामित्यर्थकरणान्न दोषः प्रत्युत ध्वनिमहिम्ना चारुत्वापादनं क्रियते कविवरेण। 'त्वामस्मि वच्मि विदुषां समावायोऽत्र तिष्ठति' इत्यादौ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वन्युदाहरणे या रीतिः सैवात्राप्यनुसर्तव्या।

'वाचमुवाच' इत्यत्र 'वाक्'शब्दमुख्यार्थस्य अक्षरोच्चारणलक्षणस्य बाधात् सामान्यविशेषभावसम्बन्धेन 'विशिष्टां वाच'मिति लक्ष्यते। तत् प्रयोजनीभूतं व्यङ्ग्यन्तु पुत्रादिकल्याणगुणगणफलप्रदानोन्मुखत्वमिति वाचि प्रतीयते। इत्येवं रीत्या ध्वनिभेदमनुप्रविशतोऽस्य स्थलस्य कुतो दूषणावसरः?

प्रकारान्तरेणापि समर्थयितुं शक्यमिदम्—यथा 'देवं यजति', 'गन्धं जिघ्रति' इत्यादिप्रयोगेषु 'यज्'प्रभृतीनां धात्वर्थानां देवपूजाद्यर्थकत्वेऽपि पूजाग्रहणमात्रार्थत्वं कल्प्यते, तद्वदेव 'वाचमुवाच' इत्यत्रापि 'उवाच' इत्यस्येच्चारणमात्रार्थत्वं कल्पनीयम्।

एवं 'अस्थानस्थापदं' नाम दोषमुदाहरन्नाह दर्पणकारो रघुवंशस्य षोडशसर्गस्थमिदं पद्यम्—

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।
अयत्नबालव्यजनी बभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः॥'

अत्र कुशो विग्रहवत्या अयोध्यादेवतया प्रार्थितः पुनरपि तां नगरी स्वीयां राजधानीं निर्मित्सुः कुशवत्याः प्रचलितो मध्येमार्गं गङ्गामुत्ततार इति प्रकरणम्। अत्र 'तदीये' इति पदं गङ्गासम्बन्धितया योजयतो दर्पणकारस्य महान् प्रमादः। तदनुसारमुच्यते तेन—'अत्र तदीयपदात् पूर्वं गङ्गामित्यस्य पाठो युक्तः' इति। पूर्वमभिहितस्यैव पश्चात् सर्वनाम्ना निर्देशो युज्यते। अत्र तु पूर्वमेव 'तदीये' इति सर्वनाम पश्चाद् 'गङ्गा'मिति प्रयुक्तमित्यन्वयानुसन्धानवेलायां विसंष्ठुलत्वं पदानामस्थाने विन्यासादिति तस्याऽऽशयः। परमिदं सर्वमस्थानविजृम्भितम्, यत एतत् पद्यात् पूर्ववर्तिपद्यमिदं द्रष्टव्यम्—

'स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः।
व्यलङ्घयद् विन्ध्यमुपायनानि पश्यन् पुलिन्दैरुपपादितानि॥'

अत्र तु स्पष्टमेव 'विन्ध्यस्य' सम्बन्धः प्रतीयते।। अग्रिमे पद्ये विन्ध्यस्यैव 'तदीये' इति सर्वनाम्ना निर्देशः। तस्मात् 'तदीये वैन्ध्ये' इति व्याचक्षाणो मल्लिनाथः साधुरेव। अनया पद्धत्या नाऽत्र दोषलेशावकाशोऽप्यवशिष्यते।

एतदनन्तरम् 'एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव सम्भवः' इत्युक्तदिशा अलङ्कनिबन्धने यत्किञ्चिदनौचित्यं प्रतिभाति तत्सर्वं पूर्वोक्तदोषस्पर्शमूलकमिति विचारयतो दर्पणकारप्रकाशकारयोर्विवेच्यतामुपगतं कुमारसम्भवस्थनिर्दिष्टपद्यमुद्वीक्ष्यतां सहृदयैः—

'दिवाकराद् रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसामतीव॥'

अत्र दिवाकरभयात् पलायमानं शरणागतमन्धकारं गुहासु हिमालयो रक्षतीति कविनोत्प्रेक्षितः कश्चिदर्थः। स तावन्मात्रया भणित्यैव समापनीयः, न तु 'क्षुद्रेऽपि नूनम्' इत्याद्युक्त्या समर्थयितुं योग्यः। सर्वथा गगनकुसुमायमानस्य तादृशार्थस्य समर्थनमनुचितार्थतां प्रकाशयति। अत्रेदं विचार्यताम्–न केवलमचेतनवृत्तान्तोपनिबन्धनं दोषाय महाकाव्येषु कविभिः शतशस्तथाविधाः कल्पना उपनिबद्ध्यमानाः सहृदयहृदयानन्दावहाः प्रतीयन्ते। अत्राऽऽलोचकानां टीकाकाराणां निष्कर्ष एतावानेव यत्– उत्प्रेक्षा न तु दोषाय तादृशोत्प्रेक्षितार्थसमर्थनमेव दोषं जनयतीति। तत्रेदमुच्यते–अचेतनवस्तुवृत्तान्तः प्रायः केनापि चेतनवस्तुवृत्तान्तेनाऽनुप्राणित एव कवीनां रचनासु पदमाधत्ते। ध्वनिकारेण द्वितीयोद्योते ध्वन्यालोके विशदमभ्यधायि–'यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारविषय इत्युच्यते, तर्हि उपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वा अभिहिता स्यात्' इति। 'तन्महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्' इति च। उदाहृतानि चाग्रे भूयांसि पद्यानि। एवमत्र 'दिवाकराद् रक्षती'त्युदाहरणे उत्प्रेक्षितोऽर्थो न निरुपायप्रख्यः; किन्तु चेतनवृत्तगर्भतया साभिप्राय एव। हिमालयोत्कर्षवर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्। द्विविधमपि हिमवतो रूपं वर्णितं महाकविना चेतनमचेतनञ्च। हिमालयस्योत्कर्षे साधिते ततः पार्वत्या रूपगुणादिवर्णनं प्रकर्षमाधास्यतीति कवेरभिप्रायः। किञ्च– 'ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव' इत्यादिना समर्थितः शरणागतान्धकाररक्षणव्यवसायः सौन्दर्यमनुबध्नाति। 'उच्चैःशिरसा'मिति पदं नितान्तं चमत्कारि। उच्चैः शिखरशालित्वम्, गौरवेणोन्नतशिरस्कत्वञ्चेति तदभिप्रायव्यञ्जनात्। एतेन–

'प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत्' इत्युक्तदिशा प्राकरणिको हिमालयोत्कर्षः साधु सिद्ध्यति। प्रकृष्यते च पार्वत्या वक्ष्यमाणं चरितमिति कथमेतस्य दोषावहत्वमिति न जानीमः।

इतः परम् उपमाविचारप्रसङ्गे कालपुरुषविध्यादिभेदस्य भग्नप्रक्रमदोषाक्रान्तत्वमुक्तं दर्पणकृता। प्रसङ्गादुद्धृतं कालिदासीयं पद्यमिदम्–

'काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेशयोः।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव॥

अत्रेयं तदीया विचारदिक्–तथाभूतयोश्चित्राचन्द्रमसोः शोभा न खल्वासीद् इति भूतकालिकक्रियासम्बन्धेन निर्देष्टुमुचिता नक्षत्रचन्द्रसंयोगस्य सर्वदैव प्रवर्तमानत्वात्। सुदक्षिणादिलीपयोस्तु सकृदेव सा शोभा तदाऽजायतेति समुचितं तत्रैव क्रियायोजनम्। तस्मादत्रोपमानेऽतीतकालस्य बाधाद् वर्तमानोहेनाऽन्वयप्रतिसन्धानात् प्रक्रमभङ्ग इति। अत्रापि विदाङ्कुर्वन्तु सहृदयास्तथ्यमेतत्–न खल्वत्र क्रियासाधारणो धर्मः, येन उपमानोपमेयभावनिर्वाहस्तया विना चरितार्थो भवेत्, किन्तु काऽपि लोकमनोहारिणी 'अभिख्या' साधारणो धर्मस्तदन्वये तु न काऽप्यनुपपत्तिः। न च क्रिया किञ्चिद् धर्मरूपा केवलं सत्तामात्रप्रत्यायिकेति। तस्या औपम्यनिर्वाहे न भूयानुपयोगः। इयमेव रीतिः–

'अतिथिं नाम काकुत्स्थात् पुत्रमाप कुमुद्वती।
पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना॥''

इति प्रकाशोदाहृतपद्येऽप्यनुसर्तव्या। तत्र 'प्रसादस्य' साधारणधर्मत्वाद् अन्यदपि विचार्यताम्–उपमानभूतचन्द्रकमलादिगतानां गुणानां क्रियाणां वा सर्वदा वर्तमानप्रत्ययगोचरत्वं सुवचम्। उपमेयभूत–स्त्रीपुरुषादिपात्राणां तत्तत्कथानुरूपभूत–भविष्यत्–कालगोचरत्वं कविकल्पनायत्तमिति स्थितौ क्रियापदानां कालभेदो न दोषावहः। औपम्यनिर्वाहकस्य साधारणधर्मकृतचमत्कारस्य केनापि हेतुना सम्यगनभिव्यक्तौ दोषः समुद्भावनीयः। तस्मात् पूर्वोक्तानि कालिदासरचनास्थलानि न लेशतोऽपि दूषणीयतामर्हन्ति प्रत्युत मार्मिक–सहृदय–साधुवाद–कुसुमोत्करैर्भूषणीयतामेव प्रतिपद्यन्त इति निवेदयामः।

■

कालिदासपद्येष्वलङ्कारदोषविवेकः

कविकुलगुरोः कालिदासस्य सरस्वतीनिःश्वसितप्रायेषु पद्येष्वलङ्कारसन्निवेशने क्वापि काऽपि त्रुटिरस्ति न वेति परीक्षणस्पृशा दृशा किञ्चिदिदं विशेषदृशां विदुषां मनोविनोदाय समुपन्यस्यते।

ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्येण आनन्दवर्धनेन ध्वनिकाव्ये रसावहितचेतसः सुकवे रचनायां रसप्रवाहसहकृत एवाऽलङ्कार स्वयं स्वरूपमुपलभत इत्युपपादितम्।

'रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥'

इत्युक्त्या 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व'मलङ्काराणां सौन्दर्यस्य साधकं भवतीति निरणायि।एवमलङ्काराणां प्रबन्धे यथोचितसन्निवेशाय समीक्षासरणिरप्युपवर्णिता।

'विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।

काले च ग्रहणत्यागौ नाऽतिनिर्वहणैषिता॥'

इत्यादि-कारिकां विरचयता तदुदाहरणतया शाकुन्तलविक्रमोर्वशीयादिपद्यान्यपि समुपात्तानि। सर्वमेतद् रसप्राधान्यसिद्धान्तानुरोधेन समीचीनमेवाऽस्तीति तत्र न किमपि क्षोदक्षमम्।

यत्तु श्रुतिकट्वादिदोषप्रतिपादनानन्तरमेते दोषा एव क्वचिदलङ्कारवैगुण्यं जनयितुमीशते इत्यलङ्कारदोषा न पृथग्भूता इत्यादिमम्मटादीनां विमर्शः, तदनुसारं कालिदासीयेषु पद्येष्वप्युपमाद्यलङ्कारसन्निवेशनविघटकाः केऽपि दोषा दरीदृश्यन्ते। तत्र कांश्चन स्थालीपुलाकन्यायेन परीक्षितुं विचार्यते किञ्चित् कुमारसम्भवे प्रथमसर्गे—

'प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च॥'

पद्येऽस्मिन् मालोपमामुपनिबध्नाति कविः। तत्रोपमेयांशे 'तया स पूतश्च विभूषितश्च' इत्यस्मिन् विशेषणयोगो नास्ति। उपमानेषु त्रिषु द्वयोः सविशेषणत्वमेकस्य तु निर्विशेषणत्वं दृश्यते। तस्मादत्र विशेषणाऽऽधिक्यादधिकपदत्वं दूषणं दूर्वारम्। एतन्निराचिकीर्षया मल्लिनाथः प्राह—'अत्र शिखागिरोरविशिष्टयोरुपमानाऽनर्हत्वान्नात्र विशेषणाधिक्यदोषः' इति। एतत्तु मुखमुद्रणमात्रमाभाति।

'शिखयेव दीपः' एतावन्मात्रोक्तौ न हीयते सादृश्यचमत्कृतिः, व्यङ्ग्या- नामुज्ज्वलत्वस्वर्णसवर्णत्वादिधर्माणामीषदभवोऽपि नाऽवरुध्यते। वाच्यवृत्त्या तु पूतत्वविभूषितत्वयोः सम्बन्धः स्फुट एव। तस्मात् 'प्रभामहत्या' इति विशेषणं व्यर्थमेव। 'आत्मा वै पुत्रनामाऽसि' इत्यादि श्रुत्या पुत्रपदस्य दुहित्रादिपरत्वकल्पनया च हिमवत्पार्वत्योरिव प्रदीपशिखयोः स्वरूपतः साम्यं समीचीनमस्तीति तयोरुपमेयत्वमुपमानत्वञ्च स्थाने; किन्तु येन धर्मेणाऽलङ्कारसौन्दर्यं निष्पादनीयं स तु नोभयतः सङ्गच्छते। आदिशक्त्यवतारत्वेन पार्वत्या पर्वतराजस्य पूतत्वं साधु, परं शिखया दीपस्य पूतत्वमश्रुतचरमचमत्कारकारि चेति कथमुपमा सम्पद्यताम्?

इत्थमेव द्वितीयो विभूषितत्वरूपो धर्मः कथमत्र सन्निवेशनीयः? भूष्यभूषकयोः पार्थक्य एव विभूषितत्वव्यवहारः पदं लभते नाऽन्यथा। दीपस्य शिखाभिन्नत्वेन कथमत्र तस्य प्रतीतिः? शिखया दीप इति व्यवहारस्तु 'राहोः शिर' इतिवदुपपादनीयतामपेक्षत एव।

हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिरित्यालङ्कारिकनियमादुपमानोपमेयोभयहृद्यसम्बन्धस्यैव उपमालङ्कारता नेतरस्य। सत्स्वपि नानाविधेषु धर्मेषु पुरः स्फूर्तिकचमत्काराधायकधर्मेणैवाऽलङ्कारस्वरूपमुद्भाव्यते। एवमत्र पूतत्वविभूषितत्वयोरसङ्गतिः स्फुटा।

एवमग्रेऽपि 'संस्कारवत्येव गिरा मनीषी' इत्युपमाने 'मनस ईषा मनीषा साऽस्याऽस्तीति मनीषी विद्वानिव शकन्ध्वादित्वात् साधु' इति

मल्लिनाथप्रदर्शितरीत्या मनीषिपदाद् विद्वद्रूपेऽर्थे सम्पन्ने तादृशस्य पुरुषस्य वाचः संस्कारशालित्वं स्वभावसिद्धं भवेदेव न ततः 'संस्कारवत्या' इति विशेषणस्य काऽप्यपेक्षा। तस्मादत्रापि अधिकपदत्वं नाम दोषः कृतपद एवेति शक्यते वक्तुम्।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि॥

इत्यस्मान्मन्त्रादपि मनीषिपदप्रयोगे तदीयगिरां संस्कारशालित्वं निश्चेतुं सुशकम्।

इत्थमेव स्थलान्तरेऽपि विदुषा कटाक्षनिक्षेपः काम्यते–

सा हि प्रणयवत्यासीत् सपत्न्योरुभयोरपि।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिष्यन्दरेखयोः॥

इति रघुवंशदशमसर्गस्थे श्लोके पुत्रजन्मनिमित्तं यागे सम्पन्ने भक्षणीयश्चरुः कौसल्याकैकेयीभ्यां सुमित्रायै प्रेम्णा प्रादायीति सन्दर्भः। तत्रोपमालङ्कारसौन्दर्यमुद्भावयति कविर्भ्रमरीवृत्तान्तेन। अत्रोपमालङ्कारसामग्री न पूर्णा किन्तूपमेयांशे काऽपि त्रुटिरवशिष्यते। तद्यथा उपमेयभागे सुमित्रा द्वे तत्सपत्न्यौ, उपमानभागे तु भ्रमरी वारणो मदनिष्यन्दरेखे चेति वारणपदार्थसन्निवेशादाधिक्यमवभासते। एवमत्रापि न्यूनपदत्वनामा दोषः पूर्ववदेव उत्कन्धरः प्रतीयेत। प्रणयवत्त्वं तु उभयानुगतः समानो धर्मः।

अत्रोत्तरार्धे प्रतिपाद्यस्य वारणस्य बिम्बस्थानीयो राजा दशरथो नास्ति इत्येतद्दोषस्य मूलम्। अत्र मल्लिनाथः–'समान एकः पतिर्ययोस्तयोः सपत्न्योः'। 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप्। सपत्न्योरित्यत्र समासान्तर्गतस्य पत्युरुपमानं वारणस्येति।' इत्येवं विवृण्वन् पत्युरभावेऽपि सपत्नीशब्दान्तर्गतपतिसम्बन्धमात्रेण तत्सद्भावं व्यवस्थापयितुं चेष्टते। परं नेदं हृदयग्राहि। पत्युः साक्षात् प्रतिपादकस्य शब्दस्याऽसत्वे न्यूनपदत्वं गले पतितमेव। 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते' इति नियमाद् दशरथवाचकस्य यत्किञ्चित्पदस्याऽभावादलङ्कारस्याऽप्यसङ्गतिरनुभवसिद्धा कथं निषिद्ध्यताम्?

यद्यपि 'सपत्नी'शब्दे पत्युः सम्बन्धः प्रतीयते; किन्तु तावता पत्युः प्रतीतिर्न भवति। सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्न इति नियमादपि

सम्बन्धमात्रेण तत्प्रतीतिरशक्यैव। न चास्या उपमाया उपमेयलुप्तायामन्तर्भावो भवितुमर्हति, 'सपत्नी'शब्दादंशतः पतिपदार्थप्रतीतिसत्त्वात्। सप्तविधासु लुप्तोपमासु द्विलुप्तायामुपमेयवाचकयोर्लोपेन 'क्यच्'प्रत्ययमात्रे तदुपलब्धिरिति मम्मटादीनामाशयो दृश्यते।

'स सहस्रायुधीयती'त्यादि तदुदाहरणे कर्मपदाद् आचारार्थे क्यच्प्रत्ययविधानादुपमेयवाचकयोर्लोपः। सहस्रायुधमिवाऽऽत्मानमाचरतीति विग्रहे कर्मभूतस्याऽऽत्मनो लोपः। न पुनरत्र पद्ये तादृशी स्थितिर्यद्वशादुपमेयलोपः कल्पनीयो भवेत्। यथा तथा वा भवतु। उपमानोपमेययोः समानविभक्तिकत्वं शब्दोपात्तत्वमावश्यकं भवतीति पद्येऽस्मिन् उपमालङ्कारो न भवितुं समर्थ इति स्फुटतरमिदम्।

एवं प्रसिद्धैर्लेखकैर्ग्रन्थकारैश्चापरिशीलितेषु कालिदाससूक्तिकदम्बकेषु विमर्शः प्रवर्तनीय इति मर्षयन्तु ममातिक्रमं दोषज्ञा इति शिवम्।

◆

व्यक्तिविवेककारस्य कालिदासकाव्यसमीक्षा

श्रीमन्महिमभट्टेन कालिदासोक्तिदूषणम्।
यन्निर्दिष्टं तदुद्धारः संक्षेपेण प्रदशर्यते॥

ध्वनिप्रस्थानचिखण्डिषया कृतारम्भः सुगृहीतनामधेयो 'व्यक्तिविवेक'-प्रबन्धकृत् श्रीमहिमभट्टः स्वग्रन्थे द्वितीये विमर्शे दोषजातिमनौचित्यप्रसूतामर्थ-शब्दगततया द्विधा विभज्य, अर्थगतायास्तस्या रसादिविचारमुखेन प्राचीनैरेव निर्णीतप्रायतया तामुपेक्ष्य शब्दगतामेव विशेषतो विवेचयितुमुपाक्रमत।

सा च पञ्चधा, यथा–विधेयाऽविमर्शः, प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरुक्त्यम्, वाच्याऽवचनञ्चेति। सामान्यलक्षणमेतेषामित्थं प्रत्यतिष्ठिपत्–'एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्। अन्तरङ्गबहिरङ्ग-भावश्चाऽनयोः साक्षात् पारम्पर्येण च रसभङ्गहेतुत्वादिष्टः' इति।

तदनुसारञ्च यथायथमुदाहरणादिसन्दर्भसमृद्धया सरण्या विविनक्ति स्म दोषानेतान्। तत्र प्रथमं तावत्–

पदमेकमनेकं वा यद्विधेयार्थतां गतम्।
न तत्समासमन्येन न चाऽप्यन्योन्यमर्हति॥

इति तदुक्तरीत्या पुरोनिर्दिष्टे रघुवंशीये पद्ये–

'तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि।
स्वञ्च संहितममोघसायकं व्याजहार हरसूनुसन्निभः॥'

'अत्र सायके अमोघत्वं विधेयतया विवक्षितमपि समासवशान्न तथा प्रतिपादितमिति दोषः। विध्यनुवादभाव-विशेषणविशेष्यभावयोः प्रायः समानफलेन प्रतिपत्तिरनुभूयते' इत्याद्युक्तम्।

तत्रेदं विचारणीयम्–प्रथमं तावद् अपपाठ एवाऽयम्। वस्तुतः 'स्वञ्च संहितममोघमाशुग'मिति पाठ एव मल्लिनाथादिपरिगृहीतः प्रसिद्धश्चः। पूर्वपाठमङ्गीकृत्याऽपि न तथा विधेयाऽविमर्शः प्रतीयते। यतः पद्येऽस्मिन् 'व्याजहारे'ति पार्यन्तिकी क्रिया, 'राघवस्तथाविधं भार्गवं सहितं

स्वममोघसायकञ्च अवेक्ष्य' इति अवान्तरवाक्यम्। चकारः समुच्चायकः। निरस्तवीर्यस्य भार्गवस्य वर्णनादेव प्रकृतनायकस्य रामस्योत्कर्षे सिद्धे, तदुपकरणमात्रस्य बाणस्य विशेषणांशे विधेयत्वादिविचारो न प्राधान्यमनुभवति। अवेक्षणक्रियान्वयोऽपि सायकेनैव, न त्वमोघत्वेनेति न शाब्दान्वयेऽपि गौणत्वबुद्धिरिति।

एवं रघुवंशप्रथमसर्गस्थे पद्ये–

'प्रदक्षिणक्रियातीतस्तस्याः कोपमजीजनः।'

'अत्र प्रदक्षिणक्रियाया अत्ययक्रियाकर्मभूतायाः प्राधान्यं वाच्यमपि न परामृष्टम्। यदि राजनि प्रदक्षिणक्रियातीतत्वं विधीयेत तदा न दोषः' इति।

अत्राऽपि पूर्ववत् प्रतिपत्तिः। अयमपि अपपाठः, यतः 'प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधुनाऽऽचरः' इत्येष एव सम्मतः पाठः प्रसिद्धः। तत्र च प्रधानीभूतायां धेनौ प्रदक्षिणक्रियार्हत्वस्य विधेयस्य साक्षादन्वयेन न दोषाशङ्काकलङ्क। एवमग्रे तृतीयसर्गेऽपि 'तमभ्यनन्दत् प्रथमप्रबोधितः' इत्यपपाठं परिकल्प्य दूषणान्वेषणम्, 'प्रथममिति पृथगभिधान'मित्यादि वालुकाकूपखननमात्रमित्युपेक्षामहे। 'प्रथमं प्रबोधितः' इत्येव मूलपाठस्तत्र प्रथते।

कुमारसम्भवे तारकासुरकृत-देवसंत्रासवर्णनप्रसङ्गे–

'जयाऽऽशा यत्र चाऽस्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा।
हरिचक्रेण तेनाऽस्य कण्ठे निष्कमिवाऽर्पितम्॥'

अत्र 'हरेश्चक्रेण' इति हरेः सम्बन्धो विधेयतया पृथक् प्रतिपादयितुमुचितः, तं विना जयाशास्पदत्वस्य न स्फुटा प्रतिपत्तिः। हरिसम्बन्धित्वेनैव तद्वैशिष्ट्यात्। विभक्तिसम्बन्धाऽसम्बन्धाभ्यामेव विशिष्टार्थप्रतिपत्ति-तदभावौ गोचरीक्रियेते। 'वृषल्याः कामुकः', 'दास्याः पुत्रः' इत्यादौ कामुकादेः आक्रोशादपकर्षः प्रतीयते समासेऽपि विभक्तेः। आलुकमाह आचार्य इत्येवं महिमभट्टः समीक्षते।

तत्रेदं विमर्शनीयम्–सत्यमेतत्, यदि न प्रकारान्तरेण प्राधान्यबोधः स्यात्। सति विवक्षितार्थावगमे शब्देकदेशविवेचनस्य न भूयानुपयोगः। अत्र हि पूर्वापरसन्दर्भविचारणया हरिचक्रगतं वैशिष्ट्यं हरिसम्बन्धवैशिष्ट्यञ्च प्रतीयत एव। यतः पूर्वतने पद्ये–

> 'तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः।
> वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सान्निपातिके॥'

इत्युक्त्या परिक्षीणसर्वोपायतया देवा ब्रह्माणं सूचयन्ति–'जयाशा यत्र चाऽस्माक'मित्यादि। 'यत्र च' इत्यस्य 'यत्रैव' इत्यर्थः, अव्ययानामनेकार्थवात्, प्रकृताऽनुगुणत्वाच्च।

प्रक्रमभेदेषूदाहरणतया रघुवंशस्याष्टमसर्गाद् वसिष्ठशिष्यद्वारा अजं प्रति सान्त्वनोपदेशे निबद्धमुदाहृतं पद्यमिदम्–

> 'रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नाऽनुमृतेरवाप्यते।
> परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्॥'

अत्र व्याख्यातृणां भूयान् पाठभेदः। 'भवता नाऽनुमृताऽपि लभ्यते' इत्ययमेव हेमाद्रिमल्लिनाथादिसम्मतः पाठः। अत्र 'रुदता', 'नाऽनुमृते'रित्युभयोः क्रमो भग्नः, तृतीयान्तत्वेन पञ्चम्यन्तत्वेन च। उपसर्गप्रयोगोऽपि न समानः। अतस्तत्र पूर्वं 'कुत एव तु साऽनुरोदनात्' इति परिवर्तनीयमित्याह व्यक्तिविवेककारः।

तत्रेदं प्रतिविधानम्–भग्नप्रक्रमदोष एवाऽयं नामान्तरेण प्रतिपाद्यते महिमभट्टेन। 'भग्नप्रक्रममारब्धशब्दनिर्वाहहीनता' इति प्रसिद्धतल्लक्षणानुसारेण प्रारब्धस्य निर्वाहे भग्ने दूषणोद्भावना सङ्गच्छते। अत्र विचक्षणशिरोमणिना पूर्वार्धपरिवर्तनं विदधता सा सरणिः स्वयमेव भग्ना। किञ्च–'भवता नाऽनुमृताऽपि लभ्यते' इत्ययमेव पाठः प्रसिद्धः सम्मतो मल्लिनाथादीनाम्। अस्मिन् पाठे–'अनुम्रियते इत्यनुमृत् तेने'ति व्युत्पत्त्या क्विबन्ततृतीयान्तत्वेन स्वीकृते तदर्थे न दोषः। व्याख्यातञ्च तथैव टीकायाम्।

कारकशक्तिप्रक्रमभेदस्योदाहरणतया यत्पद्यमुद्धृतं रतिविलापात्–

'कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते॥'

तत्र 'न च तेऽहं कृतवत्यसम्मत'मिति पठनीयमिति ब्रूते व्यक्तिविवेककारः। कर्तृकारकस्योपक्रमात्तथैव निर्वोढुमुचितमिति तदभिप्रायः। वस्तुतस्तु न तेन प्रकृतकरुणरसविषये कश्चित्परिपोषः सम्भवति, प्रत्युत प्रतीतिमान्थर्यमेव। यतः 'प्रतिकूलं न च ते मया कृत'मित्युक्त्या यादृशः स्वानुनयपरिपुष्टः शोकोत्कर्षः, न तथा 'असम्मता'द्युदासीनशब्दप्रयोगादिति सहृदया विभावयन्तु।

शब्दप्रक्रमभेदस्योदाहरणतया रघुवंशस्याष्टमसर्गस्थमजवर्णनपरं पद्यमिदमुदाजहार व्यक्तिविवेककृत्–

'समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसताञ्च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा॥'

तत्रत्या तदीयेयं समीक्षा–'अत्र हि अनुयातिक्रियाकर्मभावो वरुणस्यार्थः प्रक्रान्त इति तत्राऽस्य तादृश एव हेतुरुपादातुं युक्तः। यस्तु असन्नियमलक्षणः शाब्दो हेतुरस्य अन्येषामिवोपात्तः स प्रक्रमभेदो दोषः, तस्याऽप्युक्तयुक्त्या रसभङ्गपर्यवसायित्वात्। तेनाऽयमत्र पाठः पठितव्यः–'नियमयन्नसतः स नराधिपः' इति। एवञ्च विभक्तिक्रमभेदश्च शब्दश्च उक्तनयनिरस्तसमुच्चयविषयभावः क्रमभेददुष्टश्च परिहृतौ भवतः' इति।

तत्रेदमालोच्यतामर्हति–अनुयातिक्रियायां यमपुण्यजनेश्वरयोरिव वरुणस्यापि कर्मता इत्यत्र न विवादः, 'सवरुणौ' इत्युक्तेः। यमकुबेरयोः शब्दो हेतुरनुगमने, वरुणस्य तत्र तु अर्थ एव कश्चिदन्यः। असन्नियमनं साक्षात्तु यम एव सङ्गतं न वरुणे, तत्र तु बलात्संयोज्यत इति या सरणिः साऽपि न हृद्या। अत्र शब्दोपात्तास्त्रयोऽपि हेतवस्त्रयाणामनुगमनप्रवर्तकाः। समतया यथापराधदण्डविधानेन यमः, वसुवृष्टिविसर्जनेन कुबेरः, असतां नियमनेन वरुणश्च अनुगम्यन्ते नृपालेन। इत्थमेव व्याचष्टे मल्लिनाथोऽपि–'यमकुबेरवरुणान् यथासंख्यमनुययौ' इति। द्वयोरेव हेत्वोः कल्पने यमकुबेरयोर्व्युत्क्रमेण कर्मतापत्तिरिति नूतनदोषोद्भेदः स्यात्।

किञ्च–'समतया', 'नियमनात्' इत्यनयोर्विभक्तिभेदाद् अतुल्यकक्षतया 'च'कारस्य समुच्चायकत्वमपि न युज्यत' इत्युक्तिरपि वञ्चनामात्रमेव। यतस्तावद् अत्र पाठक्रमापेक्षया अर्थक्रमस्य बलवत्त्वं स्वीकरणीयम्। तृतीयान्त–पञ्चम्यन्तयोरुभयोरपि पदयोः हेतुवाचकत्वमस्त्येव। तदेवाऽत्राऽनुगमनार्थमपेक्ष्यत इति समुच्चायकस्य 'च'कारस्य प्रयोगोऽपि न दुष्यति।

यच्च शाकुन्तलीयं क्रमप्रक्रमभेदोदाहरणमाह महिमभट्टः–

'तव कसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो–
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै–
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि॥'

अत्र हि उद्देश्यक्रमेण प्रक्रान्तानां पदार्थानामनुद्देशे वैपरीत्येन भणितिर्दोषावहा, इति। अत्र समाधत्ते व्यक्तिविवेकव्याख्याता रुय्यकः– 'पाठक्रमापेक्षया चुलिकाक्रमस्य (करकङ्कणक्रमस्य) रमणीयत्वम्, अर्थात् पूर्वपरिधृतानां कङ्कणानां यथा पश्चादवतारणं तथैव पूर्वनिर्दिष्टानां पश्चान्निर्देशः। कामस्य सम्मुखीनत्वाद् युष्मत्पदबोध्यत्वमित्यादि। पाणिनिसूत्रेऽप्येवं दृश्यते योजना–'युष्मदस्मदोः पदस्य पदात् षष्ठी चतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वा 'नावौ इत्यत्र' इति। वयं तु प्रकारान्तरेणैव तत्परिहरामः–पूर्वं कामचन्द्रावुद्दिश्य पश्चाद् 'द्वय'मिति वदता तयोः समुच्चयः कृतः कविना। 'दृश्यते मद्विधेषु' वाक्ययोजना पर्यवसिता। पुनर्द्वितीयवाक्ययोजनायां स एव क्रमो नियमेन ग्राह्य इति न नियमः। अपरञ्च विरहाधिक्यादुद्विग्नमनसो नायकस्यैवं प्रायो व्यत्यस्तसन्दर्भा भणितयो रसस्योत्कर्षायैव प्रभवन्ति नाऽपकर्षायेति वृथैव दूषणान्वेषणप्रयासः।

क्रमभेदः क्रमाभावो वा यथा–

'नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः।'

अत्र जलधरे दृप्तनिशाचरारोपो निषेध्यत्वेन व्यवस्थितः, तत्र निषेधविषय वाचकजलधरपदेन सहैव 'इदं' शब्दो निवेशनीयोऽपि तद्विशेषणीभूतसन्नद्धपदेन सह प्रयुक्त कविना इति क्रमभेदः। यथा 'शुक्तिकेयं

न रजतम्' इत्यादि।

तत्रेदं समाधानम्–अस्मिन् पद्ये न सर्वत्र 'इदं'शब्दस्य विषयवाचकेन सहोपादानम्। चतुर्थे पादे 'कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी' इत्यत्र तु सर्वथा तदभावः। तर्हि विषयविषयिभावाऽवगमो निषेध्यविधेयभावाऽवगमः कथमिति चेत्, सामर्थ्यादेवेति निर्णयः। यथा–'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा' इत्यादौ यथा 'य उत्पत्स्यते तं प्रति' इति यत्तदोः सामर्थ्यादेव तथा प्रतीतिः। वाक्यार्थप्रतीतिप्रतिबन्धाभावात् प्रस्तुतरसास्वादस्य निर्विरोधमनुभवाच्च न चोद्याऽवसरः।

एवं प्रत्ययविषयं पौनरुक्त्यं यदुदाहृतम्–'बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः', 'त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनी'मित्यादौ 'कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यां बहुव्रीहिर्लघुत्वात् प्रक्रमस्य' इत्युक्तदिशा बहुव्रीहिसमासेनैव निर्देशः कर्तव्यः। 'बिसकिलसयच्छेद पाथेयाः', 'त्वगुत्तरासङ्गा'मित्यादिप्रयोग एव श्रेयान् इति यदुच्यते, तत्रेदमुत्तरम्– 'मतुपः' प्रयोगस्य क्वचिद् विशिष्टार्थप्रत्यायकत्वमस्त्येव। प्रकृतिप्रत्ययादीनां व्यञ्जकत्वस्य कविसम्प्रदाये प्रसिद्धिः। एवं बिसकिसलयादिसंसर्गकृतं रामणीयकमवबोधयन्तो मतुबादयो न निष्फलाः, प्रत्युत विशिष्टार्थव्यञ्जकतया नितान्तमादरणीया एवेत्यलमाक्षेपेण।

उपमाविषयकं पौनरुक्त्यमुपदर्शयता या कालिदासोक्तिरुपन्यस्ता–

'दिन दिने सा परिवर्धमाना
लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान् विशेषान्
ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि॥'

इति। अत्र एकेन 'इव'शब्देन औपम्यनिर्वाहे सम्भवत्यपि 'ज्योत्स्नान्तराणीव' इत्यत्र द्वितीय 'इव'शब्दोपादानं पिष्टमेव पिनष्टि इति। तत्रेदं समाधानं युज्यते–इयमुपमा तावद् वाक्यव्यापिनी, तत्रैको धर्म अभिन्नः, अपरो धर्मश्च भिन्नः प्रतिभाति। पूर्वार्धे दिने दिने परिवर्धमानत्वम्, लब्धोदयत्वञ्चेत्यर्थश्लेषवशादभिन्नो धर्मः प्रतिपादितः। उत्तरार्द्धे–लावण्यमयाऽवयवपोषणञ्चेति भिन्नो धर्मो बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनोपात्तः। अन्तर्गर्भितमुपमानवाक्यं परिकल्प्य

उपमेयवाक्यं योज्यते। यथा च 'यथा चान्द्रमसी कला कलान्तराणि पुष्णाति, तथैव सा पार्वती लावण्यमयान् विशेषान् पुपोष' इति। अतस्तत्र स्फुटतरप्रतीतये द्वितीय 'इव'शब्दयोजनं न दोषाय। अत एव दण्डिनाऽप्युक्तम्–

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते।
एकाऽनेकेव शब्दत्वात्सा तु वाक्योपमा द्विधा।। इति।

एवमेव–

'अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं
सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं
चुम्बतीव रजनीमुखं शशी।।'

इत्यस्मिन्नपि पद्ये–'चुम्बतीवे'त्यत्र 'इव'शब्दः पुनरुक्तः। चुम्बतेर्मुख्यार्थबाधे सति तत्सदृशार्थप्रतीतेस्सामर्थ्यसिद्धत्वोपपादनादित्याह व्यक्तिविवेककारः। तन्मते लक्षणामूलध्वनिचमत्कारेणैव निर्वाहे नास्त्युत्प्रेक्षायाः प्रयोजनम्। अत्र तद्व्याख्याकारो रुय्यकस्तु–'विच्छित्तीनां नानाविधतया पृथक् चमत्कारोपपत्तौ न दोष' इत्याह। वयं तु–लक्षणमूलध्वन्यपेक्षयाऽत्र वाच्यालङ्कारस्य प्रकृतशृङ्गाररसपरिपोषकत्वं युक्तमुत्पश्यामः। इदं हि पद्यं चन्द्रोदयवर्णनात्मकतया प्रकृतशिवपार्वतीप्रणयलीलापरिपोषणायैव उपात्तम्। किञ्च–'अङ्गुलीभिरिवे'त्यत्राऽपि उत्प्रेक्षा, उत्तरार्धे च तत्समर्पिका द्वितीयोत्प्रेक्षा इत्यनयोः सजातीयसंसृष्टिः शोभावहैव।

एकैवालङ्कृतिर्यत्र शाब्दत्वाऽऽर्थत्वभेदतः।
द्विरुच्यते तां मन्यन्ति पुनरुक्तिमतिस्फुटाम्।।

इति महिमभट्टदर्शितया पद्धत्या–

'उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा
यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी
ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ।।'

इत्यस्मिन्पद्ये यथा–तथाशब्दाभ्यामेकवारं श्रौतीमुपमामुदाहृत्य तस्मिन्नेव विषये ‘तत्सम’, ‘तत्सदृश’शब्दाभ्यामाद्युपमा कविना प्रयुक्तेति पुनरुक्तिदोषः। अत्रेयं विमर्शपरिपाटी–न तावदत्र एकविषयत्वेनैवोपमाद्वयम्, किन्तु भिन्नविषयत्वेन। पूर्वं नन्दनक्रियासापेक्षं सादृश्यं द्वितीयं तु प्रभावादिनिमित्तकमिति भेदः। धर्मः क्वचिच्छाब्दः, क्वचित्तु आर्थ एव भवतीत्यत्र न तद्विदां शङ्का समुदयते। इत्थमेव समर्थयते व्याख्याता रुय्यकोऽपि।

पद्येऽस्मिन्नन्यान्यपि दूषणान्युद्भावयति महिमभट्टः। तथा कि–‘उपमानयोर्यो निर्देशक्रमः प्रक्रान्तः स उपमेययोः क्रमे भेदं नीत इति निर्देशप्रक्रमभेदो दोषः, तत एव च ‘तत्समौ’ इत्यत्र अवाच्यवचनदोषोऽपि तावत स्फुट एव। उपमानयोग्यत्वाऽनुपपत्तेः’ इत्याह।

यद्यप्यत्र उपमानपदार्थानां द्वन्द्वेन निर्देशो नोपमेयानां तथा, तावता किं नाम हीयते? न ह्युभयसम्बन्धे कश्चन बाधो येन नोपमालङ्कारो सङ्कटताम्। ‘तत्समौ’ इत्यस्य अवाच्यवचनदोषस्तु धर्मभेदादुपमाभेदस्वीकारादेव परिहृतो भवति। एवमन्यदपि यद्दूषणमुत्पाद्य समाधीयते। यथा–

किञ्च–‘तथाशब्दस्य यद्वचनं सोऽवाच्यवचनं दोषः, तद्व्यतिरेकेणाऽप्यर्थयोर्विपर्यासमात्रेण तदर्थावगतिसिद्धेः। तस्मादेवमत्र पाठः श्रेयान्–

‘सुजन्मना तेन सुतेन तावुभौ-
ननन्दतुः सा च विशांपतिश्च सः।
उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा
यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ॥’

इति। तदेतत्सर्वमापातरमणीयम्, न तु वस्तुतत्त्वमनुहरति। पाठभेदप्रकल्पनायां पाठानां बहुविधतया तत्तद्वाक्यरचनानुसारेण तत्तदर्थावगम इत्यत्र न किमपि वक्तव्यम्। शब्दशक्तीनां सन्निवेशवैचित्र्येण विभिन्नार्थबोधकत्वं स्वभावसिद्धम्। यस्तु श्रीमता महिम्ना पर्यवस्थापितः पाठः, सोऽपि सदूषण एवेति दिङ्मात्रमुपदर्शयामः। तथा हि–प्रक्रमात्पूर्वमेव ‘ते सुतेन’, ‘तावुभौ’ इति प्रक्रान्तपरामर्शकस्य तच्छब्दस्य निर्देश इति अवाच्यवचनान्नातिरिच्यते। ‘तावुभौ’ इत्युपक्रम्य ‘सा

च विशांपतिश्च सः' इत्यत्र तदुक्तरीत्यैव निर्देशप्रक्रमभेद इत्यादिकं विद्वद्भिरूहनीयम्। तस्मान्महाकवेः पाठ एव श्रेयान्। एवमन्यत्रापि–

'निद्रावशेन भवताऽप्यनवेक्ष्यमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः॥'

पद्यमिदं लक्ष्यीकृत्य समीक्षते महिमभट्टः–"अत्र हि लक्ष्म्या 'अबला खण्डितेव' इति यदुपमानमुक्तं तत् पुनरुक्तम्। तस्यास्तत्तुल्यवृत्तान्ताभिधानसामर्थ्यादेव अनन्तरोक्तनयेन तदर्थावगतेः" इति। अयमाशयः–समासोक्तिविधयाऽप्रस्तुतव्यवहारप्रतीतेरेव खण्डितावृत्तान्ताऽवगमान्नोपमा प्रयोजनीया इति। अत्रायमभिसन्धिर्महाकवेः प्रतिभाति–लक्ष्म्यां पत्युरन्यासङ्गवशात्परिम्लानाशयायाः खण्डितायाः साधर्म्यं प्रतिपिपादयिषितम्। परं खण्डितात्वप्रयोजकस्य हेतोर्यावन्न स्फुटं प्रतीतिः, न तावत् तद्व्यवहारप्रतीतिरपि सम्भवतीति 'निद्रावशेन' इति पदज्ञानमेव तत्र कारणम्। लोकव्यवहारप्रसिद्धिबलात् 'निद्रावशेन' इत्यस्य 'शयनपरवशेन' इत्येतावन्मात्रमर्थं प्रतिपद्यते जनः, न तु लिङ्गसाम्यान्नायिकाव्यवहारो झटिति बुद्धिमुपारोढुं क्षमते। अत एव 'अबला निशि खण्डितेव' इत्युपमया तस्य स्फुटीकरणं युज्यते।

एवं 'सुरभिसङ्गमजं वनमालया' इत्यादि वसन्तवर्णनपरं रघुवंशस्थं पद्यं महिमभट्टेन स्वकल्पितपाठभेदेन दूषितमिति न तत्र विचाराऽवसरः।

धर्मस्तुल्यविभक्तीनामेकस्याप्युदितोऽखिलान्।
तानन्वेतीति पर्यायैस्तदुक्तिः पौनरुक्त्यकृत्॥

इति महिमभट्टीयसमीक्षया–

'स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा।
मुमूर्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्॥'

इति रघुवंशस्य दशमसर्गस्थे पद्ये 'स्वाभाविकम्', 'सहजम्' इति एकस्यैव धर्मस्य पर्यायेण पृथगुक्तिर्दूषणीयतामारूढा।

तत्रेयं प्रतिपत्तिः—एकस्यैव धर्मस्य पृथक्पदाभ्यामभिधानं वस्तु-प्रतिवस्तुभाव इत्युच्यते साहित्यसरणिधुरीणैः। स च बहूनामलङ्काराणामुपपादको भवति। पृथक्पदाभ्यां पर्यायेण चोपादानान्न पुनरुक्तिदोषः न चैकमेव वस्तुतत्त्वम्। उपमानोपमेयपदार्थयोर्भेदेन तद्गतस्वाभाविकत्वादेवैजात्यं सिद्धमेव।

किञ्च—'अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्' इत्यत्र 'तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवम्' इत्यादौ च मूढत्वं मृदुत्वं वा मनसो धर्म एव, नान्यः पदार्थ इति 'मूढ़ः', 'मृदुः' इत्यादि प्रयोक्तव्यम्। अन्यथा पुनरुक्तिप्रसङ्ग इति यद्विवेकमाह विवेककारः, स तु सुतरामविवेकमनुबध्नाति। यतो मन्दबुद्धिस्तीव्रबुद्धिः, दयार्द्रः, कृपार्द्र इत्यादीनां लोकप्रसिद्धानां शब्दानां रूढतया न तथा पुनरुक्तिजिज्ञासैव समुन्मिषतीत्यलमत्र पल्लवितेन।

विक्रमोर्वशीये पद्यांशे वाच्यवचनं यदाह—'कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी' इत्यत्र भ्रान्तौ निवृत्तायां तद्विषयीभूतयोः सुरधनुर्धारासारयोरिव विद्युतोऽपि इदमा परामर्शो वाच्ये यत् तस्याऽवचनं स वाच्यावचनं दोषः' इति। अत्र पूर्वमेव दत्तमुत्तरम्। निषेध्य-विधेययोः सामर्थ्यादेव प्रतीतिर्भवति, न च 'इदमः' सर्वत्र समानोऽत्र प्रयोगोऽपीति।

किञ्च 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः,' इत्यत्राऽपि वाच्यावचनं दोषमुत्पश्यति महिभट्टः। तदीयतर्काणामयं निष्कर्षः—अत्र त्रयः पक्षाः सम्भवन्ति, कपालिशब्दो, धर्मिधर्मोभयार्थवृत्तिः संज्ञिमात्रप्रत्यायको वा, कपालसम्बन्धकृतगर्हिततत्त्वप्रत्यायको वा, उभयप्रत्यायको वेति। तत्र प्रथमे पक्षे—गर्हिततत्त्वाऽवगतये कपालिग्रहणमपरमपि कर्तव्यं स्यात्। द्वितीयपक्षे—तस्याऽऽश्रयप्रतिपत्तये तैनेव तत्पर्यायेण सर्वनाम्ना वा विशेष्यमवश्यमुपादेयम्। तृतीयस्तु पक्षो नैव सम्भवति आवृत्तिमन्तरेण शब्दस्याऽनेकार्थप्रतिपादनाऽसामर्थ्यात्। तेनाऽयमत्र पाठः स्वल्पदोषतया कल्पनीय—'द्वयं गतं सम्प्रति तस्य शोच्यतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' इति।

तदेतत्सर्वमाहोपुरुषिकामात्रम्। यतः कपालिशब्दोऽत्र कविना पिनाक्यादिपद-परिहारपूर्वकमुपात्तस्तात्पर्यविशेषेण। ततस्तस्य वाच्यतादशायां धर्मिधर्मोभयार्थवृत्तेः संज्ञिप्रत्यायकत्वं न विरुद्ध्यते। व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिकाले धर्मिविशेषसम्बन्धकृतस्य

गर्हितत्वस्य प्रतीतिः शोच्यतामतिशाययति। 'गङ्गायां घोषः' इत्यादाविव एकस्य पदस्यापि यथास्वं वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थबोधकत्वमुपपद्यते। अतो न तत्र पदान्तरकल्पनाऽऽवश्यकतां भजते। स एवाऽत्र समाधिः। किञ्च- महिमभट्टकृते पाठेऽपि दोषोऽस्त्येव। प्रक्रमात्पूर्वमेव सर्वनाम्ना निर्देशात्।

एवमेव-

'तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव॥'

अत्र 'राजेन्दु'रिति रूपकमाहृत्य पश्चादुपमा समुपात्ता वैरस्यमावहति, सा न वाच्या इत्याह महिमभट्टः। अत्र मल्लिनाथस्तु 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्यनुशासनाद् 'राजेन्द्रः' इत्यत्रोपमामेवाऽऽह। सा च श्रेष्ठत्वमात्रबोधिका। द्वितीय तूपमा वाक्यार्थव्यापिनी, 'शुद्धिमति शुद्धिमत्तरः', 'इन्दुः क्षीरनिधौ इव' इत्यनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेनाऽवस्थानादिति तद्दृष्ट्या समाधानम्।

वयं तु रूपकमेव युक्तं मन्यामहे, समासवशात्तत्प्रतीतेर्वैचित्र्यभेदेनाऽलङ्कारभेदस्य जागरूकतया चमत्कारात्। रूपकं पदगतम्, उपमा वाक्यगतेति आश्रयभेदोऽपि। न चैकस्मिन्नेव विषये 'इन्दु'पदार्थस्य द्विवारमुपमानतया प्रयोगा दोषयेति वाच्यम्। यतः 'राजेन्दुः' इत्यत्र धर्मिणोरेवाऽभेदप्रतीतिः, सादृश्यप्रतीतिर्वा यत उपमायामग्रिमायां तु स्वाश्रयविशिष्टयोरुपमानोपमेययोः प्रतीत्या कश्चन चमत्कारभेदः स्फुरतीति न पौनरुक्त्यं वाच्याऽवचनं वा सम्भवेदिति कविमार्गकौशलकोविदानामपरोक्षमेव।

यच्च रघुवंशस्य षोडशे सर्गे कुशस्य वर्णने पद्यमुदाहृतम्-

'तेनाऽवरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम्।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः॥'

इत्यत्र अनुयातिक्रियापेक्षो राजमरुत्वतोः कर्तृकर्मभावोऽभिधातुमिष्टोऽपि न प्रतीयते, लीलासम्बन्धद्वारैव तत्प्रतीतेः। अतोऽत्र वाच्याऽवचनं दोषः, साक्षाद् राजसम्बन्धस्यैव वक्तुमचितत्वात्। न च तदर्थं क्रियान्तरप्युपात्तम्। अतोऽत्र पाठान्तरमेवं कल्पनीयम्-'आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतोऽनुयातो मघवा विलासैः'

इत्यालोचयाञ्चकार।

तत्रेयं विमर्शसरणिनुसरणीया—अनुयातिक्रियार्थः सादृश्यप्रतीतिरेव, तत्फलमुपमालङ्कारसङ्घटना। सा उपमा यदि भङ्ग्यन्तरेण निरूप्यते तर्हि ततोऽपि चारुतोत्कर्ष इत्यत्र न विवादः। एवमत्र—'उपमाने तु लोलादिपदाढ्ये ललितोपमा' इति प्राचीनोक्तिरीत्या ललितोपमाचमत्कारः स्पृहणीयतामादधानः केन वा न स्वीकरणीयः। कर्तृकर्मभावस्तु नाऽलङ्कारप्रतिबन्धक इत्यपि अविवादसिद्धम्। निदर्शनालङ्कारो वा सम्भवेदत्रेति वृथेयं खण्डितोपाध्यायपरिपाटी व्यक्तिविवेककारस्य। एवं कुमारसम्भवीयेऽधस्तने पद्ये—

'मधुश्च ते मन्मथ! साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव।
समीरणः प्रेरयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य॥'

इत्यत्र अन्वयार्थमाकाङ्क्षितानां पदानां यथोचितसम्पर्काभावाद् वाच्याऽवचनदोषप्रसङ्गः। अत्रैव यदि—'व्यादिश्यते केन समीरणो वा हविर्भुजश्चोदयिता भवेति' इति पाठे न दोष इति विवेचयति स्म महिमभट्टः। व्यादेशसमीरणयोर्व्यवधानस्यैवाऽपेक्षितत्वादिति।

तत्रेयं विचारदिक्—वाक्यघटकानां पदानां यथोचितार्थनिष्पत्त्यै सन्निधानरूपाऽऽसत्तिः साधारणतया सर्वैः स्वीक्रियत एव। परं पद्यबन्धे पदानामधरोत्तरभावः कवीनां रचनापारवश्याज्जायते। यत्र तु न स्फुटा प्रतीतिः, अनपेक्षितान्वययोजनाजन्या विसंष्ठुला व प्रतीतिस्तत्रैव दूषणमेतदुत्कन्धरं भवेत्। 'अभवन्मत'नाम्ना दोषोऽयमग्राहि बहुभिर्ग्रन्थकारैः। 'व्यादिश्यते केन' इत्यनयोः पदयोर्मध्ये सन्निवेशेऽपि व्यादेशकर्मता समीरणमेवाऽऽलम्बते विभक्तिबलादिति नान्वये सन्देहाऽवसरः। अतोऽत्र न दूष्यतावसरः।

एवमग्रे 'अनन्वय'संज्ञया निर्दिष्टमवाच्यवचनमुदाजहार रघुवंशस्य नवमे सर्गे—

'निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनान् जिघांसु
ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान्।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्
वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगाणाम्॥'

इत्यत्र तदीयोऽयमाटोपः—'अत्र हि सिंहानां तावन्न राजशब्दसम्बन्धः सम्भवति, तेषां तद्वाच्यत्वाऽभावात्, तत्सम्बन्धाभावाच्च। तत्पर्यायस्य मृगराजशब्दस्य सन्नपि असौ अनुपयुक्त एव तस्य प्रक्रान्तत्वाऽभावात्, 'मृगाणा'मित्यत्र 'मृगराजाना'मित्येवमनुक्तेश्च। किञ्च मृगेषु राजत्वं भवति सिंहानां न तु शब्दे इति वीर्योदग्रत्वं तद्विशेषणमनुपपन्नमेव, तस्य अर्थनिष्ठत्वेनोपपत्तेः। तेन न सिंहानां न मृगाणां न वीर्योदग्रत्वस्य च राजशब्देनान्वयः सङ्गच्छत इत्यवाच्य एवाऽसौ। तेन 'राजभावे' इति 'मृगेष्वि'ति वा वाच्ये तदवचनं दोषः' इति।

तत्रेयं संक्षेपेण समीक्षा—न खलु अत्र सिंहानां केवलेन राजशब्देन सम्बन्धोऽभिधातुमिष्टः को वा ह्यनुन्मत्तस्तेषां राजशब्दवाच्यतां मन्यते? न च 'मृगराज'पदस्याऽनभिधानात्तत्सम्बन्धो दुष्कर इति वाच्यम्; 'मृगाणा'मिति सम्बन्धषष्ठ्या मृगसम्बन्धिनि राजशब्दे इत्यर्थस्य सुलभत्वादभीष्टत्वं निर्बाधम्। 'मृगराज'शब्दस्य प्रक्रान्तत्वाऽभावेऽपि सिंहानां प्रक्रान्तत्वं 'क्षोभयामास सिंहान्' इति निर्देशादस्त्येव। अतस्तत्सम्बन्धवशाद् 'मृगराज'शब्दप्रतीतौ न कोऽपि बाधः। 'राजशब्दे' इत्यस्याऽभिधेयनिरपेक्षे पदमात्रे इत्यर्थकरणं तु प्रतारणामात्रम्। 'राजशब्दे' इत्यस्य 'राजशब्दवाच्यताया'मित्यर्थः स्वीकार्यः प्रतिवादिनाऽपि। अतो वोर्योदग्रत्वसम्बन्धोऽपि निष्प्रत्यूह एवेति सिद्धम्। एवमत्र न काऽप्यन्वयाऽनुपपत्तिरिति विभावनीयम्।

एवमेव—

'पर्यायमात्रभिन्नस्य यदेकस्यैव वस्तुनः।
उपमानोपमेयत्वमवाच्यवचनञ्च तत्॥'

इत्यवाच्यवचनाख्यदोषस्य उदाहरणतया रघुवंशे रामचन्द्रस्याभिषेकप्रसङ्गागतं पद्यमिदमुपन्यस्तम्—

'सरित्समुद्रान् सरसीश्च गत्वा
रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्याऽपतन् मूर्ध्नि जलानि जिष्णो-
र्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवाऽऽपः॥'

अत्र पद्ये एकस्यैवाऽर्थस्य (जलरूपस्य) यः पर्यायमात्रभदेन भेदमुपकल्प्य उपमानोपमेयभावो निबद्धः सोऽवाच्यवचनं दोषः, तस्य भिन्नार्थनिष्ठत्वात्। तदयमत्र पाठो युक्तः 'विन्ध्यस्य मेघप्रवानि यद्वत् इति। अस्मिंश्च पाठे भिन्नलिङ्गत्वमुपमादोषोऽपि परिहृतो भवतीत्यालोचयाञ्चकार।

अत्र निक्षिप्यतां सविमर्शं चक्षुः—एकस्यैवाऽर्थस्य पर्यायेणाऽपर्यायेण वा नोपमानोपमेयभाव इत्युक्तिस्तु साहित्यविदां न हृदयमनुरञ्जयति। अनन्वयोपमेयोपमाऽन्योन्यप्रभृतिष्वलङ्कारेषु बहुशस्तथा दर्शनात्। किञ्च—नाऽत्र निर्विशेषजलत्वेनोभयोर्जलयोः साम्यम्, तथात्वे दूष्यता स्यादपि। किन्तु 'सरित्समुद्रादिभवत्वमेघप्रभवत्वविशिष्टयोरेव जलयोरुपमानोपमेयभावः। एकस्यैवार्थस्य देश–काल–विषयादिभेदेन साम्यमुपनिबध्नन्त्येव कवयः। यथा—

'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवाऽऽगमनात्पुनः॥'

इत्यत्र एकस्यैव वस्तुनः साम्यं व्यङ्ग्यत्वेनोक्तेम्। किञ्च 'जलानि', 'आपः' इत्यनयोर्लिङ्गभेदोऽपि न दोषाय। राज्याभिषेकसमये बहुविधानामपामभिषेकस्यैव विहितत्वाद् बहुत्वमात्रे तात्पर्यात्, लिङ्गभेदस्याऽकिञ्चित्करत्वाच्च।

तथैवाऽवाच्यवचनदोषप्रसङ्गेन रघुवंशस्याष्टमे सर्गे—

'दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसां दिक्षु दशस्वपि श्रुतम्।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः॥'

अत्र 'दश'शब्द–'रथ'शब्दयोः पृथगभिधायकत्वाऽभावाद् दशपदपूर्वको 'रथ'शब्द इत्याद्यर्थकरणस्य विलम्बेनोपस्थानाद् अवाच्यवचनत्वमित्याचष्टे। तदेतत्र विशेषतो विचारणीयं नाम, यतः पद्यमेतद् वस्तुमात्रनिर्देशकम्, न तत्कालं कञ्चन रसभावादिकमनुसरतीति कौतुकिना कविना शब्दचित्रविधयाऽवतारितम्। एवंविधेष्वेव स्थलेषु चित्ररचनाया अवसरः। तत्र 'दश'शब्दावृत्तिकृततच्चमत्कारमनुभवतस्तादृशोऽन्वयः किञ्चिदूह्योऽपि न दोषाय, फलमुखगौरवस्याऽदोषतास्वीकारात्।

एवमग्रेऽपि–

'लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार॥'

अत्राऽप्यवाच्यवचनप्रसक्तिः। अत्राऽपि 'कृपामृदुमनाः' इत्यत्र 'मनः'शब्दः पुनरुक्तः, 'प्रतिसञ्जहार' इत्यत्र 'प्रति' इत्युपसर्गो निरर्थकः। कर्णान्ताकर्षणं धनुष एव, न तु बाणस्य, इत्येवमादीनामवाच्यत्वमेवेति यदुच्यते, तस्येयं निराससद्युक्तिः–तत्र 'अवगच्छति मूढचेतनः' इत्यत्राऽभिहितया रीत्या 'मनः' पदस्य समाधानम्। अथवा 'मनः'पदोपादानाद् विशेषतः कृपोद्रेकः प्रतीयते, शिरःशेखरादिवत् कृपायाः सातत्यसान्निध्यप्रतीतिर्वा। न चाऽयमप्रयुक्तप्रयोगः, बहुभिस्तथा प्रयुक्तत्वात्। धनुषः कर्षणे बाणस्याऽपि सम्बन्धः, तस्यैव प्रतिसंहारविषयत्वञ्चेति तत्सम्बन्धो न विरुद्धः। 'प्रतिसञ्जहार' इत्यत्रोपसर्गः साभिप्रायः। यथा विवृणुते मल्लिनाथोऽपि–'आकर्णकृष्टमपि दुष्प्रतिसंहारमपि इत्यर्थः। प्रतिसञ्जहार, नैपुण्यादित्यर्थः। नैपुण्यं तु धन्वीत्यनेन गम्यते' इति। इत्थमवदातमिदं स्थलम्।

एतद्दोषप्रसङ्गेनैव रघुवंशस्थवसन्तवर्णनपद्यमिदमुद्धरन्–

'अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः
कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं
न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव॥'

अत्र समासोक्तिवशादौपम्ये प्रतीयमानेऽपि तिलकप्रमदयोरेकतरस्मिन् वाच्ये यदुभयोर्वचनं तदवाच्यवचनं दोष इत्यूचे। अत्रापि–'अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः' इत्युक्तरीत्या शृङ्गारोद्दीपनैकाङ्गस्य वर्णनस्याऽस्य प्रस्तुततया तत्र कामिन्युपमा सपदि रसानुगामिनी। प्रकृतरसप्रतिकूलत्व एवाऽलङ्कारनिरासः समुचितः। यथाऽत्र शब्दालङ्कारस्यापि यमकस्य

प्रकृतरसाप्रतिबन्धकत्वं चाऽनुभूयते, प्रसादाऽपरित्यागात्। प्रत्युताऽलङ्कारमध्ये यद्यलङ्करणान्तरमौचित्येन सन्निवेश्यते, तदा सुतरामुत्कर्षः। यदुक्तं वक्रोक्तिकारेण–

'अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम्।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत्॥'

इत्येतदुत्तरमेव सङ्गच्छते।

एवं रघुवंशस्य षोडशे सर्गे 'कुशं द्विषामङ्कुशमत्र विद्वान्' इति पाठे 'अङ्कुशवस्तु विद्वान्' इत्यपपाठं परिकल्प्य 'वस्तु'पदप्रयोगनैरर्थक्यं ब्रूते, तत्सर्वमस्थानपाण्डित्यमेव। अत्र सौपर्णास्त्रप्रयोगेण कुमुदाख्यनागस्य पराभवकथायाः स्फुटत्वादिति॥

■

विश्वनाथ–कालिदासयोर्विचारवीचयः

अमन्दानन्दसन्दोहमकरन्दकरम्बिता।
कालिदासकवीन्द्रस्य जीयाद् वचनमञ्जरी।।
कालिदासशिवशैलशेखरात् स्वैरमुन्मिषति काव्यनिर्झरे।
नैव शैवललवोपमा क्वचिद् दूषणस्थितिरुदेतुमर्हति।।

विगत एव हायने 'मम्मट–कालिदासयोर्विचारवीचयः' इत्यभिधानाङ्कितः कश्चन निबन्धः काव्यप्रकाशस्थसप्तमोल्लासनिर्दिष्टानां कालिदासीयपद्यगतानां दोषाणां समाधानरूपेणाऽऽलिखितः। प्रायस्तत्र क्रमश एव दूषणानां निबर्हणं प्रादर्शि। तदनु प्रसङ्गात् परिशील्यमाने साहित्यदर्पणे तत्र मम्मटेन अपरामृष्टपूर्वाणि कानिचिद् दूषणस्थलानि कालिदासकाव्यविषयकाणि सन्तीत्यालोक्य तत्समाधानमपि पूर्वनिबन्धानुषङ्गेण कर्तव्यतामावहतीत्यनुभूतम्। तामेव धियमनुसृत्य लघुतरेऽस्मिन्निबन्धे तान्येव विशेषतः परामृश्यन्ते। क्वचित्तु प्रमादवशादवधीरितं काव्यप्रकाशस्थलमपि।

तत्र प्रथमं दर्पणकारेण 'अविमृष्टविधेयांशा'भिधस्य दोषस्य उदाहरणतया परिगृहीतं रघुवंशस्थलम्–'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इति। अत्राऽयमाशयो दर्पणकारस्य–'रघूणामधिकारस्य समुद्रपर्यन्ततायाः प्रत्यायनं कवेरभीष्टम्, तच्च विधेयतया प्रतिपाद्यम्। परं समासेन सा विधेयता न सम्यक् प्रतीयते, किन्तु समुद्रपर्यन्तत्वविशिष्टक्षितीशत्वमेव प्रतीयत इति प्रोक्तदोषप्रसक्तिर्दुर्वारा विवक्षितविधेयांशतिरस्कारात्' इति।

अत्र प्रतिविधीयते–न खल्वत्र समुद्रपर्यन्तत्वमात्रं विधेयम्, किन्तु समुद्रपर्यन्तक्षितिनायकत्वमेव। किमत्र प्रमाणमिति चेत्, कवेर्विरचनैव प्रमाणम्। कस्याञ्चन किंवदन्त्यां 'रात्रिरेवं व्यरंसीत्' इति भवभूतिपद्ये बिन्दुनिरासमात्रेण 'रात्रिरेव व्यरंसीत्' इत्युक्त्या चमत्कृतिविशेषमादधौ महाकविः कालिदास

इत्यनुश्रूयते। तद्वदेव यदि कवेः समुद्रपर्यन्तत्वमात्रे प्राधान्यविवक्षा अभविष्यत्तर्हि सबिन्दुकत्वमेवाऽरचयिष्यत् कविवरः, तावता वृत्तभङ्गादिदोषाभावात्।

कवेरुक्तिरपि तदनुगुणा–

'तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः।'

मल्लिनाथोऽपि विवृणुते–'आजन्मशुद्ध्यादिभिः कर्तृभिरि'ति। तस्मात् तादृशक्षितीशत्वादेरेव विधेयत्वप्रतिपत्तिः सुस्फुटा। श्लोकचतुष्टयेन प्रबन्धप्रवृत्तानां षष्ठ्यन्तविशेषणानां पूर्व-पूर्वविधेयतया प्रतीतिरुपजायते। विशेषणविशेष्ययोः समानलिङ्गवचनतया स्वारसिक एव अन्वयबोधः प्रवर्तते।

अयं विधेयाविमर्शदोष समासे असमासे च परिदृष्टः, विधेयतया विवक्षाया एव प्राधान्यात्। क्वचित् तु समासेऽपि न विधेयताबुद्धिः प्रतिबद्ध्यते। यथा–'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यादौ। अतो यदि 'आसमुद्रक्षितीशानामि'त्यत्र समुद्रपर्यन्तत्वं विधेयमित्याग्रहः, तदा तदपि प्रतीयतां नाम। इत्थं महाकवेर्वचसि न दूषणावसरः।

इतोऽग्रे वाक्यदोषेषु 'अधिकपद'स्य उदाहरणतया पद्यमिदमुपन्यस्यते दर्पणकारेण–

'अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः।
स्पृशन् करेणाऽऽनतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः॥'

अत्र ईप्सितद्रविणलाभानन्तरं जिगमिषुः कौत्सौ 'वाचमुवाच' इत्यत्र 'उवाचे'ति वच्धातुनैव निर्व्यूढे कार्ये 'वाच'मिति पदमधिकम्। विवक्षितान्व- याऽनुपयुक्तपदशालित्वमेव अधिकपदत्वमित्युच्यते।

अयमाक्षेपोऽपि निस्सारः। तथा हि–पूर्वमेतत्पद्यार्थः परिशीलनीयः, तदनुसारं च दूषणगवेषणा करणीयेति प्रशस्तः पन्थाः।

तादृशेन लोकोत्तरेण रघोः प्रभावेण पूरिताभिलाषः शतशः क्रमेलकेषु वडवासु च गोणीपूरितं कनकराशिं गुरुदक्षिणार्थमादाय सन्तुष्टचेता जिगमिषुर्महर्षिः कौत्सः कीदृगवस्थ इत्यालोच्येत चेत् स्फुटमिदं प्रतीयेत,

यद् अत्यन्तं प्रसीदच्चेताः स्वकार्यपूर्त्या तत्प्रतिपादनाय पुण्यमपि अंशतो व्ययीकर्तुं तत्परः। किञ्च 'कृते प्रतिकृतं कुर्यादेष धर्मः सनातन' इत्युक्तदिशा विशिष्टां वाचमुदीरयति स्म, न तु साधारणीम्।

अत एव महाकविना प्रकरणानुकूलानि पदानि प्रयुज्यन्ते। तथा हि– प्रजेश्वरमिति। ईष्टे इति ईश्वरः, प्रजानामुपलक्षणतया ऋष्यादीनामपि कार्येषु सामर्थ्यमावहतीति तादृशम्। प्रीतमना महर्षिरिति पदयुगली साभिप्रायेव। यतोऽत्यन्तं सन्तुष्टचेताः स्वतपसा महर्षिदशां निग्रहानुग्रहसामर्थ्यलक्षणामधितिष्ठतः कौत्स इत्यर्थः। ननु महर्षित्वात् स्वयं समर्थोऽपि किमर्थं रघुमेवाऽयाचत इत्याशङ्कनीयम्, अर्थप्रदानस्य राजधर्मत्वात्, तदनुसरणस्यैव न्याय्यत्वात्। एवं 'वाच'मित्यस्य विशिष्टामाशीर्लक्षणामित्यर्थकरणान्न दोषः। प्रत्युत ध्वनिमहिम्ना चारुत्वापादनं क्रियते कविवरेण। 'त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति' इत्यादौ अर्थान्तरसङ्क्रमितध्वन्युदाहरणे या रीतिः सैव अत्राप्यनुसर्तव्या।

'वाचमुवाच' इत्यत्र 'वाक्'शब्दमुख्यार्थस्य अक्षरोच्चारणलक्षणस्य बाधात् सामान्यविशेषभावसम्बन्धेन विशिष्टां वाचमिति लक्ष्यते। तत्प्रयोजनीभूतं व्यङ्ग्यन्तु पुत्रादिकल्याणगुणगणफलप्रदानोन्मुखत्वं 'वाचि' प्रतीयते, इत्येवं रीत्या ध्वनिभेदमनुप्रविशतोऽस्य स्थलस्य कुतो दूषणावसरः?

प्रकारान्तरेणापि समर्थयितुं शक्यमिदम्। यथा–

'देवं यजति', 'गन्धं जिघ्रति' इत्यादिप्रयोगेषु 'यज्'प्रभृतीनां धात्वर्थानां देवपूजाद्यर्थत्वेऽपि पूजाग्रहणमात्रार्थत्वं कल्प्यते, तद्वदेव 'वाचमुवाच' इत्यत्रापि 'उवाच' इत्यस्योच्चारणमात्रार्थत्वं कल्पनीयम्। एवं 'अस्थानस्थपदं' नाम दोषमुदाहरन्नाह दर्पणकारो रघुवंशस्य षोडशसर्गस्थमिदं पद्यम्–

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।
अयत्नबालव्यजनी बभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः।।'

अत्र कुशो विग्रहवत्या अयोध्यादेवतया प्रार्थितः पुनरपि तां नगरीं स्वीयां राजधानीं निर्मित्सुः कुशावत्याः प्रचलितो मध्येमार्गं गङ्गामुत्ततार इति

प्रकरणम्। अत्र 'तदीये' इति पदं गङ्गासम्बन्धितया योजयतो दर्पणकारस्य महान् प्रमादः। तदनुसारमुच्यते तेन–'अत्र तदीयपदात्पूर्वं गङ्गामित्यस्य पाठो युक्तः' इति। पूर्वमभिहितस्यैव पश्चात्सर्वनाम्ना निर्देशो युज्यते। अत्र तु पूर्वमेव 'तदीये' इति सर्वनाम, पश्चाद् गङ्गामिति प्रयुक्तमित्यन्वयानुसन्धान-वेलायां विसंष्ठुलत्वं पदानामस्थाने विन्यासादिति तस्याशयः। परमिदं सर्वमस्थानविजृम्भितम्। यत एतत्पद्यात् पूर्ववर्तिपद्यमिदं द्रष्टव्यम्–

'स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन् पुलिन्दैरुपपादितानि॥'

अत्र तु स्पष्टमेव 'विन्ध्यस्य' सम्बन्धः प्रतीयते, अग्रिमे पद्ये विन्ध्यस्यैव 'तदीये' इति सर्वनाम्ना निर्देशः। तस्मात् 'तदीये वैन्ध्ये' इति व्याचक्षाणो मल्लिनाथः साधुरेव। अनया पद्धत्या नात्र दोषलेशाऽवकाशोऽप्य-वशिष्यते।

एतदनन्तरम् 'एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव सम्भवः' इत्युक्तदिशा अलङ्कार-निबन्धने यत्किञ्चिदनौचित्यं प्रतिभाति तत्सर्वं पूर्वोक्तदोषस्पर्शमूल-कमिति विचारयतो दर्पणकारप्रकाशकारयोर्विवेच्यतामुपगतं कुमारसम्भवनिर्दिष्टं पद्यमुद्वीक्ष्यतां सहृदयैः–

'दिवाकराद् रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसामतीव॥'

अत्र दिवाकरभयात् पलायमानं शरणागतमन्धकारं गुहासु हिमालयो रक्षतीति कविनोत्प्रेक्षितः कश्चिदर्थः, स तावन्मात्रया भणित्यैव परिसमापनीयः, न तु 'क्षुद्रेऽपि नूनम्' इत्याद्युक्त्या समर्थयितुं योग्यः, सर्वथा गगनकुसुमायमानस्य तादृशार्थस्य समर्थनमनुचितार्थतां प्रकाशयतीति।

अत्रेदं विचार्यताम्–न केवलमचेतनवृत्तान्तोपनिबन्धनं दोषाय, महाकाव्येषु कविभिः शतशस्तथाविधाः कल्पना उपनिबद्ध्यमानाः सहृदयहृदयानन्दावहाः प्रतीयन्ते। अत्रालोचकानां टीकाकाराणां निष्कर्ष एतावानेव यद् उत्प्रेक्षा तु न दोषाय, तादृशोत्प्रेक्षितार्थसमर्थनमेव दोषं जनयतीति।

तत्रेदमुच्यते–अचेतनवस्तुवृत्तान्तः प्रायः केनाऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तेन अनुप्राणित एव कवीनां रचनासु पदमाधत्ते। ध्वनिकारेण द्वितीयोद्योते ध्वन्यालोके विशदमभ्यधायि–'यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारविषय इत्युच्यते, तर्हि उपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वा अभिहिता स्यात्' इति, 'तन्महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्' इति च। उदाहृतानि चाऽग्रे भूयांसि पद्यानि। एवमत्र 'दिवाकराद्रक्षती'त्युत्प्रेक्षितोऽर्थो न निरुपाख्यप्रख्यः, किन्तु चेतनवृत्तगर्भतया साभिप्राय एव, हिमालयस्योत्कर्षवर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्। द्विविधमपि हिमवन्तो रूपं वर्णितं महाकविना चेतनमचेतनञ्च। हिमालयस्योत्कर्षे साधिते ततः पार्वत्या रूपगुणादिवर्णनं प्रकर्षमाधास्यतीति कवेरभिप्रायः।

किञ्च–'ममत्वमुच्चः शिरसामतीव' इत्यादिना समर्थितः शरणागतान्धकार रक्षणव्यवसायः सौन्दर्यमनुबध्याति, 'उच्चैःशिरसा'मिति पदं नितान्तं चमत्कारि, 'उच्चैः, शिखरशालित्वं' गौरवेणोन्नतशिरस्कत्वञ्चेति तदभिप्रायव्यञ्जनात्। एतेन–'प्रजापतिः' कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत्' इत्युक्तदिशा प्राकरणिको हिमालयोत्कर्षः साधु सिद्ध्यति। प्रकृष्यते च पार्वत्या वक्ष्यमाणं चरितमिति कथमेतस्य दोषावहत्वमिति न जानीमः।

इतः परम्–उपमादोषविचारप्रसङ्गे काल–पुरुषविध्यादिभेदस्य भग्नप्रक्रमदोषाक्रान्तत्वमुक्तं दर्पणकृता। प्रसङ्गादुद्धृतं कालिदासीयं पद्यमिदम्–

'काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव॥'

अत्रेयं तदीया विचारदृक् – तथाभूतयोश्चित्राचन्द्रमसोः शोभा न खल्वासीत्, इति भूतकालिकक्रियासम्बन्धेन निर्देष्टुमुचिता, नक्षत्रचन्द्रसंयोगस्य सर्वदैव प्रवर्तनात्। सुदक्षिणा–दिलीपयोस्तु सकृदेव सा शोभा तदाऽजायतेति समुचितं तत्रैव क्रियायोजनम्। तस्मादत्रोपमानेऽतीतकालस्य बाधात् वर्तमानोहेनाऽन्वयप्रतिसन्धानात् प्रक्रमभङ्ग इति।

अत्रापि विदाङ्कुर्वन्तु सहृदयास्तथ्यमेतत्–न खल्वत्र 'क्रियासाधारणो धर्मः' येन उपमानोपमेयभावनिर्वाहस्तया विना न चरितार्थो भवेत्। किन्तु काऽपि लोकमनोहारिणी अभिख्या साधारणो धर्मः। तदन्वये तु न काऽप्यनुपपत्तिः। न च क्रिया किञ्चिद्धर्मरूपा केवलं सत्तामात्रप्रत्यायिकेति तस्या औपम्यनिर्वाहे न भूयानुपयोगः। इयमेव रीतिः–

'अतिथिं नाम काकुत्स्थात् पुत्रमाप कुमुद्वती।
पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना।'

इति प्रकाशोदाहृते पद्येऽप्यनुसर्तव्या। तत्र 'प्रसाद'स्य साधारणधर्मत्वात्।

अन्यदपि विचार्यताम् – उपमाभूतचन्द्रकमलादिगतानां गुणानां क्रियाणां वा सर्वदा वर्तमानप्रत्ययगोचरत्वं सुवचम्।

उपमेयभूत-स्त्रीपुरुषादिपात्राणां तत्कथानुरूप-भूत-भविष्यत्काल-गोचरत्वं कवि कल्पनायत्तमिति स्थितौ क्रियापदानां कालभेदो न दोषावहः, औपम्यनिर्वाहकस्य साधारणधर्मकृतचमत्कारस्य केनापि हेतुना सम्यगनभिव्यक्तौ दोषः समुद्भावनीयः।

तस्मात् पूर्वोक्तानि कालिदासीय-रचनास्थलानि न लेशतोऽपि दूषणीयतामर्हन्ति, प्रत्युत मार्मिक-सहृदयसाधुवादकुसुमोत्करैर्भूषणीयतामेव प्रतिपद्यन्त इति निवेदयामः।

■

महाकवेः कालिदासस्य रचनासु दोषाभासनिरासाः

कल्याणदात्री करुणाकटाक्षैः कदम्बमूले कृतसन्निवेशा।
कह्लारबन्धोः कलया लसन्ती मन्दं हसन्ती त्रिपुरावतान्नः।

सुविदितमिदं विदितवेदितव्यानां काव्यशास्त्रविमर्शपथिकानां यदस्मिन् शास्त्रे दोषगुणालङ्काररीतयो वृत्तयो रसाश्च प्राधान्येन परिचीयन्ते परीक्ष्यन्ते च। तत्तत्काव्यलक्षणकारैर्यथाप्रतिभं यथाशास्त्रञ्च तत्स्वरूपनिरूपणमपि विस्तरेण व्यतन्यत।

'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्।।
अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति।।'

इत्यादीनि प्राचां लक्षणानि।

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि', 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इत्यादीनि तदनुवर्तिनां लक्षणानि। एवमन्येऽपि बहवः स्वलक्षणानि प्रकटयाञ्चक्रुः।

काव्ये 'सारश्चमत्कारः' इति प्रसिद्ध्या चमत्कारविशेष एव काव्यपरामर्शस्य फलम्, स च रसा वा अलङ्कारा वा इति प्राधान्येन विविच्यते, अत एव मम्मटलक्षणे 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति प्रतिपाद्यते।

यद्यपि गुणलक्षणभूषणादीन्यन्यैरुद्भावितान्यपि न काव्यशोभाहेतुभ्यो बहिर्भवन्ति, परं छद्रिन्यायेन प्राधान्याद् अलङ्काराणां निर्देशो भवति। अपि

च 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्', 'सौन्दर्यमलङ्कारः' इति सूत्रयतो वामनस्याप्यलङ्कारशब्देन सर्वशोभाहेतूनां सङ्ग्रहः सूच्यते। भामहादीनां प्राचामप्यलङ्कारप्राधान्यवादात् शास्त्रमिदमलङ्कारशास्त्रनाम्ना प्रसिद्धिमवाप। अथाऽऽनन्दवर्धनाचार्याऽभिनवगुप्तपादाभ्यामुज्जीविते ध्वनिप्रस्थाने सर्वेऽपि काव्यशोभाकरा धर्मास्तदभितो वलयिता इव नूतनां धोरणीमलभन्त।

तस्य परामस्पृहणीयस्य चमत्कारस्य रसादेर्वा समास्वादे सहृदयमधुव्रतानां प्रतीतिबाधकं यद्यस्ति किञ्चित् तदपि व्याख्येयमिति महता संरम्भेण दोषनिरूपणमकारि धीमद्भिः।

किञ्च–हेयहानिपूर्वकमुपादेयोपादानमिति रीत्या दोषगुणालङ्कारेषु प्रथमं दोषचर्चा पदमाधत्ते। ननु दोषाः किमर्थं निरूपणीया हेयत्वादित्युक्ते तत्स्वरूपपरिचयं विना तदपसारणस्याशक्यत्वात् तत्त्वतो निरूपणमवश्यकर्त्तव्यतामापतति।

वस्तुतो दोषाभाव एव निरूप्यः, परन्तु अभावस्य स्वरूपतो निरूपणानर्हतया प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणीयत्वाद् दोषस्वरूपमेव प्रतिपाद्यं भवति। यथा–आयुर्वेदे व्याधिनिरासस्यैव लक्ष्यत्वे भेषजान्येव निरूपणीयानि, परं तैः सह पूर्वं व्याधिस्वरूपपरिज्ञानमावश्यकं तथा त एव निरूप्यन्ते, तथैव दोषनिरूपणस्य स्थितिः। दोषसामान्यलक्षणानि च तत्तद्ग्रन्थेषु यथोचितं भेदेन विद्वद्भिरुपनिबद्धानि। यथा 'मुख्यार्थहतिर्दोषः' इति, 'रसापकर्षका दोषाः', 'स्याच्चेतो पिशता येन सक्षता रमणीयता। शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम्' इति।

सारतस्तु–'उद्देश्यप्रतीतिविघातकत्वमेव दोषत्वम्, उद्देश्या च प्रतीती रसवत्यविलम्बिता नपकृन्रसविषया च, नीरसे तु अविलम्बिता चमत्कारिणी चाऽर्थविषया। तथा च तादृशप्रतीतिविघातकत्वं सर्वेषां समानमेव। तत्तदभेदप्रभेदभिन्नानां शब्दार्थरसदोषाणां दूषकताबीजरूपमुपाधिमादाय बहुविधा भेदाः सम्भावयन्ति। गणनायां दृष्टिभेदात् क्वचिन्न्यूनाधिकभावोऽपि दृश्यते। सामान्यलक्षणं तु सर्वानुगामितया व्यवतिष्ठत एव। अयमपि दोषो नित्योऽनित्यश्चेति द्विधा विभज्यते समाधेयतयाऽसमाधेयतया च एवमवस्थितायां

शास्त्रमर्यादायां महाकवीनां रचनासु काप्यन्यैव दृष्टिर्मेधाविनां सम्भवतीति विचार्यते किञ्चित्–

अस्मिन् अतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इत्यभिदधता ध्वनिकारेण महाकवीनां किमपि लोकोत्तरं वैशिष्ट्यमासूत्रितम्। तत्राऽपि नामग्राहं कालिदासस्यैव स्मरणं तस्य प्राधान्यमभिव्यनक्ति। किञ्च मम्मटोऽपि यशस्वितायां कालिदासमेव व्यवस्थापयति। सा च यशस्विता नित्यनिरवद्यसरस्वतीप्रसादप्रसूतचमत्कारादृते न सम्भवति। यदुक्तं मङ्खकेन–

'अभ्रङ्कषोन्मिषितकीर्तिसितात्तपत्रः
श्लाघ्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
द्राग् वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः॥

यस्येच्छामात्रेण शब्दार्थमयी सेन पुरतो विन्यस्तपादन्यासा प्रचलति स एव यशस्विनां धुर्यो महाकविः। तादृश पन्थाः कालिदासस्यैव दृश्यते। यद्यपि तमनु बाण-बिल्हणादयोऽपि तदीयां सरणिमनुसरन्तो यशांस्यविन्दन् प्रतिष्ठाञ्चाध्यगच्छन्, परं कविकुलगुरोरनितरसाधारणं कौशलमङ्गीक्रियते।

काव्यपाकविषये प्रचीनेः समीक्षकैरिदमुक्तम्–

'आवापोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती।''

सकृदपि सहजतया प्रयुक्तः पाठः कवेर्निष्कम्पतां दधानः पाकवानित्युच्यते। पाकविषये च राजशेखरादिभिर्बहुतरमुपदर्शितम्। तानेव शब्दान् अर्थांश्च प्रयुञ्जते सर्वेऽपि कवयः किन्तु महाकविभिः प्रयुज्यमानास्तु किमपि लोकोत्तरं मधुस्यन्दमाविर्भावयन्ति। यथोक्तं केनाऽपि–

'सति वकारि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधुः।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥'

एभिः शब्दैरुपोद्बलितम्।

एवं प्रतिष्ठिते सर्वङ्कषे महाकविगौरवे तदीयरचनासु दोषः प्रसज्यते न वेति विचारः पदमाधत्ते–

अत्र तावदिदमङ्गीकरणीयं यद् दोषस्तावद् द्विविधः – उद्भूतः, उद्भाव्यश्च। साधारणानां कवीनां प्रतिभादौर्बल्यात्सम्भवत्येव दोषोत्पत्तिस्तद्रचनासु। महाकवीनां रचनासु तु प्रतिभानैर्मल्यान्न क्वचिदपि दोषः, परन्तु शिष्यशिक्षायै बुद्धिवैशद्याय च आचार्यास्तासु दोषमुद्भावयन्ति समादधति च। अत एव उद्भूतो दोषो भवति साधारणकवीनाम्, महतां कवीनां दोषस्तु 'उद्भाव्य' इति वक्तुं युज्यते। शास्त्रकारेषु यथा तत्त्वचिन्तामणिकारस्य महाभाष्यकारस्य वा वाक्येषु पूर्वपक्षानुद्भाव्य समाधानं विन्यस्यन्ति पण्डितशेखरास्तथैव महाकवेः कालिदासस्य कृतिषु दोषान्वेषणं विदधाना अपि धीधनास्तदीयं गौरवमुन्नयन्त्येव। परमिदं सत्यं यद् ग्रन्थकारैस्तत्र तत्र दोषा एवोपदर्शिता न तत्समाधानानि। अतस्तत्समाधानार्थं मया कश्चन प्रयासः कृतः स्वनिबन्धेषु। तेभ्य एव सारमाकृष्य केचन विचारलेशाः पुरस्तादुपस्थापितवन्तः समीक्षकेषु साहित्यदर्पणकाव्यप्रकाशव्यक्तिविवेकारादयः। स्वमनीषोन्मेषानुसारं महाकवेर्वचसि दोषानुत्प्रेक्षन्ते, तानेव कांश्चन शृङ्गग्राहिकया विचारयामः–

पददोषेष्वविमृष्टविधेयांशं नाम दोषमुदाहरन् दर्पणकारो रघुवंशप्रारम्भे 'सोऽहमाजन्मशुद्धानामि'त्यादिश्लोकेषु अन्यतमं स्थलम् 'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इत्युदाहरति। तस्यायमाशयः – अत्र 'समुद्रपर्यन्तत्वमेव' विधेयम्। तेनैव रघूणां शौर्यगौरवञ्च विशेषेण प्रतीयेत। क्षितीशपदे तस्य गुणभावेन न तथा विधेयत्वप्रतिपत्तिरिति। तत्रेदं समाधीयते–

उपक्रमोपसंहाराभ्यां वक्तुस्तात्पर्यनिर्णयो भवतीति नयेन अस्मिन् श्लोकपञ्चकात्मके कुलके कवी रघूणां गौरवमेव स्थापयितुं यतते। गुणास्तु गुणिषु समवेता एव तिष्ठन्तीति पृथक् तदुपादानमनावश्यकम्। अग्रे च

'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' इति तस्य प्रतिज्ञाऽपि विधेयताबुद्धिं तेष्वेव नियमयति। 'तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः' इति वक्ष्यामाणपद्ये तच्छब्देन च पूर्वपरामर्शिना त एव सम्बद्ध्यन्त इति नाऽत्र अविमृष्टविधेयांशत्वम्।

किञ्च 'स्वाधीने शब्दप्रयोगे किमित्यवाचकं प्रयोक्ष्यामहे' इति न्यायात् 'आसमुद्रं क्षितीशानाम्' इत्येव पाठं प्रयुञ्जीत कविः। तस्मान्नात्र दोषस्याऽवसरः।

पदैकदेशे दुःश्रवत्वदोषमुदाहरतः प्रकाशदर्पणकारौ यथा–

'तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव।
अपेक्षते प्रत्ययमङ्गलब्ध्यैर्बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः॥'

इति कुमारसम्भवपद्ये द्वयोः पादयोः 'ध्यै' इति 'बध्यै' इति च पदैकदेशगतं दुःश्रवत्वम्। दुःश्रवतया सहृदयोद्वेगः, चैनकत्वमित्यर्थः। अत्र प्रकरणे कुमारस्योत्पत्तये विवाहार्थं शिवस्य उन्मुखीकरणमेव देवानामभीष्टम्। तदर्थञ्च मघवा काममाहूय कार्यार्थमादिशतीत्यादेशवाक्यमिदम्। अथ प्रार्थनेऽतिमधुरभाषणस्यैव औचित्येनाऽत्र दोषत्वमित्युद्योतकारः। 'नायक-नायिकावृत्तान्तरूपरसस्य सम्भवात् तद्व्यञ्जकवर्णमाधुर्येणास्य दर्षकांता' इति च सारबोधिनीकारः। इत्युभावपि टीकाकारौ अस्थानपाण्डित्यमुद्भावयतः। आदेशप्रधानेऽस्मिन् वाक्ये न माधुर्यादिव्यञ्जकवर्णानां विचारोऽपेक्ष्यते, न च नायिकादिवृत्तान्तो वा तदभिव्यङ्ग्यो रसो वाऽत्र सन्निहित इति एकदेशस्थित-पदोच्चारणं न दोषं जनयितुमीष्टे। यदि भूयसां तादृशपदानां समवायस्तदा दुःश्रवत्वादिविचारः स्यान्नाम। यथा वाक्यदोषे–

'अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम्।
कम्बुण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्तिमुद्धर॥' इत्यादौ।

यच्च पदैकदेशे निहतार्थत्वमुदाहृतं मम्मटेन–

'यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्॥'

अत्र 'मत्ताशब्दः क्षीबार्थे निहितार्थः' इति। तन्मते मत्ताशब्दो मत्तस्त्रीवाचकः। प्रसिद्धेन क्षीबार्थेन अप्रसिद्धो मतुप्प्रत्ययार्थो निहन्यते। शीघ्रप्रतीतिविषयो न भवतीति। अत्राऽपि विचारणीयम्, समासगतानां पदानां सम्भूयार्थवाचकत्वं प्रमाणसिद्धमनुभवसिद्धञ्च। न च हिमालयप्रसङ्गे कश्चन क्षीबार्थमाकलयति। समासान्तो मत्ताशब्दः प्रत्ययार्थमेव स्फुटीकरोति तस्यैव प्रसिद्धत्वम्, पदैकदेशस्थ 'मत्ता'पदस्य चात्र प्रसङ्गाभावादप्रसिद्धत्वमिति दूषणोद्भावनव्यसनितया व्यत्यस्तमुच्यते। धातवो गैरिकादयोऽस्य सन्तीति धातुमान्, धातुमतो भावो धातुमत्ता, अत्र नित्ययोगे 'मतुप्' इत्येवं प्रसिद्धोऽयं शब्दः। न च कश्चन श्लेषादिप्रसङ्गो येन द्वितीयार्थविचिकित्साऽपि सम्भवेत्। तदत्र निर्मूलेव दोषसम्भावना। किम्बहुना, अश्लीलाभिव्यञ्जकेष्वपि लोकव्यवहारप्रसिद्धविरुदेषु संवीतगुणादिषु नैव तादृशी विपरीतार्थप्रतीतिर्भवति। तथा हि शिवलिङ्गसुभगा भगिनी-ब्रह्माण्डादिपदेषु को नाम असभ्यार्थमन्वेषयेत्। अतः परमर्थदोषेषु किमप्युदाहरणमालोच्यतामर्हति–

'राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥'

अत्र प्रस्तुतस्यार्थस्य बीभत्सरसपरत्वेऽपि शब्दवशादपरः शृङ्गारपरोऽर्थः प्रतिभासते। प्रकरणञ्च ताडकावधरूपकम्, वीभत्सशृङ्गारयोरेकस्मिन् अधिकरणे विषामृतयोरिव स्थितिर्न सम्भवति। एतच्च सहृदयोद्वेजकतया सुतरां दोषावहमित्यालोचकानामाशयः।

अत्रेदं समाधानम्–श्लेषवशाद् द्वयोरर्थयोः पृथक्प्रतीतिः, श्लेषे हि एकप्रयत्नोच्चार्यतावशाद् भिन्ना अपि शब्दाः श्लिष्यन्ति। यदुक्तं तैरेव–

'अर्थभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा॥

उक्तञ्च–'अभिन्ना अपि शब्दा भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते' इति। एवं बीभत्सार्थप्रतिपादकाः शृङ्गारप्रतिपादकाश्च शब्दा भिन्नाः। अत्र हि निशाचरीजीवितेशरुधिरचन्दनाद्या उभयार्थाः शब्दाः। राममन्मथ इत्यत्राऽपि समासभेदादर्थभेद एव। राम एव मन्मथः, अभिरामो मन्मथश्चेति।

एवं पृथग् आवृत्त्या व्याख्यानादर्थभेदाच्च न विरुद्धरसयोरेकाधिकरण्यम्, शब्दस्यैव अधिकरणत्वात्। अत्र च किमपि लोकोत्तरं स्वप्रतिभाकौशलं दर्शयता महाकविना बुद्धिपूर्वमेव तादृशी रचना कृता इति तदीयप्रतिभावैशिष्ट्यात् चमत्कारजननाच्च न स्वल्पोऽपि दोषः, किन्तु गुण एव।

प्रसिद्धञ्च–

'प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीतिव्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः कवीनाम्।'

यच्च पर्यायप्रक्रमभङ्गस्योदाहरणं कुमारसम्भवाद् उदाहृतम्–

'महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा॥'

अत्र पुष्पसामान्यसत्तायां पुष्पविशेषादरदृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिकेऽपि अपत्यसामान्यसत्ताऽभिधानार्थमपत्यवत इत्येव वक्तुमुचितं भवति, न तु विशेषतः पुत्रवद् इति दृष्टान्तवैषम्यापत्त्या प्रक्रमभङ्गो नाम दोष इति। तत्र द्विधा समाधानं दीयते काव्यप्रकाशकारेणैव पद्यमुदाहृत्य 'अत्र सत्यपि पुत्रे कन्यारूपेऽपत्येऽपि स्नेहोऽभूद् इति केचित् समर्थयन्ते' इत्युक्तम्। तथाऽपि सामान्यविशेषभावयोर्वैषम्यं तदवस्थमेव, अतः प्रकारान्तरेण समाधेयम्–यथा पुत्रशब्दोऽप्यपत्यपर्यायः स्त्रीपुरुषोभयापत्यवाचकश्च। यथा विवृतं मल्लिनाथसूरिणा–'पुत्राश्च दुहितरश्च पुत्राः। 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' इत्येकशेषः। ते अस्य सन्तीति पुत्रवान्। भूमार्थे मतुप्। तस्य पुत्रवतोऽपि बह्वपत्यस्याऽपीत्यर्थः' इति। किञ्च सत्स्वति पुत्रेषु कन्यायामन्यस्मै दास्यमानायां भवत्येव पितुरधिकः स्नेह इत्यनुभवगोचरम्। तत्रापि सर्वगुणशालिन्यां लोकोत्तरसौन्दर्यसमेतायामुमायां हिमवतः स्नेहाधिक्यं सर्वथा समुचितमेव इत्येवमत्र दोषप्रसङ्गो व्यर्थ एव।

यच्च 'अस्थानस्थपदता' नाम दोषमुद्भावयन् दर्पणकार आह–

'तीर्थं तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः॥'

अत्र कुशो विग्रहवत्या अयोध्यादेवतया प्रार्थितः पुनरपि तां नगरीं स्वराजधानीं निर्मित्सुः कुशावत्याः प्रचलितो मध्येमार्गं गङ्गमुत्ततार इति प्रकरणम्।

अत्र 'तदीये' इति पदं गङ्गासम्बन्धितया योजयतो दर्पणकारस्य प्रमाद एव। तन्मते 'अत्र तदीयपदात्पूर्वं गङ्गामित्यस्य पाठो युक्तः' इति। पूर्वमभिहितस्यैव पश्चात् तदादिसर्वनाम्ना निर्देशो युज्यते, अत्र तु पूर्वमेव 'तदीये' इति सर्वनाम, पश्चाच्च 'गङ्गाम्' इति प्रयोगादन्वयाऽनुसन्धानवेलायामस्थानपदविन्यासाद् विसंष्ठुलत्वमनुभूयते' इति तस्याशयः।

सर्वमपीदं दर्पणकारस्य अविमृश्यकारित्वमेव, तथा हि – 'तीर्थे तदीये' इति पद्यात्पूर्वतने पद्ये–

'स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः।
व्यलङ्घयद् विन्ध्यमुपायनानि पश्यन् पुलिन्दैरुपपादितानि।।'

इति स्पष्टमेव विन्ध्यसम्बन्धो दृश्यते, तेन अग्रिमे पद्ये 'तदीये' इति पदं विन्ध्यस्यैव परामर्शकम्। तच्छब्दस्य पूर्वमरामर्शित्वमपि समीचीनमेव। तस्मात् 'तदीये वैन्ध्ये' अवतारे इति व्यचक्षाणो मल्लिनाथोऽपि साधुरेव। तस्मादत्र दोषोद्भावनं निरर्थकम्। मेधावी व्यक्तिविवेककारः प्राधान्येन शब्दगतानेन दोषान् मीमांसते, अर्थदोषाः पूर्वाचार्यैः प्राचुर्येण परामृष्टा इति तेषु न तस्य संरम्भः। स च विधेयामर्शः, प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरुक्त्यम्, वाच्यानभिधानञ्चेति पञ्चप्रकारान् दोषानुपदर्शयति। लक्षणञ्चैतेषां सामान्यमिदं प्रत्यतिष्ठिपत्–

'एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्' इति अन्तरङ्गबहिरङ्गभावश्चाऽनयोः साक्षात् पारम्पर्येण च रसभङ्गहेतुत्वादिष्टः। इति। तस्याऽपि विमर्शपद्धतिरालोच्यते किञ्चित्–

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि।।

इति शाकुन्तलीये पद्ये क्रमप्रक्रमभेदं नाम दोषं मन्यते महिमभट्टः। अत्र हि उद्देशक्रमेण प्रकान्तानां कुसुमशरशीतरश्मिप्रभृतीनामनुद्देशे वैपरीत्येन भणितिः। क्रमभङ्गवशाद् दोषमावहतीति। इदञ्च तद्ग्रन्थव्याख्याता रुय्यकः समाधत्ते—पाठक्रमापेक्षया चूलिकाक्रमस्य अर्थात् करकङ्कणधारणक्रमस्यैव रमणीयत्वमाभाति। अर्थात् सीमन्तिनीजनैः पूर्वपरिधृतानि कङ्कणानि पश्चात्तदवतार्यन्ते पश्चाद्धृतानि तु पूर्वमेवावतार्यन्ते। तथैवाऽत्रापि पूर्वनिर्दिष्टानां पदार्थानां पश्चान्निर्देशः शोभत इति। अयञ्च क्रमः पाणिनिसूत्रेष्वप्यस्तीति 'युष्मदस्मदोः पदस्य पदात्' इत्यादि सूत्रं स्मरति।

वयन्तु प्रकारान्तरेणैव परिहरामः, पूर्वकामचन्द्रौ उद्दिश्य पुनः 'द्वय'मिति वदता समुच्चयः कृतः। वाक्ययोजना च समाप्यते। पुनः 'विसृजति हिमगर्भै'रिति वाक्यभेदेन स्वोक्तिः समाप्यत इति। वाक्यावाक्यार्थप्रतिबन्धकत्वाभावान्नास्त्येव कश्चन दोषः। किञ्च विरहोद्विग्नमनसो नायकस्य वाक्ये कश्चिद् व्युत्क्रमो भवन्नपि न बाधकः।

एवमेव पार्वतीसौन्दर्यपरिचायके महाकवेः पद्ये पौनरुक्त्यं नाम दोषं सम्भावत्ययम्। यथा—

'दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
पुपोष लावण्यमयान् विशेषान् ज्योत्स्नान्तराणीव फलान्तराणि।'

अत्र एकेन 'इव'शब्देन औपम्यनिर्वाहे सम्भवति 'ज्योत्स्नान्तराणीव' इत्यत्र द्वितीय इवशब्दोपादानं पिष्टमेव पिनष्टि। अत्राऽपि काऽपि समाधानरीतिर्द्रष्टव्या। इयमुपमा तावद्वाक्यव्यापिनी, तत्रैको धर्मोऽभिन्नः पूर्वार्धे अपरो धर्मश्च भिन्नः उत्तरार्धे, एवञ्च वस्तुप्रतिवस्तुभावबिम्बभावाभ्यां धर्मोपादानाद् वाक्यव्यापिनी उपमा पर्यवस्यति।

अन्तर्गर्भितमुपमानवाक्यं परिकल्प्य उपमेयवाक्यं योज्यते—

'यथा चान्द्रमसी कला, ज्योत्स्नान्तराणि कलान्तराणि पुष्णाति तथा दिने- दिने परिवर्धमाना सा लावण्यमयान् विशेषान् पुपोष' इति स्फुटतरप्रतिपत्तये द्वितीयोऽपि इवशब्दो नापकर्षं जनयति, किन्तु रामणीयकमेवाधत्ते। यदुक्तमाचार्यदण्डिना—

'वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते।
एका नैकेवशब्दत्वात् सा तु वाक्योपमा द्विधा॥''

किञ्च अन्यदपि रमणीयं महाकवेः पद्यं बुद्धिनिकषमारोपयता तेन दोषः प्रदर्श्यते। तथा हि–

'निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः॥'

अजस्य विवाहार्थं प्रस्थाने प्राक्तनप्रभातस्य वर्णनमिदम्। अत्र व्यक्तिविवेककारस्य तर्कः–'अत्र हि लक्ष्म्या अबला निशि खण्डितेवेति यदुपमानमुक्तं तत् पुनरुक्तम्, तस्याप्रस्तुतवृत्तान्ताभिधानसामर्थ्यादेव अनन्तरोक्तनयेन तदर्थावगतेः' इति।

तस्यायमाशयः–समासोक्तिविधया प्रस्तुतव्यवहारप्रतीतेरेव खण्डितावृत्तान्ताव- गमात् नाऽत्र मध्ये 'उपमा' प्रयोज्या इति। समासोक्तौ गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपेणैव काव्यचमत्कारे वाच्यभूतया उपमया तदुद्घाटनं सौन्दर्यं प्रतिबध्नातीति तस्याशयः। अत्र सूक्ष्मेक्षिकया स्थितिर्विचारणीया – अत्र लक्ष्म्याः पत्युरन्यासङ्गवशात् परिम्लानाशयायाः खण्डितायाः साम्यं प्रतिपिपादयिषितम्, परं यावत् खडिताभावस्य हेतुः स्फुटो न भवेत्, तावद् व्यवहारप्रतीतिरपि न जायते' तत्र च 'निद्रावशेन' पदमेव खण्डितात्वसाधकं परं प्रसिद्धिवशेन स्वापमेव सूचयति परनायिकां तु विलम्बेन। एवञ्च व्यङ्ग्यप्रतीतौ मान्द्यनिराकरणाय महाकविः 'पर्युत्सुकत्वमबला निशिखण्डितेव' इति बुद्धिपूर्वं निवेशयति।

व्यङ्ग्यं तावत् कामिनीकुचकलशन्यायेन गूढागूढं चमत्कुरुते इति साहित्यविदां सरणिः। महाकविश्च तामेव नैपुणीमत्र निवेशयामास।

इतः परमलङ्कारदोषप्रसङ्गोपात्तं महाकवेः पद्यं समीक्ष्यते। यथा–

'दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव।'

अत्र दिवाकरस्य भयात् पलायमानं शरणागतमन्धकारं गुहासु हिमालयो रक्षतीति केवलमुत्प्रेक्षित एवाऽर्थो निबद्धः, स च पुनः 'क्षुद्रेऽपि नूनम्' इत्याद्यर्थान्तरन्यासविधया समर्थितश्चेति तादृशस्य गगनकुसुमायमानस्याऽर्थस्य समर्थमलङ्कारगतामनौचितीमाचामति। अत्र दोषमुत्पश्यतामेतावानेव अभिप्रायो यद् उत्प्रेक्षितार्थनिबन्धनमात्रं न बाधकम्ः, किन्तु तादृशस्य निरूपाख्यप्रख्यस्य समर्थनमपि किमप्यधिकमलीकप्रायत्वान्न विमर्शकेभ्य इति।

परन्तु कवयः प्रकृतिवर्णनादौ सर्वत्र चेतनवृत्तान्तसमाधिनैव चेतनवृत्तान्तमुपवर्णयन्तीति महाकाव्येषु स्फुटतरम्। तस्याऽपि परम्पराया रसाभिव्यञ्जकताऽपि स्वीकृता प्राचीनैः। यथा ध्वनिकारो द्वितीयोद्योते निर्दिशति—यदि तु चेतनानां वाक्यार्थो भावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते, तर्हि उपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात्। यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवृत्तान्तयोजनया यथाकथञ्चिद् भवितव्यम् इति। अत उदारपुरुषवृत्तान्तगर्भिते पूर्वतने पद्ये नास्ति कश्चिदलङ्कारदोषप्रसङ्गः।

तत्र तत्रैव कुमारसम्भवे महाकविना हिमवतश्चेतनमचेतनञ्च रूपं प्रसङ्गानुसारमाविष्कृतमेव।

सम्प्रति किमपि बहुविवादास्पदं महाकवेः अवदानमालोचयितुमुपक्रम्यते। रसदोषेषु 'प्रकृतीनां विपर्ययः' इति वदद्भिः कश्चन प्रकृतिविपर्ययनामा दोषो रसप्रतिबन्धकतया गणितः। यश्चाधुनातनैश्चरित्रचित्रणपदेनाभिधीयते।

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीररौद्रशृङ्गारशान्तरसप्रधाना धीरोद्धतादिप्रभेदभिन्नाः, उत्तममध्यमाधमादिरूपाश्च, तत्र रतिहासशोकाद्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवद् दिव्येष्वपि, किन्तु रतिः सम्भोगशृङ्गाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया। तद्वर्णनं हि पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितं यथा कुमारसम्भवे अष्टमसर्गे पार्वतीपरमेश्वरयोः सम्भोगवर्णनम्।

अत्र विचार्यते—पार्वतीपरमेश्वरयोः सर्वोऽपि वृत्तान्तो न साधारणः; किन्तु लोकोत्तर एव। कविना पूर्वकथायां बीजरूपेण सूचितमपि 'अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः' इत्येवं वदता। यस्य प्रेम्णः परिणामो महेश्वरवामाङ्गभावावाप्तिः प्रेमाश्रयश्च भगवाननादिनिधनो जगद्गुरुमहेश्वरश्च, तदलौकिकमेव वृत्तमिति। किञ्च प्रथमं भगवता दग्धः कामो मलिनो जगद्वासनारूपो न पुनर्वास्तविकः सकलजगत्सर्गमूलभूतः सङ्कल्पः। तस्याऽऽत्यन्तिकसमुच्छेदे सर्वस्यापि विश्वस्य विलोपापत्तिः।

अपि च शिवेन दग्धः कामो जगन्मातरं महता तपसा समाराध्य तदपाङ्गात् पुनरपि दिव्यं वपुर्लब्ध्वा सर्वं विश्वं वशयितुं समर्थ आसीन्न केवलं महेश्वरमेव। अत्र च ब्रह्माण्डपुराणीया कथा स्मर्तव्या। नाऽयमर्थवादः किन्तु वास्तविकी स्थितिः। भगवत्याः सहस्रनामसु पठ्यये—'हरनेत्राग्नि-संदग्धकामसञ्जीवनौषधिः' इति। एतद्व्याख्यायां विवृतं श्रीभास्कररायचरणैः—'विरक्ततरस्यापि कामेश्वरस्य स्वाभिमुखीकरणाय भण्डासुरहननोत्तरं ब्रह्मादिभिः प्रार्थितया ललिताम्बया पुनर्मन्मथो जीवित इति ब्रह्माण्डपुराणे' इति। शङ्करभवत्पादैरपि सौन्दर्यलहर्याम्—

'तथाप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते कामपि कृपा-
मपाङ्गात्ते लब्ध्वा जगदिदमनङ्गो विजयते॥'

इत्येवं सूचितम्। एवं शुद्धकामस्य सञ्जीवनानन्तरं विवाहविधिना शैलसुतामङ्गीकृत्य भगवान् तेषु तेषु रमणीयदिव्यप्रदेशेषु विजहार तत्राऽपि अष्टसर्गस्य प्रथमं पद्यं विशेषतो विवरणमपेक्षते। तथा हि—

'एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः।
शैलराजसदने सहोमया मासमात्रमवसद्वृषध्वजः॥'

पूर्वनिगृहीतस्य कामस्य पुनरनुग्रहः कर्तव्य एवेति इन्द्रियसुखं द्वारीकृत्य वृषध्वजो वध्वा सह विजहार, न तु वासनालौल्यादिति कवेरभिप्रायः।

अन्यच्च—भूयोभूयः पुरस्तनेषु पद्येषु तादृशानि नामानि कविः प्रयुङ्क्ते, यथा तस्य मूलभूता प्रकृतिर्न विस्मृता भवेत्, यथा—

'एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः।'
'ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितं मन्त्रपूर्वमनुस्थितवान् विधिम्'।

एवं जगद्गुरुप्रभृतिभिः पदैर्नायं साधारणः प्राकृतः पुरुषः; किन्तु लीलामात्रोपात्तकायः सर्वथा मायः परमेश्वर एवेति सूच्यते। तेन च प्रकृतिविपर्ययाभावान्न कोऽपि रसापकर्षजनको दोषः पदमाधातुं क्षमते। इति।

एवं दिङ्मात्रेण कविकुलगुरो रचनासु दोषाभासनिरासप्रकारोऽयं किञ्चदुपस्थापितः। अनया रीत्या किमप्यालोचनीयमिति विदुषां विचारानुत्तरङ्गयितुं प्रयासोऽयं न पुनः स्ववैदुष्यप्रदर्शनायेति निवेदयामि।

महाकवेः कृतिषु सन्ति बहूनि तथाविधानि स्थलानि यत्र नानाशास्त्रदृष्ट्या बहुधा विचाराणामवसरो जागर्ति। तदीयं समुद्रवर्णनपद्यमेव तद्विषये समुदाहृत्य विरम्यते विस्तरात्–

'तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा।'

महिमभटट्स्योक्तिमेकामिह स्मरामि–

अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं ब्रुवाणो
ननूं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम्।
हासैककारणगवेषणया नवार्थ-
तत्त्वावमर्शपरितोषसमीहया वा।। इति।

◆

कालिदासपद्यव्याख्या

न मृगयाऽभिरतिर्न दुरोदरं . .

कविकुलतिलकस्य वश्यवाचः कालिदासस्य सुधानिस्यन्दिन्यः सूक्तयः सहजा अपि सारगर्भाः शास्त्रीयमालङ्कारिकञ्चार्थचमत्कारं चतुरस्रतया समुद्भावयितुं प्रभवन्तीति समीक्षकाणां सिद्धान्तः। उक्तंञ्च प्राचीनैः –'सर्वतोदिक्काहि कविवाचः'। शास्त्रान्तरेष्विव साहित्येऽपि पूर्वोत्तरपक्षलक्षणं समीक्षणं सम्भवतीति नहि श्लोकपाठमात्रेण कृतार्थता कोविदानाम्। अनया सरण्या रघुवंशस्य नवमसर्गीयं पद्यमेकं परामृश्यते। तच्च यथा–

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिभाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥

अजस्याऽनन्तरं राजसिंहासनमधिरूढो दशरथः कुलागतसंस्कारपरिशुद्धवृत्तितया साधारणनृपसुलभैर्व्यसनैरनभिभूततया स्वकुलोचितमेवाध्वानमनुययावित्यभिप्रायेण कविरेनं श्लोकमाबबन्ध–'न मृगयाभिरतिः' इत्यादि। राज्ञां कामोपहतचेतसां चतुष्टयमिदं पतनाय भवतीति मनुनाऽपि निर्दिष्टमेव, यथा–

पानमक्षाः स्त्रियश्चेति मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे॥ इति

तदेव प्रकारान्तरेण निबद्ध्यते–न मृगयाभिरतिः, न तावदाखेटव्यसनिता अभिरतिः अत्यन्तासक्तिः तमपाहरत् इत्यग्रेण इत्यग्रेण सम्बन्धः। मृगयासक्ता शरव्यस्याऽनुपलब्धौ रात्रिन्दिवं वनेष्वटाट्यां कुर्वाणाः स्वशरीरमपि विस्मरन्ति, सति च क्वचिद्विपर्यासे हिंस्राणां व्याघ्रादीनां कवलसामपि प्रयान्तीत्यनर्थ–

भूमिरेवैषा। द्वितीयं दुरोदरं द्यूतशब्दवाच्यं व्यसनमपि यावत्सर्वधनक्षयं भोक्तुमशक्यम्। किं बहुना, पाण्डवा एव प्रमाणम्। अत एव दुष्टम् आसमन्तादुदरमन्तःप्रवेशो यस्य तादृशम्। यदन्तःप्रवेशे सकलमपि धनजातं विहाय निःस्व एव पुरुषो बहिरायातीति प्रसिद्धिः। तदपि यन्नाऽपाहरत्।

न च शशिप्रतिभाभरणं चन्द्रबिम्बाऽलङ्कृतं मधु मैरेयं यन्नाऽपाहरत्। शशिनश्चन्द्रस्य प्रतिबिम्बमेवाऽऽभरणं यस्येति चन्द्रिकाविहारः सूच्यते। न वा इति पुनः समुच्चयार्थे। नवयौवनाऽभिनवतारुण्यस्पृहणीया प्रियतमा प्रेयसी च तन्नाऽपाहरत्। एभिश्चतुर्भिरपि व्यसनैरनभिभूतया तस्य धीरोदात्तत्वं कुलीनत्वं च परिपोष्यते। यथोक्तमाचार्यैः–

आवकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥

'महासत्त्वः' इत्युक्त्या हर्षशोकाद्यनभिभूतत्वम्, 'दृढव्रतः' इत्यनेन कुलपरम्परानिर्वाहकत्वञ्च प्रतीतये। तादृश एवायं रघूत्तमो दशरथ इति कवेराशयः। अत्र सत्स्वपि विकारहेतुषु नायं तद्वश्यतां गत इति कविना सूचितम्। एवमन्यत्रापि।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

इत्यादिना कविना तावता धीरत्वमाख्यातम्। अथाऽमुष्मिन् पद्ये गुणालङ्काररस-भावादिविचारः कश्चित्कर्तव्यः। तत्र चमत्कृतिप्रवेशे प्रथमं द्वारभूतः शब्दसन्नाहः, स तावद्विचारणीयः। अत्र 'त'कार-'र'कार-'म'कार-'अ'कार'-'र'काराणां पूर्वार्धे, 'य'कार-'न'कार-'त'कार-'म'कारादीनां वर्णानाम् उत्तरार्धे श्रुतिरमणीयः सन्निवेशो वृत्त्यनुप्रासमुपजनयति, अर्थवैमत्यात्मा प्रसादो लघूनां र-ण-म-ध-प्रभृतीनां सन्निवेशान्माधुर्यञ्च गुणः। गुणालङ्कारयोः सहभावे न दोषः, अलङ्कारा बाह्यसौन्दर्यसाराः शब्दमात्रं भूषयन्ति, गुणास्तु तदर्थसंस्पर्शशालितया कविनिष्ठं नायकविषयं भावमप्यवगाहन्त इति विशेषः। काव्ये शब्दस्यैव प्रथमोपस्थित्या शब्दनिष्ठकाव्यवादिनोऽपि मतं न विरुद्ध्यते।

किं वा वनितया राजन् किं वा कवितया तया।
पदविन्यासमात्रेण यया नापहृतं मनः॥

इत्यस्ति सहृदयख्यातिः। एवञ्च प्रथमकक्षायां शब्दपरामर्शं विधाय अर्थविचारः कर्तव्यः। अत्र अपहरणकारणेषु त्रिष्वपि सत्सु नैकमपि तं राजानमपहर्तुं प्राभवत्। इति कारणेषु सत्स्वपि कार्याऽनुदयाद् विशेषोक्तिरलङ्कारः। मृगयाभिरतिप्रभृतिषु कारणेषु विद्यमानेष्वपि अपहरणक्रियाया अभावात्। इयञ्च विशेषोक्तिस्त्रिविधा–उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता, अचिन्मया चेति श्रूयते। कारणसमवाये संघटिते कार्योत्पत्तिस्तु नियतमुपपद्यते, परं यदि किञ्चित्प्रतिबन्धकं न स्यात्। यथा नेयायिकैर्मणिप्रयासयोगादग्निप्रादुर्भावेऽपि तत्र प्रतिबन्धकमणिविशेषयोजनेनाऽग्निः सम्भवतीत्युच्यते। एवमेव कार्योदय-प्रतिबन्धकं निमित्तमत्र धीरोदात्तस्वभावत्वमुपकल्पनीयम्।

एवमुक्तनिमित्तेयं विशेषोक्तिः। तया च नायकस्य व्यसनाऽनभिभूतत्वरूपं वस्तु व्यज्यत इत्यर्थशक्तिकूलो अलङ्काराद् वस्तुध्वनिः। शशिप्रतिमाया मधुनि आभरणत्वकल्पनाद् रूपकम्। तत्रापि मधुशशिप्रतिबिम्बयोः शृङ्गाराङ्गतया परस्परोपकारादन्योन्यालङ्कारो व्यज्यते। नवयौवनेति प्रियतमाविशेषणात् 'अनाघ्रातं पुष्प'मित्यादिवद् अनुच्छिष्टयौवनसूचनाय प्रकृतार्थोपस्कारकतया परिकरालङ्कारः प्रतिपाद्यते। 'अपाहरत्' इति क्रियापदस्य प्रतिवाक्यमावर्तमाणक्रियया दीपकालङ्कारोऽपि। किञ्च 'न अपाहरत्' इत्यपहरणाऽभावरूपकार्यं प्रति मृगयारत्याद्यभावानां पृथक् पृथग् हेतुतया पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमपि सम्भवति। तच्च वैधर्म्येणोपनिबद्धम्।

यद्यपि नायकस्वभावस्य वस्तुसिद्धत्वान्न कविकल्पनामात्रगोचरत्वं ततश्च कविप्रतिभाजन्यत्वाऽभावात्कथमलङ्काराणां सिद्धिः? कविप्रतिभाकल्पिता एवाऽलङ्कारा इति प्राचामाग्रह इति चेत्, उच्यते–वस्तुसिद्धत्वे सत्यपि कविप्रौढिस्तत्र व्याप्रियत एव, तां विना चमत्काराऽयोगात्। किञ्च तथाविधाग्रहे स्वभावोक्तेरलङ्कारानाविर्भावोऽपि न स्यात्।

स्वभावस्य सिद्धत्वेऽपि कविविन्यासविशेषस्यैव तत्राऽलङ्कारस्वरूपा-पादकत्वात्। अत एव–

शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढिवशेन वा।
हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः॥

इति प्राचां लक्षणं सङ्गच्छते।

किञ्च 'शशिप्रतिभरणं मधु', 'नवयौवना प्रियतमा' चेति द्वाभ्यां शृङ्गारोद्दीपनालम्बनाभ्यामाक्षिप्यणो रसो निषेध्यतया स्मृतोऽपि प्रकृतार्थमुपस्करोत्येव। स्मृतिमात्रोपस्थितस्याऽपि रसस्य प्रकृतवाक्यार्थसुन्दरीकरणे सामर्थ्यमनुभूयत इति रसवदलङ्कारोऽपि मन्तव्य एव।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥

इत्याचार्या अपि समर्थयन्ति। इत्येषामलङ्काराणां पृथक्-पृथक् चमत्कारानुभवेऽपि सुवर्णचषकनिहितानां रत्नानामिव एकवाचकाऽनुप्रवेशरूपः सङ्करः संवेद्यः।

कवेस्तात्पर्यविषयस्तु नायकचरितोत्कर्षः, पर्यन्ते तत्रैव सर्वासां वाग्भङ्गीनां पर्यवसानात्। एतेन 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' इत्युपक्रमस्य फलमूलतया तद्गुणोत्कर्षे वीररसे पर्यवस्यति। रघुषु चतुर्विधा युद्ध-धर्म-दान-वीरात्मिका प्रकृतिः साफल्यं भजत इति कवेराशयश्चरमार्थगोचरतामुपयातीति महाकविवाचः कामधेनुत्वमनया दिशा सुधीभिरुन्नेयम्।

■

कालिदासस्य सारस्वतमवदानम्

छन्द:पादाभिरामां घनजघनलसत्तर्कविद्याप्रसारां
पार्श्वोद्यत्सांख्ययोगां हृदयसरसिजोद्भासितब्रह्मतत्त्वाम्।
वक्षोजव्याप्तवेदां पदमयवदनामागमोद्भासिभालां
काव्यालङ्कारहास्यां भजत भगवतीं भारतीं भारतीयाम्॥
अमन्दानन्दसन्दोहमकरन्दकरम्बिता।
कालिदासकवीन्द्रस्य जीव्याद्वचनमञ्जरी॥

महाकवे: कालिदासस्य वाङ्मयीं सृष्टिमधिकृत्य अद्ययावत् सहस्रश: सुधीधौरेयैर्विचारपरम्परा: पर्यवस्थापिता: सन्ति, भूयोभूयश्च विचारयिष्यन्ते तदीयान्यवदानानि।

स चिरप्राचीनोऽपि चिरनूतन एव कवे: सारस्वतो विस्तार: – 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:' इत्युक्तिस्तद्विषये सर्वथा सङ्गच्छते, तथापि यथामति यथादृष्टि महाकवे: किञ्चन वैशिष्ट्यमुन्मीलयितुं प्रयासो विधीयते।

इह हि नानाशाखाप्रशाखाशतैर्मण्डलितोऽयं वेदमूलो विद्याकल्पतरुरपरिच्छेद्यात् कालाद् भरतवसुधामण्डलमलङ्कुर्वाणो नानाविधानि पुरुषार्थफलानि जनयन्ननुगृह्णाति मानवसमाजम्।

सत्स्वपि षट्सु वेदाङ्गेषु सप्तममलङ्काररूपमङ्गं विना न तस्य वेदस्य यथार्थोपलब्धि: सम्भवतीति 'उपकारकत्वादलङ्कार: सप्तममङ्गम्', 'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्' इत्याद्युक्तिभि: राजशेखरप्रभृतय आचार्या: सिद्धान्तयन्ति।

इदन्तु दिङ्मात्रमभिहितं तै:। वस्तुतो विचार्यमाणे सर्वशास्त्राणां सीमाप्रवेशस्तद्रहस्यावगमश्च काव्याध्ययनं विना सुदुष्कर एवेति प्राचां

परिपाटी। यन्मूलश्च कालिदासादिकाव्यानामध्ययने प्रथमादरः प्राचामासीत्। न हि काव्याध्ययनमन्तरा पुरुषः सामाजिको भवितुमर्हति। केनापि परिहासगर्भमिदमुदाहारि–

साहित्यविद्याहीनानां सर्वशास्त्रविदामपि।
समाजं परिपश्यन्ति समजं बुद्धिशालिनः।।

समाजो बुद्धिमतां समूहः, समजस्तु पशूनां व्यूहः। फणिफणानिषण्णं रत्नमिव शास्त्रं दुरासदमिवाऽऽभाति तदेव कोमलकरतलोपनीतं कौतुकं प्रमोदञ्च जनयति–

शास्त्रेषु दुर्ग्रहोऽप्यर्थः स्वदते कविसूक्तिषु।
दृश्यं करगतं रत्नं दारुणं फणिमूर्धनि।।

काव्यसंसारनिर्माणे स्वतन्त्रः कविरेव प्रजापतिः, स च यथेच्छं सन्दर्भमुद्भाव्य निबध्नाति नानाविधान् प्रबन्धान्। सृष्टिस्तावद् द्विविधा नामरूपात्मिका। तत्र प्रथमा कवेरायत्ता, द्वितीया च प्रसिद्धस्य प्रजापतेः, यदुक्तं प्राचीनैः–

नामरूपात्मकं विश्वं दृश्यते यदिदं द्विधा।
तत्राऽऽद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः।।

इत्थञ्च काव्यमयसर्गस्य विधाता कविर्यः खलु नूतनमिव जगच्चित्रमालिखति, विविधभवाप्रवणानि पात्राण्युपरञ्जयति, प्रसन्नमधुरपदकदम्बकैरन्तरङ्गमार्द्रीकरोति, पर्यन्ते च परमानन्दसन्दोहसुन्दरे रससिन्धौ निमज्जति सज्जनान्। तथाविधेष्वपि कविवृन्दारकेषु वन्दनीयपादारविन्दो लोके परमोत्कृष्टवाङ्मयसृष्टेर्निर्माणधुरीणो महाकविः कालिदास एवेति चिरन्तना भणितिरियमनुमन्यते–

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव।।

'व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां

न वाच्यवाचकरचनामात्रेण', 'अतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयः' इत्यभिदधता ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्येण आनन्दवर्धनेनाऽपि समुत्तुङ्गं पदं व्यवस्थापितमेव महाकवीनाम्।

अयं सरस्वतीपुत्रः कदा कुत्र वा पुराऽऽविरासीत्, कश्च देशः कालो वा तस्येति विषये बहुतरं पराक्रान्तमितिहासकोविदैः, परमद्यावधि तन्निर्णयो न जातः। भवतु नाम किमनया काकदन्तपरीक्षया। सर्वथा भरतभूमण्डलालङ्कारोऽयं महाकविः प्रथमविक्रमादित्यस्य समकालिक इत्यत्र भारतीयानामैकमत्यं श्रूयत। महाकविरयं सर्वेषामपि भारतीयशास्त्राणां कलानाञ्च पारदृश्वा, सामाजिकव्यवस्थायाश्चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यस्य पुरस्कर्ता, विशुद्धाया भारतीयराजनीतेश्च समुन्नायकः, रसभावमधुरस्वान्तः, कान्तगुणगणाधिवासः, सरस्वतीसदनायमानवदनश्च व्यद्योतिष्ट। तदीयरचनाविचारावसरे प्रतिपदं पद्यकदम्बकमहमहमिकया पुरतः समुपतिष्ठते, परं सम्प्रति भाषणकालावधिमक्षिलक्ष्यीकृत्य संयम्य च विस्तारं कांश्चिदेव विचारबिन्दून् पुरतः समुपहर्तुं सन्नद्धोऽस्मि।

स्थालीपुलाकन्यायेन प्रथमं परामृश्यन्ते कानिचन रघुवंशमहाकाव्यस्थलानि। इदं हि काव्यं भारतीयजीवनपरम्पराया आदर्शभूतं मानवचरित्रं विशुद्धां राजनीतिञ्च प्रतिष्ठापयितुं बद्धपरिकरमिवाऽऽभाति।

सन्तानहेतोर्गुरोराज्ञया कामधेनोर्नन्दिनीं नन्दिनीमुपसेवमानो दिलीपः कविना निरूप्यते–

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे॥

अत्र कविना पवनस्य शैत्य-सौगन्ध्य-मान्द्यरूपास्त्रयोऽपि गुणास्तुषारसम्पर्कात् पुष्पगन्धवत्तया, मन्दमन्दकम्पेन च निरूपिताः। व्रतस्थतया परित्यक्तस्तपसो नृपतिः, स च गुरुभक्तिसदाचारपूतः प्रसिद्ध एव। अत एव जडोऽपि पवनस्तं सेवते। 'आचारपूतं पवनः सिषेवे' इत्यत्र आचारपूतत्वादेव

हेतोः पवनस्य सेवाकारित्वमिति हेतुहेतुमद्भावेन प्रदर्शितं कविना स्वमतम्। तथा हि 'आचारः प्रथमो धर्मः' इति प्राथमिकी मर्यादा शास्त्राणाम्।

अत्र पद्ये पवने मधुरस्वभावस्य स्वामिभक्तस्य सेवकस्य व्यवहारोऽप्यनायासेन सहजतया प्रतीयते, न पुनर्बलादलङ्कारारोपः। एतत्प्रत्युदाहरणतया किञ्चिदिव तुलनीयं नैषधीयं पद्यम्, यथा–

लताऽबलालास्यकलागुरुरमस्प्रसूनोकरपश्यतोहरः।
असेवताऽमुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः॥

अत्र नैषधकारेण सारोपमलङ्कारान्निवेशयताऽपि न कालिदासवत्सहजतया भावोन्मेषः कर्तुं पारितः।

महाकवेरस्य रचनासु उपजीव्यं वस्तुतत्त्वमभिनवं दृश्यते। प्रसिद्धञ्चालङ्कारिकेषु यदर्थो द्विविधः–अयोनिः, अन्यच्छायायोनिश्च। तत्र अयोनिः कविप्रतिभामात्रप्रसूतः, इतरस्तु परेषां कवीनामर्थस्याऽनुकरणरूपः। तत्र प्रथमामेव कोटिमाश्रयते कालिदासस्य कल्पना, प्रसिद्धञ्च तदीयं पद्यम्–

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

स्वयंवरावसरे इन्दुमत्याम् एकैकं राजानं विहाय पुरः प्रवृत्तायां राज्ञां विषादवर्णनमेतत्। निशासु राजमार्गे प्रवृत्ता दीपशिखा पुरोवर्तिनं भवनाग्रभागं प्रकाशयति, पश्चादवस्थितं तु तमसा युनक्ति इति निसर्गसिद्धमपि वर्णनं प्रस्तुते वस्तुनि प्रहर्षविषादयोरभिव्यञ्जनामतिचातुर्येण प्रस्तौतीति ध्येयम्।

अनयैव कल्पनया 'दीपशिखा कालिदास' इति प्रसिद्धिरजनि। अपरञ्च निभाल्यतां नूतनार्थसमर्पकं पद्मम्–

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते॥

रावणं विजित्य लङ्कातः स्वराजधानीं प्रस्थिते भगवति रघुनन्दने पुष्पकविमानस्थिता सीता कुतूहलवशा गवाक्षमार्गेण सह व्रजन्तं सजलं जलधरं पस्पर्श। जलधरोऽपि विद्युन्मयं कङ्कणं निर्माय तस्याः करे परिधापयतीव इत्युत्प्रेक्षते कविः।

अत्र 'चण्डि' इति सम्बोधनमपि साभिप्रायम्। यथ कश्चिन्नायको मानिनीं प्रणयिनीमनुनेतुमलङ्कारमुपहरति तथाऽयमाचेष्टते जलधर इति कवेराशयः। अयमप्यर्थो सर्वथा नूतनः कविप्रतिभामुपदर्शयत्येव।

रघुवंशे बहुवक्तव्यत्वेऽपि पद्यमेकं राजनीतिविषयकमुपस्थाप्यते येन भारतीयराजनीतेः सूत्राणि भविष्यदर्थदर्शी कविरुपदर्शयतीव–

अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम्।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां सुमधुरं मधुरञ्चितविक्रमम्॥

दशरथे राज्यसिंहासनारूढं यथावसरमागच्छतो वसन्तस्य वर्णनव्याजेन काञ्चन सौराज्यधोरणीं कविर्निबध्नाति।

ऋतुस्तावत्सर्वदेशेषु द्वीपेषु न विभिन्नेषु कालेषु किञ्चिदन्यथा परिभ्रमतीति भूगोलविदो जानन्त्येव। केनाऽपि सम्राजा प्रेष्यमाणो राजदूतोऽपि परस्परसम्बन्ध- स्थापनाय विभिन्नेषु द्वीपेषु भ्रमतीति दूतसाधर्म्यं वसन्तस्य। अत एव 'समाववृते' इति पदं पुनः पुनरागमनसूचकम्। अत्र पद्यस्योत्तरार्धे 'यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणा'- मिति दिगीशानां नामग्रहणे कश्चिद् व्युत्क्रम इव आभासते। इन्द्रपुरस्सरमेव वर्णनं प्रायेण समुचितम्। तथाप्यत्र कवेरन्यथा कश्चिदभिप्रायः।

यमस्तावद् दण्डधरः, दण्डः प्रथमो राज्यस्थैर्यहेतुः, अतस्तत्कीर्तनं तदनु अर्थव्यवस्थासूचनाय कुबेरग्रहणम्। यतोऽसौ धनाधिपः। एवञ्च राज्यस्य मूलभूतं पदार्थद्वयं सूचितम्। 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजःकोषदण्डजम्' इति स्मरणात्।

तदनु जलेश्वरो वरुणः पाशायुधो नियमानुपलक्षयति, शासने नियम-विधीनामनुसरणमावश्यकम्। एवं त्रिषु वस्तुषु स्थिरीभूतेष्वेव इन्द्रस्य

'इदि-परमैश्वर्ये' तत्पर्यायभूतस्य राज्ञो वा ऐश्वर्यं स्थिरीभवतीति तेनैव क्रमेण विन्यासः कृतः कविना। तेषां समानधूर्धरं पूर्वगुणवत्तया अञ्चितविक्रमं प्रसिद्धपराक्रमम् एकनराधिपतिप्रतिष्ठितं नृपमनुरञ्जयितुं द्वीपान्तरीयो दूतः कुसुमोपायनपाणिः समागच्छतीति सुतरां स्वाभाविकमेतत्।

किञ्चाऽत्र चतुर्णां दिक्पालानां समतया धूर्वहत्वमुपदिशता कविना सूच्यते–

केन्द्रे सम्राट् केन्द्रशासनं वा तिष्ठतु, भारतवर्षस्य चत्वार एव प्रदेशाः कल्पनीयाः, प्रदेशकेन्द्रयोर्विनिमयः समानः प्रवर्तताम्। एवं कृते सौराज्यं प्रवर्तेत। भूमण्डलीयाः सर्वे देशा अपि सौहार्दसम्बन्धं भजेरन्। इति परस्परविनिमयविषये कविनाऽन्यत्रापि सूचितमेव–

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्॥

एवं परस्परोपकारकतया केन्द्र-प्रदेशयोः समाने सम्बन्धे राष्ट्रबलमुपचीयत इति कवेरभिप्रायः।

कुमारसम्भवं नाम महाकाव्यं कवेः परमोपास्ययोः पार्वतीपरमेश्वरयोः कथासन्दर्भमुद्दिश्य प्रवर्तते। प्रथमत एव भारतवर्षस्य रक्षकं देवतात्मानं हिमालयं वर्णयता देशस्य गौरवमत्र प्रदर्शितम्। सम्यक्प्रयोगात्सफलीभूतायां नीतौ उत्साहगुणेन यथा सम्पत् समुत्पाद्यते, तथा विवेकशालिन्यां मेनायां भव्यगुणवती पार्वती समुदपादि इत्युपमानकल्पनया सुपरीक्षिता भारतीया पवित्रा राजनीतिरासीदिति कविर्वक्तुमिच्छति–

सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या।
सम्यक् प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत्॥

पार्वत्याः प्रथमस्य सौन्दर्योन्मेषस्य वर्णनमतीवमनोरमं विशिष्टेन क्रमेण च निरूपितं कविना यथा–

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवाऽरविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥

चित्रकारः प्रथमं चिकीर्षितमाकारं रेखाभिर्लाञ्छयति तदनु नानावर्णाभिः कूर्चिकाभिस्ता एव रेखा उन्मीलयति, तदा आकारो बहिराविर्भूत इव भासते। नानादलोपेतम् अरविन्दमपि सति भानोः किरणस्पर्शे शनैः शनैः दलानि विकासयतीति तस्य क्रमः, एवं नवयौवनं तत्तदवयवानां विभागान् उन्मीलयतीति सौन्दर्योन्मेषस्य कमनीयः क्रमः कविना प्रकाशितः। एवंविधः सौन्दर्योन्मेषवर्णनप्रकारो नान्यस्य कस्यापि कवेरवलोक्यते।

नहि सौन्दर्यमात्रेण शिवो वशीकर्तुं शक्यः। मदनोऽपि तदीयनयनज्वालया भस्मीभावमवाप। स च भगवान् योगीश्वरस्तपसैव जेतव्यः लोकोत्तरस्तादृशो वा लाभो लोकोत्तरेणैव उपायेन लभ्य इत्याशयेन पार्वत्या तपश्चरणमेव प्रारब्धम्–

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

प्रसिद्धिश्च वर्तते 'तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' इति। यस्य परिणाम एव उमायाः शरीरार्द्धे स्थितिलाभः। तपस्यन्त्याः पार्वत्या ग्रीष्मापगमे प्रथमवृष्टिसिक्तस्य वपुषो वर्णनमतीवमनोहरं गूढार्थप्रतिपादकञ्च, यथा–

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥

अस्मिन् पद्ये कविः पार्वत्या अवयवसौन्दर्यं योगमुद्रोचितमवस्थानञ्च कौशलेन युगपदेव वर्णयति। प्रथमबिन्दवो निपतन्तः पक्ष्मसु क्षणं स्थिताः, न सहसा नीचैः पतिताः, एतेन पक्ष्मणां घनीभावः सूच्यते, पक्ष्मलनयनत्वञ्च सुन्दरीणां प्रशस्यते। पयोधरयोः उत्सेधे औन्नत्ये पक्ष्मदेशान्निपातेन चूर्णिताः खण्डशः कृता अभूवन्। एतेन स्तनयोर्यौवनमूलं कठोरत्वं सूचितम्। ततः शनैः शनैः उदरत्रिवलीषु स्खलिताः वल्लित्रयस्य क्रमेण लङ्घनात् तस्य

मार्दवाव्य शनैः शनैरपसरणमिति तात्पर्यम्। एवं प्रथमवृष्टिप्रसूतानां जलबिन्दूनां चिरकालेन नाभौ प्रवेशः समजनि। तत्रापि चिरेण इत्युक्त्या नाभेर्गभीरत्वं कटाक्षितं भवति। एवमेकतः कमनीया सौन्दर्यमुद्रा समुन्मीलिता कविना, अन्यतश्च योगशास्त्रीयमवस्थानमपि सूचितम्। तथा हि–'समकायशिरोग्रीवः' इत्यादिक्रमेण शरीरस्याऽवस्थानम्। पक्ष्मसु जलबिन्दूनामवस्थानाद् अर्धोन्मीलिता दृष्टिः, नासाग्रनयनत्वञ्च ज्ञायते। बद्धपद्मासनतया स्तनयोरौन्नत्यमन्यच्च योगमर्यादानुकूलं सर्वमप्यवस्थानं प्रतिभासत इति सौन्दर्ययोगयोरेषा समन्वयरचना महाकवेः सामर्थ्यमनुभावयति।

किञ्चैतत् स्मरणीयं काव्यशास्त्रानुशीलनपरैरनुसन्धायिभिर्यदत्र चित्रिता पार्वत्या मूर्तिरेव बाणभट्टस्य महाश्वेतावर्णनस्य पृष्ठभूमिः। बाणभट्टेन कालिदासस्य सूत्रमादाय महाश्वेतारूपेण चित्रमुपबृंहितमिति मन्ये।

कुमारसम्भवस्य कथावस्तुविषये प्राचामाचार्याणां कश्चिदालोचनाकटाक्षः, तथा हि पार्वतीपरमेश्वरयोः उत्तमदेवतयोः पित्रोरिव सम्भोगवर्णनं प्रकृतिविपर्ययदोषमुत्पादयतीति। यादृशी दिव्यमानुषादिरूपा प्रकृतिस्तदनुसारमेव शृङ्गारादिवर्णनं कर्तव्यमिति नियमः, अन्यथा चेद् अनाश्वासमुद्वेगञ्च जनयतीति तेषामभिप्रायः।

तत्रेदमुत्तरं देयम्–भगवता शिवेन प्रथमतः कामो भस्मसात्कृतः। कामो नाम सर्वस्यापि सृष्टेर्मूलम्। तस्य नितान्तमुच्छेदे जगतो विलोपापत्तिः 'सोऽकामयत', 'तदैक्षत' इति श्रुतिरप्याह, अत एव अष्टमसर्गे उमया सह भगवान् क्रीडाभावबद्धः। तत्र कविना साभिप्रायं पद्यमेकमुदाहृतम्–

एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः।
शैलराजसदने सहोमया मासमात्रमवसद् वृषध्वजः॥

नित्यमुक्तस्य भगवतः कृते नास्त्यभिलषणीयं कामसुखं नाम। परं सृष्टिक्रमोच्छेदो माभूदित्येव 'इन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनात्' इन्द्रियसुखमार्गं व्याजरूपेण स्वीकृत्यैव भगवानपि लीलाविलासानन्वभवत्। न चात्र प्रकृतिविपर्ययो दोष आशङ्कनीयः। अष्टमसर्गे तत्तद्वर्णनावसरे तादृशान्येव विशेषणानि नामानि वा प्रयुङ्क्ते कविर्येन भगवतो मूलरूपमाहात्म्यं

स्मृतिपथमुपेयात्। तथा हि–

सा तथाऽपि रमये पिनाकिनः प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम्।
एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुरीश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितम्॥

एवमादिषु स्थलेषु पिनाकी अनङ्गशासनो जगद्गुरुः, ईश्वर इत्याभिधानैर्नायकस्य मूलप्रकृतिं महाकविः स्मारयति, न तु साधारणपुरुषतामनुमन्यते, ततश्च न प्रकृतिविपर्ययदोषोऽपि।

मेघदूतं तावद् विश्वसाहित्ये निरुपमं काव्यरत्नम्। अभिनवा दूतकाव्यकल्पना इदंप्रथमतया कालिदासेनैवोन्नीता, सा च दूतकाव्यपरम्पराया मार्गदर्शिका समपद्यत। साहित्यशास्त्रे नास्ति कश्चित् छायावादः प्रतीकवादो वा प्रसिद्धः। परमस्य प्रथमोन्मेषः कालिदासादेव प्रावर्तत।

अवलोक्यतां तावत्, नास्ति नायकस्य नायिकाया वा नाम्नोऽपि निर्देशः, कथा प्रारम्भ्यते परिसमाप्यते च। 'कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः' इत्यारभ्य 'तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम्' इत्यस्मिन् सन्दर्भे सर्वनाम्नैव प्रणयिनो परिचयः सूचितः। काव्यं पठतः कस्यापि सहृदयस्य नामगोत्रादिविषये जिज्ञासाऽपि नोदेति, आतृप्ति पठन्ति च मार्मिकाः। अत्र रसवत्तैव हेतुः। प्रथमश्लोकात्प्रभृति विरहव्याकुलस्य यक्षस्य तादात्म्यं भजमानः सहृदयो रससिन्धौ मग्नो नामगोत्रादिचर्चामेव विस्मरतीति रससिद्धिः कवीश्वरस्य, इदमेव च साधारणीकरणम्। स्मर्यते कस्यापि कवेः पद्यम्–

तैस्तैरलङ्कृतिशतैरवतंसितोऽपि
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
नूनं विना घनरसप्रसराऽभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः॥

अस्मिन् काव्ये प्रतिपदं ध्वनिचमत्कारो रसवत्ता च सहृदयैरनुभवितुं शक्यते।

कालिदासस्य नायिका सर्वत्र विश्वाधिकैव, 'या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः' इत्यत्र। कुमारसम्भवे च–

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥

महाकविरयं स्वपात्रे विश्वसौन्दर्यं सङ्गमय्य पश्यति। मेघस्य सन्देशवाक्यावसरे पद्यद्वयी सुतरामाशयं मञ्जुलयति–

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे! विद्धि मामम्बुवाहं
तत्सन्देशैर्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि॥
इत्याख्यातं पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य सम्भाव्य चैवम्।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य! सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनसः सङ्गमात्किञ्चिदूनः॥

विरहकातरा नायिका सन्देशमेव न शृणुयाद् इति तस्या मनोभावम् उन्मुखयितुं प्रथममेव 'भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे!' इत्यादिशब्दैरारम्भः क्रियते। 'अविधवे' इति सम्बोधनादेव तस्याः प्रियस्य जीवितं कुशलञ्च निरापदमिति सूचना। अत्र 'अविधवे' इति विशेष्यमेव न विशेषणं नाम्नो निर्देशाभावात्। तेन च परिकराङ्कुरालङ्कारेण रसानुगामिना सन्दर्भः परिपोष्यते। 'भर्तुर्मित्रम्' इति प्रथमाक्षरानिर्देशादेव वञ्चनाराहित्यं सन्देशस्य प्रमाणिकत्वं च परिपोष्यते। अनया रीत्वा प्रतिपदं ध्वनिचमत्कारः प्रत्यासीदति। हनूमन्तं प्रति सीतासन्देशमवलम्ब्यैव दूतकल्पना कवेर्मनस्यङ्कुरितेति विदुषां प्रायोवादः। तदपि समीचीनमेव। पवनतनयशब्दो मेघपक्षेऽपि सार्थक एव, स पवनप्रेरणयैव धावति। सीताया विरहव्यथा यादृशीं परां कोटिमारूढा तादृश्येव यक्षप्रणयिन्या इति प्रयुज्यमाना सादृश्यकल्पनाऽपि कवेः प्रसिद्धमुपमासाम्राज्यं पुष्णाति।

महाकवेरस्य उपमा न शब्दमात्रमाश्रयते, प्रत्युत सपदि रसमेवाऽनुधावतीति विशेषः। एतच्च पूर्वमेव शास्त्रकारैः प्रतिष्ठापितम्।

मेघदूतकाव्यस्य सफलमनुकरणं किञ्चिदनुष्ठितं कविशेखरेण बिल्हणेन विक्रमाङ्कदेवचरितस्यान्तिमे अष्टादशसर्गे, तत्रत्यमेकं पद्यं पठ्यते–

अङ्गैरुचङ्गत्कनकरुचिभिः कार्मणं लोचनानां
सूरेस्तस्मादजनि जगतां शेखरो बिल्हणाख्यः।
सान्द्रैर्वेदध्वनिभिरनभिव्यक्तमञ्जीरनादा
मौञ्जीबन्धात्प्रभृतिवदने यस्य वाग्देवताऽऽसीत्॥

काश्मीरवर्णने–

ज्येष्ठाषाढेष्वपि कमलिनीकामुको यत्र धत्ते।
रत्नश्रेणीकिरणकलिकाकोमलामंशुमालाम्॥

अभिज्ञानशाकुन्तलविषये किं वा वक्तव्यं यस्य स्वदेशीया वैदेशिकाश्च ऐकमत्येन सौन्दर्यसारसर्वस्वमास्वादयन्ति।

शकुन्तलायाः सौकुमार्यातिशयद्योतनाय सर्वाण्यपि पुष्पमयान्युपमानानि कविः प्रयोजयति–

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥

सर्वोऽपि वनपरिसरो लताकुसुमबहुलः सखीभिः सह क्रीडाव्यापारोऽपि पुष्पमयः, शकुन्तलया कृतनामधेया वनज्योत्स्ना नवमालिका सहकारस्य वधूः कल्प्यते।

तदेवं वातावरणमेव निसर्गरमणीयं सृष्टं कविना। भ्रमरबाधाऽपि वनपरिसरोचितैव। एवंविध एवाऽवसरे राज्ञो दुष्यन्तस्य नयनगोचरतामुपगता शकुन्तला। स्वभाविकश्च राज्ञः सौन्दर्यमूर्तेर्मनसो व्यामोहः। परं सहसा भारतीयसंस्कारेण राजधर्मेण च यन्त्रितो नरपतिः स्वमनोवृतिं परीक्षते–

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

अत्र 'आर्य'शब्दो भारतीयसंस्काराणां महत्त्वं सूचयति। संस्कारशुद्धचेतसामस्थाने विकारो नोत्पद्यत इति भावः। यतश्च मनस्तामनुधावति, ततो भवति सा परिग्रहयोग्येति व्याप्तिपूर्वकानुमानेन चित्तवृत्तेः प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते। प्रमाणपरिगणनायां श्रुतिस्मृत्यादिवत् 'आत्मनस्तुष्टिरेव' चेति प्रमाणमङ्गीकृतं शास्त्रकारैः। तदिदं महाकविना सहजरीत्या प्रकटितम्।

तत्तदवसरेषु मुहुर्मुहुर्नृपतिना वर्ण्यमाना नायिका नवं नवमिव सौन्दर्यसमवायं दधानेव दृश्यते। यथा–

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनाऽपि रम्यम्', 'स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ बाहू घटोत्क्षेपणात्', 'दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे', 'क्षामाक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनम्' इत्यादौ गान्धर्वविवाहस्य शास्त्रसम्मतत्वं बोधयति राजा शकुन्तलाम्, शृङ्गारप्रसङ्गोऽपि मर्यादां नातिक्रामति–

मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु।

इति दुष्यन्तस्योक्तिः। एवं संविधाने सावधानो महाकविः। प्राचीनाः संस्कार आत्मसमवेता भवन्ति, बहिस्तदुद्बोधके वस्तुनि प्रत्यक्षे ते पुनरुद्भवन्तीति वदता महाकविना आत्मनः सत्तायाः प्रामाणिकत्वं भङ्ग्यन्तरेण निरणायि। प्रसिद्धञ्च तत् पद्यमपि–

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखिनोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

राज्ञा दुर्वाससः शापवशात्तिरस्कृता शकुन्तलाऽपि मारीचाश्रमे चिरं तपश्चरन्ती स्थिताऽभूत्। महाकवे रचनासु सर्वत्रैव तपसो महत्त्वमाविष्कृतं तेनैव च स्वाभीष्टलाभोऽपि प्रदर्शितः। नायकमुखेन तदवस्थां शकुन्तलामुपदर्शयति कविः–

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घविरहव्रतं बिभर्ति।।

अस्यैव वर्णनस्यानुकरणं भवभूतेः पद्यमुत्तररामचरिते–

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी।।

शाकुन्तलीये संविधानके दुर्वाससः शाप एव प्राधान्येन कथावस्तु संघटयति, उन्नमयति च नायकस्य नायिकायाश्च चरित्रमित्यवधेयम्। महाभारतकथायां तु नास्ति दुर्वाससो वृत्तान्तः; किन्तु पद्मपुराणे दृश्यते। यद्वा भवतु कवेस्तु रसावतारे तात्पर्यं तत्र सफलः सर्वात्मना महाकविरभूदिति कस्य न भवेत्प्रतिपत्तिः।

इदानीमवशिष्टयोर्द्वयो रूपकयोर्विषयेऽपि किञ्चिद् विवेचनमुपन्यस्यते– विक्रमोर्वशीये कथावस्तु दिव्यमानुषम्, ऋग्वेदात् शतपथब्राह्मणाच्च परिगृहीतं कविना। नायिकाऽपि न लौकिकी किन्तु दिव्याङ्गना उर्वशी या स्वर्वेश्या-स्वग्रण्यागण्यते। तत्र कविना निरतिशयेन चातुर्येण पात्रचरित्रमुन्नतिं प्राप्यते। इयं देवजनोपभोग्याऽपि दिव्यांशसम्भवतया निरवद्यैव। प्रारम्भ एव राक्षसैः क्रियमाणे तस्या अपहारे कविः परिचयार्थं ब्रूते–"ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री नर–नारायणावतारात्मकस्य भवतो नारायणस्य ऊरुदेशात् प्रसूतेयं स्त्री, न साधारणीति कविना सङ्केतितम्। परिचयप्रश्ने तदीया सखी रम्भा परिचयार्थमाह–'या तपोविशेषशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य, प्रत्यादेशो रूपगर्वितायाः श्रीगौर्याः, अलङ्कारः सर्गस्य, सा नः प्रियसखी उर्वशी।'

उर्वशी तावत् प्रगल्भा नायिका, तथापि राज्ञः पुरूरवसः स्वात्मरक्षाविधौ पराक्रमेण पुरुषोचितमहाप्रभावतया च तस्मिन्ननुरक्ता भवति। इति संविधानके पात्रप्रकृत्योरौचित्यं घटयति कविः।

अस्या नायिकायाः सौन्दर्यविषये विदूषकप्रश्ने राजा वदति–"माणवक! प्रत्यवयवमशक्यवर्णनां तामवेहि। तेन हि समासतः श्रूयताम्–

आभरणस्याऽऽभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्याऽपि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः॥

इति स्वशैल्या सम्पूर्णसौन्दर्यमेकवाक्येन पर्यवस्थापितम्। अत्र नायको दक्षिणः स्वमहिषीं काशिराजकन्यामपि मानयति, उर्वश्यामपि दृढमनुरागं दधात्येव। तदेतदात्मनश्चित्रं वसन्तवातव्याजेन राजैव व्याख्याति–

निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मीं कौन्दीं न लासयन्।
स्नेह-दाक्षिण्ययोर्योगात् कामीव प्रतिभाति मे॥

कौन्दीलता शिशिरे, माधवी च वसन्ते–उभयत्र समानस्नेहः। वसन्त इत्यात्मन एव भावो नायकेनाऽभ्यधायि। सन्त्यस्मिन् रमणीयानि बहूनि स्थलानि यानि प्रतिपदसमीक्षामपेक्ष्यन्ते।

प्रसङ्गतो भरतमुनेर्नाट्यशास्त्रस्य च सङ्केतोऽत्र विशिष्टमवधानं गवेषकाणाञ्चापेक्षते। यथा–

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्त्ता मरुतां द्रष्टुमनाः स लोकपालः॥

ग्रीष्मवर्णनपरा स्वभावोक्तिरेका नितान्तं रमणीया कवेः–

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरिकर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते॥

ग्रीष्मोपतप्तो मयूरो वृक्षसमीपे आलवाले स्थानमधिकरोति, भ्रमरः, कर्णिकारकुसुमस्य दलानि निर्भिद्य तदन्तःप्रविष्टश्छायां लभते, सरोवरस्य मध्यभागे कारण्डवः तप्तजलं विहाय तीरसन्निहितां कमलिनीं श्रयति, क्रीडावेश्मस्थः शुकस्तु वराकः पराधीनः करुणया गिरा जलं प्रार्थयते। कियती मनोरमेयं स्वभावोक्तिरिति सहृदया एव प्रमाणम्।

सति वैशिष्ट्ये स्वभावोक्तिरपि अलङ्कारभावमुपगच्छतीति साहित्यविदां पन्थाः।

वैदिकं वाङ्मयमवलम्ब्य कृतिरेषा कवीन्द्रस्य। वैदिकं वस्तु कवयो गृह्णन्तीत्युक्तं पूर्वाचार्यैरपि–

नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥

अत्रापि नायकः पुरूरवाः स्वकीयमादर्शं 'वार्धके मुनिवृत्तीनाम्' इति रघुवंशस्थमेव व्याजान्तरेण प्रतिपादयति–

नहि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि
प्रभवति परवत्ता शासने तिष्ठ भर्तुः।
अहमपि तव सूनौ अद्य विन्यस्य राज्यं
विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि॥

सुतदर्शनं यावदेव उर्वश्या अवस्थानम्, तदनु सा स्वर्गमेवोपाश्रयेत इत्यभिप्रायेण निर्विण्णस्य राज्ञ उक्तिरियम्।

परं संयोदरणमेव घटयितुं प्रवीणः कविर्नारदमुखेन सुरासुरसङ्गरं सूचयित्वा, इन्द्रस्याज्ञया यावज्जीवं राज्ञः समीपे तस्या अवस्थानं साधयतीति नान्ततो विप्रलम्भः।

अत्रापि नाटके राजनीतौ परस्परोपकारितायामेव सफलत्वमित्युदाहरति पद्यमिदम्–

त्वकार्यं वासवः कुर्यात् त्वञ्च तस्येष्टमाचरेः।
सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं स्वतेजसा॥

मालविकाग्निमित्रनाटकं बौद्धकालानन्तरं पुनरपि वैदिकसंस्कृतेरभ्युदये सति भारतशासनमनुतिष्ठतां शुङ्गवंशीयानां राज्ञां कालमनुबध्नाति। अत्र नायको विदिशाधीश्वरः अग्निमित्रः, तस्य प्रधानमहिषी धारिणी नाम गम्भीरस्वभावा, द्वितीया तु इरावती यौवनोन्मदा, राज्ञः कुमार्यां मालविकायामनुरागं न मर्षयति। तस्या नानाविधं प्रतिबन्धमारचयति। अन्ततो देव्या धारिण्या अनुमत्या मालविकामङ्गीकरोति नरपतिः। इति कथासूत्रम्।

अत्रत्यं संविधानकं पद्यानि च नितरां रमणीयानि। नाधिकोत्कृष्टा कृतिरिति प्रतिपादयन्ति तेन सम्यग् दर्शिनः अत्रापि नाटके यथापूर्वं प्रसरन्ती महाकवेः प्रतिभा दृष्टिगोचरीभवत्येव, विशेषतश्च मुग्धाया नायिकायाश्चित्रणमतिकौशलेन समुट्टङ्कितम्।

कालिदासस्येदं वैलक्षण्यं यदेकस्मिन्नपि वस्तुनि अवस्थाभेदेन पृथक् चमत्कारस्य उन्मेषः समुद्भाव्यते। प्रथमाङ्के–परस्परस्पर्धिनोर्नाट्याचार्ययोर्हरदत्त-गणदासयोः प्रवेशे शिक्षकाणां स्पर्धातिशयं सर्वजनप्रसिद्धमुपदर्शयन् कविर्लोकव्यवहारस्य कामपि नूतनां रेखां प्रकटीचकार, या तावदद्यावधि शिक्षाक्षेत्रेषु सर्वगोचरा भवत्येव। अध्यापनसमयं विहाय समुपस्थितमाचार्यं पृच्छति नरपतिः–

'किमिदं शिष्योपदेशकाले युगपदाचार्याभ्यामत्रोपस्थानम्।'

गणदासो ब्रूते–सोऽहममुना हरदत्तेन प्रधानपुरुषसमक्षम् 'अयं मे न पादरजसाऽपि तुल्यः' इत्यधिक्षिप्त नोऽस्मि।

तदनु हरदत्तः स्वपक्षमाह–देव! अयमेव प्रथमं परिवादकरः 'अत्रभवतः किल मम च समुद्रपल्वलयोरिव अन्तरम्' इति। तद् अत्रभवान् इमं, मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु। इति।

एवं प्रवृत्तस्य विवादस्योपशमाय राज्ञा परिव्राजिका पण्डिता कौशिकी समाहूयते। सा च नाट्यस्य प्रयोगप्रधानतया शिष्येषु गुणसंक्रमेणैव च गुरोर्योग्यतानिर्णय इति ब्रूते।

शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥

इयमुक्तिः शिक्षाविषये सर्वमान्यं सिद्धान्तं प्रतिष्ठापयति।

स्वयं विद्यासु पटुरप्याचार्यो यावद् गुणसंक्रमणं कर्तुं न प्रभवेत्तस्य वैदुष्यं न प्रशंसनीयम्। शिष्येष्वेव संक्रमिता विद्या गुरूणां यशये भवतीति महाकवेराशयः। ततो गणदासानुज्ञया सज्जानृत्यहेतोरुपसीदति मालविका, तस्या वर्णनमिदं प्रस्तूयते कविना–

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडस्तनोन्नतमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बिजघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुं यथैव मनसि सृष्टं तयाऽस्या वपुः॥

अस्मिन्नङ्गप्रत्यङ्गवर्णने तत्तद्भावाभिव्यञ्जनानां कृते तत्तदवयवानामनुकूला स्थितिर्दर्शिता कविना। नेत्रकनीनिकाया अभिनयोपयोगाय दीर्घनयनत्वं, प्रसादमुद्रार्थं वदनस्य कान्तिमयत्वं, हस्तव्यापाराणां लाघवाय नतबाहुत्वं, वक्षसः संङ्कोचः स्त्रीणां सुलक्षणार्थं, पार्श्वयोः परिवर्तनाय परिमार्जितत्वं, कटिभागस्य सूक्ष्मत्वं, नितम्बयोरभिनये परिपुष्टत्वं, पादाङ्गुलीनां क्षेपे अङ्गुलीनाम् ईषदुन्नतत्वञ्चेति अभिनयोपयोगित्वेऽपि विधात्रा स्वयमेवास्यास्तादृशं वपुर्विरचितमिति कवेः कथनमनाहार्यां सौन्दर्यमुद्रां, तया च क्रियमाणस्य अभिनयस्योत्कर्षं रसग्राहित्वञ्च द्योतयितुमीष्टे। सहैव च सामुद्रिकलक्षणकौशलमपि। इयमेका कवेश्चित्रणरेखा। तदनु किञ्चित्कालानन्तरं नृत्याद् विश्रान्तायां मालविकायां तस्याः स्वाभाविकमवस्थामपि राज्ञो मुखेन कविरुपदर्शयति।

राजा–(आत्मगतम्) अहा सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति। तथा हि–

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गङ्गुष्ठाऽऽलुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्यादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्॥

मालविकाया वामहस्तो नितम्बन्यस्तस्तत्र सन्धिस्थाने कङ्कणमवलम्बते, हस्तस्य पूर्णप्रसराभावात्। अपरं हस्तं दक्षिणं लतासदृशं शिथिलं धारयति। किञ्च लज्जावशाद् नम्रतया वा नृत्यकाले विलुलितेषु कुट्टिमस्थितेषु पुष्पेषु पादाङ्गुष्ठमवधदृयन्ती पश्यतीति अवहित्याख्यो भावः प्रतीयते। तदिदं स्वाभाविकमपि वर्णनं न नाम नृत्यमुद्रातो न्यूनं चमत्कारमुदाहरति किन्तु किञ्चिदधिकमेवेति कवेराशयः।

एवमस्य महाकवेः सर्वावस्थासु रामणीयकनिर्माणकौशलं तदीयरचनासु प्रतिपदमुपलभ्यते। अयं हि सर्वत्र सुखान्तान्येव संविधानकानि उपनिबध्नाति, रतेः, इन्दुमत्याश्च विरहावसरेऽपि प्रत्युज्जीनोपायं सूचयन् सहजां मानवीयां सहानुभूतिमेवाऽनुसरति। राष्ट्रस्य लोककल्याणस्य समुन्नायकोऽयं महाकविः। अद्याप्यस्य विषये बहुतरमध्ययनमवशिष्यते। प्रार्थये मतिमतां वरेण्यान् अनुसन्धानतत्परानन्तेवासिनश्च यत्ते विविधानस्य महाकवेर्विचारपक्षान् उन्मीलयन्तः सवदेशभूमातरं यशोदुकूलैर्मण्डयन्तु।

मम च भाषणे यत्किञ्चित्प्रामादिकं स्खलितं स्यात् तन्मर्षयन्तु प्रसीदन्तु च रसग्राहिण्या दृष्ट्या।

कालिदासस्य महेश्वरत्वं श्रीमदभिनवगुप्तपाददृष्ट्या

सिद्धसारस्वतोद्‌गारवशीकृतजगत्त्रयम्।
महाकविं कालिदासं मन्ये माहेश्वरोत्तमम्॥

सरस्वतीनिःश्वसितप्रायकाव्यपरिस्पन्दो महाकविः कालिदासः स्वजन्मना कतमं वसुन्धरामण्डलमलञ्चकार? को वाऽस्य गुणगणसमाकृष्टचेता आश्रयदाता सम्राट्? किं वाऽस्य लौकिकमितिवृत्तम्? कश्चाऽस्य कालः? इत्यादिविष्ये बहोः कालादनवरतगवेषणापरायणाः परिश्राम्यन्ति, नूतननूतनानि स्वाविष्कृतानि मतानि च प्रतिपादयन्ति तथाऽपि नाऽद्यावधि किमपि सर्वसम्मतं तत्त्वं प्रतिष्ठापयितुं क्षमन्ते।

स्वाभाविकमेतत्—यतो महाकविरयं भारतभूतधात्र्याः सर्वाङ्गीणं सार्वकालिकं सार्वदेशिकं तथा स्वरूपमुपवर्णयितुं सामर्थ्यं भजते, येन तस्य किमपि परिच्छन्नं प्रादेशिकं वा स्वरूपं नाऽऽविर्भवति। शब्दार्थप्रणालिकाभिः कमप्यलौकिकं परमानन्दनिस्यन्दिरसास्वादमहोत्सवमनुभावयति सहृदयांनित्यत्र तु न कस्याऽपि विप्रतिपत्तिः। अयातयाममस्य कवित्वम्, अनायासोपनतः शब्दसन्दर्भः, अक्लेशग्राह्यं भावसौरभम्, अदेशकालावच्छिन्नः सदुपदेशप्रसारः, अन्यूनाधिकः संवादविन्यासः, अयत्नोदितः सकलशास्त्रसंवादश्च इत्येतैरनितरसाधारणैरुत्कर्षैरस्य कवित्वसाम्राज्यमेकातपत्रमुज्जृम्भते। अथोक्तं केनाऽपि कविना—

अभ्रङ्कषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः
श्लाघ्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
द्राग् वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः॥

अस्य चैतन्महाकवित्वं सर्वतो विलक्षणं कस्मादिति विचारणायां पुरस्तादाविर्भवति कवेरस्य माहेश्वरताभूमिः। सैवाऽस्य जगद्वैलक्षण्ये सर्वोत्कर्षे च प्राणायमाना प्रतिभाति। माहेश्वरत्वञ्चाऽस्य प्रायः सर्वास्वपि रचनासु तिलेषु तैलमिवाऽनुस्यूतमनुभूयते तद्भावभावितान्तःकरणैः सहृदयैः। तन्मूल एवाऽस्य निरवच्छिन्नः प्रातिभः स्फार इत्यत्र न विसंवादः। महेश्वरशब्दोऽयं सामान्यं विशेषञ्च कञ्चिदर्थमभिधत्ते। महेश्वरे भक्तिमान् महेश्वरस्याऽयमनुग्रहभाजनमिति वा सामान्योऽर्थः। द्वितीयस्तु महेश्वरानुग्रहादवाप्तजन्मा सांसिद्धिकज्ञानसपन्नो महाकवि इति।

विषयेऽस्मिन्नाचार्याभिनवगुप्तपादानां तन्त्रालोकग्रन्थात् कमपि विशेषमुपलभामहे। तद्यथा माहेश्वरस्य पुरुषस्योत्पत्तिमभिसन्धाय प्राचीनं वचनमुद्धृतं टीकायाम्–

'नन्दन्ति पितरस्तस्य नन्दन्ति च पितामहाः।
अद्य माहेश्वरो जातः सोऽस्मान् सन्तारयिष्यति॥'

इति। स च तादृशः पुरुषविशेषो रुद्रशक्तिसमावेशात्सदुगुरुं प्रति नीयमानस्तीव्रशक्तिपातविद्धः प्रत्यभिज्ञातनिजस्वरूपः सकलशास्त्रविन्महाकविर्जीवन्मुक्तश्च सम्पद्यते। तस्य लक्षणानि तन्त्रालोकटीकायां श्रीपूर्वशास्त्रागमात् समुद्धृतानि। यथा–

'रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्र नित्यं प्रतिष्ठितः।
सति तस्मिंश्च चिह्नानि तस्यैतानि विलक्षयेत्॥
तत्रैतत् प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला।
द्वितीयं मन्त्रसिद्धिः स्यात् सद्यः प्रत्ययकारिका॥
सर्वतत्त्ववशित्वञ्च तृतीयं लक्षणं स्मृतम्।
प्रारब्धकार्यनिष्पत्तिश्चिह्नमाहुश्चतुर्थकम्॥

कवित्वं पञ्चमं ज्ञेयं सालङ्कारं मनोहरम्।
सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चाऽस्य जायते॥'

इति। एतान्यखिलान्यपि चिह्नानि कविवरेण्येऽस्मिन् साक्षात्परम्परया च सुलभानि, इति तदीयरचनापरामर्शादवगन्तुं शक्यम्। क्रमशश्चैतानि विचार्यन्ते–

'रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला' इति प्रथमं लक्षणं तदीयरचनासु प्रायः सर्वत्र परिस्फुटतरम्। यथाप्रसङ्गं सर्वासां देवतानां वर्णनानि कुर्वन्नपि भगवती महेश्वर एव सर्वात्मना भावमाविष्कुरुते, स्वभावतश्च तस्य सरस्वती शिवमनुधावतीव। तद्यथा रघुवंशे 'वागर्थाविव संपृक्तौ' इति प्रसन्नगम्भीरया गिरा शिवयोः स्तुतिः, 'कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्', 'पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन', 'स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः', 'उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा', 'महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नाऽपरः', 'वपुःप्रकर्षेण बिडम्बितेश्वर', 'बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भागीरथः', 'असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः', 'अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः,' 'सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः' इति तत्रैव बहुधा शिवस्मरणम्, कुमारसम्भव-मेघदूतयोस्तु शिवैकविषयतया प्रतिपदमनुस्मरणमिति तन्न यत्नतः प्रतिपाद्यतामर्हति।

शाकुन्तले-'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या', 'मृगानुसारिणं साक्षात्पश्यामीव पिनाकिनम्', 'ममाऽपि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः' इत्यादीनि स्थलानि। विक्रमोर्वशीयेऽपि-'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषम्, 'हरचूडानिहितात्मने नमस्ते', 'शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः' इत्यादि स्थलानि। मालविकाग्निमित्रेऽपि-'एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले', 'रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा' एवमादीनि स्थलानि शिवानुरागं भृशमुद्योतयन्तीति स्फुटमेव।

'द्वितीयं मन्त्रसिद्धिः स्यात् सद्यः प्रत्यकारिका' इत्युक्तलक्षणं कालिदासजीवनवृत्तस्य प्रत्यक्षतो ज्ञातुमशक्यत्वेऽपि तदीयरचनागतवैशिष्ट्यात्सुलभमुन्नेतुम्।

अस्मिन् विषये कानिचिद् निदर्शनानि द्रष्टव्यानि, यथा-

'तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः॥'

इति वसिष्ठं प्रति दिलीपस्योक्तौ दृष्टशास्त्रादिसाधनापेक्षया वसिष्ठप्रयुक्तमन्त्राणामन्यादृशं सामर्थ्यमासीदित्युच्यते। मन्त्रसामर्थ्यस्य पुरतः शास्त्रसामर्थ्यं तुच्छमेवेति प्रत्यादेशशब्दात्प्रत्याय्यते। 'मन्त्रकृतः' इति पदस्य व्याख्याने 'मन्त्राणां स्रष्टुः प्रयोक्तुर्वा' इति मल्लिनाथः।

'वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात् प्रभावाद् उदन्वदाकाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य॥'

इत्यादौ रघो रथस्य मन्त्रसामर्थ्यादेव निष्प्रतिबन्धा गतिः सर्वत्राऽजायतेति सप्रत्ययमभिधीयते।

प्रियंवदाख्याद गन्धर्वादासादितं सम्मोहनं नाम मन्त्रमयमस्त्रं मार्गे प्रतिबन्धकेषु नृपेषु प्रयुक्तवानजः, येन ते सर्वेऽपि निद्रापराधीनाः, समजायन्तेति वर्णितम्। बलातिबलयोर्विश्वामित्रोपदिष्टयोर्मन्त्रविद्ययोः प्रभावाद् मार्गे रामलक्ष्मणयोः क्षुत्पिपासाजयित्वमम्लानत्वञ्चाऽभवदिति तदनुभवो दर्शितः।

शाकुन्तले दुष्यन्तप्रतिबोधनाय प्रवृत्तो मातलिरिन्द्रसारथिस्तिरस्करिण्या विद्ययाऽन्तर्हितो विदूषकं तुदति, तदा राजा दुष्यन्तः सरोषमाह– 'भोस्तिरस्करिणीगर्वित! मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति', एतेन परविद्यानिरासमन्त्रशक्तिरपि सूचिता।

विक्रमोर्वशीयेऽपि उर्वशीचित्रलेखयोः संवादे तिरस्करिण्या विद्ययाऽन्तर्धानप्रकारः प्रदर्शितः। एवमादिभिरुपन्यासैः सद्यः प्रत्ययकारिका मन्त्रसिद्धिरस्य कवेरवगताऽभ्यस्ता चाऽऽसीदिति प्रतीयते। इयं तु लौकिकी मन्त्रसिद्धिरवरा, महाकवेरभ्यर्हिता मन्त्रसाधना तु ततोऽप्युत्कृष्टतरा बभूवेति पुरः प्रतिपादयिष्यते।

'सर्वतत्त्ववशित्वं च तृतीयं लक्षणं स्मृतम्' इत्येतदपि विचारणीयम्। सर्वेषां स्थावरजङ्गमात्मकानां वस्तूनां वश्यत्वं माहेश्वरस्य तादृशस्य सुलभमासीदिति तत्तत्कथाव्याजेन स्फुटीभवति, यथा–

'शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निः
आसीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।

ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे
तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने॥'

अत्र दिलीपस्याऽनुभावात् स्थावरजङ्गमानामानुकूल्यरूपं वशित्वमुपदर्शितम्। एतच्चाऽन्यथाऽपि–

'आकारासदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः॥'

इत्यादिना कविरपि स्वरूपं परिचाययतीति। रामलक्ष्मणयोः पुरान्निर्गमनकाले मार्गपरिष्कारो मेघैरेव व्यधायीति प्रकृतेरपि वशीभाव उपवर्णितः—

'यावदादिशति पार्थिवस्तयो-
र्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम्।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः
सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः॥'

यथा वा शकुन्तलायाः प्रस्थानावसरे वनस्पतिभ्यो वसनाभरणादिप्रादुर्भावः–

'क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्॥'

इत्यादौ तपस्विनामृषीणामभ्यागमे अदृश्या अग्नयः प्रत्युत्थानमाचरन्तीति स्थितिर्वसिष्ठस्याश्रमे वर्णिता कविना–

'वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः॥'

श्रुतिरप्याह–'प्रोष्यागच्छतामाहिताग्नीनामग्नयः प्रत्युद्यान्ति' इति। तेन च सर्वतत्त्ववशीकार इत्युपलक्षणं देवतानामपि वशीकारमाचष्टे। माहेश्वरस्य देवताधिष्ठिततया सेयं विभूतिः सुलभैव।

'प्रारब्धकार्यनिष्पत्तिश्चिह्नमाहुश्चतुर्थकम्' इति लक्षणमपि लोकातिशायिकाव्यनाटकादिनिर्माणेन सिद्धमपि तदीयरचनागतैः कैश्चन शब्दैरपि प्रत्येतव्यम्। यथा रघूणां वर्णने–

'सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।'

इति प्रारब्धकार्यनिष्पत्तिरुपवर्णिता। एवमन्यत्राऽपि–

'न नवः प्रभुराफलोदयात् स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात्॥'

इति रघोः, अजस्य च वर्णनम्।

'अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्' इत्यादौ च शाकुन्तलेऽपि–

'दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्॥

इत्यादौ श्रद्धया विधिना च क्रियमाणं कर्मफलनिष्पत्तिमनुबध्नातीति सिद्धान्त उपदर्शितः।

किं बहुना, महापुरुषस्य प्रसादौन्मुख्ये पूर्वमेव सिद्धयः प्रत्यासीदन्तीति दुष्यन्तवाक्येन साधितम्। यथा–

उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं क्रमस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः॥'

एवं माहेश्वराणां निरर्गलः फलसिद्धिव्यापार इति कवेराशयः स्फुरति।

'कवित्वं पञ्चमं तस्य सालङ्कारं मनोहरम्' इत्येतल्लक्षणं प्रकृतस्य महाकवेः 'अनामिका सार्थवती बभूव', 'कालिदासादीनामिव यशः', 'कालिदासो विलासः' इत्यादि विद्वज्जनोपगीतैः प्रशंसावचनैश्चिरादेव प्रसिद्धम्। नैसर्गिकी प्रतिभानशक्तिश्चेदलङ्कारादयः स्वयमेव तद्रचनामहमहमिकयाऽनुगच्छन्तीति ध्वनिकालादिभिराचार्यैर्निरणायि। प्रातिभज्ञानस्य प्राधान्यादन्यान्युपकरणानि नापेक्षते महाकविः, तानि तु स्वमयेव सङ्घटन्ते। यथोक्तम्–

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः।
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती॥

इति। स्वभावोक्तिसारः शुद्धोऽपि वाच्यार्थः कविनाऽनेन निबद्ध्यमानस्तथा तथा रसपर्यवसायितामेवाऽनुधावतीति कुमारसम्भवस्य पार्वतीवर्णनादौ संवेद्यम्। तदेतत्सर्वमानन्दवर्धनादिभिरालोचितमिति नाधिकमत्र वक्तव्यम्। एवंविधानि लक्षणान्यवतार्य चरमं षष्ठमिदं लक्षणमागमे पठ्यते–

'सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते' इति कालिदासरचनामामूलचूलं परिशीलयतां मतिमतामत्र का वा विप्रतिपत्तिः स्यात्? किं वा शास्त्रमत्र न परिशीलितम्? को वा न्यायो नाऽवतारितः? का च कला न समुन्मीलिता? किं वा न शिल्पमाविष्कृतम्? कानि दर्शनानि न परामृष्टानि? कश्च व्यवहारो वा नावतारितः? मन्ये लक्ष्यैकदृष्टयो भामहादय आचार्या एतदभिप्रायेणैवमूचिरे–

'न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यासो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः॥'

इयमुक्तिर्महाकविं कालिदासमभिसन्धायैव प्रवृत्तेति नियतं वक्तव्यम्।

अत्र लक्षणे 'अकस्मात्' इति कथनात् प्रयत्नपूर्वकाध्ययनं विनाऽपि शक्तिपातवशादेवाऽस्य सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमुपपन्नमित्याशयः। प्रातिभज्ञाने स्फुरितेऽपि संवाददार्ढ्याय गुर्वादीनुपगम्य स्वज्ञानमप्रकम्पं विदध्यादिति व्यवहारदृष्ट्या निर्दिष्टं तन्त्रालोके यथा–

'यस्तु प्रातिभबाह्यात्मसंस्कारद्वयसुन्दरः।
उक्तोऽनन्योपकार्यत्वात्स साक्षाद्वरदो गुरुः॥'

इति। वस्तुतस्तु 'अकस्मादि'तिपदाद् निरपेक्षः प्रातिभोदयः सिद्ध्यति। स्वतः प्रवृत्तसत्तर्कः स्वसंवित्तिदेवीभिरेव दीक्षितस्तादृश आचार्यः सर्वज्ञो भवतीति शास्त्रकाराणामाशयः। यथा तन्त्रालोकस्य चतुर्थाह्निके–

'यस्य स्वतोऽयं सत्तर्कः सर्वत्रैवाऽधिकारवान्।
अभिषिक्तः स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितश्च सः॥'

इदं च जयरथाचार्यव्याख्यायां विवृतम्–

यस्य स्वतो गुर्वादिनैरपेक्ष्येण अयं समनन्तरोक्तः सत्तर्क उदेति स सर्वत्रैव योगज्ञानादौ अधिकारवान् भवेत्। ननु 'न चाऽधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे' इत्याद्युक्त्या दीक्षादिकमपहाय कथमस्य सर्वत्रैवाऽधिकार? इत्याशङ्क्योक्तम्–

'स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितोऽभिषिक्तश्चेति।'

स्वा आत्मीया याः संवित्तय इन्द्रियवृत्तयस्ता एव–

'बहुर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्तिताः।
ता एवाऽन्तर्मुखस्यास्य शक्तयः परकीर्तिताः॥'

इत्याद्युक्त्या प्रमात्रैकात्म्यमभिद्योतयन्त्यो देव्यस्ताभिर्ज्ञानक्रियोत्तेजनेन सर्वत्रैव स्वातन्त्र्यमापादिता इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि 'अकस्मात्' इति शब्दमात्रादेव कथमेतदुक्तं स्याद् इत्याशङ्क्याह–

'लोकाऽप्रसिद्धो यो हेतुः सोऽकस्मादिति कथ्यते।
स चैष परमेशानशुद्धविद्याविजृम्भितम्॥'

इति। 'शद्धविद्या हि तन्नास्ति सत्यं यद्यत्र भासयेत्' इति च। 'स चैष फलानुमेयः पारमेश्वरः शुद्धविद्यासमुल्लासो यद्वशादेवाऽस्य गुरुशास्त्रानपेक्षं सर्वविषयं प्रातिभं महाज्ञानमुदियात्' इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण। एवञ्च तादृशस्य महाकवेरकस्मात् सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वं प्रमाणोपपन्नं न तु श्रद्धाजाड्यादस्माद् दृशैरारोपितमिति मन्तव्यम्।

यतश्च प्रमाणभूतास्तदीया एव ग्रन्थसन्दर्भाः। नान्येषां सामान्यकवीनामिवाऽस्य वर्ण्यविषये क्वचिदपि स्खलितानि, न च शास्त्रागमविसंवादः, अप्रत्यक्षाणामपि विषयाणां प्रत्यक्षवदुपपादनसामर्थ्यञ्च को नाम नाऽनुमन्यते।

अत एव 'प्रतिभा' काव्यकारणतया स्वीकृता सर्वैराचार्यैः। सा च महाकवेर्निष्प्रतिबन्धा सर्वविषयावगाहिनी। ततो न्यूनानां कवीनां तारतम्यं मध्य–मन्द–मन्दतरक्रमादुपजायत इति स्थितिः। अत एव राजशेखरेणोद्धृतं पद्यम्–

'प्रसरति किमपि कथञ्च नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिक्काः॥'

इति। एवमस्य पूर्वोपक्रान्तं माहेश्वरत्वमेव महाकवित्वोपधायकमिति न नः सन्देहः।

प्रतिभाचमत्कारस्य दिङ्मात्रमत्र निर्दिश्य पश्चान्महाकविनिर्दिष्टान् कांश्चन मन्त्रसङ्केतानुपदर्शयामः–

मालविकाग्निमित्रनाटके नृत्यार्थमुद्युक्ताया मालविकायाः प्रत्यङ्गवर्णनं तथा कृतं कविना यथा नाट्यशास्त्रीयविन्यासानामानुरूप्यं सङ्गच्छेत।

'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहुर्नतावंसयोः
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावुदग्राङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः सृष्टस्तथाऽस्या वपुः॥'

परीक्षार्थमुपविष्टा परिव्राजिका एनामेव नृत्यमुद्रां स्ववचसा स्फुटीकरोति–

'अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव॥'

उचितपरीक्षकमुखेन नाट्यविवरणमत्र परमौचित्यमावहति। तत्रैव नृत्याद्विरताया मालविकायाः स्वाभाविकी स्थितिरपि वर्णिता कविना, या नृत्यादपि मनोहरतामारोहति। यथा–

'वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्या स्थितमतितरां कान्तमृज्वायताक्षम्॥'

अत्रैकस्मिन्नेव वर्ण्यवस्तुनि कवेर्द्वयोरवस्थयोः सहैव सफलं वर्णनं प्रतिभाऽतिशयमवभासयति। एवमनेकेषु वर्ण्यविषयेषु प्रतिभाचमत्कारो

सर्वातिशायीत्यत्र नाऽधिको विचारावसरः।

एवमस्य माहेश्वरत्वे प्रमाणोपपन्ने तत्कृतेषु स्तुतिप्रसङ्गेषु शैवागमानुसारमुपलभ्या विमर्शदृष्टिरपि दिङ्मात्रेण निक्षिप्यते–प्रसिद्धतरं रघुवंशस्य प्रथमपद्यं 'वागर्थाविव संपृक्तौ' इति। अत्र वागर्थयोः शक्तिशिवरूपता पुराणागमादिप्रसिद्धा। 'अग्नीषोमात्मकं जगत' इति वैदिकः सिद्धान्तोऽपि। तत्राऽपि मातुः पार्वत्या अभ्यर्हितत्वादल्पाक्षरत्वाच्च पूर्वनिपात इति मल्लिनाथः। वस्तुतस्तु 'शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते' इत्युक्त्या शिवस्य शक्तिमात्राऽऽयत्ततया शक्तेः पूर्वनिर्देशः।

'शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे' इत्यादिवामकेश्वरतन्त्रवचनं व्याचक्षाणैः श्रीभास्कररायचरणैरेवं व्याख्यातम्–उपासना हि नामकीर्तनादिरूपा निर्धर्मकस्य न सङ्गच्छते, शक्यतावच्छेदकलक्ष्यतावच्छेदकयोर्धर्मरूपत्वेन तदभाववति नाम्नामप्रवृत्तेः। पदे बोधकत्वशक्तेरिव अर्थे बोध्यत्वस्याऽपि शक्तिविशेषरूपतया तदङ्गीकारेणैव तन्निर्वाहे लाघवात् शक्त्यैवोक्तरीत्या उपपत्तौ कृतं परशिवेने'त्यादि। शिवस्याऽऽधारभूतत्वात् शक्तेरेव प्राधान्यमित्याशयः। 'शब्दार्थयोर्नित्यः सम्बन्ध' इति मीमांसकानां मतमिति मल्लिनाथः। एवमेवागमानामपि सरणिः। गर्भीकृतवाच्यवाचकभावा शिवशक्त्यात्मिका मातृकैव विश्वस्य मूलमिति तेषां सिद्धान्तः। अत एव आलङ्कारिकनयेऽपि रमणीयार्थप्रतिपादकतारूपकाव्यलक्षणे शब्दार्थयोः समानाकारतां विना रसाद्याविर्भावो न सम्भवति। तदेतदेव तत्त्वं 'साहित्य'पदवाच्यं महाकविनाऽत्र व्यङ्ग्यमर्यादया पर्यवस्थापितम्। किञ्च 'पिता–माता' इति द्वन्द्वैकशेषात् 'पितरौ' इति प्रयोगे सिद्धेऽपि 'मातापितरौ' इत्यादिप्रयोगान्तरमपहाय पूर्वस्यैव प्रयोगः कविना शिवशक्त्योरविनाभावसम्बन्धसूचनार्थमेव विहित इति मन्तव्यम्। शिवशक्त्योरविभागावस्थैव 'शिवतत्त्वम्' इति आगमानां सरणिः। किञ्च 'वन्दे' इत्यत्र वकारस्याऽमृतबीजत्वाप्रचयगमनादिसिद्धिरिति मल्लिनाथः। स्फुटतरं तु तत्त्वमेतत् शिवशक्त्यात्मकमातृकास्वरूपमनुसन्दधतां महाकवीनां स्वयमेव काव्यामृतरसः स्यन्दत इति तात्पर्यम्। ईशशब्दे ईश्वरशब्दे च भूयानादरोऽस्य महाकवेः। तत्र ईशशब्दव्युत्पत्तिरियमवधेया–

'ईकारः परमा शक्तिः शकारः परमेश्वरः' इति। तेन च शक्तिशक्तिमद्रूपयोर्जग- दीश्वरयोर्भेदोऽप्यभेदश्च सिद्धः। तथा च पठ्यते–

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चेति पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः॥ इति।

'यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः' इति वदता कविना सर्वज्ञत्वादिधर्मविशिष्टमीश्वरस्वरूपमङ्गीकृतम्। परमशिवे हि स्वतन्त्रता-नित्यता-नित्यतृप्तता-सर्वकर्तृता-सर्वज्ञताख्या धर्माः सदोदिताः सन्तीत्यागमसिद्धान्तः। ईष्टे इति ईश्वर इति व्युत्पत्त्या तादृशसामर्थ्यं विना तदीयमीश्वरत्वमेव न सिद्ध्यते। यदाहुः–

'जडा अपि स्वभावेन देहाक्षभुवनादयः।
यत्प्रभावात् प्रवर्तन्ते स कथं निष्क्रियो भवेत्॥'

'उद्यमो भैरवः' इति शिवसूत्रञ्च। कुमारसम्भवे सप्तर्षयः पार्वत्या शिवस्य परिणयं निश्चेतुं हिमालयसदनमुपयान्ति। तत्र तेषामुक्तिः–

'अणिमादिगुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम्।
शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्धचन्द्रं बिभर्ति यः॥'

अत्राऽऽपाततः शिवस्वरूपवर्णने अर्धचन्द्रविशिष्टत्वादिकं सङ्गच्छते सूक्ष्मेक्षिकया तु 'ई'कारस्य सार्धचन्द्रस्य निर्देशात् कामकलाबीजोद्धारः प्रदर्शितः, या च सर्वेषां मन्त्राणां मूलभूता। यथोक्तं वामकेश्वरतन्त्रे–

'तामीकाराक्षरोद्धारां सारात्सारां परात्पराम्।
प्रणमामि महादेवीं परमानन्दरूपिणीम्॥'

इति। एतद् व्याख्यायां काश्मीराचार्याः प्राहुः–ईकारस्य बिन्दु-विसर्गात्मनः शिवशक्त्योः सामरस्यरूपस्य स्वात्मत्वेन भावनायां परमानन्दानुभव इति। भगवत्पादशङ्कराचार्यैरपि सौन्दर्यलहर्याम्–'मुखं बिन्दुं कृत्वे'त्यादिना तत्त्वमिदं सुनिरूपितम्। एवं महाकवेरभिप्रायो माहेश्वरं मार्गमनुसन्धत्ते। एवमन्यत्राऽपि कुमारसम्भवे–

'उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्' इत्यत्र हरतीति हरः संहारको रुद्र इति न साधारण एवार्थः; किन्तु 'व्योम्ना प्रकाशमानत्वं ग्रसमानत्वमग्निना' इत्याद्यागमोक्तरीत्या शिवशक्त्यात्मकमायाबीजरूपत्वात् सर्वव्यापकः सर्वकर्ता च शिव इति तदभिप्रायः परमार्थ इति सूचितम्। अपरञ्च–'स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायाऽस्तु वः' इत्यत्र निर्दिष्टः स्थिरभक्तियोगोऽपि कश्चन विशिष्ट एव मार्गो माहेश्वराणाम्। तथा च तैरेव निर्दिश्यते तन्त्रालोके–

'भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते।'

उत्पलाचार्यश्च ब्रूते–

'भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
तयैव तु विहीनानां किमन्यपदयाचितम्॥'

इति। अन्यत्राऽपि–'अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते'। अयं शिवभक्तियोगो नन्दिशिखातन्त्रे शिवदेवीसंवादे संक्षेपेण निरूपितः। यथा–

'अनिर्देश्यः शिवो ह्येवं कथितः परमेश्वरः।
उपायः कथ्यतां देव भक्त्यानुग्रहकाम्यया॥'

इति देव्याः प्रश्ने शिवस्योत्तरम्–

'उपायो देवदेवेशि! विवेकस्तत्र वै परः।
हेयताञ्चैव संसारे ज्ञात्वा जन्तुर्विमोचयेत्॥
अनित्येऽस्मिन् शिवो ह्येकः शिवः सर्वगतः प्रभुः।
मायी यान्युपभावानि यदा भावेन भावयेत्॥
ददात्यस्य च सुश्रोणि! प्रातिभं ज्ञानमुत्तमम्।
यदा प्रातिभसंयुक्तो मुच्यते मोचयेत् तदा॥
परशक्तिनिपातेन ध्वस्तमायामलं पुमान्।
परं याति पदं यत्र गत्वा भूयो न जायते॥'

इति। महाकविना कालिदासेन एतदनुसारं 'प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नः', 'अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुर्बिभ्रतो नाऽभिमानः', 'ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थं भूतोऽस्मि

सूचितः’ एवंविधाभिः सूक्तिभिः सर्वत्र परमशिवव्याप्तिमनुसन्दधता सोऽयं शिवयोग एवाऽवलम्बितः। ‘ममाऽपि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः’ इत्यनेन च पार्यन्तिकं लक्ष्यमपि निर्दिष्टम्। महाकवित्वमनुभवता च ‘तस्मात् शब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न वा शिवः’ इति स्पन्दनप्रक्रियादिशा स्वकीयं माहेश्वरत्वरूपमैश्वर्यं प्रतिष्ठापितम्।

एवमस्य महाकवेर्माहेश्वरो मार्गो यदृच्छास्फुरितया धिया समुपस्थाप्यमानो धिनोतु धीधनानामन्तःकरणानि। यदत्र किञ्चिदन्यूनमसङ्गतं वा तत् ‘गच्छतः स्खलनं क्वापी’ति न्यायेन सहृदयाः परिशोधयन्त्विति सविनयमावेद्य विरमामीति शिवम्।

महेश्वरशिरश्चन्द्रसुधास्पन्दपरिप्लुता।
सुधियां श्रेयसे जीव्यात्कालिदासस्य भारती॥

◆

कालिदासकृतिषु मन्त्रविद्या

महाकवेः सरस्वतीपुरुषावतारस्य कालिदासस्य काव्यनाटकादिविरचनाः सर्वाङ्गीणं भारतीयपरम्परास्वरूपं प्रकाशयन्तीत्यत्र न कस्यापि प्रेक्षावतो लेशतोऽपि विसंवादः सञ्जायते।

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः॥

इति प्राचीनोक्तिदिशा प्रायः सर्वाण्यपि वस्तूनि कविकुलगुरुवचसा सुरभीकृतानि समनुभूयन्ते।

कालिदासीयवाङ्मयस्य सौन्दर्यरसवत्तादिविषयमधिकृत्य शतशः सहस्रशः प्रबन्धाः सहृदयैर्विरचिता विरच्यन्ते च। सम्प्रति कञ्चन तद्रचनागतमुपेक्षितप्रायं विषयं कथञ्चित् स्पृष्टाऽस्पृष्टिकया विवरीतुं क्रियते यत्नः। विषयस्यास्य परम्पराविच्छेदादुपेक्षावशाच्च ज्ञानं विलुप्तप्रायमनुभूयते।

वैदिक्या परम्परया सहैव तान्त्रिकी धाराऽपि भारतवर्षस्यास्य निधानभूताभूत- कालादद्यावधि प्रचलन्ती दृश्यते। परमस्याः अध्ययनादीनामल्पत्वात् गूढतमत्वादधिकारिवैरल्याच्च साम्प्रतं न तथा प्रसिद्धिः।

महाकविना कालिदासेन यथास्थानं मन्त्रादीनां उल्लेखो विहितः तेषां प्रतिपादकाः ग्रन्थाः साम्प्रतमप्युपलभ्यन्ते। तेषां के वांऽशाः कुत्र वा सङ्गता इत्यादि विद्वद्भिः सहैवान्यैर्विषयैर्विचारणीया इत्येतावन्मात्रं सूचयितुं कश्चिदयमुपक्रमोऽस्माकम्। रघुवंशे प्रथमतो वेदानां मन्त्राणाञ्च मूलभूतस्य प्रणवस्य परिचयः 'प्रणवश्छन्दसामिव' इत्यभिदधता कविना प्रदत्तः। प्रणवो हि वेदेष्विव तन्त्रेष्वपि तत्तद्देवताबीजादिरूपेण परिगृहीत इति न तिरोहितं तद्विदाम्।

अथर्ववेदस्तावत् ऐहिकामुष्मिकोभयफलदायक इति तद्भूमिकायां सायणादिभिः सुष्ठुरं प्रत्यपादि। रघूणां कुलगुरुर्वसिष्ठः निधिरथर्वमन्त्राणां तस्य तपोबलादेव दैवमानुषीणामापदां विनिवृतिः शक्याभूदिति प्रथमसर्गादुपलभ्यते। यथा–

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः।
अर्घ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः॥
उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम्॥
तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमिताऽरिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः॥

एतावता अथर्ववेदसम्बद्धानां आङ्गिरसकल्पादीनां प्रत्यङ्गिरासूक्तादिमन्त्राणां परिज्ञानं महाकवेरिति ज्ञायते।

'भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः' इत्येतेन सर्पनिग्रहमन्त्राणां परिचयः सूच्यते। गुरोर्वशिष्ठस्य मन्त्रपूतजलस्पर्शाद्रघो रथस्य सर्वत्र अप्रतिहता गतिरजायत। यथोक्तम्–

वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावा–
दुदन्वदाकाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य
गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य॥

क एते मन्त्राः कुत्रत्या वा? इति न ज्ञायन्ते।

अजस्य बाणेन विद्धः शापवशात् गजरूपधरो गन्धर्वः प्रियंवदो नाम पुनः स्वरूपमास्थाय तस्मै सम्मोहनं नाम मन्त्रमयमस्त्रं प्रादात्। तच्च ततः सविधि जग्राह सोऽपीत्युक्तम्। यथा–

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात्॥

इदमेव सम्मोहनं नृपैः सह युद्धे प्रवृत्ते प्रयुक्तवानजः।

अस्यैव सम्मोहनास्त्रस्य प्रयोगः कुमारसम्भवे कामेन विहितो भगवन्तं शिवं वशीकर्तुम्। यथा–

'संमोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम्।'

तन्त्रेषु पञ्चकामास्तेषां पञ्चबाणाश्च सबीजाः पठ्यन्ते। मन्ये, तत्रत्य एवायं सम्मोहनबाणस्य प्रयोगो भवेत्। प्रसिद्धश्चायं श्लोकः–

उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा।
संमोहनश्च कामस्य पञ्चबाणाः प्रकीर्तिताः॥'

रघुवंशस्यैकादशे सर्गे महर्षिणा विश्वामित्रेण स्वाश्रमं प्रति नीयमानयोः कुमारयो रामलक्ष्मणयोर्बलातिबलाविद्ययोः प्रभावात् स्वल्पोऽपि मार्गक्लेशो नाभवदित्युक्तं कविना–

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयेः।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्ववरिवर्तिनाविव॥

एते विद्ये बलातिबलाख्ये कुत्रत्ये? इति जिज्ञासायामिदं परिज्ञायते प्रपञ्चसारसंग्रहाख्यग्रन्थात्। बलातिबलाख्या विद्या वश्याकर्षणादिप्रभावप्रदा अश्वारूढ़ा नाम देवता तन्मन्त्रविधानादिकमपि तत्रैव सम्यङ् निरूपितम्।

भगवतो विश्वामित्रस्यानुग्रहादेव नैर्ऋतघ्नमस्त्रं प्राप्तवान् रामः तदपि मन्त्रविशेषात्मकमासीत्। यथा–

'नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात्।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात् सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः॥'

एते मन्त्रा रक्षोघ्नसूक्तरूपा वैदिकस्तन्त्रोक्ता वा केचिद्भवेयुः। लवणासुरं शमयितुं शत्रुघ्नः किमप्यैन्द्रमस्त्रं प्रायुङ्क्त। येन स दैत्यः सिकताकणादपि लघुतां प्राप्तो विनष्टोऽभूत्। किमेतदस्त्रमिति जिज्ञासायामिदमनुमीयते–केचन वैदिकामन्त्राः शत्रुव्यावृत्तये पठ्यन्ते 'यत इन्द्र भयामहे' इत्याद्यास्ते वा भवेयुरन्ये वा केचन तन्त्रोक्ता इत्येतद्विचारणीयम्।

एवं सरयूजलान्तर्वर्तिना कुमुदाभिधेन नागेन कुशस्य जैत्राभरणे अपहृते तद्दण्डनाय गारुत्मतास्त्रस्य प्रयोगः उक्तः। सन्ति गरुडमन्त्रास्तत्प्रयोगाश्च तन्त्रेषु तेषु कस्याप्युपयोगः कुशेन कृत इत्यनुमीयते।

शाकुन्तले षष्ठेऽङ्के तिरस्करिण्या विद्ययाऽन्तर्हितेन मातलिना दुष्यन्तप्रबोधनाय विदूषकमाक्रम्य कश्चित्परिहासः क्रियते। क्षुब्धो दुष्यन्तः प्राह स्म– 'भोस्तिरस्करिणीगर्वित! मदीयमस्त्रं त्वां द्रक्ष्यति' इत्यादि।

इयं तिरस्करिणी नाम विद्या काचन देवता तन्त्रेषु पठ्यते या साधकस्य गोपनीयं तत्त्वं रक्षति। इत्थं विक्रमोर्वशीयेऽपि उर्वशी–चित्रलेखयोः संलापे द्वितीयेऽङ्के पङ्क्तिरियम्–

"सखि! विस्रब्धा भव। ननु भगवता देवगुरुणा अपराजितां नाम शिखाबन्धन- विद्यामुपदिशता त्रिदशप्रतिपक्षस्य अलङ्घनीये कृते स्वः।"

कासुचित् सन्ध्यावन्दनपद्धतिषु श्लोकोऽयं पठ्यते–

ऊर्ध्वकेशि विरूपाक्षि! मांसशोणितभोजने।
तिष्ठ देवि! शिखाबन्धे चामुण्डे ह्यपराजिते॥

इयमपराजिता विद्या प्रत्यङ्गिरैव। या महर्षिभिः यज्ञादिप्रत्यूहकारिणां रक्षसां शत्रूणाञ्च निग्रहाय स्वतेजोभिरुत्पादिता। अस्याश्च विधानादिकं तन्त्रग्रन्थेषु प्रसिद्धम्। महाकवेः कालिदासस्य सर्वास्वप्येतासु विद्यासु विपुलतरं ज्ञानमासीदिति सिद्ध्यति।

एवमेव प्रसङ्गवशात् यथास्थानं मन्त्रविद्यानां परिचयमुपन्यस्यति कविकुलगुरुः। महाकविः कालिदासो भगवतः अर्धनारीश्वरस्य परमोपासक असीत्।

'ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।

इति तदीयोक्त्या स्फुटीभवति।

वामे मरकतश्यामा दक्षिणे विद्रुमारुणा।
देवता दम्पतिमयी सा मे कामदुधा भवेत्॥

इत्येवमागमेषु भगवतः शिवस्य ध्यानमुपवर्णितमेव कविना परिगृहीतम्। भगवतः शिवस्य सकल-सकलनिष्कल-निष्कलेषु स्वरूपेषु सकलस्यैव त्रिलोचनत्वनीलकण्ठत्ववामार्धविग्रहत्वादिविशिष्टस्य स्वरूपस्य सकलसाधकाभीष्टप्रदानसामर्थ्यं सम्भावयता तदेवाऽत्र वर्णितमिति प्राचीनाष्टीकाकाराः प्रतिपादयन्ति। किञ्च–

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥

इत्याद्यागमशास्त्रानुसारेण प्रादुर्भूतानां तन्त्राणां विषये वेदादिशास्त्रैः सार्धमेव महाकवेरस्य शिवभक्तस्य महती श्रद्धा तदनुष्ठानपरता कल्पयितुं शक्या। इति।

■

चिद्गगनचन्द्रिकाकारः कालिदासः

कविकुलगुरोः कालिदासस्य कृतिषु रघुवंशादिमहाकाव्यत्रयं शाकुन्तलादिनाटकत्रयञ्च एकस्यैव रचयितुः प्रतिभाप्रसूतिरिति निर्विवाद एवाऽस्ति विदुषां परामर्शः। सन्त्येऽपि भूयांसः संक्षेपविस्तराभ्यामुपनिबद्धाः प्रबन्धाः कालिदासनाम्ना लब्धगौरवाः। परं सर्वेषां कालिदासकृतत्वं न सम्भवति इति बाह्याभ्यन्तरपरीक्षाभ्यां व्यवस्थापयन्ति पण्डिताः। प्रसङ्गेऽस्मिन् कालिदासचर्चायामुपेक्षितप्रायस्य एकस्य आगमशास्त्रीयस्य प्रबन्धस्य विषये काचिद्विचारदृष्टिः अवतार्यते, तस्याः सत्याऽसत्यत्वविषये विद्वद्वरेण्या एव निर्णेतारो भविष्यन्ति।

'चिद्गगनचन्द्रिका'नाम पद्यमयः प्रबन्धः प्राचीनो महद्भिर्विद्वद्भिस्तत्र-तत्र प्रमाणतया परिगृहीतश्च वर्तते। कालिकातानगरीतः प्रकाशितायां 'तान्त्रिकटेक्स्ट्' संज्ञकग्रन्थमालायां मुद्रितमिदं ग्रन्थरत्नं आर्थरएवलेन स्वामिविक्रमतीर्थमहोदयाभ्यां परिष्कृत्य सम्पादितमुपलभ्यते। द्वितीयमस्य संस्करणं तु आन्ध्रदेशीयेन विदुषा कार्रा अग्निहोत्रशास्त्रिणा स्वटीकया संयोज्य प्रकाशितं कदाचिद् दृष्टमस्माभिः।

'न ह्यमूला जनश्रुतिः इति न्यायेन सत्यपि महति कालव्यवधाने कवेरस्य भगवत्याः काल्याः प्रसादेन निरर्गलं कवित्वं सर्वतोमुखी प्रतिभासिद्धिश्च समुपजातेति स्वीक्रियते। तत्र-तत्र कालिदाससम्बन्धिषु स्थानेषु कालिदासोपासिता काली काचिदन्या देवी वा परम्परया ख्याता प्रदर्श्यते जनैः। यथा उज्जयिन्यां कालिदासीयत्वेन ख्याते मिथिलामण्डलान्तर्गते उच्चैठनाम्नि स्थाने वा भगवत्याः स्थानं प्रसिद्धिमनुबध्नाति। किञ्च कुमारसम्भवे शिवविवाहस्य वरयात्रायां–

> तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे।
> बलाकिनी नीलपयोदराजिर्दूरं पुरः क्षिप्तशतह्रदेव॥

इत्येतत्पद्यमपि कवेरुपास्यदेवतासम्बन्धसूचकं भवितुमर्हति। अन्यथा मातृकाणां वर्णने कृतेऽपि विशिष्य कालिकायाः पृथग्वर्णने कवेः को हेतुः स्यात्?

कालिदासः काश्मीराभिजन इत्यपि केचित्साधयन्ति, तदनुसारं यदि विचार्यते ततः संगतमिदं प्रतिभाति। तथा हि चिद्गगनचन्द्रिकायां वर्णिता काली कालीतत्त्वं वा काश्मीरेषु परम्परया प्रवृत्तस्य शैवप्रत्यभिज्ञादर्शनस्यैव शाखाविशेषेऽन्तर्भवति। यत् किल क्रमदर्शननाम्ना महार्थदर्शननाम्ना वा व्यपदिश्यते पण्डितैः। एतद्विषये परिचयः पण्डितकान्तिचन्द्रपाण्डेयमहोदयै- र्लक्ष्मणपुरविश्वविद्यालयस्य भूतपूर्वप्राध्यापकैः स्वप्रबन्धेषु विस्तरेण प्रदत्त इति तत्रैवाऽवलोकनीयः।

चिद्गगनचन्द्रिकायाः प्रारम्भे पद्यद्वयं दृश्यते। प्रथमं गणेशस्मरणपरं द्वितीयं चेदम्–

स्थूलं सूक्ष्मं परं च त्रिविधमिह जगद् यत्प्रथावेशसिद्ध्या
युक्तं सत्ता यदीया स्फुरति च परतः स्वप्रथैकस्वभावा।
भामूर्तिर्यं विमर्शक्रियमनुपतिता लक्ष्यते लोकवृत्तिः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥
इह कालिदासचन्द्रप्रसूतिरानन्दिनी स्तुतिर्व्याजात्।
चिद्गगनचन्द्रिकाब्धेः शमयतु संसारदावदवथुं वः॥

अत्र पूर्वश्लोके मालविकाग्निमित्रगतस्य मंगलाचरणस्य चतुर्थः पादः समग्र एवोद्धृतः। विमर्शचतुष्टयात्मकेऽस्मिन् ग्रन्थे पर्यवसानेऽपि स्वनाम समुपात्तं कविना यथा–

‘सिद्धनाथकृततत्वत्क्रमस्तुतेः कालिदासचरितां च पञ्चिकाम्।’इति।
‘कालिदासपदवीं तवाश्रितस्त्वत्प्रसादकृतवाग्विजृम्भणः।’इति च।

अत्र ‘त्वत्प्रसादकृतवाग्विजृम्भणः’ इति विशेषणं किंवदन्तीपक्षानुकूलं प्रतिभाति। प्रबन्धोऽयं गहनतरशास्त्रीयसिद्धान्तगर्भिततया प्रायो दुरूह एव तद्विषयाऽनभिज्ञानाम्। काव्यनाटकादिसमुचिताया भाषाया अभावोऽपि तन्मूलकतयैव समाधातुं शक्यते। एतद्विद्यासम्प्रदायः काश्मीरेषु तदनुचोल-केरलादिदेशेषु लब्धप्रसार आसीत् इति तत्तद्ग्रन्थकाराणां दर्शनादवसीयते। यतो महार्थमञ्जरीनिर्माता महेश्वरानन्दः चोलाभिजनो बभूव, तेन काश्मीरग्रन्था-

नामुद्धरणं स्वस्य तदनुगामित्वञ्च स्पष्टतया प्रतिपादितमस्ति।

कालिदासनाम्नो व्युत्पत्तिरपि पद्ये पुरो निर्दिष्टे प्रदर्शिता चिद्गगनचन्द्रिकायाम्, यथा–

प्राप्तदिव्यनयनैर्विलक्षणैर्वीक्ष्य कालि! महिमाऽनुवर्ण्यते।
केवलं तदनुवर्णनऽप्युमे त्वन्मुदे तदपि दासजल्पितम्॥

किञ्च–शाकुन्तलीचरमपद्यस्य तुलना चिद्गगनचन्द्रिकागतेन पद्येनैकेन कर्तव्या, यथा शाकुन्तले–

'ममाऽपि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।'इति।

चिद्गगनचन्द्रिकायाम्–

अञ्जनेन रुचिमिश्रणे समे रक्तमुल्लसति तावकं वपुः।
श्यामनीलतनुताऽञ्जनेऽधिके पीतशुक्लतनुता च ते रुचौ॥ इति च।

अत्र नीललोहितपदं किमपि साम्प्रदायिकं तत्त्वं सूचयति इति वक्तुं सुशकम्। यतोऽत्र सम्प्रदाये नीलो वर्णः अपराशक्तेः, रक्तः परापरायाः, शुक्लश्च पराया इत्यस्ति सम्मुल्लेखः। यदुक्तं तन्त्रालोके–

परा चन्द्रसमप्रख्या रक्ता देवी परापरा।
अपरा सा परा काली भीषणा चण्डयोगिनी॥ इति।

अस्याश्चिद्गगनचन्द्रिकाया उद्धरणानि योगिनीहृदयग्रन्थस्य टीकायां अमृतानन्दनाथेन, महार्थमञ्जर्यां महेश्वरानन्देन, आनन्दलहरीटीकायां कैवल्याश्रमेण, सौभाग्यभास्करटीकायां श्रीभास्कररायदीक्षितैश्च प्रमाणंत्वेन परिगृहीतानि प्रकाशन्ते।

तत्र अमृतानन्दनाथः सर्वेषु प्राचीनः कामकलाविलासाख्यग्रन्थकर्तुः पुण्यानन्दनाथस्य शिष्य इति तदुक्त्यैव निर्णीतम्। कामकलाविलासः सुतरां प्राचीन इत्यत्र न विवादः। यद्यपि तस्य स्पष्टतया कालनिर्णयः केनाऽपि न कृतः। आर्थरएवलेनमहोदयेन ग्रन्थस्यास्य अनुवादः पूर्वनिर्दिष्टतान्त्रिक-

टेक्स्ट्ग्रन्थमालायां प्रकाशितः समुपलभ्यते। मुद्रणादिविषये यद्वृत्तं तत्सम्पादकमहोदयाभ्यां भूमिकायां निर्दिष्टं, तत एव द्रष्टव्यम्।

यत्तु सिद्धनाथकृतस्तुतेरेव विवरणात्मिका स्तुतिरेषा कालिदासस्य, सिद्धनाथश्च शम्भुनाथाऽपरनामधेयः श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्याणां गुरुः, ततश्च कालिदासोऽयमर्वाचीन इति केचित्कथयन्ति तदपि सन्दिग्धमेव। सिद्धनाथपदस्य व्यक्तिविशेषवाचकत्वेऽपि पृथगपि कश्चित् कालिदाससम्बन्धी सिद्धनाथो महापुरुषो भवितुमर्हति। मालविकाग्निमित्रचतुर्थपादग्रहणं स्वकीयतया नाऽऽक्षेपयोग्यं भवेत्। कालिदासेन रघुवंश-कुमारसम्भवयोर्वरयात्राप्रसङ्गे पौरसुन्दरीणां विभ्रमकुतूहलपराणि प्रायः समानाकाराणि पद्यान्युपन्यस्तानि। स्वतन्त्रस्य कवेः स्वरचनाविषये यतस्ततो निक्षेपो न खलु दूषणमावहेत्।

एतत्प्रतिपक्षतया सम्भावनागोचरा अपि तर्काः सम्भवन्ति प्रसिद्धेषु कालिदासप्रबन्धेषु भगवतो गणेशस्य नामकीर्तनमपि नाऽस्ति। रघुवंशे पुत्रकामनया वसिष्ठाश्रमं प्रति प्रस्थानावसरे दिलीपस्य विधातुः पूजा सूचिता कविना, यथा–

‘अथाऽभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया।
तौ दम्पति वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम्॥’ इति।

कालिदासस्य समये स्कन्दपूजाया एव सविशेषं प्रचार आसीदित्यनुमीयते। तस्मिन् समये गणेशपूजायाः कीदृशं स्थानमभूदित्यवं विचारकाणां विमर्शमपेक्षते विषयः।

श्यामलादण्डक-नवरत्नमालाप्रभृतिस्तोत्राणामपि कर्तृतया कालिदासस्य प्रसिद्धिरस्ति। सा श्यामला मातङ्गी नाम देवता, दशमहाविद्यास्वन्यतमा ख्याप्यते। तस्या अपि कालीतिनाम्ना निर्देशः श्रीशङ्कराचार्यकृतायामश्वधाटीस्तुतौ विहितो दृश्यते, यथा–

‘सालीकरोतु मम काली मनः स्वपदनालीकसेवनविधौ’।
इति।

तदुपासकतयाऽपि कालिदासनाम्ना प्रसिद्धिः सम्भवति महाकवेः। विद्वत्परम्परायां कालिदासः श्यामलादेव्या उपासक इति प्रसिद्धिर्मयाऽपि विश्वसनीयप्राचीनपण्डितेभ्यः कर्णगोचरीकृताऽस्ति।

यत्किमपि भवेन्नाम, चिद्गगनचन्द्रिकायामुपवर्तितो विषयः सारगर्भो गभीरः शास्त्रीयश्च वर्तते। तस्य परम्परा काश्मीरेषु दक्षिणभारते च समुपलभ्यते। महाकविः कालिदासस्तावत् असाधारणप्रतिभाभूमिर्महान् साधकश्च आसीदिति कथने न संशयस्याऽवसरः। ऐतिहासिकीदृष्टिस्तु स्फुटं प्रमाणमपेक्षते। तत्र वस्तुनि विशिष्टविदुषामवधानं प्रार्थय इति।।

■

कविकुलगुरोः स्थिरभक्तियोगः

महाकवेः कालिदासस्य विक्रमोर्वशीयाभिधे रूपके मङ्गलपद्ये चतुर्थः पादस्तावदयम्–'स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः' इति महाकविरयं न क्वापि निरभिप्रायं पदमेकमपि प्रयुङ्क्ते, यतो हि ध्वनिकारादीनामियमुक्तिः–'व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव हि सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां न पुनर्वाच्यवाचकरचनामात्रेणेति'। अनया दृशा परीक्षणीयः स्थिरभक्तियोगोऽयं महाकवेराशयानुसन्धानेन। अत्र न केवलं योगः किन्तु भक्तियुक्तो योगो भक्तिरूपो वा योगः स च स्थिरपदविशिष्ट इत्यादिना को वाऽभिप्रायो महाकवेः प्रतिपत्तव्यः?

अत्रेदं पूर्वापरानुसन्धानेन शक्यमनुमातुं यदस्य कवेर्भगवति स्थाणौ निरतिशया भक्तिरस्त्येव सर्वेष्वेव तदीयग्रन्थेषु भगवतो भवस्यैव प्राथम्येन क्रियामाणाऽवलोक्यते। तासु सर्वत्र तदीयसर्वशास्त्रसम्मतं महिमानमुदीर्य तस्मिन् स्वप्रवणतामुपदर्शयति कविः। रघुवंशे तावत्–

'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥'

इत्यस्मिन्पद्ये शब्दार्थतत्त्वावगतये काव्यधाराप्रवृत्तये वा शब्दार्थवदन्योन्यसंश्लिष्टौ जगज्जनकौ शिवौ कविना स्तूयेते। तत्र वेदागमादिपरिशीलिता वाक् परापश्यन्त्यादिभेदेन चतुर्विधा प्रसिद्धैव, सा तु विशेषतो विचार्यमाणा षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकविश्ववैचित्र्यहेतुर्भगवती संविदेव प्रतिपाद्यते विद्वद्भिः। अभिनवगुप्तपादाचार्यैस्तन्त्रालोके–

'प्राक्पश्यन्त्यथ मध्यान्या वैखरी चेति ता इमाः।
परा परापरा देवी चरमा त्वपराऽत्मिका।

इच्छादि शक्तित्रितयमिदमेव निगद्यते।
एतत्प्राणित एवायं व्यवहारः प्रतायते।।'

इत्थं व्याख्याता वाक्शक्तिः। इत्थमेव भर्तृहरिणा–

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोको यः शब्दानुगमादृते'।

इत्यादिना शब्दतत्त्वस्य विश्वावभासकत्वमङ्गीकृतमेव। महाकविः कालिदासोऽत्र भास्यभासकतया परस्परान्वितयोः शिवशक्त्योरशेषविश्ववैचित्र्यरूपेण परिणतिमनुसन्धाय महाकाव्यं निर्मित्सुरात्मनस्तत्प्रवणतामुपदर्शयति। यद्यपि वन्दनं नमस्करणमिति सामान्यरूपेण स्फुरति, परं तादृशशब्दार्थरूपपारमेश्वर-तत्त्वस्य केवलया कायिकया क्रियया वन्दनं न सम्भवति; किन्तु सर्वत्र तदभेदानुसन्धानमेव वस्तुतो वन्दनमिति महाकवेराशयः प्रतिभाति। यदुक्तमभियुक्तैः:–

'न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनः परमात्मनः।
भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम्।।'

एवं महाकवेरुपास्यदेवताविषये या भक्तिः सा सर्वथा द्वैतोज्झिता तदभेदानु- सन्धानरूपा यतस्तत एव स्थिरा तदेकप्रवणतारूपचित्तवृत्तिसातत्याच्च योगरूपाऽपि भवतीति 'स्थिरभक्तियोग'नाम्ना व्यपदेशः सम्यक् पदं लभते। कुमारसम्भवे पार्वतीविवाहप्रसङ्गे महेश्वरेण स्मृताः समागताश्च मुनयस्तत्त्वदर्शिनः कृतज्ञताऽऽविष्करणमपि परमेश्वरे स्मृता समागताश्च मुनयस्तत्त्वदर्शिनः कृतज्ञताऽऽविष्करणमपि परमेश्वरे जगदात्मनि निष्फलमेवेति ब्रूवते–

'योः नः प्रीतिर्विरूपाक्ष! त्वदनुध्यानसम्भवा।
सा किमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्माऽसि देहिनाम्।।

अत्राप्यभेदानुसन्धानरूपैव भक्तिः सप्तर्षीणां कविना सूचिता। भक्तिशास्त्रविदां मधुसूदनसरस्वतीप्रभृतीनां सरण्या तैलधारावदविच्छिन्नभगव-देकाकारप्रत्ययप्रवाहात्मिका चित्तवृत्तिर्द्रुतिमुपगता भक्तिरुच्यते। महाकविरयं सर्वत्र कथावस्तूनि निबध्नन् साक्षात्प्रणाल्या वा भगवन्तं महेश्वरमनुस्मरति। किं बहुना कुमारसम्भवस्याष्टमसर्गे समुत्तुङ्गशृङ्गारतरङ्गितेऽपि प्रसङ्गे परमेश्वरस्य

मूलभूतं रूपमनामृश्य नाऽयं पदमपि निक्षिपति। तथा हि तत्र विविधासु विलासचेष्टासु प्रवर्तमानास्वपि–

‘सा तथाऽपि रतये पिनाकिनः’
‘शङ्करस्य रुरुधे तया करः’
‘प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम्’
‘जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभा’

इत्यादि स्थलेषु पिनाकिशङ्करानङ्गशासनजगद्गुरुप्रभृतिभिः पदैरेव भगवन्तमभिधत्ते तेन चालङ्कारिकैरुद्भावितः प्रकृतिविपर्यय दोषोऽपि निरस्यत एव। जगद्गुरुप्रभृतिभिः पदैः परमेश्वरस्य मूलभूतमेव स्वरूपं कविता परामृश्यते न तु देवदत्तादिवद् कस्यचित् प्राकृतपुरुषस्याभिधानमात्रम्। सोऽयं स्थिरभक्तियोगः पार्वत्याश्चरिते सम्यगुपपादितः कविना। बटुवेशधरेण हरेण मुहुः परीक्षिताऽभिप्राया शैलकन्या हरनिन्दातस्तं निवारयन्ती यदेवं प्राह–

उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम्।
आलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥

तत्र परमार्थतो हरस्वरूपज्ञानमतिदुष्करं तच्च यदि सम्पद्यते तदा पुरुषार्थपराकाष्ठेति कवेराशयः संलक्ष्यते। परमार्थतो हरस्वरूपज्ञाने च स्थिरभक्तियोग एवोपायः स च विश्वस्मिन् तदभेदभावनारूप इत्याभिप्रायो निष्पन्नः। अत्र कविना ‘ह’कार–‘र’कारयोराकाशाग्निबीजरूपतया मायाबीजमंशतः कटाक्षयता विश्वस्य शिवशक्त्यात्मकत्वमागमशास्त्रदृष्ट्याऽपि सूचितमाभाति। अयमेवाशयः शाकुन्तलस्य चरमपद्ये ‘ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः’ इत्यत्र किञ्चिद्विशिष्य व्याख्यातः।

मेघदूते एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति न्यायेन परम्परयाऽपि परमोपास्ये भगवति चित्तवृत्तिप्रवाहो भक्तेः प्रकारो भवतीति पद्यविशेषे कविना प्रकाश्यते। तद्यथा–

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः।
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य॥ इत्यादि।

पद्ये भर्तृत्रिभुवनगुरुचण्डीश्वरशब्दाः सविशेषमवधानमपेक्षन्ते। महाकविवाचा- मतिगम्भीरोऽपि प्रायः स्वारसिको भवतीति नियममाश्रित्य भर्तृशब्दः स्वातन्त्र्यशक्तिसम्पन्नत्वे पर्यवस्यति। एवं त्रिभुवनगुरुशब्दो वाच्यव्यङ्ग्यदशयोस्तत्तद्विशिष्टार्थबोधकः, एवं 'चण्डी'शब्दोऽपि जगन्नियामिकायाः शक्तेर्बोधकः 'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' इत्यादि मन्त्रस्मरणात्। एवंविधे भगवति सततप्रवाहशीलायां चित्तवृत्तौ गुरूपदेशाद्युपायेन सम्पन्नायां 'स्थिरभक्तियोगः' कालिदासकवेरभिमतः सिध्यतीत्याकलयामः।

एवंविधेन स्थिरभक्तियोगेन न केवलमुपास्यः परमेश्वर इति साधारणोक्तिः किन्तु तेनैव सुलभो नेतरेणोपायेनेति कथने कवेरभिनिवेशो लक्ष्यते। भगवतः शिवस्य सुलभत्वं कविना तद्वचसैव स्फुटीकृतं कुमारसम्भवे शाकुन्तले च यथा–

'विदितं वो यथा स्वार्थं न मे काश्चित्प्रवृत्तयः।
ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थम्भूतोऽस्मि सूचितः॥' इति।

'प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः'। इति च।

अवाङ्मनसगोचरं मुक्तोपसृप्यं ब्रह्म तावन्मन्दधीभिर्दुरासदं भवति परमेश्वरस्तु महीप्रभृतिभिः स्थूलाभिरपि सर्वसंवेद्याभिस्तनुभिरुपासितुं सुलभो वर्तते। तत एव च चिरात्पार्थिवमूर्तौ समर्च्यते परमेश्वरः सर्वैः। अत एव कविना 'इत्थंभूतोऽस्मि सूचितः' इति भगवदुक्त्या सुलभत्वमुपदर्शितम्।

नानाविधपुराणागमप्रसिद्धासु कथासु भगवतः सुलभत्वं प्रसिद्धमेव। किञ्च–

'सुन्दरः सुमुखः स्वस्थः सुलभो बहुतन्त्रवित्।
असंशयः संशयच्छिन्निरपेक्षो गुरुर्मतः॥'

इति तन्त्रराजोक्तेषु गुरुलक्षणेषु 'सुलभ'शब्दस्तत्रैव व्याख्यातः 'सौलभ्यमप्यगर्वित्वम्' इति। परमेश्वरस्य विश्वमूर्तेः सर्वसङ्कोचशङ्काकलङ्कभावा–

न्नाऽहङ्कारलेशः परममौदार्यञ्च सुप्रथितमेव। महाकविनाऽप्येतदुन्मीलितम्-

'अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः'। इति।

तदेवमद्वैतभक्तियोगेनैव सुलभो महेश्वर इति कवेराशयः स्फुटीभवति। सा च भक्तिः पञ्चमपुरुषार्थरूपा निगमागमनिरूपिताऽपि सविशेषमागमोपलभ्या कविवचसां पर्यन्तभूमिरिति न प्रतिभाति।

■

मेघदूतप्रस्तावनाश्लोकव्याख्या

वन्दामहे कमपि नन्दनकल्पवल्ली-
फुल्लप्रसूननिकरर्चितपादपद्मम्।
गौरीमनः कुमुदाननयामिनीशं
स्तम्बेरजाभवदनं सदनं शुभानाम्॥
विलासं शारदाम्बायाः कालिदासं भजामहे॥
यस्य वाचा रसमुचा जीवन्ति रसिका भुवि॥
मेघदूतमिदं काव्यं केकाऽऽलपसमन्वितम्।
न भवेत् किं प्रमोदाय सततं सरसात्मनाम्॥

अथ तत्रभवान् सकलकविकुलकमनीयकीर्तिर्नवरसमाधुरीप्रसृमरपरिमल-विरचितदिगन्तरालपूर्तिर्वाग्देवताविलासो महाकविः कालिदास किमपि सरसात्मनामुभयविधवासनानुवासितस्वान्तानां सहृदयगोष्ठीनिबद्धहृदयानां भावुकमौलिहीराणां मानसाऽऽमोदमेदुरीकरणचतुरमतिमधुरतरं कुसुमकोमलं 'मेघदूता' भिधानं रसनिधानं खण्डकाव्यं रिरचयिषुः—'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' इत्यनुशासनमनुल्लङ्घयन्,

न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागः प्रवर्धते॥

इत्युक्तदिशा विप्रलम्भशृङ्गारसारस्वतं रससर्वस्वं रसिकान् अनुभावयन् प्रस्तुतं वस्तुनिर्देशगर्भं मङ्गलं समुपक्षिपति।

कदाचिन्नवेन्दुमौलिवल्भो राजराजः स्वां पुरीं त्रिदशनगरीमप्यतिशयानामलकामधिवसन्, कनक-कमल-परिमल्ललित-मानससरोवर-गोक्षनिवासु यामिकभावेन चरितनायकं यक्षमेनमादिदेश। असावपि भर्तुरादेशं शिरसि निवेश्य, कञ्चन

कालं स्वनिदेशं यथावदनुष्ठितवान्। अथ विभातप्रायायां कदाचिद् विभावर्यां दुर्गारमारबाणपरमाकुलीकृतमानसो दयितावदनचन्द्रमसः किरणैरात्मानं शिशिरयिषुर्विस्मृतात्मा पद्भ्यामनीयत मदनलीलानिकेतनं निजमुद्वासितम्। अत्रान्तरे प्रत्यूषलब्धप्रबोधैर्दिगन्तदन्तावलैरभ्येत्य स्वैरमवगाह्य च तत्सरः परिसरवर्तीनि जातरूपकमलानि समलान्यक्रियन्त। अथेदं निशम्य वृत्तं राजराजः प्रातरेव समाहूय यक्षप्रवरमेनं नितान्तं कान्तासङ्गेन विस्मृतस्वनियोगगौरवमाकलय्य, 'कान्तासङ्गैकलोलुप! स्वाऽधिकारेऽप्यनवधानमाचरतस्ते वर्षभोग्योऽयं शापः–यद् भवांस्तया वियुक्तो विगलितमहिमा भूभागे भ्रमत्विति' सरोषं शप्तवान्। अथासौ देवदूरीकृतप्रियजनो यक्षमणिर्जनकसुतावगाहनपावितजलाशयेषु शीतलनमेरुतरुच्छायसुभगेषु चित्रकूटाश्रमपदेषु दुर्वारविरहज्वरकातरः सञ्चरन्नुवास इत्याशयेन कविरुपक्रमते–

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमितमहिता वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥1॥

तस्मिंश्चित्रकूटशिखरिणि दयिताविरहविधुरः प्रकोष्ठतानवविगलितकनकवलयः स विलासी कथञ्चिदष्टौ मासानवसाय्य, समुदितवति शुचौ मासे प्रथमदिवसे शिखरि शिरः परिवेष्टयन्तमुत्खातकेलिलालसया तिर्यग् दशनमुसलाहतितटिमधरान्तं स्तम्बेरममिवाऽभिनवं जलदमवलोकयाञ्चकारेत्याह–

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श॥२॥

अथ राजराजानुचरोऽप्यसौ सम्प्रति कांदि क्षीकतां दैवेनानुभावितो धीरया धिया सावेगं बहिर्निर्गच्छतोऽश्रुप्रवाहान् कण्ठ एवाऽवरुध्य, नवनवाऽभिलाषसमुन्मेषहेतोस्तस्याऽभिनवमुदिरस्य पुरतः कथञ्चिदात्मानं

संस्थाप्य, चेतःसंज्वरं जरयितुं चिरं निमीलितनयनः किमपि ध्यायति स्म, मेघागमे हि सन्निहितदयितोऽपि कामपि हृदयदेशनिवेशिनीं वेदनामनुभवति, किं पुनर्दूरीकृतपरीरम्भसम्भावनीयजनः सज्जनः?' इत्युपनिबध्नन्नाह–

तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो-
रत्नर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे॥३॥

स यक्षप्रवरः श्रावणे मासि प्राप्तप्राये सति, प्रियसन्देशमात्रेणाऽपि दयिताजनमनांसि जीविताशामालम्बन्त इति सुचिरं विचार्य प्रियां प्रति जीवनदान(जलदान)–कुशलेन जीमूतेन स्वां कुशलवार्तां प्रापयितुमभिलषन्नूतनैर्गिरि-मल्लिकाकुसुमैरुपहृतार्घाय तस्मै पुरोवर्तिने मुदिरमणये प्रसादमधुराक्षरं स्वागतं प्रसन्नवदनः समुदीरयति स्मेत्याह–

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार॥४॥

ननु धूम–ज्योतिः–सलिल–पवन–समुदायपरिकलितदेहो मेघः क्व, पटुभिर्दूततल्लजैः प्रहेयानि वाचिकानि च वनेति समुत्कण्ठकुण्ठितविवेकप्रसरो गुह्यकवरो यदेन मया च त, न तदतीवाऽननुरूपम्, तथा हि– स्मरशरप्रसर-निरस्तधैर्याश्चेतनाऽचेतनविभागविधौ निसर्गदीना भवन्तीत्युपनिबध्नाति–

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाऽचेतनेषु॥५॥

सम्प्रति प्रार्थयमान आह–'सकललोकमहितमहिमनि पुष्कराऽऽवर्तकादिमेघ-राजसम्भूतिप्रशस्ये महाकुले लब्धजन्मनः स्वेच्छानुरूपशरीरचनाचतुरस्य ते

देवराजप्रधानसेवकपदवी सुविदितैव मे। अत एव दुरदृष्टदूरीकृतदयितासङ्गोऽहं त्वयि याचकतां भजे, यतः किल महति विफलाऽपि प्रार्थना न तथा व्यथयति यथाऽधमे सफला' इत्याह–

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।।६।।

हे पयोद! तरुणातपनिष्करुणेन विरहज्वरेण विकलीभूतचेतसां त्वमेवैकः शरणम्। ततो यक्षराजक्रोधानलतप्तस्य मे सन्देशं वल्लभां प्रति नयेः। उपशल्यकानननिवासिनश्चन्द्रमौलेः शिरःपरिसरप्रसारिण्या ज्योत्स्नया विशदीकृतहर्म्यराजिरलकाऽभिधाना यक्षेश्वराणां वासभूमिस्तव सम्प्रति गन्तव्या भवतीत्यभिधत्ते–

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद! प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका ना यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या।।७।।

'मदर्थमलकां जिगमिषोस्ते नभसि समुदयमालोक्य लघुभूतविरहज्वराः समाश्वस्तहृदयाः पथिकाङ्गनाः कबरीभरमालम्ब्य साकूतस्मितसुभगं त्वामवलोकयिष्यन्ति। न खलु तासामाशाबन्धो वितथस्तथा हि कः खलु मादृशात्पराधीनजीवनादन्यो युवा त्वयि समासन्नेऽपि विरहबाधाकातरां हरिणाक्षीमुपेक्षितुमुत्सहेत' इत्याह–

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः।
कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः।।८।।

अयं तवानुकूलो गन्धवाहः सुहृदिव सत्कर्मणि मन्दमन्दं प्रेरयति, तव वामभागमलङ्कुर्वाणो नितान्तभक्तोऽनुचर इव सगर्वोऽयं चातकश्च प्रास्थानिकं मङ्गलं गायन्निव मधुरं कूजति, किञ्च गर्भाधानमहोत्सवप्रणयिन्यो बलाकाङ्गना नयनोत्सवायमानां भवन्तं नभसि सप्रमोदमवलोकयिष्यन्तीति सति सकलेऽपि समुपस्थिते शुभशकुननिकरे प्रस्थानयोग्योऽयमेव समय इति प्रक्रमते–

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः॥९॥ इति।

■

साहित्यशास्त्रे ध्वनिस्वरूपं रसविमर्शश्च

संस्कृतसाहित्यशास्त्रे सन्ति बहुविधानि प्रस्थानानि तत्तदाचार्यशेमुषीविशेषप्रतिभासितानि। तत्र सर्वेषां शास्त्राणामुद्गमो भगवतः श्रीकण्ठादेवेति 'ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानामि'त्यादि श्रुतिवचनैः–

> 'अष्टादशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम्।
> आदिकर्त्ता कविः साक्षात् शूलपाणिरिति श्रुतिः॥'

इत्यादिस्मृतिवचनैश्च प्रामाणिकैरभ्युपेयते। कविशेखरेण राजशेखरेणापि काव्यमीमांसोपक्रमे–'अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे, यथोपदिदेश श्रीकण्ठः, परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः' इत्यादिना उपक्रम्य काव्यपुरुषोत्पत्तिमभिधाय तदीयशिष्यपरम्परया बहुशाखोऽयं वाङ्मयपादपः सुविततः फलितश्चाभवदिति प्रत्यपादि। तत्रैव 'रूपकनिरूपणीयं भरतः' इत्याचार्यभरतस्य नाम पठ्यते, यन्मूला सम्प्रति साहित्यशास्त्रचर्चा ग्रन्थशतैर्विस्तारमागता विद्वद्भिरनुभूयते। आग्नेयमहापुराणे च साहित्यशास्त्रविषयिणी कापि चर्चा लोचनगोचरी भवति।

सर्वेषामपि शास्त्राणां वेदमूलकत्वात्तदुपकारकत्वाच्च प्रामाण्यमिति शिष्टमर्यादया साहित्यस्यापि वेदाङ्गोपाङ्गसमानत्वमेव प्रतिपत्तव्यम्। भरतेनाऽपि नाट्यशास्त्रे–

> 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।'

इति नाट्यशास्त्रस्य वेदोपज्ञत्वमेव व्यवस्थापितम्। अत एव 'अलङ्कारः सप्तममङ्गं ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थानवगतिः' इति तथ्यमेवाह राजशेखरः। एवमस्य सिद्धे प्रामाणिकत्वे तद्विवेचनं मतिमतां विमर्शपदवीमुपयातुमर्हति।

तत्र स्थूलदृष्ट्या ऐतिहासिकाः साम्प्रतं कांश्चन साहित्यसम्प्रदायान् व्यवस्थापयन्ति, तद्यथा–रससम्प्रदायः गुणसम्प्रदायः, रीतिसम्प्रदायः, अलङ्कारसम्प्रदायः, ध्वनिसम्प्रदायः, वक्रोक्तिसम्प्रदायः, औचित्यसम्प्रदायः चमत्कारसम्प्रदायः, इत्येवमादयः।

वस्तुतः सिद्धान्तदृष्ट्या अलङ्कारसम्प्रदायः, ध्वनिसम्प्रदायश्चेति द्वितयी साहित्यशास्त्रस्य सीमानं व्याप्नोति। रसोऽपि ध्वन्यन्तर्भूत एवेति तन्निरूपात् स्फुटीभविष्यति। तत्र 'शब्दार्थौ काव्यमि'ति काव्यलक्षणेऽस्मिन् प्रायः सर्वेषां न विप्रतिपत्तिः। काव्यशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दगतमर्थगतं वेति विवादस्तु सव्येतरविषाणयोः प्राथम्यपरिचर्चासमकक्षस्तर्कचर्वणामात्रपर्यवसायी।

तत्र 'विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यमि'ति लक्षणं सकलवादिसंप्रतिपन्नम्। परं तदवैशिष्ट्यं बहुधा विभिद्यते। तथाहि वैशिष्ट्यं तावत् त्रिविधं–धर्ममूलकम्, व्यापारमूलकम्, व्यङ्ग्यमूलकञ्चेति। धर्ममूलकमपि नित्यमनित्यञ्चेति द्विधा भिद्यते। नित्यधर्मरूपां रीतिमङ्गीकुर्वतां वामनादीनां सम्प्रदायः अनित्यधर्मरूपानलङ्कारामङ्गीकुर्वतां भामहोद्भटादीनामन्यः सम्प्रदायः। व्यापारमूलकवैशिष्ट्यवादिनामपि शब्दमूलकमर्थमूलकञ्चेति भेदद्वयम्। तत्र शब्दमूलको व्यापारो वक्रोक्तिसिद्धान्तमनुबध्नाति, अर्थमूलकश्च व्यापारो भोगकर्तृत्वादिरूपो भट्टनायकस्य। तृतीयश्च व्यङ्ग्यमूलकं वैशिष्ट्यं लब्धप्रतिष्ठमानन्दवर्धनाचार्यादीनाम्।

इत्येवं संक्षेपतः काव्यस्वरूपे समधिगते ध्वनिस्वरूपविमर्शः पादमाधत्ते, कोऽयं ध्वनिर्नाम? 'ध्वन्'धातुः शब्दार्थको नादार्थको वा प्रायः काव्येषु परिगृहीतस्तत्र-तत्र दृश्यते, यथा–'विभिद्यमाना इव दध्वनुर्दिशः', 'अयं धीरं धीरं ध्वनति नवनीलो जलधरः', 'कपिर्दध्वान मेघवत्' इत्यादि। एतेषूदाहरणेषु नादविशेषसूचको ध्वनिशब्दः। वैय्याकरणानां मते ध्वनिशब्दो नादपर्याय एव यथा–

'ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे॥' इति।

साहित्यशास्त्रे प्रागपि आनन्दवर्धनाचार्यादयं ध्वनिसिद्धान्तो: समभूत्, परमलङ्कारवादप्राचुर्यात् प्रतिष्ठां न लेभे, अत एव ध्वन्यालोके प्रथमश्लोके– 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः' इत्यत्र लोचनकारो विवृणोति 'बुधस्यैकस्य प्रामादिकमपि तथाऽभिधानं स्यात् न तु भूयसां तद् युक्तम्'। तेन बुधैरिति बहुवचनम्, एतदेव व्याचष्टे परम्परयेति। अविच्छिन्नप्रवाहेण तैरेतदुक्तम्–विनाऽपि विशिष्टपुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः। न च बुधा भूयांसोऽनादरणीयं वस्तु आदरेणोपदिशेयुः। एतत्वादरेणोपदिष्टम्। तदाह–'सम्यग् य आम्नातपूर्वः। पूर्वग्रहणेन इदंप्रथमतया नाऽत्र सम्भाव्यत इत्याह' इति, एतल्लोचनविवरणं ध्वनिविचारस्य प्राचीनत्वं समर्थयति, यद्यपि ग्रन्थविशेषे तद्विषये प्राधान्याऽप्राधान्यविचारो नाऽऽसीत्।

एते काश्मीराचार्याः प्रायो महाभाष्यकारादिसिद्धान्तानुयायिन आसन्निति तत्रत्यपरम्परापरिचयान्निश्चीयते। अत एव ध्वन्यालोके प्रथमोद्योते "प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणः व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिः वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः" इति ध्वनिस्वरूपावतारः प्रदर्शितः।

तत्र प्रथमतो दिङ्मात्रेण वैय्याकरणमतमनुसन्धेयं यदनुकरणे ध्वनिव्यवहार- प्रवृत्तिः परवर्तिनां समजायत। पातञ्जलमहाभाष्यस्य प्रथमाऽध्याये पङ्क्तय इमाः पठ्यन्ते–'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यारभ्य अथ गौरित्यत्र कः शब्दः किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्दः नेत्याह द्रव्यं नाम तत् कस्तर्हि शब्दः, येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः, अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्दं मा कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकारी अयं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते तस्माद् ध्वनिः 'शब्दः' इति।

अयमाशयो वैय्याकरणानाम्–पटादिभिर्वर्णसमुदायरूपैः क्षणिकैः पदैः स्फोटरूपो नित्यः शब्दो व्यज्यते तेन चाभिव्यक्तेन अर्थः प्रतीयते, इति तादृशस्य प्रधानीभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य वर्णसमुदायरूपस्य पटादिशब्दस्य

ध्वनिरिति संज्ञा। ननु शब्दात्कथं पदार्थवाक्यार्थधीः? आशुविनाशिनां क्रमिकाणां वर्णानां मेलकाभावादानुपूर्व्या ज्ञातुमशक्यत्वात्। तस्मात् पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कार–सहितान्तिमवर्णानुभवेन स्फोटो व्यज्यते। स च ध्वन्यात्मको व्यङ्ग्यात्मको वा, शब्दो नित्यो ब्रह्मस्वरूपः सकलप्रत्येय– प्रत्यायनक्षमोऽङ्गीक्रियते। तद्व्यञ्जकश्च वर्णात्मकः शब्दः। पूर्वसङ्केताद्यभावात् व्यञ्जनैव तत्र वृत्तिः। अर्थप्रत्ययरूपफलोत्पादकत्वात् प्राधान्यं स्फोटस्य, स्फुटयति प्रकाशयति अर्थमिति स्फोटः, ध्वनति स्फोटं व्यनक्तीति ध्वनिरित्युभयत्र व्युत्पत्तिः।

सङ्केतग्रहनिरपेक्षबोधजनकतारूपं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावमाश्रित्य काव्यमार्गपथिकैर्ध्वनिव्यवहारः प्रवर्तितः। उपजीव्योपजीवकयोरनयोर्मतयो–र्विषयभेदाद् भेदोऽस्त्येव। वैय्याकरणानां शब्दजन्यार्थप्रतीतिसामान्ये विचारः, परवर्तिनां तु वैदग्ध्यमूलकविशिष्टार्थप्रतीतौ विचार इति भिन्नाः पन्थाः। अत एव वाक्यस्फोटमेव प्रधानतया स्वीकुर्वतां खण्डनं काव्यानुपयोगितया काव्यप्रकाशे ध्वन्यालोके च निर्दिष्टमुपलभ्यते यथा–

'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव वाचकम्' इति येऽप्याहुः, तैरपि अविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति। तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव इति।

वाक्यस्फोटवादिनामखण्डेत्यादिविशेषणविशिष्टः स्फोट एव प्रधानम्, पद पदार्थविभागस्तु अविद्यको व्युत्पत्तिदशायां कल्पितः। यथोक्तं भर्तृहरिता–

'ब्राह्मणार्थो यथा नाऽस्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥'

देवदत्तो गच्छतीत्यादौ वाक्ये देवदत्तसम्बन्धिगमनस्याऽखण्डस्य प्रतीतेः, खण्डभूता देवदत्तादयोऽनर्थकाः स्युरित्यभिप्रायः। परं व्यवहारे प्रक्रियायां तैरपि पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैव भवति। काव्यञ्च व्यवहारोपयोगीति तत्र पद–पदांश–प्रकृति–प्रत्यय–निपातोपसर्गादीनां व्यञ्जकत्वमङ्गीकरणीयमेव। स्वीकृतञ्च तैरपि–

'उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥'

इति। ध्वनिकारमते 'वाच्यवाचकसंमिश्रः' इत्युक्त्या वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वात्। 'शब्दात्मा' इति विशेषणात् शब्दनं शब्दव्यापारः, स चाऽभिधादिप्रसिद्धिवृत्तिविलक्षण एव मन्तव्यः। सोऽपि ध्वनिः। काव्यमिति यो व्यपदिश्यते सोऽपि ध्वनिशब्दवाच्य एव। प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदोपचारात् ध्वनिसिद्धान्तप्रतिपादको ग्रन्थोऽपि ध्वनिरित्युच्यते। ततः शब्दे, अर्थे, व्यापारे, काव्यविशेषे, ध्वनिग्रन्थे च ध्वनिशब्दव्यवहारः सिद्ध इत्याचार्याऽभिनवगुप्तपादानामाशयः। इदमेवाभिव्यञ्जकत्वं कैश्चित् साहित्यशब्देन प्रतिपाद्यते, यतः साहित्यं नाम शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावः न तु यथाकथञ्चित्सहभावः। यदुक्तं वक्रोक्तिजीवितकारेण—

'साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥' इति।

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावे निष्पन्ने नूनं तस्य कविविवक्षितार्थव्यञ्जनक्षमत्वं सिद्ध्यति। इदमेव तत्त्वं साहित्यस्य द्वादशसम्बन्धैर्भोजराजोऽपि शृङ्गारप्रकाशस्य सप्तमाध्याये रूपान्तरेण विशदयाञ्चकार। यथा—'तत्राऽभिधाविवक्षातात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभावदोषहानगुणोपादानालङ्कारयोगरसावियोगरूपाः शब्दार्थयोर्द्वादशसम्बन्धाः साहित्यमुच्यते' इति। इत्थमेव शारदातनयोऽपि भावप्रकाशने साहित्यस्वरूपमवर्णयत्।

परमेतदपेक्षया व्यञ्जकत्वव्यवहार एव युक्त्यनुरोधी प्रतिभाति यतः साहित्यस्य बहुविधसम्बन्धमूलकत्वेन व्यापकत्वात् तथा किमप्येकं लक्षणं कर्तुं न शक्यते, यथा ध्वनेः कर्त्तुं सुशकम्। यतो हि महाकवेः शब्दार्थौ मतिमद्भिः प्रत्यभिज्ञेयौ, ज्ञातचरौ अपि पुनः परिशीलनीयौ—

'सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥'

इत्युक्तदिशा कालिदासादीनां महाकवीनां रघुवंशादिकाव्यानि पठतामापाततः सामान्यार्थबोधे समानेऽपि विदग्धानां विहितश्रमाणाञ्च कश्चिदपूर्व एवार्थागमो बुद्धिविषयीभवति तत्र तयोः शब्दार्थयोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव एव हेतुः।

अत एव लोचनकारः 'प्रत्यभिज्ञेयौ' इति पदं व्याचक्षाण एवमाह–तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानम्। न तु तदेवेदमेतावन्मात्रम्। अत्रेदं प्रत्यभिज्ञासम्प्रदायदृष्ट्या–

'चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥' इति।

यथा भगवतो निरुपादनसकलप्रपञ्चनिर्माणपटुत्वं तथैव महाकवेरपि प्रातिभजगन्निर्माणपटुत्वमवसीयते। अत एव वदन्ति ध्वनिकारादयः–

'अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥
भावानचेतनानपि चेतनवत् चेतनानचेतनवत्।
व्यवहरति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया॥'

एतच्च सर्वं व्यञ्जकत्वमपेक्ष्यैव युक्तियुक्ततामालम्बते। यथा नादादेव विविधानां स्वराणां रागाणाञ्च विस्तारः यथा वा मयूराण्डरसन्यायेन सूक्ष्माया वाच एव अनन्तानां शब्दप्रकाराणामुत्पत्तिः तथैव कविप्रतिभैवाऽनन्तवैचित्र्यमय-विश्ववर्णनचातुरीधुरीणा काव्यरूपेण परिणमति एतत्सर्वमनुसन्धाय ध्वनिप्रतिष्ठापनाय प्रवृत्त आनन्दवर्धनाचार्यस्तल्लक्षणमेवमवतारयति–

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥'
इति।

अत्र 'अर्थः शब्दो वा' इति विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण। क्वचिदर्थस्य प्रधानतया व्यञ्जकत्वं क्वचित् शब्दस्य। अग्रे च 'व्यङ्क्तः'

इति द्विवचनेन शब्दार्थयोस्सर्वत्र सम्भूयैव व्यञ्जकत्वामिति सूच्यते। स्वश्चासौ अर्थश्च तौ स्वार्थौ, तौ गुणीभूतौ याभ्याम्। यथासंख्येन तेन अर्थो गुणीकृतात्मा, शब्दो गुणीकृताभिधेयः तमर्थम्–

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
आलोकसामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥'

इत्युक्तलक्षणं व्यङ्क्तः द्योतयतः स काव्यविशेषो ध्वनि इति लोचनकारः। अयं ध्वन्यमानोऽर्थस्तावद् द्विविधः–लौकिकः काव्यव्यवहारगोचरश्च। लौकिको यः शब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते। स च विधिनिषेधादिरूपैरनेकविधो वस्तुशब्देनोच्यते। सोऽपि द्विविधः। यः पूर्वं क्वापि वाक्यालङ्कारभावमुपमादिरूपतयाऽन्वभूत् इदानीं त्वनलङ्काररूप एवाऽन्यत्र गुणीभावाऽभावादपूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन। तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते। मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम्।

यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुदितप्राङ्निविष्टरत्यादिवासनानुरागासुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणव्यापाररसनीयरूपो रसः, स च काव्यव्यापारैकगोचरी रसध्वनिः। स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यतयाऽऽत्मा।

एवं वस्त्वलङ्काररसरूपेण त्रिविध एव ध्वनिः संकलेन। अत एव 'नियति कृतनियमरहिताम्' इत्यादि काव्यप्रकाशमङ्गलपद्ये 'स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छच्छायायासितेन्दवः' इत्यादि ध्वन्यालोकप्रथमपद्ये वा भङ्ग्या त्रिविधध्वनिसत्ताऽपि सूचिता दिङ्मात्रं यथा–'नियतिकृतनियमरहिताम्' इत्यादिविशेषणैर्ब्रह्मनिर्मित्यापेक्षया कविनिर्मितेः गुणाधिक्यसूचनाद् व्यतिरेकोऽलङ्कारध्वनिः तेन च जयत्यर्थेन तदुत्कर्षप्रतीत्या 'ता प्रत्यस्मि प्रणतः' इति नमस्काररूपो वस्तुध्वनिः, अनयोरुभयोरपि ध्वन्योः पर्यवसाने ग्रन्थकृन्निष्ठकविभारती विषयकभावध्वनौ समावेशः। भावश्च रसरूपेणैव परिणमतीति रसध्वनिरिति व्यपदेष्टुं शक्यते। भक्तिरसवादिनां मते भक्तिरसध्वनिर्वा। सा च 'परानुरक्तिरीश्वरे' इति भक्तिसूत्रादुपास्यदेवताविषयकपरानुरागरूपा। ननु मङ्गलाचरणेऽस्मिन् व्यतिरेकवस्तुध्वन्योस्तु स्फुटमेव

ज्ञानम्, रसविषये तु न किञ्चिदुक्तमितिचेन्नैष दोषः। रसस्य स्वशब्दवाच्यताविरहेण व्यङ्ग्यत्वेन निर्देशस्यैव औचित्यात्। अत एव मम्मटेन 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि' इति काव्यलक्षणे रसपदग्रहणं न कृतम्। न च लक्षणस्याऽव्याप्तिः शङ्कनीया–

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥' इति।

वक्ष्यमाणगुणलक्षणानुसन्धानात्तदविनाभावितया रसस्योपलम्भात्। अयञ्च ध्वनिरभिधालक्षणामूलतया प्रथमतो द्विशाखतया विभज्यमानक्रमेण विवक्षितान्यपरवाच्य अविवक्षितवाच्यश्चेति संज्ञां लभते। विवक्षितान्यपरवाच्योऽपि संलक्ष्याऽसंलक्ष्यक्रमत्वेन द्विभेदः। तत्र असंलक्ष्यक्रमस्य रसादिध्वनेरनन्तप्रकारस्यापि पद–पदांश–वाक्य–प्रबन्ध–वर्ण–रचनाव्यङ्ग्त्वेन षड्विधत्वमूरीक्रियते। संलक्ष्यक्रमोऽपि शब्दार्थतदुभयशक्तिमूलतया त्रिप्रकारः। शब्दशक्तिमूलस्य वस्त्वलङ्कारव्यञ्जकत्वेन उभौ भेदौ। तयोरपि पदवाक्यगतत्वेन चत्वारो भेदाः। अर्थशक्तिमूलेऽपि व्यञ्जकस्यार्थस्य स्वतःसम्भविकविप्रौढोक्ति–सिद्धकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धतया त्रैविध्यात्तस्य च प्रत्येकं वस्त्वलङ्कार–व्यञ्जकतायाश्चतुर्विध्याद् द्वादशभेदाः। ते च पदवाक्यप्रबन्धगतत्वेन त्रैविध्यात् षड्त्रिंशद्रूपतां भजन्ते। उभयशक्तिमूलस्तु वाक्यमात्रव्यङ्ग्यत्वेन एकविध एव। लक्षणामूलस्याऽविवक्षितवाच्यस्य अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य–अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन द्विप्रकारकस्य पद–वाक्यगतत्वेन परिगणनात् चातुर्विध्यम्, तदेवं ध्वनेः शुद्धस्य एकपञ्चाशद् भेदाः न केवलं प्रधानतया व्यज्यमान एवार्थश्चमत्कारहेतुः किन्तु गुणीभूतोऽपि काव्यमार्गस्य परां शोभामावहतीति ध्वनिकारोक्तिः श्रद्धेयैव–

'प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥' इति।

'तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः' इति तदुक्तिः–

'तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्ध्यङ्गम्।
सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम्।।
व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ।'

इत्युक्तदिशा अष्टविधोऽयं काव्यस्य प्रकारः।

यत्तु तृतीय चित्रकाव्यमित्युच्यते। तत्तु जीवितायमानप्रतीयमानार्थाभावात् तस्याऽपरामर्शाद् वा आलेख्यप्रख्यं चित्रपदाभिधेयं भवति। अथवा शब्दार्थचमत्कारमात्रसारत्वात् आपाततो विस्मयजनकमिति चित्रपदेन निर्देश्यम्। रसभावावगाहिचित्तवृत्तिपरिपोषाभावाच्च तृतीयकोटिनिविष्टं तुच्छप्रायञ्चेति सहृदयैस्तदुच्यते।

यद्यपि तादृशशब्दार्थचमत्कारसारे काव्ये पर्यन्ततः किमपि व्यङ्ग्यमवश्यम्भवति परन्तु तस्य कविसंरम्भगोचरत्वाऽभावान्न जीवनाधायकत्वम्। अत एव साहित्यदर्पणकारादिभिस्तस्य काव्यकोटौ निवेश एव नाङ्गीकृतः।

यत्तु पण्डितराजो जगन्नाथः—अप्रधानस्यापि व्यङ्ग्यस्य क्वचिच्चमत्कारितामङ्गीकृत्य द्वितीयमुत्तमं नाम काव्यभेदं व्यवस्थापयति तदपि दुराग्रहमात्रमेव। एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदानां नानाविधगुणीभावस्वीकारत् पृथक् काव्यभेदोत्पत्तिः अनवस्थापत्तिश्च स्यात्। अतो व्यङ्ग्यचमत्कारप्रयोजकतां लक्ष्यीकृत्य मम्मटादिनिर्णीता सरणिरेव शरणीकरणीया।

एवं दिङ्मात्रेण ध्वनिस्वरूपमुपस्थाप्य तदुदाहरणविषयेऽपि किञ्चिदुच्यते- यत्किञ्चिद् व्यङ्ग्यसत्वे न चमत्कारः किन्तु सहृदयहृदयाह्लादकव्यङ्ग्यानुभव एव उत्तमकाव्यव्यपदेशविषयता भवति, अतो 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ शैत्यपावनत्वादिसम्प्रत्ययेऽपि काव्यकोटिनिविष्टत्वं नास्ति। अलोकसामान्यप्रतिभावतां केषाञ्चिदेव कवीनां सहजसुकुमाररसनीयार्थाविर्भावसामर्थ्यं भवतीति कालिदासादिकृतिपरिशीलनेन सहृदयैरनुभूयत एव। एकमेव कालिदासपद्यमालोच्यताम्—

'तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणा प्रेक्षणा निम्ननाभिः।

श्रोणीभारदलसगमना स्तोकनम्र स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥' इति

अत्र स्वप्रणयिन्याः परिचयं ददानो यक्षो दन्त-नेत्र-नाभ्यादिविशेषणैः सामुद्रिकसुलक्षणशालितां द्योतयति ततः स्वात्मनः कामशास्त्राभिज्ञतया तस्याः पद्मिनीत्वं ध्वनयति, ततश्च विशिष्टसौन्दर्यस्य प्रत्यायनं, तद्द्वारा च स्वकीयनिरतिशयप्रेमास्पदतां तन्मूलकतद्वियोगजनितामरुन्तुदव्यथां, तद्दुःसहताञ्च व्यञ्जयन् घण्टादिनादानुनादक्रमेण ध्वनिपरम्परामुपस्थापयति। चतुर्थपादस्थेन उत्प्रेक्षालङ्कारेण तदीयसौन्दर्यगतमद्वितीयत्वरूपं वस्तु व्यज्यते ततश्च लोकवैलक्षण्याद् व्यतिरेकालङ्कारप्रत्यायनं तदनुगामी स्वसौभाग्यरूपो वस्तुध्वनिः, तत्पृष्ठभावी विषादसञ्चारिभावध्वनिः। एवं महाकवीनां ध्वनिचमत्कारः सहृदयपरिषदा प्रमाणीकृतः प्रथते। गुणीभूतव्यङ्ग्यमपि भवत्येव चमत्कारहेतुः प्रायेण विशिष्टेष्वलङ्कारेषु तन्मूलक एव प्रतिभाचमत्कारः। यथा—

'किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ।
तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा देव! कीर्तिः॥'

अत्र राजस्तुतिप्रसङ्गे वाच्याऽपि निन्दा व्यज्यमानया स्तुत्या परिपुष्टा चमत्कारिणी। पर्यायोक्तविधया व्यङ्ग्यस्यैव प्रकारान्तरेणाऽभिधानम् इति ध्वन्यमानोऽर्थः पृष्ठतोऽपि निषण्णः सौन्दर्यमुद्रामुद्भावयितुं क्षमते। तदेवं संक्षेपेण ध्वनिविवेचनं परिसमाप्य पुरतो रसविषये किञ्चिदावेदयितुमपक्रम्यते। यद्यपि ध्वनिविषये विमतिमुद्भावयतां सन्ति बहवः पक्षास्तत्समाधानानि च भूयांसि परं तद्विवेचनं प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या सुदीर्घतमं स्यादिति संक्षेपेणैव प्रस्थीयते।

अथ कोऽयं रसो यद्वशान्महाकवीनामविनश्वरं सिद्धं यशःशरीरं विश्वम्भराऽऽभरणीभूय जागर्ति? 'वाग्वैदग्धप्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितम्' इति यद्विषये जीवितवादो वाग्वैभवस्य?

नीरसस्तु प्रबन्धोऽयं सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाऽकविरेव स्यादन्येनाऽस्मृतलक्षणः॥

इति यद्वातिरेके कवेः अकवित्वकलङ्कपातः? अत्र भगवतो भरतस्य मुनेः सूत्रमेव प्रथममासूचकं रसस्य यथा–'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति। तत्र रसो ध्वनिरित्येकमेव तत्त्वम्। ध्वनेः पर्यवसानं रसास्वादनप्रक्रियायामेव। वस्त्वलङ्कारभावादिक्रमेण प्रवर्तमाना प्रतीयमानार्थपरम्परा न तावच्चारितार्थ्यं लभते यावद् रससागरं नानुप्रविशति।

सत्यपि गुणालङ्कारसम्भारकृतचारुत्वे प्रबन्धस्तावन्न प्रबन्धराजायते यावत्तस्य रसकलशैरभिषेको न स्यात् यथोक्तं मङ्खकेन कविना–

तैस्तैरलङ्कृतिशतैरवतंसितोऽपि
रूढो महत्यापि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः॥

रसस्य द्विविधः काव्यमार्गे तावदुपयोगः–सुकुमारमतीनां शास्त्रान्तरश्रमापहारेण सरलतया चतुर्विधपुरुषार्थपाटवोत्पादनं, विदग्धानां सहृदयानां सद्यः परमानन्दोपलब्धिश्च। अत एव 'काव्यं यशसेऽर्थकृते' इत्यादिकारिकायां मम्मटेन 'व्यवहारविदे' इति, 'सद्यः परनिर्वृतये' इति च प्रतिपादितम्। यथोक्तं रुद्रटेन–

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥
तस्मात् तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवाऽन्यथा भवति॥

एतदेव कान्तासम्मितोपदेशविधिना निरूपितं मम्मटेन। किञ्च शास्त्रेषु दुर्ग्रहतया गभीरतया च प्रतिभासमानो विषयः कविसूक्तिचमत्कारेण सरसीकृतः सुतरा स्वदते। यथा–

शास्त्रेषु दुर्ग्रहोऽप्यर्थः स्वदते कविसूक्तिषु।
दृश्यं करगतं रत्नं दारुणं फणिमूर्धनि।।

इत्युक्तं नीलकण्ठकविना। अत्र प्रसङ्गात् किमप्युदाहरणमालोक्यताम्–उपनिषन्मात्रवेद्यपुरुषस्य शास्त्रैकवेद्यत्वेऽपि कविः स्वकल्पनया काननान्तरालगहनवृक्षशाखानिलीनकपिरूपेण विषयं सरसतया परिणमय्य अनुभावयति यथा–

विषमनिगमकाननान्तशाखाततिषु निलीय परान्निरीक्षमाणः।
परिणतिविदलज्जगत्कपित्थग्रसनकपे! सुचिरान्निरूपितोऽसि।।

अत्र अतिगभीरोऽपि विषयः सहजतया कपिवर्णनव्याजेन मध्ये हास्यरसं निवेशयता मतिमता कविना दार्शनिकप्रवरेण गोकुलनाथोपाध्यायेन पर्यन्ते भक्तिरसवगाहितया व्यवस्थापितः। एवं रसवत्तैव कवीनां सफलतया निकषः। तत्र भरतसूत्रव्याख्यातारो बहवः प्राधान्येन मम्मटोक्ताश्चत्वारः पक्षाः संक्षेपेण निर्दिश्यन्ते।

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे 'संयोगात्' इति पञ्चम्यन्तं पदहेतुसूचकम्। हेतुश्च द्विविधः–कारको ज्ञापकश्च। तत कारकहेतुवादिनो लोल्लटादयः। ज्ञापकहेतोरपि ज्ञानभेदात् त्रैविध्यम्–तद्विषयकानुमितिजनकज्ञानरूपेण, तद्विषयकमुक्तिरूपज्ञानजनकत्वेन च, तद्विषयकाऽभिव्यक्तिरूपज्ञानजनकत्वेन च।

क्रमशश्चैते पक्षाः श्रीशङ्कुक–भट्टनायक–अभिनवगुप्तपादाचार्याणाम्। लोल्लटादीनामयमाशयः–स्थायिनां रत्यादीनां विभावेन सह जन्यजनकभावः, उद्दीप्योद्दीपकभावः, अनुभावेन ज्ञाप्यज्ञापकभावः, व्यभिचारिभिः पोष्यपोषकभावः सम्बन्धः। निष्पत्तिस्तु क्रमेण उत्पत्तिः, अभिव्यक्तिः, तुष्टिश्च। तथा हि ललनादिभिरालम्बनैर्जनितः, उद्दीपनविभावैश्चन्द्रोदयादिभिरुद्दीपितः, कटाक्षादिभिरनुभावैः प्रतीतियोग्यः कृतः, निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभिः पोषितो रामादावनुकार्ये स्थितो रत्यादिरूपो रसः। स तुल्यरूपत्वान्नटे आरोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः इति।

एतन्मतं मीमांसकानाम्। ते हि यागादौ इन्द्रार्थासु स्थूणासु 'अमो इन्द्राः' इत्याद्यारोपवत् अनुकर्तरि नटादौ रामादेरारोपः, स च शिक्षाभ्यासादिबलात् चमत्करोति सामाजिकानिति वर्णयन्ति। एतन्मते बहुविधं गौरवम्—प्रथमस्तावत् विभावादीनां पृथक् सम्बन्धविचारे सम्बन्धत्रयकल्पना गौरवम्। रसस्य स्थितिर्मुख्यतया कथाश्रये रामादौ चेत् तस्य कालकृतव्यवधानादिदानीन्तने सामाजिके कथं तन्निष्पत्तिः। रामादिपुरुषविशेषमात्रगोचरत्वे रसस्य लौकिकत्वापत्तिः, रसस्याऽलौकिकत्वात्।

श्रीशङ्कुकादयस्तु—विभावादिभिः सह स्थायिनः संयोगाद् व्याप्यव्यापकभावरूपात् सम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिरनुमितिरित्याहुः। एतन्मते सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यरूपाभ्यो लोकप्रसिद्धाभ्यो विलक्षणया चित्रे तुरगोऽयमितिवद् 'रामोऽय'मितिबुद्ध्या प्रथमं पक्षभूतो नटो विषयीक्रियते, तेन अभ्यासातिशयवशाद् रोमाञ्चादिप्रदर्शने रतिव्याप्यत्वं गृहीतवतां सामाजिकानां रत्याद्यनुमितिः। रोमाञ्चादीनां कृत्रिमत्वेनाऽज्ञानात्। न च नटे रत्यभावाद्बाधः रत्यभावनिश्चयाऽभावात्। न च अनुमित्या चमत्कारो न स्यात्, साक्षात्कारस्यैव चमत्कारत्वादिति वाच्यम्। विषयसौन्दर्यस्यैव तन्नियामकत्वात्। घटादि साक्षात्कारस्याऽचमत्कारित्वाद् रत्यादिसाक्षात्कारस्य चमत्कारित्वस्य स्वानुभवासिद्धत्वाच्च।

एतन्मतेऽपि कानिचिद् दूषणानि सन्ति। यथा—नटादौ अविद्यमानस्य रत्यादेः कथमास्वादनम्? तत्राऽसन्नपि भावः सामाजिकैरास्वद्यत इत्युक्तम्। एतन्मते रसाधिकरणं किमिति ज्ञातुं न कश्चिदुपायः नानुकार्ये, नाप्यनुकर्तरि, न च सामाजिके रसः। एतदभिप्रायेण साहित्यचूड़ामणिटीकायामुच्यते—'इत्थञ्च रसस्य न क्वचिन्नियमेनाऽवस्थानं यावदस्य सर्वतोमुखस्फुरत्ता कस्य ताटस्थ्यमेव पक्षः किमधिकरणगवेषणया' इति। किञ्च आस्वादकाले 'रामोऽयं सीताविषयकरतिमान् तद्विषयकविरहाऽऽलापादिकर्तृत्वात्।' इत्याद्यनुमितिरूपा बुद्धिः समुदेति इति न कस्याऽप्यनुभवः विगलितवेद्यान्तरतयैवाऽनुभवात् एतन्मतं तार्किकाणाम्।

भट्टनायकस्तु—स्थायिनो विभावादीनाञ्च भोज्यभोजकभावसम्बन्धाद्रसस्य निष्पत्तिर्भोग इति सूत्रार्थः। तथा कि काव्यस्य त्रयो

व्यापाराः-अभिधा, भावकत्वं, भोगकर्तृत्वञ्च। अभिधा द्विविधा–निरन्तरार्थनिष्ठा, सान्तरार्थनिष्ठा च। आद्याशक्तिरेव, द्वितीया च लक्षण। अभिधाभिन्नं व्यापारद्वयं नाट्येऽपि। काव्येऽभिधया पदार्थोपस्थितिः। नाट्ये तु अभिनयेनेति विशेषः। तथोक्तरीत्या पदार्थोपस्थितिः। द्वितीयेन भावकत्वाख्यव्यापारेण सीतादीनां कान्तात्वादिरूपेण अवस्थानम्। अभिधाजन्यायाः सीतात्वादिप्रकारोपस्थितेः रसाननुगुणत्वात् आराध्यत्वाज्ञानस्य तद्विरोधित्वाच्च एवं साधारणीकरणेन भावकत्वनिवृतौ तृतीयस्य भोगकर्तृत्वव्यापारस्य प्रभावात् रजस्तमसोरमिभवे सत्त्वोद्रेके च प्रकाशमाना आनन्दमयी या संवित् तत्र विगलितवेद्यान्तरत्वेन स्थितिरूपा या विश्रान्तिस्तत्स्वरूपेण साक्षात्कारेण विषयीक्रियमाणो रत्यादिः स्थायीभावो रसः स्थायिनो भावकत्वव्यापारेण साधारणीकृत्वात् सत्वादीनां त्रयाणामुद्रेके सुखदुःखमोहाः क्रमात् प्रकाशन्ते। उद्रेकश्च स्वेतरद्वयाऽभिभवः इति सांख्यसिद्धान्तानुसारं व्याख्यातवान्।

अत्रापि काचिदरुचिः–तथाहि भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानेषु विभावादिषु समुदीर्णे तदास्वादे कुतो व्यापारान्तरोपलब्धिः? एकेनैव व्यापारेण कार्यसिद्धेः स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। अन्यच्य सत्वोद्रेकादिविशिष्टतथाविधाऽनुभवकल्पने किञ्चित् प्रमाणं नास्ति। बीभत्सरौद्रादीनां रसत्वे च का व्यवस्था स्यादिति मतभेदं तदपि न विचारसहम्। एवं पूर्वमतान्यालोच्य श्रीमद्भिरभिनवगुप्तपादाचार्यैर्व्यञ्जनाव्यापारविधया रसस्वरूपनिष्पत्तिरुपपाद्यते। तद्यथा–

लोके कटाक्षादौ रतिव्याप्यत्वज्ञानवतां सामाजिकानामन्तःकरणे वासनारूपतया रत्यादिः प्रत्यवतिष्ठते स स्थायी। लोके रत्यादिकारणानि प्रमदादीनि, तत् कार्याणि कटाक्षादीनि, निर्वेदादीनि च सहकारीणि। तेषामेव काव्यादौ क्रमेण विभावानुभावव्यभिचारिशब्दैर्व्यवहारः। न चैवं नामभेदमात्रमकिञ्चित्करमिति वाच्यम्। विभावन-अनुभावन-सञ्चारणव्यापारभेदस्वीकारात्। यदुक्तम्–

विभावा अनुभावाश्च तथैव व्यभिचारिणः।
प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम्॥

लोके सम्बन्धिविशेषीयत्वेन गृह्यमाणे कान्तादौ कटाक्षादिलिङ्गकरत्यनुमितौ न चमत्कारः, काव्यादौ वाक्यार्थबोधान्तरं चमत्कारविशेष इत्यनुभवसिद्धत्वात्। एतेन शकुन्तलादीनां सामाजिकैरसम्बन्धात् कथं तेभ्यो रसोद्बोध इति निरस्तम्। काव्यादौ तेषां साधारणीकरणमिति स्वीकारात्। 'त एव परिहृतविशेषा रसहेतवः' इति सूत्रकारोक्तिश्च। एव हि स्थायिनोऽपि तद्बोध्यम्। प्रमातृविशेषनिष्ठत्वेन प्रतीयमानस्वरूपपरिमितत्वे रसस्वरूपानुपपत्तिः। स्वगतत्वेन रसादिप्रतीतौ सभ्यानां व्रीडाभयाद्यापत्तेः। परगतत्वेन अनास्वाद्यत्वप्रसङ्गः। अतः साधारणीकरणव्यापारस्वीकारेणैव सर्वदोषपरिहारः शक्यः।

एवञ्च सति विभावादिभिः स्थायिने अभिव्यज्यमाने चैतन्यानन्दस्वरूप आत्मा भासते। वेदान्तिमते ज्ञानमात्रे तद्भानस्वीकारात्। न च घटादिज्ञानेऽप्यानन्दोद्बोधापत्तिरिति वाच्यम्। तत्र आनन्दांशे आवरणभङ्गाभावात्। अत्र सहृदयविशेषस्यैव तद्भङ्गहेतुत्वात्। तथा रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमावरणभङ्गादानन्दरूपतया प्रकाशमानं रसपदार्थः। विभावादिचर्वणाया रसव्यञ्जकत्वात् तन्निष्ठयोः आवरणभङ्गनिष्ठयोर्वा उत्पत्तिविनाशयोः आरोपात् रस उत्पन्नो रसो नष्ट इत्यादि व्यवहारः। चैतन्यस्याऽऽत्मरूपतया उत्पत्तिविनाशाऽनर्हत्वात् चर्वणानिवृत्तौ च प्रकाशस्य आवृतत्वात् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते। अत एवोक्तं काव्यप्रकाशे–'विभावादिजीवितावधिः' इति। चर्वणा तु आवरणभङ्गः रत्याद्याकारान्तःकरणवृत्तिविशेषो वा। चर्वणा च पानकरसन्यायेन। यथोक्तम्–

'प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यतें।
ततः सम्मिलितः सर्वों विभावादिः सचेतसाम्॥
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्।'

स चाऽयं रसो न कार्यः विभावादिज्ञाननाशेऽपि रसानुभवप्रसङ्गात्। निमित्तनाशे कार्यनाशस्याऽनङ्गीकारात्। रत्याद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यैव रसत्वात् चैतन्यस्य कार्यत्व शङ्कातङ्कराहित्यात्। नाऽपि ज्ञाप्योऽयं रसः विभावादिजन्याभिव्यक्तिविशिष्टरसादेरेव सत्वात्। तस्य च विभावादिव्यक्तिपूर्वम-

समत्वात्। पूर्वसत एव घटादेः पदार्थस्य आलोकादिनाऽभिव्यक्तिदर्शनात्।

तद्ग्राहकं न निर्विकल्पं विभावादिपरामर्शस्य तद्विषयकनिर्विकल्पकज्ञानजननाऽयोग्यत्वात्। निर्विकल्पकस्य जन्यज्ञानाऽजन्यत्वनियमात्। नाऽपि तद्ग्राहकं सविकल्पकं विभावादिसमूहालम्बनस्य रसत्वात्तेषां सम्बन्धग्रहाभावात्। इदञ्च युक्तयोगिज्ञानाद् विलक्षणं तस्य सन्मात्रविषयकत्वात् अस्य च गुणालङ्काराद्यधिकविषयत्वात्। युञ्जानयोगिज्ञानादपि तथा तस्य भेदावगाहित्वात्। लौकिकरत्यादिज्ञानादपि भिन्नमेव अस्य गुणालङ्काराद्युपस्कृतशब्दार्थसंवेदनविषयत्वात्। ननु उभयग्राह्यत्वनिषेधे ग्राह्यत्वमेव न स्यात् उपाति न वाच्यम्। अस्या अभिव्यक्ते लोकोत्तरत्वात् सकलसहृदयहृदयानुभवप्रमाणकत्वाच्च। यदुक्तम्–

'तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्।'

अत्र रसगङ्गाधरकारः–'इत्थञ्च अभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावो रस इति स्थितम्। वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरण चिदेव रसः। सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं वा चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वञ्च सिद्धम्। रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वञ्च।' इति यदूचिवान् तत् वेदान्तमताभिनिवेशेन। अभिनवगुप्तपादाचार्यास्तु शिवाद्वैतसिद्धान्तानुसारिणः 'चैतन्यमात्मा' इति शिवसूत्रानुसारेण रत्याद्यंशेऽपि चिद्रूपतममङ्गीकुर्वन्तीति प्रतिभाति। यतस्तन्मते जडो नाम कश्चिन्नास्त्येव पदार्थः साधारणीकरणव्यापारमहिम्नाऽपरिच्छिन्नस्य आनन्दमयस्वरूपस्यैवोपलब्धिः सा च पूर्णऽहंभावरूपा! अपूर्णतैव क्लेशहेतुः। यदुक्तम्–

'पूर्णत्वादहमित्यन्तर्ज्ञानमानन्द उच्यते।'

एतदभिप्रायेणैव–

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।

इति श्लोकव्याख्याने तैरेवं प्रतिपाद्यते—"क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्य्यध्वंसनेन उत्थितो यः शोकः स्थायीभावो निरपेक्षभावत्वात् विप्रलम्भशृङ्गारोचितस्थायिभावादन्य एव। स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभावनाक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नो रसः परिपूर्णकुम्भोच्छलनवत् चित्तवृत्तिनिस्पन्दवाग्विलापादिसमयानपेक्षित्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिनयेनाऽकृतकतयैव आवेशवशात्समुचितछन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः 'मा निषादेत्यादि' न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्। एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत्" इति।

न च प्रतिकूलवेदनीयतया दुःखरूपत्वात्करुणादीनां रसानां न रसत्वमित्याशङ्कनीयं सुखमयत्वस्य सहृदयहृदयानुभवसाक्षिकत्वात्। एवमेव वीभत्सभयानकादिष्वप्युपपत्तिः। लोके जुगुप्स्यभयजनकवस्तुषु स्वारसिकी प्रवृत्तिर्न भवति काव्यनाट्योपस्थापितेषु कविकौशलाद् विभावत्वाद्यापन्नेषु तेषु साभिनिवेशं प्रवृत्तिर्भवत्येवेति फलबलात्सर्वेषां रसानां सुखमयत्वस्वीकारे न कोऽपि प्रतिबन्धः। स्तम्भकम्पाश्रुपातादीनां तत्तच्चित्तवृत्तिप्रयोज्यतया शृङ्गारादिवत् करुणभयानकादिष्वपि स्थितिर्न विरुद्धा।

अत्रेदमवधेयम्—लौकिकाः शोकहर्षादायो लोके स्वानुगुणमेव कार्यं जनयन्तीति प्रसिद्धम्। परं काव्यव्यवहारे कविप्रतिभादर्पणे प्रतिबिम्बिताः सर्वेऽपि भावाः सुखमेव जनयन्ति कविप्रतिभायाः सुखजनकताया धर्मिग्राहकमानसिद्धत्वात्। इदमस्माभिः पारमार्थिकादिविलक्षणं किमपि प्रतिबिम्बिकं सत्यमिति व्यपदेष्टुं शक्यम्। यदुक्तम्—

कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयोभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाऽध्यक्षतः किल।

एतदभिप्रायेण महार्थमञ्जर्यां महेश्वरानन्देन—

हन्त मुखं प्रतिबिम्बतु प्रतिबिम्बयतु तथा तदपि दर्पणः।
दर्पणः पुनर्यस्मिन् प्रतिबिम्बति सोऽपि ज्ञातव्यः॥

इति स्वकारिकाव्याख्यायां परमेश्वरस्वातन्त्र्यलक्षणं प्रतिबिम्बवादं विवृण्वता एवं प्रतिपाद्यते–'तेन च सर्वोऽयमादर्शाननाद्युपलक्षितः स्तम्भकुम्भादिर्वेद्यविस्तारो मालिन्यकक्ष्यानुप्रवेशितान्यपदार्थवैमल्ये स्वच्छत्वोत्कर्षशालिनी स्वस्वभावाऽविभिन्नपरमेश्वरात्मके महति मुकुरमण्डले तन्मयत्वपर्यायया प्रतिबिम्बनयुक्त्या परिस्फुरतीति तात्पर्यार्थः' इति। एवमग्रेऽपि–'एवञ्च बाह्येषु दर्पणादिषु बिम्बसव्यपेक्षः प्रतिबिम्बोपलम्भः। स्वात्मरूपे पुनरेतद्वैपरीत्यम्, अशेषस्यापि विश्ववैचित्र्यस्य प्रतिबिम्बतयाऽनुभूयमानत्वात्'। एतच्च परमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्तिविजृम्भितवशादुपपद्यते एतदेव तत्त्वं श्रीशङ्करभगवत्पादैरपि 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं, पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।' इत्याद्युक्तिभिर्दक्षिणामूर्तिस्तवे निरूपितम्। एतावता रसास्वादनिष्कर्षः निरवच्छिन्नसच्चिदानन्दमूर्तेः परमेश्वरस्य स्वात्माभेदेनाऽनुभव एवेति कथने न काप्यतिशयोक्तिः। अत एवोच्यते–

'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्'॥ इति।

इत्थमाचार्याभिनवगुप्तपादानां सरण्या दिङ्मात्रेण रसो वर्णितः। रसगङ्गाधरादिप्रबन्धेषु रसविषये कानिचिदन्यान्यपि मतान्युपलभ्यन्ते। तत्र दिङ्मात्रेण किञ्चिदुपस्थाप्यते–

केचन नव्याः–'काव्यनाट्ययोः प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनाव्यापारेण तत्तद्रतिमत्ताज्ञानं ततश्च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छित्रे शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः' इत्याहुः। एतन्मते व्यञ्जनाव्यापारो दोषविशेषः अनिर्वचनीयख्यातिश्चेति पदार्थत्रयम्। एतमपि विचार्यमाणं सिद्धान्तदृष्ट्या गौरवग्रस्तमेव व्यञ्जनाव्यापारस्यैव सकलभरसहत्वात्। परे तु केचन प्रागुक्तदोषमहिम्ना सर्वोऽपि रसास्वादप्रकारः पर्यवस्यतीति प्रतिपादयन्ति।

एतदपि विचारकक्षां नाऽधिरोहति। तथा हि रसविषयकानुभवस्य दोषरूपतायां तस्योत्तरज्ञाननाश्यत्वप्रसङ्गः स च नास्ति। न च कश्चित्सहृदयो 'भ्रान्तोऽहमभूव'मिति प्रतिपद्यते। पौनःपुन्येन रमणीयकाव्यपरिशीलनप्रवृत्तिश्च

व्याहन्येत्। केचित्तु एकैकस्माद् विभावादे रसानुभव इति व्याचक्षते तदपि न समीचीनं सम्मिलितानामेवाऽऽस्वादजनकतायाः सूत्रे मुनिना स्वीकृतत्वात्। अत्र रसप्रदीपकारस्यैता निष्कृष्टार्थसूचिका कारिकाः परिशीलनीयाः–

अलौकिकः परब्रह्मसंवेदनसहोदरः।
रसोऽयमिह संवित्तेरन्यन्मानमपार्थकम्।।
वस्तुतस्तु न रत्यादी रसत्वं कारणादि च।
विभावत्वादितामेति किन्तु तन्मयभावतः।।
सामाजिकानां जायन्ते ये तदाकारसुन्दराः।
चित्तवृत्तिविशेषास्ते विभावत्वाद्यलोकिकम्।।
रूपं भजन्ते तदनु सकलाकारसुन्दराः।
एका विलक्षणा चित्तवृत्तिर्या जायते सताम्।।
रसनात्मा रसः सैव शङ्काशूकनिवारिता।
इति ब्रूमो वयं त्वत्र तदिदं मत्सरं बिना।।
विचारणीयं रसिकैरिति सर्व समञ्जसम्।। इति।

तदेवं निरूपितस्य काव्यजीवातुभूतस्य रसस्यापि भावानां भेदमुपकल्य विविधान् रसभेदान् उदाहरन्ति ग्रन्थकाराः। केचित्तु तत्तद्विशिष्टैकरस-प्राधान्यवादिनोऽपि व्यवतिष्ठन्ते।

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।

इति प्रसिद्धैव कारिका। शान्तोऽपि नवमो रसः केवलं काव्येष्वेव न पुनर्नाट्ये सम्भवति सर्वावस्थाविरामरूपस्य तस्याऽभिनेतुमशक्यत्वादिति केचित्–

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नट च तदसम्भवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते।।

इति तेषां सरणिः। तदपरे न क्षमन्ते–यतः शमाभावादिति हेतुरसङ्गतः रत्यादेरपि नटे असत्वात् स्थायिभावस्य सामाजिकनिष्ठत्वात्। रत्यादिवत्

शमस्य निर्वेदस्य वा स्थितिरुपकल्पनीया। अवस्थानुकृतिरूपे नाट्ये रत्याद्यनुभाववत् शमानुभावानामप्यभिनये नाऽस्ति किमपि बाधकम्। वयन्तु ब्रूमः–सर्वावस्थाविरामरूपः शमस्तु परमयोगिमात्रनिष्ठस्तस्य नाऽत्रावसरः। इह कविसंसारे विषयेभ्यो व्यावर्तमानस्य पुरुषस्य लग्नाऽलग्नप्रायश्चित्तवृत्तेर्यो भावः स एव निर्वेदपदाभिधेयो भवति। अत एव ‘अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा’ इति सुप्रसिद्धे तदुदाहरणे व्यावर्त्यानां विषयाणामेवाऽऽलम्बनरूपता दृश्यते, एवमेव गुरूपदेश–सत्कथा–तीर्थाटन–प्रभृतीनां विषयविशेषाणां तत्र यथोचितमुपयोगादास्वादजनकत्वमस्त्येव तस्मान्नाट्येऽपि शान्तरसस्थितिर्न विरुद्धा। यदुक्तं सङ्गीतरत्नाकरे–

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु यतः कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः॥

केचित्तु सर्वरसोद्भावकतया शान्तस्य प्रधानरसत्वमातिष्ठन्ते। यथा–

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तादुत्पद्यते रसः।
पुनर्निमित्तापाये तु तत्रैव प्रविलीयते॥

भोजराजः शृङ्गारप्रकाशे–‘वयन्तु शृङ्गारमेव रसानाद्रसमामनामः।’ इति सर्वजनसंवेद्यतया रागतत्त्वस्य प्राधान्याच्चशृङ्गारैकरसप्राधान्यवादं व्यवस्थापयति।

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाऽऽह कृती नारायणो रसम्।

इति साहित्यदर्पणे नारायणस्य मतमालोक्यते। चमत्कारो नवोन्मेषशालिप्रतिभाधर्मः स एव काव्ये रसरूपतया गृह्यते। एवं चमत्कारचन्द्रिकाकारप्रभतयोऽप्याहुः केचन वत्सरसं पुत्राद्यालम्बनमूचुः। यथा–

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलञ्च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥ इति।

भवभूतेः प्रसिद्ध एव श्लोकः–

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुद्तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

करुणस्यैव विवर्तभूता अन्ये रसाः मूलभूतस्त्वेकोऽयमेवेति तस्याऽयमभिप्रायो रामायणोद्गममूलभूतस्य वाल्मीकेः 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः' इत्यादि पद्यप्रणयनव्यापारस्याऽनुगामी। एवं भक्तिरसेऽपि मधुसूदनसरस्वतीप्रभृतीनामन्येषामाचार्याणां महान् प्रयासो रसत्वव्यवस्थायै दृश्यते। अभिनवगुप्तपादप्रभृतयस्तु परमास्तिका रसं पृथङ्नाङ्गीकुर्वन्ति। तत्रेदं तत्त्वं प्रतिभाति–लौकिकेभ्य एव कारणादिभ्यः काव्यव्यापाराद् विभावाद्यवस्थां प्रतिपन्नेभ्यो रसानुकूलचित्तवृत्तेरुद्गम इति सिद्धान्तः भक्तिरसे तु आलम्बननेव अलौकिकमिति रसलक्षणे तन्निवेशो न भवतीति तेषामभिप्रायः। यत्तु अप्राकृतो भक्तिरसः, प्राकृतास्तु शृङ्गारादयस्तदङ्गभूता इति केषाञ्चिद्दर्शनं तदतीव शङ्काकलङ्कसङ्कुचितम् यतो रसत्वे प्राकृताऽप्राकृतविभाग एव न सम्भवति तस्य परमानन्दघनस्वभावत्वे विगलितवेद्यान्तरतया सङ्कोचानर्हत्वात्। अत एवेयमुक्तिरपि प्रसिद्धा पर्यालोचनीया–

वीणावादनतत्त्वज्ञः स्वरशास्त्रविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति॥ इति।

रसदर्शनेऽस्मिन् भरतमुनेरेव वचनस्य मान्यतया तदुक्तदिशैव रससङ्ग्रह साधीयसीति प्राचामाचार्याणां व्यवस्था। इत्थं संक्षेपेण यथामति विचारितो रसस्य मार्गः। इदानीं उदाहरणदिशा किञ्चिदालोच्य विषयोऽयमुपसंहरिष्यते। कुमारसम्भवे कविकुलगुरोः शिवपार्वत्योः परस्परावलोकनप्रसङ्गे काव्यचमत्कारः समास्वाद्यताम्–

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥
विवृण्वती शैलसुताऽपि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥

अत्र भगवतोः प्रथमप्रणयप्रसङ्गः कमनीयशब्दार्थसमर्पितविभावाद्यभिव्यक्तरसनिस्यन्दः सहृदयैरनुभूयते। अम्बुराशिरिव निःसीममाहात्म्यस्याऽपि भगवतो हृदि पूर्णेन्दोरिव प्रणयबिम्बस्य समुदये क्षोभः साहजिकतया निरूपितः कविना। उमामुखविशेषणबलात् स्पृहणीयत्वाऽभिव्यक्त्या लोचनत्रयस्याऽपि व्यापारितत्वोक्त्या च बलवदनुरागोद्भेदः सूचितः। यद्यपि विलोचनव्यापारणं परिचुम्बनाभिलाषो वेति एकतरनिर्णयाभावात्सन्दिग्धप्राधान्यं व्यङ्ग्यमत्राऽऽमनन्ति केचित् परमनुरागोत्कर्षाऽभिव्यक्त्या तदास्वादो न हीयते।

एवमेव कदम्बमुकुलन्यायाद्रोमाञ्चिताङ्गी विनमितविलोचना साचीकृतवदनारविन्दा पार्वती स्वान्तःस्थमनुरागमभिव्यञ्जयन्ती समुल्लिखिता कविना चारुतरेण इति मुखविशेषणात् साचीकरणेऽपि हर्षाद्यभिव्यञ्जकत्वं मुखस्य प्रतीयते। एवमत्र परस्परालम्बनो रतिस्थायिभावः समुचितविभावादिसामग्रीलब्धपरिपोषः सद्यः सुधियां समास्वाद्यतामभ्युपैति। अलङ्कारकल्पनाऽपि सुतरां रसानुसारिणी तत्परिपोषायैव प्रकल्पते। पर्यन्ते मामेकमेकं चन्द्रान्योक्तिपदं भगवते निवेदयन् विरमासि–

शापक्षीणकलेवरोऽपि कुटिलाकारोऽपि मारोद्यमं
कुर्वाणोऽपि कलङ्कमङ्कमिलितं नित्यं दधानोऽपि यत्!
मूर्ध्नि स्वे निहितोऽसि विश्वगुरुणा त्वं कर्मणा साक्षिणा
शीतांशो! कथय त्वया तदतुलं किं नाम तप्तं तपः।

■

दोषदृष्टिः

सर्वेष्वपि शास्त्रेषु, सर्वास्वपि कलासु, सर्वेषु शिल्पेष्वपि, तत्तच्छास्त्रीयपद्धत्यनुगुणं निर्माणं प्रधानतयाऽपेक्ष्यत एव। नियमानामुत्सर्गरूपेणापवादरूपेण वा स्थितिस्तु स्वभाविकी। तत्रापि सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च औचित्यं विदुषां विमर्शसूक्ष्मेक्षिकामधितिष्ठतीति सोऽयं पन्थाः प्राचीनैरर्वाचीनैर्वा सर्वैरेव निर्विवादमभ्युपेयः।

ललितकलासु सङ्गीतसाहित्यचित्रकर्मप्रमुखासु गुणनिरीक्षणमिव दोषनिरीक्षणामपि तदीयोत्कर्षतारतम्यविवेके प्रधानं साधनम्। यद्यपि–

गुणदोषौ बुधौ गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति।।
सौजन्यधन्यजनुषः पुरुषाः परेषां
दोषान्विहाय गुणमेव गवेषयन्ति।
हित्वा भुजङ्गमविषाणि पटीरकोषात्
सौरभ्यमेव सुजनाः परिशीलयन्ति।।

इत्युक्त्या च विदुषां गुणदृष्टिः प्रशस्यते, परन्तु नैतावता ते दोषानविज्ञायैव गुणमात्रप्रशंसका भवन्तीत्यवगन्तव्यम्। किन्तु दोषं जानाना अपि सभासु साधारणतया कस्याऽपि निन्दनमनुचितमिति दोषोद्घाटनं परिहरन्ति। सत्यां दोषजिज्ञासायामवश्यं ब्रुवते। अन्यथा तेषामनभिज्ञत्वमेव प्रसज्येत। अत एव कोषकारः पर्यायानवतारयति–

विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः।। इति।

त्यागैरकरसिका विद्वांसः क्वचित्पुनर्युक्तिसहस्रेणाऽप्यपरितुष्यतो दुर्जनधौरेयस्य स्वयमेव साम्राज्यं घोषयन्तः किमप्यपूर्वं स्वचरितमुपस्थापयन्ति 'तुष्यतु दुर्जनः' इत्यादिकं भाषामाणाः। ध्वन्यालोकलोचने श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्या अपि असहृदयजनान् व्यञ्जनारहस्यं ग्राहयन्तः क्वचिद् अलं गर्दभीदोहनेन इत्यादि वचनान्यलिखन्।

किञ्च 'हेयहानिपूर्वकमुपादेयोपादानम्' इत्ययमपि न्यायो जागर्ति। यावद् हेयोपादेययोः स्वरूपतो भेदज्ञानं न स्यात् तावत्तयोर्हानमुपादानं वा कर्तुमशक्यमेवेति हेयानामपि परिचयः शास्त्रेषु प्रदीयत एव। यथा व्याकरणे (शिक्षायाम्)–

'गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥'

अत्र यथाऽधमपाठकानां परिचयः पूर्वमुपन्यस्तस्ततोऽग्रे पाठकानामुत्कर्षावहा गुणा उपवर्ण्यन्ते। एवमेव शास्त्रान्तरेष्वपि स्थितिः। काव्यशास्त्रमपि इमामेव पद्यामनुगच्छति, दोषगुणालङ्काराणां क्रमेणैव परिचयविवेकौ तदीयनिबन्धेष्ववस्थितौ। दोषनिरूपणे द्वयी गतिर्दृश्यन्ते–स्वभावतः सतां दोषाणां निरूपणम्, क्वचित्कल्पनोत्थापितानामपीति। तत्र हेतुरयमेव प्रतिभाति यद् विनेयानां बुद्धयस्तथासूक्ष्मार्थभेदिन्यो भूयासुर्यथा ते दोषोत्पत्तेर्निदानमप्यायत्तीकर्तुं प्रगल्भाः स्युरिति। तथाहि–काव्यप्रकाशादिषु दोषनिरूपणप्रसङ्गेन याः काश्चित्कालिदासमहाकविसूक्तयः समुद्धृतास्ताः सर्वथा दुष्टा एवेति न केनापि सिद्धान्तयितुं शक्यम्। एतदस्माभिरुपरिष्टाद् विवेचयिष्यते।

काव्यप्रकाशटीकाकारैरप्यत्र भूरि प्राक्रान्तम्। तत्रेयं स्थितिः–"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" इति शब्दार्थरूपं काव्यमधिकृत्य दोषगुणालङ्काराः क्रमेणैव विवेचनीया इति कण्ठरवेणैव ग्रन्थकारः स्वीकुरुते। एवं चतुर्थोल्लासारम्भे 'धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायते' इत्यादिना ध्वनिस्वरूपं निरूपयितुं पीठिकामबध्नन् 'दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयम्' इत्यप्युवाच ग्रन्थकृत्। तत्र नरसिंहठक्कुरस्तावत् 'अदोष' इति अकारप्रश्लेषमङ्गीकृत्य 'निर्णये कृतेऽदोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयम्' इति पङ्क्तिं लापयमास। तद्दृष्ट्या दोषाऽभावस्यैव काव्यधर्मत्वम्, न पुनर्दोषस्य। अत्र सम्प्रदायप्रकाशिनीकारस्तावत्–'हेयापादेयतेति। दोषरूपाणां धर्माणां हेयता, अन्येषामुपादेयतेति विभागः' इति यथाक्रमं व्याचष्टे। इदं पूर्वस्मात् सम्यक्प्रतिभाति।

एवं दोषसामान्यलक्षणप्रस्तावेऽपि–'अत्र च दोषाऽभावे निरूपणीयेऽभावस्य स्वरूपतो निरूपणाऽनर्हतया प्रतियोगिनिरूपणाधीन–

निरूपणकत्वात् हेयाऽप्यरिचये तद्धानाऽसम्भवाच्च दोषलक्षणं शाब्दम्, आर्थञ्च तदभावलक्षणमित्यवगन्तव्यम्' इति नरसिंहठक्कुरो व्याख्यातवान्। प्रदीपकारोऽपीत्थमेव व्याख्याति। विशेषस्तु–'सति तु दोषाभावे गुणादिकं विनापि किञ्दिदाह्लादसम्भवात्, 'अपदोषतैव विगुणस्य गुण' इति न्यायात्'' इत्युल्लिख।

एवं प्राचां मते दोषस्तदभावो वा नियतं निरूपणीयतामर्हतीति नात्र विप्रपत्तिः कस्यापि। एवमन्यापि काचिदुक्तिः श्रुयते–

दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः।
अन्यो गुणोऽस्तु वा मास्तु महान् निर्दोषता गुणः॥

एवमाचार्यदण्डिनाप्युक्तम्–

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ इति।

अथैतद् विमृष्टव्यं यत् कया पद्धत्या दोषविवेचनं प्राचीनैः कृतमस्माभिर्वा कर्तव्यम्? तत्र प्राचामपि दृष्टिभेदो भूयानुपलक्ष्यते। अलङ्कारसम्प्रदायानुयायिनाम्, रीतिमार्गानुगामिनाम्, अन्येषां प्राचीनानां वा दोषनिरूपणे तत्सौष्ठवं स विषय विभागश्च न विविक्ततया स्फुरति, यः खलु ध्वनिसम्प्रदायपरिष्कृतवाग्वीचीनामाचार्याणां प्रकाशते।

ध्वनिसम्प्रदायपरमाचार्या आनन्दर्धन मम्मटप्रभृतयस्तावत् 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति सिद्धान्तमङ्गीकृत्यैव दोषनिरूपणे प्रावर्तन्त। तन्मते ध्वनिस्त्रिरूपः–वस्त्वलङ्कारसात्मकत्वात्। तत्र ध्वन्यमानोऽप्यर्थो द्वयीं गतिं लभते–कश्चिद्वाच्यतासहः, कश्चिच्च तदसह इति। रसादिलक्षणोऽर्थः–स्वप्नेऽप्यवाच्यः। वस्त्वलङ्कारौ वाच्यौ व्यङ्ग्यौ चावस्थाभेदेन भवतः।

रसादिध्वनिरेव काव्यस्यात्मस्थानीय इत्यभ्युपगम्य तदनुगुणतयैव दोषाणां नित्याऽनित्यत्वविभागो व्यवस्थाप्यते साहित्यविद्भिः। व्यञ्जनास्थापनप्रसङ्गे ध्वनिसिद्धान्तमन्तरेण नित्याऽनित्यत्वव्यवहारो दोषाणामनुपपन्न इति काव्यप्रकाशादौ स्पष्टतरम्।

प्राचामलङ्कारसम्प्रदायिनां रीतिमार्गानुगामिनामन्येषां वा सुप्रपञ्चितोऽपि दोषविचारो विचारकषे न निर्दोषतामात्मनः प्रकटयति, किन्तु गड्डलिका-प्रवाहन्यायेन गतानुगतिकत्वमेव साधयति।

यथा वामनसूत्राणि–

गुणविपर्ययात्मनो दोषाः। अर्थतस्तदवगमः। सौकर्याय प्रपञ्चः।

अत्र गुणाऽभाव एव दोषाणां लक्षणं तैः स्वदृशाऽङ्गीकृतम्। तन्मते गुणविशिष्टरीतिरेव काव्यस्यात्मा। एवमन्येऽपि स्वस्वसिद्धान्तान् व्याचक्षते।

आचार्याः शिष्यबुद्धिवैशद्याय क्वचित्तथाविधोत्कटतरोद्वेगाऽननुभवेऽपि दोषमाविष्कृत्य विवेचनमारभन्ते। यथा अमङ्गलाद्यभिव्यञ्जकाऽश्लीलत्वदोषे 'अभिप्रेत'प्रभृतिपदेषु। लोकव्यवहारारूढानि पदानि वस्तुतो न तथोद्वेगं जनयन्ति यथा व्यवहारमनारूढानि। वामनेन–'न गुप्तलक्षणसंवृतानि' इति सूत्रे तदेतद्विचारितम्। यथा–'संबाध'पदं सङ्कटार्थे प्रसिद्धं न गुह्यार्थे, एवं 'जन्मभूमि'प्रभृतिपदं लक्षणयैवाऽसभ्यार्थमुपस्थापयेन्न पुनः शक्त्येति न दोषः। लोकप्रसिद्धं पदं लोकसंवीतमित्युच्यते। यथा–भगिनी, उपस्थानम्, अभिप्रेत-मित्यादीनि। एषु च नासभ्यार्थप्रतीतिर्भवति प्रसिद्धार्थस्यैव पुनः स्फुरणात्। उक्तञ्च–

'संवीतस्य हि लोकेन न दोषान्वेषणं क्षमम्।
शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्याऽसभ्यत्वभावना:॥'

एवं दोषविचारे इव तदपवादविचारोऽपि सुतरां निर्ध्यातव्यः काव्यविद्भिः। नहि दोषपाठमात्रेण विवेकदृष्टिः परिष्कृता स्यात्। कवीनां रुचिभेदेन क्वचित्प्रकृतिविपर्ययोऽपि कथासु संलक्ष्यते। यथा भगवान् रामचन्द्र हि धीरोदात्तस्वभाव इति प्रथितचरम्। कालिदासेन तदनुगुणमेव वर्णनमुपनिबद्धम्। यथा–

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः॥

भवभूतिना उत्तरारामचरिते रामचन्द्रस्य किमपि तथाविधं वैक्लव्यं पदे पदे समुपनिबद्धं यदवस्तु वृत्तमिव क्वचित्प्रतिभाति। मन्ये करुणरसप्राधान्यप्रदर्शनपारवश्येन सोऽयं महाकविरपि क्वचिदन्यथाभावमवापितोऽभूत्।

एवं महाकविवचसि दोषकल्पनमपि क्वचिच्छास्त्रकारैर्विधीयत एव। यथा– 'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम्' इति कुमारसम्भवस्थे पद्येऽक्रमदोषः काव्यप्रकाशकारेण निर्दिष्टः। तत्र 'पदसन्निवेशरूपरचनायाः प्रस्तुतार्थाऽप्रत्यायकत्वेऽक्रमत्वम्' इति विवरणे तल्लक्षणं स्पष्टीकृतम्। अत्र प्रस्तुते पद्ये–'कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी' इत्यत्र कलापदोत्तरं यथा समुच्चायकश्चकारस्तथैव त्वम्पदोत्तरमपि चकारो युक्त इति काव्यप्रकाशकारो निर्दिदेश, अन्यथा समुच्चेयसमुच्चायकयोर्व्यवधानात्प्रस्तुतार्थप्रतीतेर्मान्थर्यं स्यात्।

अत्रैतत् सहृदयैर्विचारणीयं कोऽत्र प्रस्तुतोऽर्थः? कथं न तस्यात्प्रतीतिः? शिवसमागमाभिलाषेण शोच्यत्वमेव प्रस्तुतं द्वयोः, तच्चोपक्रम एव–'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयताम्' इत्युक्त्या स्फुटतरीभवति। ननु 'कला च सा' इतिवत् 'त्वं चास्य' इत्यादि युष्मत्पदाऽव्यवधानेन चकारानुपादानादक्रमत्वमिति कथ्यते चेत्; छन्दोऽनुरोधादेव कवेस्तथा पदसङ्घटना सञ्जातेति शक्यं वक्तुम्। प्रस्तुतार्थप्रतीतिस्तु न मन्थरीभवतीति। चकारस्याव्यवधानेनोच्चारणे किञ्चिद्दार्ढ्यम्, तदभावेऽपि न दोषः, अन्वयप्रतीतौ बाधाभावात्, प्रकरणादेस्तादृशार्थोपस्थापनानुकूलत्वाच्च। एवम्–

'वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्'

इति महिमभट्टोक्तदिशा क्वचिदतिसूक्ष्मार्थं शिष्यान् ग्राहयितुं शास्त्रकाराः महाकविसूक्तिषु दोषोन्मेषं विदधतीति मन्ये।

इत्थं दोषविवेचनपद्धत्या परिष्कृतमतयो विनेया लक्ष्येषु यथासम्भवं दोषगुणविवेकं कर्तुं प्रगल्भा भवेयुरित्येव ग्रन्थकाराणां मुख्यमुद्देश्यमिति शिवम्।।

■

काव्यस्य सत्यत्वम्

'कविकर्म काव्यम्' इति निरुक्तिप्रसिद्धं दृश्यं रूपकोपरूपात्मकं, श्रव्यं महाकाव्य-खण्डकाव्यादिरूपञ्च उभयमपि 'काव्य'पदेन व्यपदिश्यते। तदेतत् कविकर्म चमत्कारैकसारमितिविश्वजनीनो डिण्डिमघोषः। 'काव्ये सारश्चमत्कारः' इति प्रसिद्धेः। स चमत्कारो ज्ञानविशेषरूपः स्वात्मन्येव जायते इत्यत्र न विवादः। ज्ञानमपि द्विविधं-सत्यमसत्यमिति, यथार्थायथार्थरूपतया द्विधा विभज्यते शास्त्रकारैः। यथार्थमेव प्रमारूपं तदितरञ्च भ्रमात्मकमिति निर्णयः। तत्रेत्थं काचन विचिकित्सा काव्यगतो रसाद्यनुभवो वस्तुवर्णनादिकं वा कस्यां कोटौ निक्षेप्तव्यम्।

न हि तद् यथार्थमिति शक्यते वक्तुं काव्यप्रकाशोक्तसम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्याख्यचतुर्विधलौकिकप्रतीतिवैलक्षण्येन तद्ग्रहणात्। एताश्चतस्रः कोटीर्विहाय न लौकिकी व्यवहारयात्रा निर्वहति। ननु अलौकिकत्वे काव्यीयानुभवस्य कथं लौकिकपदार्थसापेक्षतयैव रसादिप्रतिपत्तिरिति चेत्? नहि लौकिकपदार्था एव रसत्वेन आस्वाद्यन्ते, किन्तु तेषामेव विभावनादिव्यापारवत्तया रसात्मतापत्तौ सत्यामेव आस्वादनचमत्कार इत्याहुः।

सत् असत् चेति व्यवहारो भवन्नपि लौकिकीं भूमिमेवाधिशयानो नाऽलौकिकीं सत्तां स्प्रष्टुमपि क्षमते। उद्यानकुसुम-खपुष्पयोः किन्निमित्तो भेद इति प्रश्ने द्वितीयस्य मिथ्यात्वेन भेद इति कथनेऽपि न निर्वाहः। ऐन्द्रजालिकपुष्पादिषु व्याघातात्। ऐन्द्रजालिको हि सत्यकुसुमेन सर्वथा सदृशं कुसुमं पुरस्तादानयन् परिमलादिकमनुभावयंश्च दृश्यते। ततस्तन्मिथ्येति न हि शक्यं निगदितुम्। सत्यपुष्पादप्यधिकं तादृशपुष्पाच्चमत्कारोऽप्यनुभवसाक्षिकः। अशंत एतदनुभवसदृशी काव्यगतां स्थितिरपि।

काव्यगतप्रतीतेरसत्यत्वकल्पने बहवो दोषाः समापतन्ति। यथा–१. मिथ्यात्वेन निर्णीते लोकप्रवृत्तिर्न, २. उत्तरज्ञाननाश्यत्वं काव्यगतप्रतीतेर्नास्ति,

३. रोमाञ्चाश्रुपातादयो विदुषां न सङ्गच्छन्ते इत्यादि। किञ्च–

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते'

इत्यभियुक्तोक्त्या शब्दानुविद्धव्यवहारस्य स्वीकारेण काव्यगतवर्णनानां काल्पनिकत्वेऽपि न मिथ्यात्वं शक्यमुद्घोषयितुम्। व्यवहारस्यैव मिथ्यात्वे बाधकत्वात्। प्रत्यभिज्ञादर्शनकारास्तावत्–

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥'

इत्युक्तदृशा महासत्ताऽपराभिधायां प्रकाशरूपायां संविदि सदसतोर्भेदो न विभाव्यत इत्यूचुः। अन्यथा प्रतीतिरेव न स्यात्। तथा हि कारकत्वं नाम क्रियानिष्पादकत्वं तच्च नासतो न वाऽनुद्यमधर्मिणः सम्भवतीति–

'शश शृङ्गादिकेनापि स्यात् विभक्त्या समन्वयः' इति तदुदाहरणमवोचन्। एवं साक्षात्परम्परया वा उद्यन्तृत्वरूपचैतन्यस्य सर्वत्र स्वीकारे सर्वोऽपि रचनात्मको व्यापारो नानाविधरसभावनापारावारकल्पः परिस्फुरत्येव।

तत्र वेदान्तिनां मते त्रिविधैव सत्ता– पारमार्थिकी, व्यावहारिकी, प्रातिभासिकी च। एतत्त्रितय विलक्षणा प्रातिबिम्बिकी सत्ता काव्यीयानुभवस्येति निर्णीयते। चित्रे 'तुरगोऽयम्' इति प्रातीतिर्यथा विलक्षणा तथैव नटे 'रामोऽयम्', दर्पणे 'मुखमिदम्' इति च। अभिहितं चाचार्यैः–

प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्ध्यसंभेदादविवेचितविक्रियः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥

सम्यङ्मिथ्यादिप्रतीतिचतुष्टयवैलक्षण्यान्नेयं व्यावहारिकी सत्ता, उत्तरकालबाधवैधुर्यान्न च प्रातिभासिकी, विभावादिसंवलितरसास्वादघटितस्वरूपतया न पारमार्थिकी चेति प्रातिबिम्बिकी सत्ता ध्वनिशास्त्रकाराणामाचार्याऽभिनवगुप्तपादप्रभृतीनां सम्मता।

प्रत्यभिज्ञादर्शनमाधारीकृत्यैव रससिद्धान्तो व्यवस्थापितोऽभूदाचार्यैः परप्रकाशरूपे नितान्तस्वच्छे ब्रह्मस्वरूपं कुक्षीकृतं भवतीति विज्ञेयम्। यथोपनिषत्–

'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥' इति।

श्रीप्रत्यभिज्ञायामपि–

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाऽविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥' इति

अत्रैतदालोचनीयम्–

वेदान्तिनां मते–'परस्य चिद्रूपस्य ब्रह्मणः शक्तिर्मायाख्या, सा जडा। सैव जगतः परिणाम्युपादानम्। परं ब्रह्म तु विवर्तोपादानम्। अत एव जगतोऽपि मायिकत्वाज्जडत्वं मिथ्यात्वञ्च। अद्वैतश्रुतयस्तु पारमार्थिकव्यक्तिरेकैवेत्येवंपराः।'

आगमविदां पक्षे तु–'परचिन्निष्ठा या चिच्छक्तिरौपनिषदानामपि सम्मता सैवानन्तरूपत्वात् 'माया' इत्युच्यते। 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते', 'माया चाविद्या स्वयमेव भवति' इत्यादिश्रुतेः। तद्विलास एव च प्रपञ्चः। अत एव च चिद्रूपः। 'चिद्विलासः प्रपञ्चोऽयम्' इति ज्ञानवासिष्ठात्। अत एव च सत्योऽपि। सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यस्यात्यन्ताऽभेद एव स्वारस्यात्। न चाद्वैतश्रुतिविरोधः, विरोधाऽऽपादकस्यैकस्य भेदस्यैव मिथ्यात्वाङ्गीकारात्'' इति श्रीभास्कररायीयसेतुबन्धव्याख्यानप्रदर्शितदिशा चैतन्याद्वयवादब्रह्माद्वयवादयोर्मूलत एव भेदः प्रवर्तते। अत एवैतन्मते स्वीक्रियमाणाऽपि 'माया' न तथा बन्धहेतुः स्वातन्त्र्यकल्पितत्वात्। तदुक्तमभियुक्तैः–

'परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।
देवी माया शक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्॥'

एवं स्पन्दात्मकमेव स्वीक्रियमाणं ब्रह्मस्वरूपं हृदयङ्गमतामुपयाति। अन्यथाभावे तु–

'अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत्॥'

इत्युक्तनीत्या परब्रह्मणोऽपि घटादिवज्जडत्वापत्तिरपरिहरणीया समापतेत्। अपरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपे परमेश्वरे विश्वमेतत्प्रतिबिम्बकल्पमिति तन्मतमर्यादानुसारेण सामाजिकस्यात्मनि दृश्यं श्रव्यं वा प्रतिबिम्बभावेन परिस्फुरतीति प्रक्रिया।

लौकिके व्यवहारे बिम्बप्रतिबिम्बयोः पार्थक्यं दर्पणमुखयोरिवावश्यकमलौकिके पारमेश्वरस्वरूपे तु न तथा–

'जगच्चित्रं समालिख्य स्वात्मतूलिकयात्मनि।
स्वयमेव तदालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः॥'

इत्युक्त्या परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यशक्त्यैव तस्मिन् विश्वप्रतिबिम्बनं भवति। इत्यनया भङ्ग्या प्रतिबिम्बवादोऽयं व्यवस्थाप्यते। सत्यपि प्रतिबिम्बशब्दव्यवहारे नात्र प्रतीतेरसत्कल्पना। प्रतिबिम्बं नाम स्वरूपाभिव्यक्तिरेवः। एवं रसोल्लासमहिम्ना आनन्दात्मकवास्तविकस्वरूपाभिव्यक्तिरेव कविना सम्पाद्यते। विभावादिसामग्र्याः समुचिते प्रयोगे सति सहृदयस्याऽऽवृतमप्यानन्दमयं स्वरूपं प्रकाशते। 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादिश्रुतयोऽप्यमुमेवार्थं समर्थयन्ते।

ननु कोऽयमानन्दः? यदर्थमेषा सहृदयचूडामणीनां परिश्रमपराकाष्ठा इति चैदुक्तैव आत्मनः पूर्णाभिव्यक्तिः। अपूर्णत्वे एव दुःखानां सन्ततयः परापतन्ति। उक्तञ्च–

'पूर्णत्वादहमित्यन्तर्ज्ञानमानन्द उच्यते'

एवमस्याऽऽनन्दमयस्वात्मरूपप्रकाशकस्य काव्यस्योपादेयत्वे कस्य संशयः समुदेति? अत एव कविमार्गे–कथावस्तुनो न प्राधान्यं, किन्तु कथावस्तुघटनाया एव प्राधान्यम्। पौराणिकेष्वपि कथांशेषु परिवर्तनान्यक्रियन्त कविभिः। नायकाद्युत्कर्षप्रतिपिपादयिषया वालिवधादिष्वपि अन्यथाकरणं

दृश्यते। अस्ति च कवीनां शासनं 'अन्यथा वा प्रकल्पयेदित्' इति। एवञ्च–

'उपेयप्रतिपत्त्यर्थमुपाया अव्यवस्थिताः'

इति न्यायेन रसास्वादमयं परमानन्दसिन्धुमवगाढुं कथावस्त्वपि विपरिवर्तयन्ति कवीन्द्राः। ध्वनिकारोऽप्येतदनुमेने– 'न हि कवेरितिवृत्तमात्रवर्णनेनात्मलाभः' इत्याद्युक्तिभिः सेयं कविशक्तिरेव कविसर्गप्रसारे निदानम्। सा च रससिद्धस्य कवेः स्वेच्छारूपैव। तयैव वाङ्मयी सृष्टिं वितन्वन् कविर्धातारमतिशेते ह्लादमयसर्गस्य निर्माणात्।

'सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्त्रवति वाङ्मधु॥'

इत्युक्तदिशा महाकवीनां योऽयं मधुमयः कोषः, तत निष्यन्दमाना धारा वचांस्याप्लावयन्ती सदसतोर्भावाभावयोश्च भेदमुन्मार्ष्टि। अत्र चौपनिषदिका आनन्दमयं कोषं संगिरमाणाः संवादिना एव। तादृशं काव्यमृतं रसयन्तः सामाजिकाः सत्त्वेनाऽसत्त्वेन वा न काव्यस्वरूपं विविञ्चन्तीति वस्तुस्थितिः। परमतनिरासव्यसनितायां तु तार्किकेषु हेत्वाभासाः, मीमांसकेषु शब्दपारतन्त्र्यं, वैयाकरणानां शब्दमात्रे ध्वनिव्यवहारः, एवमादयो व्यञ्जनावादविप्रतीपा धर्माः समुद्घोष्यन्ते।

इत्थं समासतः पर्यन्ते काव्यगतप्रतीतेरलौकिकतयाऽनिर्वचनीयत्वमेव सिद्ध्यतीति सिद्धान्तः। अनिर्वचनीयत्वेऽपि तत्र चमत्कारोदय इति विशेषः। उक्तञ्च–

'सदसत्त्वेन भावानां युक्तानां द्वितयीहि' इति।

जडचेतनयोर्भेदं वितन्वन् भेदकृज्जन एव भ्रान्तो भवति, पारमार्थिकजडस्याऽभावात्। यथोक्तम्–

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः॥ इति।

तथापि स्तम्भकुम्भादिषु जनेन जडत्वे व्यवह्रियमाणेऽपि स्तम्भस्य कुम्भस्य वा दर्शनादेव रज्जुबन्धन–जलाहरणादिव्यापारस्मारकत्वरूपं भावोद्बोधकत्वमस्ति न वा? आद्ये जडत्वभङ्गः, द्वितीयेऽनुभवविरोधः। यदि दर्शकबुद्धेरेवेदं विलसितं किमत्र स्तम्भकुम्भादीनां हेतुत्वमित्युच्यते तदपि न समीचीनम्। तादृशभावनाविशेषोद्बोधकत्वे तेषां जडपदवाच्यानामसाधारणकारणत्वेनाऽभ्युपगमात्। अतस्तादृशभावनायास्तन्मूलकत्वकथने न कोऽपि बाधः प्रतिभाति। प्रमातरि प्रमेयस्य स्थितिः, प्रमेये वा प्रमातुरित्युभयथाऽपि वक्तुं शक्यम्। अन्योन्यसापेक्षताया एकतरप्राधान्येन निर्णेतुमशक्यत्वात्। एवमेव स्वोपलब्धिर्दर्पणादौ प्रतिबिम्बभावेन वर्ण्यते। एतावता प्रतिबिम्बस्य तुच्छत्वं नास्तीति सिद्धम्। एतदपेक्षयापि ध्वनितत्त्वविदां विशेषस्तावदयं यत् बिम्बापेक्षया प्रतिबिम्बस्यैव चारुत्वाऽतिशयः, मुखापेक्षया तत्प्रतिबिम्बस्यैव रामणीयकत्व- प्रतीतिः, एवमेव वाच्यापेक्षया व्यङ्ग्यस्यैव चारुत्वातिशय इति तुल्यन्यायात्सिद्धम्। अत्रोदाहरणमप्याहुः–

‘प्रच्छन्नरागिणी कान्तप्रतिबिम्बितसुन्दरम्।
दर्पणं कुचकुम्भाभ्यां स्पृशन्त्यपि न तृप्यति॥’

अत्रोक्तमभिनवगुप्ताचार्यैः–

‘भावव्रात! हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य यत्क्रीडसे।
यस्त्वामाह जडं ततः सहृदयं मन्यत्वदुःशिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मनः स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात्’॥

अस्यायं निष्कर्षः–उद्यानेन्दूदयादिर्भावो जनैर्जडोऽयमिति व्यवह्रियते, किन्तु स एव कस्यचिदमृतनिष्यन्दप्रायं सुखमन्यस्य दुःखञ्च जनयति। तस्य स्वरूपञ्च याथार्थ्येन ज्ञायते, इत्यतो जनस्तं जडत्वेन व्यपदिशति। परन्तु पृष्टव्योऽसौ सहृदयं मन्यो यत् येन स्वरूपमनाविष्कुर्वताऽपि त्वं नरीनर्तितोऽसि स हि चेतनतमस्ततः परिशेषे तवैवाऽलीकाऽभिमानिनो जडत्वमायातम्। यस्त्वं तेन जडपदवाच्येन तुलामप्यारोढुं न प्रभवसि इति।

अत्रापि प्रतिबिम्बस्यैव माहात्म्यमुपवर्णितमाचार्यैः। एवमनयाऽपि विचारदृशा काव्यीयप्रतीतेरलौकिकचमत्कारनिदानत्वे सम्यगुपपत्तिर्दर्शिता भवति। अत एव साधूच्यते–

कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाऽध्यक्षतः किल॥ इति।

अत्र प्रत्यभिज्ञाशास्त्रानुसारेणाऽपि प्रसङ्गतो विविच्यते यथा, शिवसूत्रेषु तृतीयोन्मेषे सूत्राण्येतानि श्रूयन्ते–

'नर्तक आत्मा, रङ्गोऽन्तरात्मा, प्रेक्षकाणीन्द्रियाणि॥' इति।

एवमत्र परमेशस्यैव नर्तकत्वेन रूपणे कृते बिम्बप्रतिबिम्बोभयाऽधिष्ठातृत्वं प्रतिपादितं भवति। तादृशस्य नर्तकत्य आधाराऽपेक्षायामान्तरात्मनो सङ्कुचितस्वरूपस्य जीवस्यैव रञ्जकत्वाद्धेतो रङ्गत्वमुपवर्णितम्। इन्द्रियाणि च तदवस्थापन्नस्य योगिनोऽन्तर्मुखतामासाद्य परमानन्दमयममृतत्वं प्राप्नुवन्तीति सिद्धान्तसंक्षेपः। श्रुतिष्वपि 'सश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन्' (कठोपनिषदि) अयमन्तर्मुखैकवेद्यः परमानन्दसन्दोहः समुपवर्णितः। एवं चैतन्याऽद्वयवादाश्रयेण प्रातिबिम्बकप्रतीतिविधया काव्यप्रतीतिरुपवर्ण्यते ततोऽस्याः महत्त्वमुपादेयत्वञ्च सुज्ञातं भवतीति गहनतरेऽत्र विषये विचारप्रवृत्युद्देश्येन किञ्चिल्लिखितमस्माभिरिति शिवम्।

◆

वक्रोक्ति-वैभवम्

चूडामणीकृतो येन वक्रोऽपि मृगलाञ्छनः।
वक्रोक्तिचिन्तने प्रज्ञां स मे दद्यादुमापतिः॥

अये सहृदयचूडामणयः! कविकुलकमनीयवाङ्माधुरीमकरन्दमधुव्रताः! साहित्यार्णवसमवगाहकरतलामलकीकृतनिखिलालङ्कारचिन्तामणयो विद्वन्मणयः! अवदधतु तत्रभवन्तो भवन्तः।

यदिह सकलाऽलङ्कारसन्निबन्धविवेचनवेलासु तत्र-तत्राभियुक्तवरैः पापठ्यमानमिदं पद्यरत्नं श्रवणाऽऽभरणीकृतमेव भवेत्तत्रभवद्भिः श्रीमद्भिः। तथा च-

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

यदुपज्ञमेतदनवद्यं पद्यं, स किल सकलाऽऽलङ्कारिकशेखरायमाणः श्रीमानाचार्यभामहः। तेन हि स्वीये काव्यालङ्कारे द्वितीयपरिच्छेदे क्रमेणाऽलङ्कारविशेषान् लक्षयताऽतिशयोक्तिप्रस्तावे पद्यान्येतान्युपन्यस्तानि। यथा-

‘निमित्ततो वचो यत्तु लोकाऽतिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥
स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः॥
अपां यदि त्वक् शिथिला च्युता स्यात् फणिनामिव।
तदा शुक्लांशुकानि स्युरङ्गेष्वम्भसि योषिताम्॥
इत्येवमादिरुदिता गुणाऽतिशययोगतः।
सर्वैर्वाऽतिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्॥
सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ इति।

अनेनोपक्रमणेनलोकातिक्रान्तं कविसमयसिद्धं वस्तुमात्रवर्णनं लक्षणकोटौ निविशति। अत एव 'विभाव्यते' इति पदस्वारस्यमक्षिलक्ष्यीकुर्वाणै राजानककुन्तकाचार्यैर्वक्रोक्तेः काव्यजीवितत्वोद्घोषणे पराक्रान्तम्।

अथ तत्रभवान् विवेचकमूर्धन्यः स्वनामधन्यो भट्टमम्मटः किमत्र प्रतिपद्यत इत्युद्यता वयं समवलोकयामः।

काव्यप्रकाशे विशेषालङ्कारनिरूपणानन्तरं विशेषगतमेकाधिककार्यनिष्पत्त्यादिरूपं वैशिष्ट्यमतिशयोक्त्यनुप्राणनं विना नाऽवतिष्ठत इति दिध्वनयिषुराचार्यः प्रमिताक्षरमुपसंहारवाक्यमेतदवतारयति—

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनाऽवतिष्ठते, तां विना प्रायेणालङ्कारत्वाऽयोगात्। अत एवोक्तं 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' इत्यादि।

अत्र किञ्चिदालुलोचयिषितमस्माकम्। प्रतिमाक्षरया रचनया बह्वर्थप्रकटनपटुराचार्यः 'प्रायेणे'तिपदेन कमभिप्रायमवभासयति? अमुमेव यत् शृङ्खलादिकतिपयधर्मान्तरमूलकानपहायाऽलङ्कारान्, सर्वत्र वक्रोक्तिर्जागरूकैवेति। वस्तुतस्तु तत्राप्येतत्तत्सत्ताकृतैव चमत्कृतिरावर्जयति सहृदयहृदयानीति कथने न खलु स्खलितसम्भावनाऽस्माकम्।

यद्यपि विशिष्टयोः शब्दार्थयोः काव्यत्वमङ्गीकृत्य व्यापारमुखेन वैशिष्ट्यं वक्रोक्तिरूपमिति स्वतन्त्रं स्व-तन्त्रं प्रस्थानं प्रवर्तयामास कुन्तकाचार्यः, तदनुसारेण सर्वानपि ध्वनिभेदांस्तदन्तर्भूतांश्च प्रतिपादयाञ्चक्रे, तत्र नास्माकं काऽपि प्रतिपिपादयिषा। परन्तु काव्यशरीरभूषणायमानेषूपमाप्रभृतिष्वशेषाऽलङ्कारेषु चमत्कृतिजनकतावच्देदकतयाऽनुगतधर्मरूपत्वं वक्रोक्तेरङ्गीक्रियमाणं न दुष्यतीति मन्यामहे। तथा हि न केवलं श्लेष-काकु-वक्रोक्तिसंज्ञः सङ्कुचितोऽर्थोऽत्रास्माकमभीष्टः किन्तु लोकोल्लङ्घितया यत्किञ्चिदतिशयप्रतिपादनपटुः कविवाग्गुम्फ-सुवर्णसौरभावहाऽलौकिक एव। पर्यन्ते तादृशस्यैवार्थस्य रससमरसीभावोऽप्यनायाससम्पाद्यो भवतीति समालोचयन्तु विचारलोचनाः।

यत्तु कुन्तकाचार्यैः—'स्वभावोक्तेर्नाऽलङ्कारत्वम्, तस्या अलङ्कार्यत्वादात्माश्रयदोषप्रसक्तिः' इत्युवाच तत्रापि न सम्मतिरस्माकम्, उक्तिवैचित्र्यस्यैवाऽलङ्कार-

त्वेऽपि काव्यात्मभूतरसोत्कर्षसम्पादिकायाः स्वभावोक्तेरप्यलङ्कारत्वं न नाम क्षोदक्षमम्। अलङ्कार्यत्वं च वस्तुतो रसस्यैवेति न पूर्वापात्तदोषोन्मेषशङ्काऽपि। एवंविधस्वभावोक्तिस्थलेऽपि काचन चिच्चमत्कारकणिका चतुरैरनुभूयते यदि तदपि वक्रोक्तिवैशिष्ट्यमेव समुल्लसति, लोकोत्तरत्वमेव वक्रत्वमिति तात्पर्यात्।

न चैतदस्मत्कपोलकल्पनावल्लरीविलसितमात्रं मन्तव्यम्। आचार्या अप्यत्राऽनुकूलवाचो विलोक्यन्ते। तथा कि ध्वन्यालोके तृतीयोद्योते गुणीभूतव्यङ्ग्यविवेकप्रसङ्गे श्रीमानानन्दवर्धनाचार्यः–"यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यतीति कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्? भामहेनाऽप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तं 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति'रित्यादि। एतदर्थोन्मीलनाय लोचने श्रीमदभिनवगुप्तदेशिकेन्द्रचरणा अप्यूचुः– सैषेति। याऽतिशयोक्तिर्लक्षिता सैव सर्वा वक्रोक्तिरलङ्कारप्रकारः सर्वः। 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः' इति वचनात्। शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणाऽवस्थानमित्ययमेवाऽसावलङ्कारस्य अलङ्कारान्तर्भावः। लोकोत्तरेव चैवातिशयः। तेनातिशयोक्तिः सर्वालङ्कारसामान्यम्। तथा ह्यनयाऽतिशयोक्त्याऽर्थः सकलजनोपयोगपुराणीकृतोऽपि विचित्रतया भाव्यते। तथा प्रमदोद्यानादिर्विभावतां नीयते, विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते" इति।

तदेवमाचार्यवचोऽप्यत्राऽनुग्राहकतममेव दृश्यत इत्याशयोक्तेः सर्वालङ्कारमूलभूतत्वे नावशिष्यते लवोऽपि संशीतेः।

एवं यद्यप्युपमाया अति 'उपमैका शैलूषीत्यादि' प्रशंसनपुरस्सरं सकलालङ्कारजीवितायमानत्वमाचार्यवरैस्तत्र तत्र प्रत्यपादि, तथापि मूलान्वेषणे क्रियमाणे सैषा वक्रोक्तिरेव तज्जननीपदं भजते। तत्र दिङ्मात्रं विविच्यते-

'मुखं चन्द्र इवाभाती'त्यादौ वर्तमानं सादृश्यं 'गोसदृशो गवय' इत्येतत् स्थलीयसादृश्यात्कुतो भिन्नमिति प्रश्ने कविसमयसिद्धवर्णनमात्रादित्येतावदेवोत्तरमुदीर्येत। गो-गवयसादृश्यस्येव न खलु मुखचन्द्रसादृश्यस्याऽऽपामरमनुभवः सिद्ध्येत्, ततश्च लोकोत्तरत्वमनन्यगतिकतयाऽव-

श्यमभ्युपेयं भवति। तदेव वक्रत्वं नाम चमत्कृतिजनकतावच्छेदकीभूतो धर्म इति निवेदितचरम्।

अत एव–'नियतिकृतनियमरहिता'मित्युक्तिः सङ्गच्छते। एतट्टीकाकारैरपि तत्राऽयमर्थः स्फुटीकृत एवाऽऽस्ते।

नन्वेवं वक्रोक्तेरेव सकलार्थधूर्धरत्वे कृतं शृङ्गारादिरसोल्लासैरिति चेन्मर्षयत क्षणम्।

यन्मते 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्', तन्मते त तथैव प्रतिपत्तिः, सर्वेषामपि भेदानां तत्रैवान्तर्भाव–भावनापरवशत्वात्। अस्मन्मते ध्वनिरेव काव्यस्यात्मा, स च पर्यन्ते रसात्मक एव। वक्रोक्तिस्त्वलङ्कारमूलतया, चमत्कृतिजननजागरूकतया, च विचिन्तनीयेत्येष संरम्भः। उपमाया दीपकादिष्विवाऽस्याः सर्वालङ्कारेष्वनुस्यूतत्वं जागर्ति। उपमाऽपि स्वात्मोपलब्धये एतन्मुखप्रेक्षिणीति वास्तविकी स्थितिः।

तदेवमियमद्यावधि सहित्यसाम्राज्यमाणिक्यमञ्जूषा परिचिताप्याचार्यवराणां किमत्युपेक्षा–पक्ष–निक्षिप्ताऽऽसीदिति न विज्ञायते। यत्किमप्यस्तु तदेतत्प्रस्तुतं किमप्यसंस्तुतं वस्तु श्रीमतां पुरो न्यस्तमास्ते।

बहुवक्तव्यविशदीकरणीयेऽप्यमुष्मिन् वस्तुनि, लेखकलेवरवृद्धिभिया समासन्यास एतादृतः। आचार्यदण्डिन इमां भणितिं चाऽत्र–

"अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।"

अनुल्लिखय्य न विश्राम्यति लेखनी। पर्यन्ते–

अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं ब्रुवाणो
नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम्।
हासैककारणगवेषणया नवार्थ–
तत्त्वावमर्शपरितोषसमीहया वा॥"

इति महिमभट्टभणितिं श्रीमतः स्मारयन् विरमामि विस्तरादिति शिवम्।

■

रसगङ्गाधरे द्वितीयकाव्यलक्षणम्

पण्डितेन्द्रपरिभाषितेषु यत् काव्यमुत्तमतया निगद्यते।
साहिती विमलचेतसां दृशा तत्परीक्षणमिदं वितन्यते॥

जगन्नाथपण्डितराजः प्राचां मम्मटादीनां सिद्धान्तमनुसरन्नपि प्रौढिवादमात्र- ग्रहिलचेताः स्वप्रबन्धे काव्यभेदचतुष्टयं व्यवस्थापयितुं महान्तमायासमङ्गीचकार। ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यचित्राख्यानि त्रीण्येव काव्यानि प्रायः सर्वैरङ्गीक्रियन्ते कोटित्रयपरिच्छेदेनैव ध्वनिसिद्धान्तः सामञ्जस्यमधिरोहतीति प्रेक्षावतामपरोक्षम्।

कविसंरम्भगोचरतया प्रधान्यमनुभवति व्यङ्ग्ये ध्वनिः, व्यङ्ग्ये वाच्येन समतां न्यूनतां वाऽधिशयाने गुणीभूतव्यङ्ग्यं, व्यङ्ग्यसंस्पर्शरहितशब्दार्थमात्रचमत्कृतौ चित्रमिति क्रमेण काव्यभेदव्यपदेशाः प्रवर्तन्ते।

अस्ति खलु 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ती'ति न्यायः कस्यापि प्राधान्ये हेतुस्तदीयो गुणोत्कर्ष एवं भवति काव्यस्य गुणोत्कर्षे च व्यङ्ग्यचारुत्वैव जीवातुरिति न विवादः। यदुक्तं ध्वनिकारेण 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण', 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' इति च।

एवं स्थिते 'यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयम्' इति द्वितीयमुत्तमं नाम काव्यप्रभेदं लक्षयति पण्डितराजः।

अत्र लक्षणे 'अयं स रशनोत्कर्षीत्यादौ' प्राकरणिकतया प्रधाने करुणध्वनौ स्मर्यमाणतया तदङ्गभूतो गुणीभावमापन्नः शृङ्गारो वाच्यार्थापेक्षया प्रधानभूतोऽस्तीति तद्वारणाय अवधारणार्थक 'एव'कारः। सर्वथा अप्रधानस्यैव व्यङ्ग्यस्य संग्राह्यत्वात् ननु अप्रधानं चमत्कारि न भवेदित्याशङ्कामपनेतुं 'चमत्कारकारण'मिति विशेषणमुपात्तम्।

गुणीभूतव्यङ्ग्ये च चमत्कारित्वं नाऽस्तीति ततोऽपि व्यावृतिः। तदेतल्लक्षणं परस्परविरुद्धं चमत्कारजनकताया एव प्राधान्याप्राधान्यव्यवस्थापकत्वात्। अप्रधानं च तच्चमत्कारजनकमित्युभयदशायां युगपदसम्भवात्। एकतरस्वीकारे परस्य परित्यागात् दरिद्रदम्पत्योर्निशावगुण्ठनमिवोभयत आकृष्यमाणं नेदं क्वापि संगच्छते।

काव्यप्रकाशे 'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्' इत्यत्र 'अतादृशि' इति पदस्य वाच्यापेक्षयाऽतिशयचमत्कारानाधायके इत्यर्थकरणाद् वाच्यान्न्यूनं समं वा सर्वविधं व्यङ्ग्यमुपसंगृह्यते येन सर्वेषां गुणीभूतानामनुगतलक्षणमपि कर्त्तुं शक्यम्।

यदपि मध्यमकाव्यनिरूपणप्रसङ्गे तत्रोक्तम्– 'अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाऽजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यमिति'।

यदि समासोक्त्यादौ व्यङ्ग्यव्यवहारस्य प्रस्तुते वस्तुनि स्फूर्तिः समधिकचमत्कारिणी दीपकादौ व्यङ्ग्यमुपमानोपमेयभावादि न्यूनचमत्कारकमित्युच्यते तदा बहूनामलङ्काराणां यत्किञ्चिद्व्यङ्ग्यसंस्पर्शस्य न्यूनाधिकभावेन सम्भवात्तारतम्यस्य पृथग् निर्णेतुमशक्यत्वादनवस्थापातः काव्यभेदानां परिगणनाऽसम्भवापत्तिश्च। अत एव प्राचीनैर्गुणीभूतत्वमेव सर्वानुगतं धर्ममादाय मध्यमश्रेण्यां काव्यमिदं निवेशितम्।

न च गुणीभूतत्वेन काव्यसौन्दर्यहानिः येन तद्वारणाय कश्चिद् भेदविशेषो मध्यमोत्तमोत्तमयोर्मध्ये बलादभिनिवेशयितुमिष्यते। यथोक्तं ध्वनिकृता– 'व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्। तस्यैव तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते। वाच्यालङ्कारवर्गस्य सर्वमपि चारुत्वमेतन्मूलकमेव–

'वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते॥'

इत्युक्तत्वात्। अलङ्कारधारिणीनामपि नायिकानां लज्जैव मुख्यं यथा भूषणं

तथैवैषा प्रतीयमानार्थच्छाया वाच्यसौन्दर्यसम्वर्धनस्याभ्युपायभूतेत्युक्तं तेनैव-

'मुख्या महाकविगिरामलङ्कारभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥'

सत्येवं प्रतीयमानार्थसंस्पर्शसौभाग्ये गुणीभूतव्यङ्ग्यविषयिणि किमिति पृथग्भेदगणनमिति न ज्ञायते।

अत्र क्रमप्राप्तोत्तमकाव्यस्योदाहरणमपि किञ्चिद्विवेचनमपेक्षते-

'राघवविरहज्वालासन्तापितसह्यशैलशिखरेषु।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय॥'

अत्र 'जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकस्मिक कपिकर्तृकहनूमद्विषयककोपोपपादकतया दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद्राजकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति' इति व्याचचक्षे पण्डितराजः॥

'कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय' इति वाच्योऽर्थः उपपाद्यः। स च जानकी कुशलश्रवणजनितराघवशिशिरीभावसम्भूतसह्याचलोष्मापगमरूपेण व्यङ्ग्येनोपपाद्यते। एवमत्र व्यङ्ग्यं वाच्याङ्गमपराङ्ग्यनामकगुणीभूतभेदान्तर्गतं प्रतीयते।

वाच्यस्य प्रकरणादिज्ञानात्कथञ्चिदुपपत्तौ वाच्यसिद्ध्यङ्गं वा गुणीभूतव्यङ्ग्यमत्र मन्तव्यम्। कोपकर्तृकहनुमद्विषयककोपवार्ता न सातिशयचमत्कारिणी। प्रकृते पद्ये 'राघवविरहज्वाले'ति पूर्वार्धेनैव व्यङ्ग्यस्य किञ्चिदुन्मीलनात्। किञ्चात्र तादृशसन्तापतादृशशिशिरीकरणयोरसम्बन्धेऽपि सम्बन्धकल्पनारूपाऽतिशयोक्तिः स्वशब्दैरनुपस्थानात् व्यज्यमाना किमिति प्राधान्यं नावलम्बेत? एवं व्यङ्ग्यप्राधान्ये निर्णीतपथस्यास्य वस्तु प्रतिपाद्यालङ्कारध्वनिरूपेणापि परिगणनं सम्भवत्येव।

'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥'

इत्युक्त्या नियमेन ध्वनित्वोपगमात्।

अन्यच्च प्रकरणस्य स्फुटतरतया व्यङ्ग्यपर्यन्तमनुधावनमकृत्वैव वाच्यार्थोपपत्तिः सुसम्पाद्या भवितुमर्हति। तथाहि कविप्रतिभोन्नीतेन विरहोत्तप्तशैलशयनरूपेण हेतुना कोपस्योपपत्तिरिति काव्यलिङ्गाऽलङ्कारस्याप्यत्रावसरः। शीतकाले शयनं विहाय गमनं क्लेशावहं भवतीत्यत्र न कापि विप्रतिपत्तिः। पवनतनयस्य सीतान्वेषणहेतोर्गमनायाहूतिरपि कपीनां कोपहेतुः सम्भवेदेव। तदेवमन्यैर्बहुभिरपि प्रकारैः पद्यार्थस्योपपत्तौ सम्भवन्त्यां प्रधानेतरव्यङ्ग्यकृतश्चमत्कार इत्याग्रहा न समीचीनः प्रतिभाति काव्यार्थभावितात्मनां सहृदयानामित्यलं बहुना।

■

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः

शशिबिम्बमिवाम्भोधि कल्लोलेषु कवेर्गिराम्।
प्रसरन्तं तरङ्गेषु कञ्चिदर्थं विचिन्तये।।

ध्वनिसिद्धान्तप्रतिष्ठापनपरमाचार्यः श्रीमदानन्दवर्धनः स्वोपज्ञे ध्वन्यालोकप्रबन्धे प्रथमां कारिकामेवमुपन्यस्यति–

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याऽभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रुमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।।' इति।

कारिकाऽनया सामान्यतो वक्ष्यमाणस्याऽशेषविषयस्योद्देश्यरूपेण परिचयः प्रादर्शि। तथा हि–ध्वनोः पूर्वाचार्यसम्मतत्वम्, तदभाव सम्भावना, लक्षणादिवृत्यन्तरेण गतार्थत्वकल्पना, ध्वनेरनाख्येयत्वम्, सम्भाव्यमानसकलविप्रतिपत्तिनिरासेन ध्वनिप्रतिष्ठापनं चेत्येवं रूपेण निष्कृष्टार्थसूचिकेयं कारिका।

तदनुवृत्तिग्रन्थेन ध्वनेरभाववादिनां विकल्पप्रदर्शनं भक्तिकुक्षिप्रवेशसम्भावनाव्युदासं अनाख्येयत्वादिनिरासं च संक्षेपेणोपदर्श्य ध्वनेर्लिलक्षयिषितस्य व्यङ्ग्यार्थसमाश्रितत्वाद् वाच्यव्यङ्ग्यरूपेणार्थविभागप्रदर्शनाय द्वितीयां कारिकामवतारयामास ध्वनिकारः–

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।'

तत्राऽपि वाच्यस्य सकलवादिसम्मततया प्राचीनालङ्कारिकाणां तत्रैव सविशेषसंरम्भशालितया न विशेषतो विचारगोचरत्वम्, व्यङ्ग्यस्य तु विप्रतिपत्तिविषयतया विवेचनमवशिष्यत इत्यभिप्रायेणोक्तम्–

'तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः।'

प्रतीयमानस्य तु ध्वनिसिद्धान्तजीवातुभूततया प्राधान्यमस्तीति सकलावयवाभिव्यङ्ग्यरमणीलावण्यसोदर्यत्वं, तदीयमित्थं निरूपितम्–

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्तवस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥'

एवं सामान्यतया प्रतीयमानस्य माहात्म्यमुपवर्ण्य तत्राऽपि रसध्वनेरेव कवितात्पर्यविषयत्वमस्तीति तत्त्वोपपादनाय प्राचीनतमसंवादानुसारेण प्रकृतोऽर्थः परिपोष्यते यथा–

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥'

एवंविधे पूर्वापरसम्बन्धे जागरूके यत् केनचिदुच्यते–'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति पूर्वप्रतिज्ञाय पश्चात् 'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः' इत्यनया कारिकया वाच्यव्यङ्ग्ययोः सव्येतरविषाणयोखि समशीर्षिकया काव्यात्मभावेन परिगणनात् ध्वनिकारस्य मतं स्ववचनविरोधादेव पराहतं भवतीति। तत्रेदं विचार्यते– न तावत् कारिकेयं ध्वनेर्लक्षणत्वेन निर्दिष्टा, किन्तु ध्वनियिरूपणात् प्राक् भूमिकारूपा। तथा च वृत्तौ स्फुटमुक्तम्–'ध्वनेर्लक्ष्ययितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुं इदमुच्यते' इति। अत्र श्रीमदभिनवगुप्तपादानां लोचनव्याख्याऽपि द्रष्टव्या– 'ननु ध्वनिस्वरूपं ब्रूमः इति प्रतिज्ञाय वाच्यप्रतीयमानाख्यौ द्वौ भेदावर्थस्येति व्याख्याभिधाने का सङ्गतिः कारिकाया इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां करोति तत्रेति'।

एवमेवाग्रेऽपि भूमिरेव भूमिका यथा पूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिरेव विरच्यते तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाव्याभिधानं भूमिः, तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात्। वाच्येन समशीर्षिकागणनं तस्याप्यनपन्हवनीयत्वं प्रतिपादयितुम्। इति।

एतावता नाऽनया कारिकया वाच्यार्थस्य काव्यात्मत्वं सिद्ध्यतीति ज्ञायते, किन्तु वाच्यपृष्ठभावी प्रतीयमानो नाम काव्यजीवातुभूतोऽर्थः, स एव काव्यस्यात्माऽस्तीति सूच्यते।

यथा च भूमिकां विना प्रासादोऽपि न स्थितिं लभते तद्वदेव वाच्याधारेण व्यङ्ग्यार्थस्य स्थितिरिति स्फुटमेतावता सन्दर्भेण। परं प्रासादस्य शिल्पिशतैरुपकल्पितस्य यद्रामणीयकं तत्तु न भूमिकायाः तथैव कविकल्पनाविश्रामधामता प्रासादसम्बन्धः प्रतीयमानस्यैवार्थस्य न तु वाच्यस्य।

किञ्च कारिकासु 'समाम्नातपूर्वः', 'स्मृतौ' इत्यादिभिः शब्दैः पूर्वाचार्य- सम्मतिप्रदर्शनेन स्ववचनस्य प्रामाणिकत्वमपि साधितं ग्रन्थकारेण। तथाप्यत्र श्लोके नान्वयः सुलभः परिदृश्यमानयत्तच्छब्दयो स्वारसिकः सम्बन्धोऽर्थेनैव दृश्यते 'सहृदयश्लाघ्यः', 'काव्यात्मा' इति विशेषणयुगलमप्यर्थेन सह सङ्गच्छते ततश्च वाच्यस्यापि काव्यात्मभावो दुर्वारतामापन्नः। एवं स्थिते किञ्चिदालोचनीयम्– न तावदर्थमात्रस्य काव्यत्वम्, सर्वेष्वपि लौकिकवैदिकवाक्येषु काव्यत्वप्रसङ्गात्। किन्तु काव्यार्थभावना परिपक्वबुद्धिभिर्विदग्धपदव्यपदेश्यैः परिगृहीत एवार्थः काव्येषूपयुज्यते, प्राधान्यं चाधिगच्छति एतदभिप्रायेणैव 'सहृदयश्लाघ्यः' इति विशेषणद्वारा काव्यस्यात्मभूतः प्रतीयमानः पृथक् क्रियते तत्र विवक्षानुरोधेनाऽऽकांक्षापूरणाय तच्छब्दः कश्चिदेकः परिकल्पनीयः। तथा च–सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा योऽर्थः प्रतीयमानरूपः स व्यवस्थितः विशेषण विभागेन वा अवस्थितः देहादेः पृथगभूत आत्मेव। अर्थस्य तु द्वौ भेदौ–वाच्यः प्रतीयमानश्चेति। इत्थमन्वययोजनायां तात्पर्यग्रहणे न बाधः।

नुन यत्तच्छब्दयोर्नियतसम्बन्धावगमकतया कथमत्र तच्छब्दकल्पनं कर्तुमुचितमिति चेदत्रापि विचार्यताम्– यत्तच्छब्दयोराकांक्षानुसारेणैव प्रवृत्तिर्भवतीति भूयोभिरुदाहरणैर्विधेयाविमर्शदोषविचारे प्रदर्शितं मम्मटादिभिः। क्वचिदसतोरपि यत्तच्छब्दयोः परिकल्पनमनुमतं तद्विदाम् यथा–

'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥'

अत्रोदाहरणे 'य उत्पत्स्यते तं प्रति' इति द्वयोरविद्यमानयोरपि यत्तत्पदयोः कल्पना क्रियमाणा न दुष्यति। अन्यथा भविष्यद्-वर्तमानक्रिय-योरेककर्तृसम्बन्धत्वेन प्रतीतिर्न सङ्गता स्यात्। तद्वदत्रापि 'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः' इत्यादि कारिकायामर्थानुरोधेन तच्छब्दकल्पना न दुष्यति। उपसर्गबलात् विशिष्टार्थप्रतीतिश्च प्रमाणसिद्धा। अन्यथा—'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा' इत्यग्रे वक्ष्यमाणकारिकोक्तस्य रसध्वनेः काव्यात्मताप्रतिपादन-मपि न समर्थितः स्यात्। रसभावादेः स्वप्नेऽप्यवाच्यत्वात्। तथा च व्यङ्ग्यस्वरूपविवेके काव्यप्रकाशकारेण त्रिविधमपि व्यङ्ग्यं द्वैविध्येन सङ्कोचयता प्रतिपाद्यते—'किञ्चिद्वाच्यतां सहते किञ्चित्वन्यथा। रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः' इति।

यदि तु 'सहृदयश्लाघ्यः', 'काव्यात्मा' इति विशेषणद्वयमपि अर्थसामान्य- परतया संयोज्य तस्य द्वौ भेदाविति यथास्थितान्वययोजन एवाभिनिवेशः केषाञ्चित् शेमुषीजुषां परिदृश्यते, तत्राऽपि सुगमः पन्था विचाराणाम्। तथा हि शब्दार्थशरीरमयमपि काव्यं प्राणयामान प्रतीयमान परिस्पन्दं विना न चमत्करोतीति निर्विवादसिद्धम्। शवशरीस्येव तद्विहीनस्य काव्यस्य सुतरां हेयत्वात्। तथापि काव्यव्यवहारे काचिदर्थकल्पना विविधरूपा क्रियते साऽपि प्रकृते विवेचनीयैव। ध्वनिभेदप्रकरणे तावद् अर्थस्थितिस्त्रिविधा—कश्चिदर्थः स्वतः सम्भवी, कश्चित् कविप्रौढोक्तिसिद्धः, कश्चित्कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्धश्चेति। कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिं कविप्रौढोक्त्या गतार्थयन् रसगङ्गाधरकारस्तु न श्रद्धेयः वाकोवाक्यप्रसङ्गे पात्रोपनिबद्धानामुक्तीनां समधिकचमत्कारजनकतया रसाभिव्यज्जनोपकारकत्वस्य स्फुटमनुभवात्। एवं त्रिविधोप्ययमर्थो विविक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ वाच्यरूपोऽपि व्यङ्ग्यनिष्ठो भवतीति स्वीक्रियते एवं वाच्यस्यापि सहृदयश्लाघ्यतया काव्यात्मभावोन्मुखतया च काव्यात्मरूपेण व्यवहारोऽपि नाऽसङ्गतः प्रतिभाति।

अन्यच्च ध्वनिकारेणैव स्थलान्तरे—'व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव हि सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां न वाच्यवाचकरचनामात्रेण' इत्युक्तम्। तत्र वाच्योऽपि व्यञ्जकदशायां काव्यात्मरूपतामारोढुं क्षमता इति तदभिप्रायः स्फुटीभवति।

एतदभिप्रायेण 'चित्रमपि काव्यप्रभेदरूपेण परिगण्यते' तत्रापि परम्परया प्रतीयमानार्थस्पर्शवत्तानियमात्। केवलं प्रधानतया व्यङ्ग्यतात्पर्यं नास्तीति तस्य चरमकोटि निवेशः स्वीकृतो न तु काव्यस्वरूपाद् बहिर्भावः। अत एव 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' इति काव्यप्रकाशोद्धृतकारिकायां 'अव्यङ्ग्य'पदेन न सर्वथा व्यङ्ग्यस्याभावोऽङ्गीकृतष्टीकाकारैः, किन्तु कवितात्पर्यविषयीभूतव्यङ्ग्यस्याऽभावोऽनुमतः। ध्वनिकारस्य सर्वत्र कविवाङ्मये प्रतीयमानचमत्कारमेव प्रमाणयतो भणितिरियमपि द्रष्टव्या– 'सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारः यत्र न प्रतीयमांनार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्' इति इत्थं प्रतीयमानार्थसंस्पर्शशालितयाऽपि स्पर्शमणिवत् सौवर्णी प्रक्रियामासाद्य वाच्योऽप्यर्थः काव्यात्मभावं भजेदेव। अपरञ्च–

'आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि।
चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च॥'

इति कोषकारोक्तदिशा व्यङ्ग्यस्य कलेवरतया तदुपपादनयत्नवत्तया वा वाच्योऽर्थः 'काव्यात्मा' इत्युक्तिर्न विरोधं लम्भनीया। किं बहुना, विशुद्धमपि वाच्यं काव्यस्वभावनिर्वाहकतया नानात्वं भजमानं काव्यस्वरूपं निर्वहतीतिसम्मनुते स्वयं ध्वनिकारः। यदुक्तं तेनैव चतुर्थोद्द्योते–

'अवस्था देशकालादि विशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः॥' इति।

'शुद्धस्य अनपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावतः' इति च। केवलस्य अनेक्षितव्यङ्ग्यार्थस्यापि वाच्यार्थस्य स्वभावोक्तिमात्रेण काव्यस्वरूपनिर्वाहकत्वं भवतीति तदभिप्रायः। एकस्यैव वस्तुनस्तत्तदवस्थाभेदभिन्नतया नवनवायमानतया चमत्कृतिजनकता सहृदयहृदयसाक्षिणी परिस्फुरत्येव। यथा कुमारसम्भवे प्रथमतो भगवतीं शैलराजकन्यां वर्णयन् महाकविः–

'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥'

इत्येवमुपसंहरति। पुनरपि वसन्ताविर्भावकाले तामेव प्रकारान्तरेण कविरुपवर्णयाञ्चकार–

'आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यं वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥'

पुनरपि परिणयावसरे महाकविरन्यथैव तामुपश्लोकयितुं सन्नह्यति–

'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः॥' इति।

तदेवं वाच्यार्थमात्रस्य रामणीयकनिर्वाहसमर्थतया काव्यात्मभावो न सुदुर्घटः स्वीकृतश्च ध्वनिकारादिभिः। एवमन्यदप्यचेतनेषु चेतनव्यवहारसमारोपादि कौशलं चमत्कारविशेषं जनयितुं प्रभवत्येव। किमधिकेन– स्तम्भकुम्भादिः पदार्थोऽपि कमनीयकामिनीबाहुवल्लीवलयितः सद्यो नायकदशामक्लेशमनुभवति। स्वभावतश्च प्राचीना आलङ्कारिका अपि रीति-वृत्ति-गुणालङ्कारादिनिरूपणव्याजेन कथञ्चिदस्फुटतया ध्वनितत्त्वमेवानुजग्मुरिति सिद्धान्तः। यथोक्तं ध्वनिकारेण–

'अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद् यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥' इति।

इत्थमेव शब्दतत्त्वाश्रया उपनागरिकाद्या वृत्तयः, अर्थतत्त्वाश्रयाश्च कैशिक्याद्याः परम्परया प्रतीयमानमेवार्थं परिपुष्णन्तीति न विवादः। अत एव 'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति भरतोऽपि ब्रुते। तदेवं वाच्यस्याप्यर्थस्य काव्यस्वभावनिर्वाहकतया काव्यात्मभावो न खण्डनीयः केनाऽपि। शब्दार्थविचारे पूर्वापरीभावविधौ च वाच्यस्य प्रथमोपस्थितिगोचरत्वं, लक्ष्य-व्यङ्ग्यादेस्तदुत्तरं प्रतिपत्तिश्चेत्यत्र न कस्याऽपि विचिकित्सावसरः। घटप्रदीपन्यायेन वाच्यस्य व्यञ्जकत्वं प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यत्वमपि सिद्धमेवेति न कश्चिद्विरोधः। सहृदयश्लाघ्यता काव्यस्वरूपनिर्वाहकत्वं तूभयोरर्थयोः स्वभावसिद्धमित्यनया दिशा 'काव्यात्मा' इति पदनिर्वचने न कश्चिद्विरोधः इति सर्वं समञ्जसमेव।

■

शब्दार्थयोः सम्बन्धः

नामरूपात्मकं विश्वं दृश्यते यदिदं द्विधा।
तत्राऽऽद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः॥

इत्युक्तदिशा प्रपञ्चनिर्मातुर्विरिञ्चेरपि प्राथम्यमधिगच्छन् कविः सारस्वते साम्राज्ये परैरनासादितं सौभाग्यमनुभवति। किन्निबन्धनमिदमिति विचार्यमाणे कवेः शब्दार्थयोः सम्बन्धः प्रस्थानान्तरविलक्षणः सर्वातिशायी चेत्यनुभवसिद्धं विमर्शकोविदानां, न केवलं तर्कचर्वणामात्रप्रत्येयम्। यद्यपि व्यवहारगोचरावेव शब्दार्थौ कविरपि प्रयुङ्क्ते, परन्तु न तौ तादृशौ, किन्तु साधारणव्यवहारात् भिन्नावेव कवेर्भवतः। कमपि चमत्कृतिभूमिं व्यङ्ग्यमर्थं प्रतिपादयतः शब्दस्यापि साधारणशब्देभ्यो वैलक्षण्यमुपजायते। यदुक्तं ध्वनिकारेण–

'सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगीशब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥'

अत्र 'कश्चन' इत्युक्त्या विशिष्ट एव शब्दः, तादृश एव च अर्थः कवेरिति प्रतिपाद्यते। अत्रैव लोचनकारोऽप्याह–'एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति ध्वन्यते, ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्नम्' इति।

यद्येवमाशङ्क्यते–व्यञ्जना नाम काचन शब्दशक्तिस्तया कवेरभिप्रायः स्फुटीभवतीत्यत्र घटादिवत् अर्थप्रत्तिपत्तौ नास्ति विशेषः इति।

तत्रेत्थं काचन विमर्शदिक् शरणीकरणीया–व्यञ्जना नाम विलक्षणैव शब्दशक्तिर्या क्वचिदर्थनिरपेक्षाऽप्यर्थविशेषमभिव्यङ्क्तुं प्रगल्भते वीणा-वेणु-मृदङ्गादिवत्। वाद्यविशेषाणां भावोद्बोधकत्वमनुभवसिद्धं सचेतसाम्। एतदभिप्रायेण केनाप्युच्यते कविना–

'अर्थहीनोऽपि मधुरः शब्दो लोकप्रियङ्करः।
वीणावेणुमृदङ्गादीन्यत्रोदाहरणानि नः॥'

अनया रीत्या अनुप्रायमकादीनामलङ्काराणां शब्दान्तरसाधारण्येऽपि चमत्कारविशेषोपस्थापकत्वं स्वयं सिद्धयति। एवमेवोपमारूपकोत्प्रेक्षा-तिशयोक्तिप्रभृत्यर्थालङ्कारेषु उपमानोपमेययोर्विषयविषयिणोर्वा देशकालाकारादिभिः सर्वथा भेदेऽपि तदुभयगतं पुरःस्फूर्तिकं कञ्चन धर्ममादाय क्रियमाणः सम्बन्धः सहृदयपरिषदं प्रीणयतीत्यत्र न कस्यापि मतभेदः।

साधारणीकरणं नाम कश्चिद् व्यापारो यः किल रसास्वादवेलायामपेक्षित इति प्रायः पठ्यते ग्रन्थेषु, परमयमेव उपमाया अतिशयोक्तेर्वा निर्वाहकोऽपि मन्तव्यः। कान्तावदनसुधाकरमण्डलयोराह्लादकत्वं वस्तुतो भिन्नमपि यद्वशादभिन्नमिव भासते तत्तु साधारणीकरणस्यैव माहात्म्यम्। अत एव कविवाङ्मये सर्वत्रैवाहार्ययोग्यताज्ञानासाम्राज्यं वैयञ्जनिकबोधस्य बाधाऽनभिभूतत्वं नूनमङ्गीकरणीयं भवति।

एवमुभयत्र शब्देऽर्थे तयोः सम्बन्धे च विशेषः साहित्यविदामनुमतः।

किञ्च–मयूराण्डरसन्यायेन काव्यलताबीजभूतायां कवेः प्रतिभायां विलक्षणयोः शब्दार्थयोरन्योन्याश्लिष्टयोः कल्पनातीतवैचित्र्यगर्भत्वमुपपद्यते, यद्बलादसौ महाकविरिति जेगीयते जगत्सु। सैव प्रतिभा व्यञ्जनध्वनना-दिपर्यायैरुपदिष्टा ग्रन्थेषु। यया च परिपाकवती कविसूक्तिः–

'आवापोद्धरणे तावत् यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥'

एवंविधानां स्तुतीनां पात्रतामारोहति।

अत एव च साहित्यं नाम न शब्दार्थयोर्यथाकथञ्चित् सहभावः, किन्तु यथावत्सहभाव एव इति राजशेखरः काव्यमीमांसायां पर्यवस्थापयामास।

यथावत्सहभाव इत्युक्त्या औचित्यस्य स्वयमेवाऽवतारात् सर्वेऽपि दोषाः निरस्यन्ते।

शब्दार्थयोः सम्बन्धः

नामरूपात्मकं विश्वं दृश्यते यदिदं द्विधा।
तत्राऽऽद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः॥

इत्युक्तदिशा प्रपञ्चनिर्मातुर्विरिञ्चेरपि प्राथम्यमधिगच्छन् कविः सारस्वते साम्राज्ये परैरनासादितं सौभाग्यमनुभवति। किन्निबन्धनमिदमिति विचार्यमाणे कवेः शब्दार्थयोः सम्बन्धः प्रस्थानान्तरविलक्षणः सर्वातिशायी चेत्यनुभवसिद्धं विमर्शकोविदानां, न केवलं तर्कचर्वणामात्रप्रत्येयम्। यद्यपि व्यवहारगोचरावेव शब्दार्थौ कविरपि प्रयुङ्क्ते, परन्तु न तौ तादृशौ, किन्तु साधारणव्यवहारात् भिन्नावेव कवेर्भवतः। कमपि चमत्कृतिभूमिं व्यङ्ग्यमर्थं प्रतिपादयतः शब्दस्यापि साधारणशब्देभ्यो वैलक्षण्यमुपजायते। यदुक्तं ध्वनिकारेण–

'सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगीशब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥'

अत्र 'कश्चन' इत्युक्त्या विशिष्ट एव शब्दः, तादृश एव च अर्थः कवेरिति प्रतिपाद्यते। अत्रैव लोचनकारोऽप्याह–'एवं व्यङ्ग्यस्यार्थस्य व्यञ्जकस्य शब्दस्य च प्राधान्यं वदता व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्यापि प्राधान्यमुक्तमिति ध्वनति ध्वन्यते, ध्वननमिति त्रितयमप्युपपन्नम्' इति।

यद्येवमाशङ्क्यते–व्यञ्जना नाम काचन शब्दशक्तिस्तया कवेरभिप्रायः स्फुटीभवतीत्यत्र घटादिवत् अर्थप्रत्तिपत्तौ नास्ति विशेषः इति।

तत्रेत्थं काचन विमर्शदिक् शरणीकरणीया–व्यञ्जना नाम विलक्षणैव शब्दशक्तिर्या क्वचिदर्थनिरपेक्षाऽप्यर्थविशेषमभिव्यङ्क्तुं प्रगल्भते वीणा-वेणु-मृदङ्गादिवत्। वाद्यविशेषाणां भावोद्बोधकत्वमनुभवसिद्धं सचेतसाम्। एतदभिप्रायेण केनाप्युच्यते कविना–

'अर्थहीनोऽपि मधुरः शब्दो लोकप्रियङ्करः।
वीणावेणुमृदङ्गादीन्यत्रोदाहरणानि नः॥'

अनया रीत्या अनुप्रायमकादीनामलङ्काराणां शब्दान्तरसाधारण्येऽपि चमत्कारविशेषोपस्थापकत्वं स्वयं सिद्धयति। एवमेवोपमारूपकोत्प्रेक्षातिशयोक्तिप्रभृत्यर्थालङ्कारेषु उपमानोपमेययोर्विषयविषयिणोर्वा देशकालाकारादिभिः सर्वथा भेदेऽपि तदुभयगतं पुरःस्फूर्तिकं कञ्चन धर्ममादाय क्रियमाणः सम्बन्धः सहृदयपरिषदं प्रीणयतीत्यत्र न कस्यापि मतभेदः।

साधारणीकरणं नाम कश्चिद् व्यापारो यः किल रसास्वादवेलायामपेक्षित इति प्रायः पठ्यते ग्रन्थेषु, परमयमेव उपमाया अतिशयोक्तेर्वा निर्वाहकोऽपि मन्तव्यः। कान्तावदनसुधाकरमण्डलयोराह्लादकत्वं वस्तुतो भिन्नमपि यद्वशादभिन्नमिव भासते तत्तु साधारणीकरणस्यैव माहात्म्यम्। अत एव कविवाङ्मये सर्वत्रैवाहार्ययोग्यताज्ञानासाम्राज्यं वैयञ्जनिकबोधस्य बाधाऽनभिभूतत्वं नूनमङ्गीकरणीयं भवति।

एवमुभयत्र शब्देऽर्थे तयोः सम्बन्धे च विशेषः साहित्यविदामनुमतः।

किञ्च—मयूराण्डरसन्यायेन काव्यलताबीजभूतायां कवेः प्रतिभायां विलक्षणयोः शब्दार्थयोरन्योन्याश्लिष्टयोः कल्पनातीतवैचित्र्यगर्भत्वमुपपद्यते, यद्बलादसौ महाकविरिति जेगीयते जगत्सु। सैव प्रतिभा व्यञ्जनध्वननादिपर्यायैरुपदिष्टा ग्रन्थेषु। यया च परिपाकवती कविसूक्तिः—

'आवापोद्धरणे तावत् यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥'

एवंविधानां स्तुतीनां पात्रतामारोहति।

अत एव च साहित्यं नाम न शब्दार्थयोर्यथाकथञ्चित् सहभावः, किन्तु यथावत्सहभाव एव इति राजशेखरः काव्यमीमांसायां पर्यवस्थापयामास।

यथावत्सहभाव इत्युक्त्या औचित्यस्य स्वयमेवाऽवतारात् सर्वेऽपि दोषाः निरस्यन्ते।

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥'

इत्यपि तत्त्वं स्वयमेव समुन्मीलति।

एतदेव साहित्यं समस्तमपि काव्यसंसारमभिव्याप्नोति। कुन्तकोक्तरीत्या साहित्यावच्छिन्नमेव सर्वं कवेर्विलसितम्। यदुक्तम्–

'साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥'

यद्वशाच्च कवेश्चक्रवर्तित्वमित्थमासूत्रितं प्राचीनैः–

'अभ्रङ्कषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः
श्लाघ्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
द्राग् वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः॥'

इत्येष एव सविशेषः सम्बन्धः शब्दार्थयोर्महाकवीनामिति।

■

श्लेषालङ्कारविमर्शः

निरन्तरानन्दसुधासमुद्रतरङ्गदोलाकलिताधिवासौ ।
परस्पराश्लिष्टविशिष्टरूपौ शिवौ शरण्यौ परिभावयामि॥

उन्मीलितान्तःकरणाः। अन्तर्वाणिवरेण्याः। साहित्यशास्त्रीयचिन्तनप्रसङ्गेन भवतां पुरतः श्लेषनामानमलङ्कारमधिकृत्य शास्त्रोद्यानावचितान् कांश्चन विचारमकरन्दबिन्दूनुपस्थापयामि।

इह तावदलङ्कारशास्त्राऽपराभिधाने साहित्यशास्त्रे सद्यः परनिर्वृतिरूपश्चमत्कार एव परमोपेयतया प्रथामारोहतीति सुविदितं प्रेक्षावताम्। स च गुणालङ्कार-रस-ध्वनि-वक्रोक्तिप्रभृतिभिः शब्दैस्तैस्तैराचार्यैः परिभाषितो यथेष्टां भूमिकामधितिष्ठति। 'काव्ये सारश्चमत्कारः' इत्यस्ति प्रसिद्धिः। स च न लौकिकः, किन्तु लोकोत्तर एव। यथोच्यते मम्मटेन—'लोकोत्तरवर्णननिपुणकविकर्म काव्यम्' इति। पण्डितराजोऽप्याह—'लोकोत्तरत्वञ्च आह्लादगतश्चमत्कारत्वाऽपरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः' इति।

तादृशचमत्कारजननसामर्थ्यं कवेः शब्दार्थयोरन्तर्निहितं भवतीति विशिष्टौ एव कवेः शब्दार्थौ प्रथितौ। तद्वैशिष्ट्यमेव साहित्यशब्दाभिधेयं तत्त्वम्। यदाह राजशेखरः—'शब्दार्थयोर्यथावत्सह भावेन विद्या साहित्यविद्या' इति। तदेतत्सहित्यं चमत्काराऽसाधारणकारणमिति कुन्तकाचार्यः प्रतिपादयति—

साहित्यमनयोः शोभाशलितां प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥

सोऽयं चमत्कारोऽपि बाह्यान्तरङ्गभेदेन द्विशाखतां भजते। तथा हि— वाच्यार्थप्रधानशब्दार्थसौन्दर्यप्रतिपादकतया व्यङ्ग्यार्थप्रधानबहुविधध्वनिप्रतिपादकतया च। अनयोरेव मध्ये निविष्टा सर्वाऽपि कविकर्मपरिपाटी।

तत्र प्रथमप्रकारमध्ये सातिशयत्वेन शोभाजनकतया अलङ्कारवर्गस्य स्थानम्। यन्मूलो वामनाचार्यस्य डिण्डिमः 'सौन्दर्यमलङ्कारः', 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' इति। तेष्वपि भूयसामलङ्काराणां सौन्दर्यनिर्वाहकतया कविप्रतिभोन्नायकतया च श्लेषालङ्कारस्य महती प्रतिष्ठेति तमेवाश्रित्य तत्परिचयं प्राचां विदुषां विचारलेशांश्च समुपस्थापयामि – अस्यालङ्कारस्य प्राचीनो निर्देशः अग्निपुराणे नास्ति, विष्णुधर्मोत्तरे च नाममात्रेण सङ्केत उपलभ्यते। आचार्यो भामह इदंप्रथमतया सप्रभेदममुं प्रादर्शयत्। यथा-

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च 'श्लिष्टं' तदभिधीयते॥
लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु।
इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः॥
शीकराम्भोमदसृजस्तुङ्गा जलददन्तिनः।
इत्यत्र मेघकरिणां निर्देशः क्रियते समम्।
श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च क्रियते भिदा।
तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्क्रमशो यथा॥
छायावन्तो गतव्यालाः स्वारोहाः फलदायिनः।
मार्गद्रुमा महान्तश्च परेषामेव भूतये॥
उन्नया लोकदयिता महान्तः प्राज्यवर्षिणः।
शमयन्ति क्षितेस्तापं सुराजानो घना इव॥
रत्नवत्त्वादगाधत्वात् स्वमर्यादाऽविलङ्घनात्।
बहुसत्त्वाश्रयत्वाच्च सदृशस्त्वमुदन्वता॥

अत्र भामहस्यायमाशयः–

गुण-क्रिया-हेतुभिर्यदुपमानोपमेययोस्ताद्रूप्यं क्रियते, तदेव 'श्लिष्ट'मिति नाम्ना विदितः कश्चिदलङ्कारप्रकारः। यद्यपि लक्षणमेतद्रूपकेऽपि प्रसक्तं तथापि रूपकापेक्षया श्लेषे श्लिष्टत्वरूपनानार्थकत्वाद् भेदः स्वीकार्यः। उपमानोपमेययोरभेदोऽस्तु समानः। इदञ्च 'श्लिष्टं' त्रिभिः प्रकारैरुपपद्यते सहोक्त्या, उपमया हेतुनिर्देशाच्च। क्रमेण च तदुदाहरणानि–

'छायावन्तो गतव्यालाः' इत्यादिसहोक्त्या श्लिष्टस्य अत्र छायाव्यालप्रभृतयः श्लिष्टाः शब्दाः, इत्थमेव 'उन्नता लोकदयिताः' इत्यादि उपमा श्लिष्टस्य 'रत्नवत्त्वाद् अगाधत्वात्' इत्यादि-हेतुनिर्देशात् श्लिष्टस्य च एतेषु त्रिष्वप्युदाहरणेषु नानार्थकत्वात् लक्षणसङ्गतिः। इति भामहाचार्योपज्ञः प्रथमो विवरणक्रम्।

तदनु दण्डिनो लक्षणं पूर्वलक्षणापेक्षया परिष्कृतं पन्थानमवतरति, यथा–'श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः' इति।

इदमेव लक्षणमुपजीव्य पुरस्तात् प्रवर्तमानानां लक्षणप्रवृत्तिः परिदृश्यते। दण्डिनैव 'भिन्नपदमभिन्नपदञ्चे'ति भेदद्वयं प्रादर्शि। यस्य परवर्तिभिः सभङ्गाऽभङ्गश्लेषपदेन व्यवहारः प्रवर्तितः। दण्डिना केचिदन्ये तद्भेदाः प्रदर्शितास्तेषु केचिदुपमारूपकदीपकतुल्ययोगिताप्रभृतिष्वलङ्कारेष्वपि तत्तदुपस्कारकतया सम्भवन्ति।

उद्भटाचार्य एव प्रथमतः कण्ठरवेण शब्दश्लेषः, अर्थश्लेषश्चेति भेदद्वयमाख्यातवान्। आलङ्कारिकाणां मूर्धन्योऽयमाचार्यः श्लेषस्य स्वविषये अलङ्कारान्तरबाधकत्वं, स्वरादीनामर्थनियामकत्वञ्च स्वीचकार। यन्मतं नव्यैः स्वग्रन्थेषु निरस्यते। उद्भटाचार्यटीकाकारः प्रतीहारेन्दुराजोऽपि तदाशयं प्रस्फुटमकरोत्।

ततः परवर्ती रुद्रट एव प्रथमतः 'श्लिष्ट'संज्ञामपहाय 'श्लेष'इत्यभिधयाऽलङ्कारं निर्दिदेश। उभयोर्भेदयोः पृथक् स्वरूपं निरूपयन्नष्टसंख्याकांस्तद्भेदांश्च प्रकटीचकार। इयमेव सरणिर्मम्मटादिभिरनुसृता। अर्थश्लेषभेदविवेचने भूयसामन्येषामप्यलङ्काराणां सङ्करश्च सम्भावितो रुद्रटेन।

वामनाचार्यसूत्रं तावत् "सधर्मेषु तन्न प्रयोगे श्लेषः" इत्येवंरूपम्। नानेन भेदप्रपञ्चो वर्णितः। भोजराजस्तु शब्दार्थप्रविभागमनुक्त्वा केवलं भिन्नपदादीन् षड्भेदानुपस्थापयाञ्चकार। काव्यप्रकाशकारो मम्मटाचार्यो रुद्रटस्य सरणिमनुकुर्वन् स्वलक्षणं तद्भेदांश्च न्यबध्नात्। यथा–

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधाः।। इति।

मम्मटेन सभङ्गाऽभङ्गयोः श्लेषयोः शब्दालङ्कारत्वं शुद्धश्लेषस्य चाऽर्थालङ्कारत्वं पृथगेव सूचितम्। अलङ्कारान्तरे श्लेषस्य बाध्यत्वमपि तेन व्यवस्थापितम्। अलङ्कारसर्वस्वकारो रुय्यकः श्लेषप्रपञ्चं वितत्य व्याख्यातवान्। सभङ्गश्लेषं शब्दगतमभङ्गञ्च अर्थनिष्ठममन्यत। शब्दार्थगतत्वेन विभागे लोकन्यायमाश्रित्य आश्रयाश्रयिभावमेवाऽङ्गीचकार। तट्टीकायां विमर्शिन्यां वैशद्येन तन्मतं व्याख्यातम्।

वाग्भटेन भिन्नाऽभिन्नपदगततया द्विविधः श्लेषः प्रादर्शि। हेमचन्द्राचार्यस्तु केवलमभङ्गश्लेषमुदाहरति। पीयूषवर्षो जयदेवः खण्डश्लेषप्रभृतींस्त्रीन् भेदान् व्याजहार।

साहित्यदर्पणकारस्तु प्रायशो मम्मटसरणिमेव विशदयन् भेद-प्रभेदान् प्रादर्शयत्।

अप्पयदीक्षितस्तु श्लेषस्य भेदत्रयमाख्याय तत्र सभङ्गाऽभङ्गरूपतया द्वैविध्यं कृत्वा पर्यन्ते श्लेषस्य अर्थालङ्कारतामेव स्वीचकार।

जगन्नाथपण्डितराजः सर्वानपि श्लेषभेदान् सञ्जिघृक्षुः स्वलक्षणं लाघवेन व्यरचयत्, यथा—'श्रुत्यैकयाऽनेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः' इति। सविस्तरञ्चाऽस्य विषये प्राच्य-नव्योभयमतपरीक्षां विधाय स्वसिद्धान्तं प्रत्यतिष्ठिपत्। विश्वेश्वरसूरिः प्राच्यमतान्येव अनुसरन् स्वलक्षणं प्राह—

'उभयविशेष्यान्वितयोरेकेन प्रोक्तिरर्थयोः श्लेषः' इति।

एवमाचार्याणां लक्षणादिनिरूपणसरणिः सामान्यतो दर्शिताः। अयमलङ्कारः शब्दालङ्कारोऽर्थालङ्कारो वा? अंशत उभयत्र विभक्तो वा? अलङ्कारान्तरे साधको बाधको वा? इत्यत्र विषये भूयान् विचारः परिदृश्यते। तमेव संक्षिप्य निरूपयामः—

आलिङ्गनार्थात् 'श्लिष्'धातोर्निष्पन्नः श्लेषशब्दः। शब्दा यत् श्लिष्यन्ति स श्लेषः। श्लेषणञ्च अगृहीतभिन्नस्वरूपत्वम्। जतुकाष्ठन्यायेन एकवृन्तावलम्बिनानाफलन्यायेन वा युगपदुच्चारणविषयतया यद् भिन्ना अपि शब्दाः स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः। एकोच्चारणापह्नुतभेदकभिन्नार्थकसदृशनानाशब्दवत्त्वं

श्लेष इति काव्यप्रकाशटीकाकाराः। तत्र पदभङ्गवशादुपपाद्यमानः श्लेषः शब्दालङ्कारः, पदभङ्गमकृत्वा अखण्डैरेव पदैर्नानार्थप्रतिपादकोऽभङ्गश्लेषस्तु अर्थालङ्कार इति प्राञ्चोऽलङ्कारसर्वस्वकारादयः। नव्या मम्मटादयस्तु उभयोरपि पर्यायपरिवृत्त्यसहिष्णुतया शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायितया शब्दालङ्कारत्वं प्रतिपद्यन्ते, पर्यायपरिवर्तनेऽपि नानार्थप्रतिपादने तु शुद्धः अर्थश्लेष एव, स च पृथगलङ्कार इति व्यवस्थापयन्तिः। प्राचां मते 'यो यदाश्रितः स तदलङ्कार' इति लोकदृष्टान्तमनुसृत्य शब्दार्थगतत्वव्यवहार उपपाद्यते। तेषामयमाशयः– कार्यकारणयोरेव विषये अन्वय-व्यतिरेकन्यायः प्रवर्तते नाऽत्र तदपेक्षा। कर्णाश्रितं कुण्डलं कर्णाभरणमित्युच्यते, न तु स्वर्णाभरणमिति स्वर्णकारस्य आभरणमिति वा तद्वदेव प्रथमः श्लेषः शब्दाश्रितो द्वितीयश्च अर्थाश्रित इति।

अप्पयदीक्षितः कुवलयानन्दे श्लेषालङ्कारं व्यात्र्याय पर्यन्ते शब्दार्थालङ्कारत्वविषये कानिचन मतान्युद्धरति, यथा-'तत्र सभङ्गश्लेषः शब्दालङ्कारः। अभङ्गश्लेषस्त्वर्थालङ्कार इति केचित्। उभयमपि शब्दालङ्कार इत्यन्ये। उभयमप्यर्थालङ्कार इति स्वाभिप्रायः' इति।

अत्र मम्मटादीनामयमाशयः–वैचित्र्यमेवालङ्कार जीवातुस्तच्च श्लेषे शब्दयोजनैकसमधिगम्यमिति शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायितया शब्दालङ्कारत्वमस्य समुचितम्। न च अर्थमुखप्रेक्षितामात्रेण अर्थालङ्कारत्वकल्पना, अनुप्रासादीनामप्यर्थमुखप्रेक्षित्वमस्त्येवेति तेषामपि अर्थालङ्कारतापत्तिर्दुर्वारा स्यात्। अर्थश्लेषस्य तु स विषयः, यत्रैकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां नानार्थोपस्थापनक्षमत्वम्। यथा–

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

इत्यादौ 'स्तोक'शब्दस्थाने 'स्वल्पा'ऽऽदिपदप्रयोगेऽपि नानार्थत्वमव्याहतमेव तिष्ठति। रसगङ्गाधरलक्षणे त्रयाणामपि सङ्ग्रहो विहितः, येनैकालङ्कारविषयता सिद्ध्यति।

अत्रेदं विचारणीयम्–अर्थालङ्कारेष्वपरेष्वपि शब्दश्लेषोपस्कारवशाच्चमत्कृतिर्भवति, परन्तत्र तेषामर्थालङ्कारत्वमेव स्वीकृतं मम्मटादिभिर्यथा–

विद्वन्मानसहंस! वैरिकमलासङ्कोचदीप्तद्युते।
दुर्गामार्गणनीललोहित! समित्स्वीकारवैष्वानर!॥

अत्रोदाहरणे—राज्ञि हंसाद्यारोपसिद्धये शिलष्टानां मानस-कमला-दुर्गा-समिदादिशब्दानां नियमेन परिग्रहः तदभावे न रूपकनिष्पत्तिः। एवमेतेषां रूपकप्राधान्यमुद्दिश्यैव अर्थालङ्कारे परिगणनम्, वस्तुतस्तु उभयालङ्कारतैव स्वीकर्तव्या पूर्वप्रतिपादिताऽन्वयव्यतिरेकनियमात्। तथैव श्लेषस्थलेऽपि शब्दश्लेषार्थश्लेषयोः पृथक् परिगणनं न समुचितं प्रतिभाति। नानार्थप्रतिपादकत्व-रूपवैचित्र्यबीजस्याऽनुगतत्वादेकालङ्कारकोटिप्रविष्टत्वाच्च। चमत्कारभेद एवाऽलङ्कारभेदे प्रयोजकः। स्वीकृतञ्च तथैव पुनरुक्तवदाभासादीनामुभया-लङ्कारत्वम्। न च श्लेषे 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा' इत्यादिवद् अर्थनिरपेक्ष शब्दमात्रचमत्कृतिः कविप्रतिभागोचरा, नाऽपि शब्दनिरपेक्षार्थैकचमत्कृतिस्तथा भवितुमर्हतीति द्वयोरप्यपेक्षणात् सहयोगः सिद्धः। यथा व्यञ्जकत्वे शब्दार्थयोः सहकारिता स्वीक्रियते, तद्वदलङ्कारमार्गेऽपि सा कुतो न स्वीक्रियताम्। तस्मादर्थश्लेषस्य पृथगलङ्कारता न कल्पनीयेति युक्तमुत्पश्यामः।

अयमलङ्कारः प्रायेणालङ्कारान्तरस्य विषयमभिनिविशते तत्र किमस्य बाधकत्वं स्यादाहोस्वित्सङ्कीर्णत्वमुताहो बाध्यत्वमिति प्रश्ने प्राचीनाः सङ्गिरन्ते-'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति' इति न्यायेन अलङ्कारान्तर- विषय एवायमारभ्यमाणोऽलङ्कारान्तरं बाधते। यतः प्रकृतमात्रयोः, अप्रकृतमात्रयोः, प्रकृता प्रकृतयोश्चार्थयोर्विषये तुल्ययोगितादीपकञ्च भवतीति निरवकाशता श्लेषस्य। काव्यप्रकाशाद्युदाहृते 'देव त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम्' इति विविक्तोदाहरणतया प्रदर्शितेऽपि स्थले रूपकमेव प्रतिभाति। एवमन्यत्राऽपि तत्तदलङ्कारनिर्मुक्तस्वरूपस्य श्लेषस्यानुपलम्भाद् अलङ्कारान्तरे बाधकत्वमेव स्वीकार्यम्। एवंविधस्थलेष्वलङ्कारान्तरस्य प्रतिभोत्पत्तिः प्रधानस्तु श्लेष एव सर्वत्राऽलङ्कारः। श्वैत्यवशात् शुक्तौ रजतत्वप्रतिभास इव तत्राऽलङ्कारान्तरप्रतिभास इति।

नवीनास्त्वत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते—यदुक्तं श्लेषस्याऽलङ्कारान्तरबाधकत्वं तन्न समीचीनम्, 'त्वां सर्वदोमाधवः' इत्यादौ हरि-हरयोः शुद्धश्लेष एव

कविसंरम्भगोचरः, न पुनस्तुल्ययोगिता, तयोरौपम्यस्य नाऽत्र विवक्षा, नाऽपि तुल्यधर्मत्वमिति कथमलङ्कारान्तरप्रसक्तिः सम्भाव्यताम्। एकश्रुत्याऽर्थद्वयोपपादनं हि श्लेषजीवातुस्तच्चैवंविधेषु स्फुटमेव।

किञ्च यत्राऽलङ्कारान्तरे श्लेषस्योपस्कारकता मात्रं तत्र न तस्य प्ररूढत्वमपि दृश्यते, यथा–

'समरार्चितोऽप्यमरार्चितः' इत्यादौ विरोधचमत्काराधायकतया प्रादुर्भवन्नपि श्लेषतैमिरिकचन्द्रद्वयप्रतीतिवत् प्रतिभासमात्रो विरोधमुपस्कुर्वन् विरमतीति कथमस्य प्राधान्यं सिद्ध्येत्।

एवमेव समासोक्तौ 'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः' इत्यादौ विशेषणानां श्लिष्टत्वेऽपि न श्लेषः, द्वयोः प्रकृताऽप्रकृतयोरर्थयोर्वाच्यत्वाऽभावात्, अप्रकृतधर्मिव्यवहारस्य प्रकृतधर्मिणि समारोपस्यैव चमत्कारजनकत्वाच्च। एवंविधस्थले वाच्यमुखेन चमत्कारजननादलङ्कारत्वं व्यङ्ग्यस्य वाच्याङ्गतया च गुणीभूतत्वमेकविषयेऽपि निर्बाधम्।

यत्र पुनः प्रकृताऽप्रकृतोभयविशेष्ययोरपि श्लिष्टपदोपात्तत्वं स तु शब्दशक्तिमूलध्वनेर्विषयः। यथा–

अविरलविगलद्दानोदकधारासारसिक्तधरणितलः।
धनदाग्रमहितमूर्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम्॥

अत्र राजस्तुतिरूपप्रकरणे 'सार्वभौम'पदस्य दिग्गजविशेषरूपोऽर्थो व्यञ्जनयैव प्रतीयते, तस्याप्रस्तुताभिधानं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्रस्तुताऽप्रस्तुतयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीयः। तेन 'सार्वभौमः सार्वभौम' इवेत्युपमालङ्कारध्वनिः। अत्राऽप्यनेकार्थत्वे सत्यपि प्रकरणादिप्रतिबन्धकवशाद् वाच्यार्थनियमनान्न श्लेषः। ये पुनर्द्वितीयार्थमप्यभिधयैव प्रत्येयं स्वीकुर्वन्ति तन्मतेऽपि औपम्यस्य व्यङ्ग्यत्वमस्त्येव। औपम्यप्रतीत्यैव वाक्यार्थविश्रान्तिर्भवतीति न श्लेषस्य विषयः।

किञ्चे श्लिष्टविशेषणायां समासोक्तौ श्लिष्टपरम्परितरूपके च श्लेषप्रभेदकल्पनायां समासोक्त्यादीनां विलोपापत्तिः स्यात्। अतो गूढश्लेष–

आक्षिप्तश्लेषप्रभृतयो भेदा न शुद्धश्लेषस्य भवितुमर्हन्ति, किन्तु श्लेषसङ्कीर्णतत्तदलङ्कारविशेषरूपा एव मन्तव्याः। उपलक्षणन्यायेन श्लेषः प्रायेण बहुष्वलङ्कारेषु ध्वनिभेदेष्वपि सौन्दर्यनिर्वाहकतया स्वीकार्य एवेति नात्र कस्यापि विप्रतिपत्तिः।

सरस्वत्या नवं नवं सौन्दर्यमावहन्नयं कविकुलकल्पनावल्लरीं पल्लवयन् सहृदयहृदयाह्लादकः कस्य न प्रशस्यतामधिगच्छतीत्यलं पल्लवितेन। 'गच्छतः स्खलनं क्वाऽपि' इति न्यासेन मामकीनान् दोषानपहाय यत्किञ्चिद्गुणलेशानेव सहृदयाः स्वीकरिष्यन्तीति सम्भाव्य विरमामि।

■

रसदर्शनस्य पृष्ठभूमिः

छन्दःपादाभिरामां घनजघनलसत्तर्कविद्याप्रसारां
पार्श्वोद्यत्सांख्ययोगां हृदयसरसिजोद्भासितब्रह्मतत्त्वाम्।
वक्षोजव्याप्तवेदां पदमयवदनामागमोद्भासिभालां
काव्यालङ्कारहास्यां भजत भगवतीं भारतीं भारतीयाम्॥

सर्वोऽपि जनः स्वमनीषानुसारं वस्तुतत्त्वमवगच्छतीति स्वभावः। तमेवाऽनुसृत्य प्रवर्तमानोऽहं भवद्भिरवेक्षणीयः स्वीकरणीयो वा निराकरणीयो वा भवेयमिति नातिचित्रम्। विश्वस्मिन् सर्वोऽपि लोकः स्वानुकूलसंवेदनीयं सुखमेवाऽभिलषति,परिजिहीर्षति च प्रतिकूलसंवेदनीयं दुःखमिति हेतोः सर्वेऽपि शास्त्रकाराः पर्यन्ततः परमपुरुषार्थाधिगमरूपं सुखमेव परमोपेयतया प्रतिपादयन्ति।

तच्च सुखं कृत्रिममकृत्रिममिति द्वेधा विभज्यते शास्त्रकारैः, लौकिकं धनदाराधिकारादिरूपं कृत्रिमम्, तदितरत् शाश्वतिकश्रेयोरूपम् अकृत्रिममित्यभिधीयते, तस्य च मुक्तिः, निर्वाणं, निःश्रेयसम्, ब्रह्मभावावाप्तिः, कैवल्यम्, आनन्दः, स्वातन्त्र्यम् इत्यादयो बहवः पर्यायाः सम्भवन्ति।

साहित्यशास्त्रकारा अपि किमपि सुखविशेषमुद्दिश्यैव तदधिगमयितुं स्वप्रणालिकया प्रवर्तन्ते। सा का प्रणालिकेति जिज्ञासायां दृष्टिपथमुपयाति नामरूपात्मिका शब्दार्थात्मिका वा योजना नाम। सृष्टिरियं नामरूपात्मिका, यथा कस्याऽप्युक्तिः–

नामरूपात्मकं विश्वं दृश्यते यदिदं द्विधा।
तत्राऽऽद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः॥

ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वं वेदादिशास्त्रपरम्पराप्रसिद्धं सर्वगोचरञ्च। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै', 'अप एव ससर्जादौ

तासु वीर्यमवासृजत्' इत्यादिप्रमाणशतपरिपुष्टञ्च। वस्तुतः 'रूपम्' इति अर्थस्यैव पर्यायः, पूर्वोक्तं सुभाषितं तु कमनीयकाव्यकर्तृत्वमुद्दिश्य कवेः प्रशस्तिप्रायोवादः।

अर्थस्य शब्दाऽविनाभावित्वं तु प्रसिद्धमेव–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

स्वप्नादौ मानसिकचिन्तनादावपि शब्दानुविद्धज्ञानस्यानुभवसिद्धत्वात्। एवञ्च शब्दार्थयोः समकालिकी सृष्टिरस्ति, परस्परसापेक्षत्वात्। शब्दसमुदायो नाम पञ्चाशद्वर्णात्मिका भगवती मातृका यत्प्रसूतमिदं चराचरात्मकं विश्वम्। तत्प्रतिपाद्यः सर्वोऽप्यर्थसमुदायोऽपि तदभिन्न एव मन्तव्यः। अन्तर्विद्यमानस्यैव बहिःप्रकाशनं सृष्टिः। सत्कार्यवादभङ्ग्या कारणांशे विद्यमानस्यैव बहिः प्रादुर्भावः। न ह्यसतः सद् उत्पत्तुमर्हति।

किञ्च वैदिकमर्यादयाऽपि 'स भूरिति भुवमसृजत्' इत्याद्युक्तेः सृष्टेः शब्दजन्यत्वं वेदजन्यत्वं वा शास्त्रकारैरभ्युपेयते। आचार्यसायणस्योक्तिः-

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥

शारीरकभाष्येऽप्याचार्यचरणैः सृष्टेः शब्दजन्यत्वं निरणायि। अत एवाऽस्माकं वैदिके वाङ्मये मन्त्रयत्वान्महानादरः।

इयञ्च शब्दार्थयुगली प्रकाशविमर्शरूपा शब्दो विमर्शः, अर्थश्च प्रकाशात्मा। आगमशास्त्ररीत्या विमर्शः शक्तितत्त्वं, प्रकाशश्च शिवतत्त्वमिति स्थितिः। सा च द्विविधाऽपि सृष्टिः समकालीनोत्पत्तिका समकालाभिवृद्धिशालिनी यथा बीजादङ्कुरतच्छाये। तत्र च छायादर्शनेन वृक्षानुमितिरनुभवसिद्धा। सा च छायायां वृक्षसमानाकारत्वं वृक्षाऽविनाभावं च विनाऽनुपपन्नेति तद् द्वयमपि तत्र कल्प्यम्। प्रत्यक्षसंवादविषयश्च तद्वच्छब्दः सर्वोऽप्यर्थाविनाभूतः अर्थज्ञानजनकज्ञानविषयत्वात्। अत एव 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये' इति महाकवेरुक्तितया अर्थसमानाकारोऽपि। तथाहि यावन्तः शब्देऽवयवास्तावन्त

एवार्थे तज्ज्ञाने चाभ्युपेयाः। 'चैत्रस्तण्डुलं पचति' इत्यादौ चैत्रपदं सुप्रत्ययः तण्डुलपदम् अम्प्रत्ययः पच्धातुस्तिप्प्रत्ययश्चेति षडवयवात्मकस्य शब्दसमूहस्य चैत्रः कर्तृत्वं, तण्डुलः कर्मत्वं तेजः संयोगः कृतिश्चेति विशकलिताः षडर्थाः। अग्रे तेषां परस्परसमभिव्यवहारस्य तु परस्परसम्बन्धविशेषोऽर्थ इति शास्त्रकाराणां सरणिः। एवमनयोः शब्दार्थयोः परस्परसंश्लिष्टत्वं प्रमाणप्रतिपन्नम्।

इयञ्च सृष्टिः परब्रह्मपरिणाम एव। 'आत्मकृतेः परिणामात्' इति सूत्रकारोक्तेः। श्रीशङ्करभगवत्पादैरपि सौन्दर्यलहर्याम्– 'त्वयि परिणतायां न हि परम्' इत्युक्तम्। शब्दार्थात्मिका सृष्टिः सूक्ष्मरूपा, सैव स्थावरजङ्गमरूपेण परिणमन्ती स्थूलरूपा कथ्यते। अनयोः सृष्ट्योर्ज्ञानजनकं मन एव। तच्च शब्दं श्रोत्रेन्द्रियद्वारैव गृह्णाति, अर्थं तु कञ्चन साक्षात्, कञ्चन चक्षुरादिद्वारेति विशेषः। ते च द्वे अपि सृष्टी स्थूल- सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतमभेदात् प्रातिस्विकं चतुर्विधे। श्रोत्रमनसस्तु अर्थान्तःपातित्वादेव चातुर्विध्यम्। एवञ्च स्थूलश्रोत्रेण स्थूलशब्दश्रवणात् स्थूलार्थस्य स्थूलमनसा ज्ञानम्। सूक्ष्मश्रोत्रेण सूक्ष्मशब्दश्रवणात् सूक्ष्मार्थस्य सूक्ष्ममनसा ज्ञानम्, इत्यादि-क्रमो द्रष्टव्यः। श्रोत्रमनसोः सूक्ष्मत्वादिकं तु शास्त्राभ्यास-योगाभ्यासादिपाटवजन्यम्। तदेतद्योगशास्त्रे 'निर्विचारवैश- द्येऽध्यात्मप्रसादः' इति सूत्रे, 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इति सूत्रे च स्पष्टम्। तदेतत्सर्वं गर्भीकृत्यैव श्रुतिराह–

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।। इति।

वैखरी स सर्वमपि शब्दजातं व्याप्नोतीति प्रत्यक्षसिद्धम्। पूर्वोक्तानां चतुर्णां वाचकानां चतुर्भ्यो वाच्येभ्यो भेदा अपि चत्वारः कल्पिताः स्थूलादिरीत्या चतुर्विधा ज्ञेयाः। अस्य सृष्टिचतुष्टयस्याऽपि मूलभूतो बिन्दुविशेषो बीजस्थानापन्नः। तस्मादपि परतस्तु सूक्ष्मतमापेक्षया सूक्ष्मतममपि विशिष्य तद्वाचकाद-

भिन्नशब्दार्थरूपं शब्दब्रह्मेत्यादिपदनिर्देश्यं परं ब्रह्मैव। तच्च प्रकाशैकाकारादर्थादत्यन्ताऽभिन्नतया शब्दब्रह्मेत्यादिपदनिर्देशाविशेषस्य अभावात् 'अनिर्देश्यम्', 'अग्राह्यम्', 'अशब्दम्', 'अस्पर्शम्' इत्यादिनिषिद्धविशेषणम्। वस्तुतस्तु सृष्टिद्वयमूलभूतसूक्ष्मरूपविशेषात्मकत्वादभिन्नशब्दार्थरूपं शब्दब्रह्मेत्यादिपदनिर्देश्यं परं ब्रह्मैव। तच्च प्रकाशैकस्वरूपम्। घटः स्फुरति, पटः स्फुरतीत्यादिप्रत्ययेन पदार्थमात्रे स्फुरणाख्यवस्तुविशेषस्य तत्तदभिन्नस्य अनुभवसिद्धत्वात्। प्रकाशस्यापि स्फुरणमवश्यं वाच्यम्, 'प्रकाशं स्फुरति' इति प्रत्ययात्।

तच्च स्फुरणं शक्तिरित्युच्यते। प्रकाशस्फुरणयोश्च मिलितयोरेव जगत्कारणत्वम्। अन्यतरमात्रस्य जनकत्वानुपपत्तेरित्यादि कामकलाविलासादौ स्फुटतरमुपपादितम्। तेन शुद्धस्य शिवस्य शुद्धायाः शक्तेर्वा जगत्कारणत्वं तत्र तत्रोच्यमानं शिवशक्तिरूपस्योभयात्मन एवेति बोद्धव्यम्। तत्र च प्रकाशः अकारस्वरूपस्तद्वाच्यश्च। स्फुरत्ता तु हकाररूपा तद्वाच्या च। तौ एतौ अकारहकारौ परारूपौ सूक्ष्मतमौ प्राङ्निर्दिष्टौ। परादिसृष्टिमूलभूतस्य बीजस्थानीयस्य बिन्दुविशेषस्य तु व्यक्ताव्यक्तविलक्षणौ वाचकौ। तयोः शून्यस्वरूपत्वादेव 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतिभिः अवाच्यता प्रतिपाद्यते। 'वाचः' इति बहुवचनेन परादिचतुष्टयस्य ग्रहणम्।

एवञ्च अकारहकारोभयात्मकत्वं शिवशक्तिद्वयरूपत्वञ्च अहंपदस्य निष्कृष्टोऽर्थः। भगवता पाणिनिना विनाऽपि प्रत्याहारन्यायेन अकारहकारयोर्मध्य एव सर्ववर्णपाठः स्वीकृतः। रकारस्तु लकारादभिन्नः। 'क्ष'कारस्य कषयोगरूपत्वान्न तद्बहिर्भावः शङ्कनीयः। पूर्वोक्तशिवशक्त्यात्मकतत्त्वजन्यानां सूक्ष्मादिस्थूलान्तानामखिलसृष्टीनाम् अहंपदवाच्यत्वम्। यथा उदुम्बरपदवाच्याद् बीजाज्जनितानां परस्परविलक्षणानामपि पर्णकाष्ठकुसुमफलकृमीणां सर्वेषामुदरम्भरत्वं तथैव सर्वेषामपि सृष्टिपदार्थानामहंपदवाच्यत्वम्। यथोक्तं छान्दोग्ये– 'अहमेवाऽधस्ताद् अहमुपरिष्टाद् अहं पश्चात् पुरस्तादहं दक्षिणतोऽह- मुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वम्' इत्यादि।

ऋग्वेदे वागाम्भृणीसूक्तेऽपि–'अहं राष्ट्रीसङ्गमनीवसूनामहमादित्यैरुत विश्वदेवैः' इत्यादि श्रूयते। अन्यच्च–

अहमित्येकमद्वैतं यत्प्रकाशात्मविभ्रमः।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।।
हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः।
अनयो सामरस्यं यत् परस्मिन्नहनिस्फुटम्।।

एवञ्च पर्यालोचनया पराहन्तामयी मातृका सर्वेषां शास्त्राणां काव्यशास्त्राणां रसानाञ्च प्रसवभूमिरिति पर्यवस्यति।

एतत्सन्दर्भमनुसृत्यैव ध्वनिकारस्य कारिका स्मरणीया–

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन्।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।।

न हि महाकवेः सामान्यः शब्दः अर्थो वा काव्यव्यापारघटको भवति; किन्तु विलक्षणः, अन्तर्निहितसूक्ष्मतमपर्यन्तपदार्थावगाही। स च केनापि यत्नविशेषेणैव प्रत्यभिज्ञेयः, तत्रापि न सर्वैरेव अपि तु काव्यार्थभावनाग्रहणानुकूल-निर्मलीभूतमनोमुकुरैरेवेति तात्पर्यम्। किञ्च किमिदं प्रत्यभिज्ञानम्? इति प्रश्ने लोचनकारः स्फुटीकरोति। 'प्रत्यभिज्ञेय'शब्देन इदमाह–

'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः' इति नयेन यद्यपि स्वयमस्यैव तत् परिस्फुरति तथापि इदम् इति इत्थम् इति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखी भवति। यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदुत्पलपादैः–

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथाऽनवेक्षितगुणः स्वात्माऽपि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता।। इति।

तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानम्, न तु तदेवमित्येतावन्मात्रम्।

अयमत्र लोचनकाराणामाशयः प्रतिभाति– त एव शब्दा अर्थाश्च सर्वत्र प्रयुज्यन्ते कविभिः, परं महाकविप्रयुज्यमानानां तेषामनितरसाधारणः कश्चिदस्ति विशेषो येन झटिति शब्दार्थोभयरूपं बाह्यमावरणं विभिद्य सारभूतं परमानन्दघनमात्मस्वरूपमाविशन्ति सहृदयाः। पूर्वपरामृष्टाया अहन्ताया विश्रामभूमिश्च पराहन्ता। यस्यामात्मनः पूर्णत्वाभिव्यक्तिः सम्पद्यते।

उत्पलदेवोदिते दृष्टान्ते च विरहवेदनाचरमावस्थामापन्नायाः कामिन्याः सर्वमपि बहिर्व्यापारमपश्यन्त्याः सन्निहितेऽपि प्रियतमे न तस्मिन् विश्वसिति बुद्धिः, परं तत्क्षणमेव सर्वविश्रम्भस्थानभूतया सख्या–'अयं ते प्रियतमः पश्यैन'मित्युक्ते झटिति परमानन्दसङ्गमनिमज्जनं जायते तद्वदेवेयं महाकविशब्दार्थज्ञानप्रत्यभिज्ञा रसावगाहिनीति तात्पर्यम्। तथैव पक्षान्तरेऽपि देशकालदेहादिबद्धः सङ्कोचमञ्चन् जीवाख्यः परमेश्वरः सुदृढगुरुकटाक्षपातविच्छिन्नपाशजालः सद्यः सर्वव्यापकं विश्वेश्वरीभावरूपं प्रत्यभिज्ञाय स्वातन्त्र्यमनुभवन् दीव्यतीति अपरोऽर्थः। सेयं प्रत्यभिज्ञैव रसशास्त्रस्य भूमिका। यद्यपि कण्ठचामीकरन्यायेन निर्विकल्पवृत्त्या स्वरूपावाप्तिरेव मोक्ष इति ब्रह्मवादिनां घण्टाघोषः, रसविषयिणी प्रतीतिर्न तत्सदृशी; किन्तु ततो नितरां भिन्ना परमानन्दघनस्वरूपानन्दमास्वादयन्ती जेगीयते। अत एव शास्त्रेषु चतुर्विधपुरुषार्थफलप्रदानस्य सामान्यत्वेऽपि साहितीसुरभिले पथि सूक्ष्मधियां प्रवृत्तिः साहजिकी सम्पद्यत इति 'कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्' इत्याह दर्पणकारः।

तत्र रसाभिव्यक्तिः शब्दार्थोभयादिति प्रसिद्धम्। परं तयोः संयोजने काश्चिदस्ति विशेषो यद्वशाद् रसप्रसूतिः सम्भाव्यते, स च 'साहित्य'नामा सम्बन्धविशेषः। स च न यथाकथञ्चित् प्रवृत्तः किन्तु वासनावासितान्तःकरणचतुररचनाप्रवीणकविप्रणति एवोपयुज्यते। यद्यपि भोजराजादिभिर्द्वादशसाहित्यलक्षणानि प्रतिपादितानि, परं तत्त्वतस्तु तयोर्यथात्संयोजनमेव तल्लक्षणम्, यथा च कुन्तकाचार्यस्य मतम्–

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥

ईदृशी मनोहारिण्यवस्थितिः कालिदासादीनां महाकवीनां रचनासूपलभ्यते, न सर्वत्रेति ध्वनिकारोऽप्याह– वस्तुतस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनां सरस्वती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति, येनाऽस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयः'' इति। अमुमेव ध्वनिकारसिद्धान्तमुपजीव्य तत्रभवानाचार्यमम्मटोऽपि 'शब्दार्थौ काव्य'मिति नैजं लक्षणं पर्यवस्थापयत्। तल्लक्षणे रसग्रहणाभावान्न्यूनत्वशङ्काऽपि निर्मूला। तत्र किञ्चिदवधातव्यम्– रसस्य शब्दवाच्यत्वाभावात्, शब्दवाच्यत्वे च उद्वेगजनकतया दोषप्रसङ्गान्न साक्षाद्रसपदनिवेशो लक्षणवाक्ये। वस्तुतो विचार्यमाणे निर्दोषत्वादिगुणगण-परिष्कृतयोर्महाकविशब्दार्थयोः साहित्यमेव रसं प्रसूते। किञ्च 'शब्दार्थौ' इति 'द्वन्द्व'समासे द्वयोरपि समं प्राधान्यं परस्परोपकारकत्वञ्च प्रतीयते। तदेव सहभावेन साहित्यपदाऽभिधेयं रसनिस्यन्दहेतुः। तादृशकाव्यनिर्माणाय प्रतिभाव्युत्पत्त्यभ्यासाः सामुदायिकतया कारणीभूता इत्याचार्यः। प्रतिभाविषये बहुतरं परामृष्टं प्राचीनैस्तथापि तत्र रुद्रटाचार्योक्तिरेव ज्यायसी–

मनसि सदा सुसमाधिनि
विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च
विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥ इति।

प्राचीनालङ्कारशास्त्रपरिपाट्यां दशगुणाः शब्दार्थयोः परिगण्यन्ते, तत्रार्थगुणेषु कश्चिदस्ति 'समाधि'र्नाम गुणः, यद्वशात् कवेर्नूतनार्थस्फूर्तिरुपजायते। तेन द्विविधोऽर्थः स्फुरति अयोनिरन्यच्छायायोनिश्चेत्यादि प्रसिद्धम्। तदेवानुसन्धाय रुद्रटस्योक्तिरियम्। काव्यनिर्माणावसरे विषयान्तरप्रमोषवशाज्जायमाना एकाग्र-वृत्तिरेव समाधिः। समाधौ विवर्णयिषितं वस्तु अर्थतत्त्वम् अकनेधा परिस्फुरति। कविरेवमूहापोहं कल्पयति इदं वा वर्णयामि इदं वा वर्णयामीति रीत्या। न च तावन्मात्रेण सिद्धिः, किन्तु तादृशस्य विवर्णयिषितस्य वस्तुनः समर्पकं

सहजसुलभं पदकदम्बकं यावन्नोपतिष्ठते, तावन्न काव्यस्याविर्भावः सम्भवतीति तादृशपदकम्बकसौलभ्ये सत्येव बहिः काव्यप्रादुर्भावः, अयमेव प्रतिभाव्यापारः। इदमेवासाधारणं कारणं काव्यनिर्माणे।

इयञ्च प्रतिभा परां प्रतिभामाश्लिष्यैव प्रवर्तते, परायाः प्रतिभाया अभावे तादृशलोकोत्तरनिर्माणस्यासम्भवात्। लोचनप्रथमोद्योतपर्यवसाने श्रीमानाचार्याभिनवगुप्तपादः प्रतिभां स्तौति–

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभां शिवाम्।। इति।

अत्रायमाशयो विचिन्तनीयः–

प्राङ्निरूपिते शब्दार्थस्वरूपे परानाम प्रथमा वागस्तीति निर्दिष्यते, या च मूलं शब्दसृष्टेः, न केवलं शब्दमात्रस्य अपि तु शब्दार्थोभयरूपस्य सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य। तस्यां शब्दतत्त्वमिव अर्थतत्त्वमपि साकल्येन जागर्ति। मयूराण्डरसन्यायेन कललावस्थायां विचित्रचित्रकप्रपञ्च इव परायां शब्दरूपायामप्यन्तः अर्थचमत्कारः कल्लोलायते। सा च परा प्रतिभैव परमेश्वरी कवेर्वाचमाविशन्ती चमत्कारप्रसूर्भवति। इयञ्च महाकवीनां वश्यवाचामेव स्थितिः। तारतम्यात्तु ततोऽवराणामपि कवीनां सैव अंशांशिकया स्पृशन्ती चमत्कारजनने विद्युदुद्योतप्रायं स्वरूपमुपदर्शयतीति स्वीकर्तव्यमेव। अत्राप्याचार्यः 'उन्मीलन'शब्दमेव प्रयुङ्क्ते। उन्मीलनञ्च अन्तरवस्थितस्य बहिरवभासनमिति तदेव प्रत्यभिज्ञानपदेन निवेदितचरम्।

अत्राप्यागमसंवादः शरणीकरणीयः, तथा हि स्मर्यते–

अनादिनिधनात् शान्तात् शिवात्परमाकारणात्।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया।। इति।

सर्वोऽपि प्रपञ्चः क्रियाशक्तेर्विलासः, सा च कवेरेकप्रजापतिपरं निर्मिमीते। यदुपज्ञा भणितिश्च–

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

इच्छैव तावत् प्रथमकारणं तां विना सर्गारम्भो न भवति। इदमेव 'तदैक्षत् बहु स्यां प्रजायेय' इति श्रुत्युक्तरीत्या ईक्षितृत्वावस्थापन्नं परं ब्रह्मेत्युच्यते। आगमेष्वपि 'इच्छाशक्तिरुमाकुमारी' इत्यादिसूत्रेण सा निरूपिता। मूलभूता एतास्तिस्रः शक्तय एव विश्वविलासनिर्माणहेतुभूताः प्रसिद्धाः परमेश्वरसमवेताश्च शास्त्रेषूपवर्णिताः। यथा–

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते॥
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते॥
एवम्भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः।
ज्ञात्वा तदैव तद्वस्तु कुर्वन्त्यत्र क्रियोच्यते॥
एवमेषा त्रिरूपाऽपि पुनर्भेदैरनन्तताम्।
अथ चाधिवशाद् याति चिन्तामणिरिवेश्वरी॥

रसानुभवविषये अभिनवगुप्तपादाचार्यैर्विभावादीनां साधारण्ये जायमाने शब्दप्रत्यक्षयोः सामानाधिकरण्येन प्रतीतिर्भवतीत्युक्तम्। गेयसंवादसंवलिते नाट्ये चक्षुरादिभिर्बाह्येन्द्रियैर्मनोबुद्ध्याद्यन्तःकरणैश्च सहैव प्रतीतिरुपजायते सेयं ज्ञानक्रियाशक्त्योर्युगपदवतारादेव सङ्गच्छते। बहिरन्तः प्रतीत्योश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावकल्पतया प्रत्यभिज्ञानस्वरूपमुपवर्ण्यमानमपि युज्यत एव।

स पारमेश्वरीसृष्टिरिव कवेः सृष्टिरपि तत्तदर्थोपाधिवशादनन्ततां यातीति ध्वनिकारसम्मतः पन्थाः–

ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥
अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः॥

न केवलं व्यङ्ग्यस्याऽपि तु वाच्यस्याप्याऽऽनन्त्यमिति तत्र निरूपितमेव। किञ्च किञ्चिदुपादानं कारणं विना न कार्यारम्भः। तत्र किमुपादानकः कवेः काव्यारम्भ इति प्रश्ने दत्तमेवोत्तरं व्यतिरेकालङ्कारेण। तथा हि–

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्याघ्याय शूलिने॥

इति सुप्रसिद्धे तदुदाहरणे कविव्यापारसमाधिरनुभूयताम्। भगवतः प्रतिभाख्या शक्तिरेव स्वसामर्थ्याद् भित्तिरूपं चित्ररूपञ्च समाश्रित्य जगच्चित्रनिर्माणपाटवं प्रथयति चेत् तथैव कविनिष्ठा सा विविधाकारसारस्वतप्रकारमारभते। अत्राऽप्यागमसंवादः श्रोतव्यः–

'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति:'। इति।

ध्वनिकारोऽपि तदेव प्रकारान्तरेणानुवदति–

'न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः'। इति।

अथेदानीमेतद्व्यापारफलभूतस्य रसासविर्भावस्य विषये किमपि प्रस्तूयते–

अस्मत्कृते मङ्गलाचरणे विशेषणमेकं सन्निवेशितं सरस्वत्याः 'काव्यालङ्कारहास्याम्' इति। जगन्मातुः सरस्वत्याः प्राचीनेष्वागमेषु वर्ण्यमानं क्वचिदस्ति स्वरूपम्, यत्र तत्तदवयवेष्वशेषशास्त्राणां सन्निवेशः परिवर्णितः तस्मादेव मया विशेषणमिदमत्रापि परिगृहीतम्। सरस्वत्या हासभूतं काव्यालङ्कारशास्त्रमिदम्। हासः कदा प्रादुर्भवतीति जिज्ञासायामिदं वक्तव्यमेव यत् परमतुष्टिरेव हासस्य कारणम्। सर्वस्यापि जनस्य सति परमसन्तोषे हासः स्मयमानमुखता च सम्पद्यते। परं नित्यतृप्ताया विश्वमय्याश्च जगन्मातुः कस्तावत् तृप्तिविशेषो यो हासभासं जनयतीति प्रश्ने किञ्चित्प्रतिपत्तव्यं यदयमात्मानुरागो रतिरेव।

'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' इति तस्या लक्षणम्। आत्मविषयकानुरागे पूर्णतामापन्ने समुच्छलन्निव तदीयोऽनुभावो हास्यात्मना प्रादुरासीत्। अत एव श्रुतिषु–'आत्मकामः आत्मरतिः' इति परतत्त्वविशेषणानि

'आत्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवतीति' च। पूर्णत्वाभिव्यक्तौ च आनन्दशक्तेः प्रादुर्भावो भवति। यदुक्तम्–

'पूर्णत्वादहमित्यर्थं ज्ञानमानन्द उच्यते' इति। अत्र च विषयसंवादाय 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इति व्याख्यायां स्थिता लोचनपङ्क्तयः स्मरणीयाः–

"स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तवृत्तिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नोरसः परिपूर्णकुम्भोच्छलनवच्चित्तवृत्तिनिस्पन्दस्वभाववाग्विलापादिसमयानपेक्षित्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिनयेनाऽकृतकतयैवावेशात् समुचितच्छन्दोवृत्तादि नियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः 'मा निषादे'-त्यादि। न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्।"

एनमेव सिद्धान्तमुपोद्बलयन्ति आग्नेयपुराणवचनानि यथा–

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्यात् शृङ्गार इति गीयते॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
स्वस्वस्थायिविशेषोत्थपरिपोषस्वलक्षणाः॥ इत्यादि।

एतावता पूर्वपरामृष्टा विचाराः परिपोष्यन्ते। रतिरेव मूलभावः, अन्ये तु तस्यैव प्रकारान्तरमाश्रिता भेदाः। लौकिकस्थितौ रतोः कान्ताविषयिण्यां सर्वानुभवसिद्धायां प्राधान्यात्काव्येष्वपि तद्विषयकाऽलौकिकप्रत्यक्षेऽपि तस्याः प्राधान्ये परिगण्यते, किन्तु सा सर्वथा विलक्षणैवेत्यङ्गीकर्तव्यम्।

'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च' इत्यादि-यत्किञ्चित्सम्बन्धानवच्छिन्नतयैव तत्प्रतीतेवैलक्षण्यम्, सकलसहृदयहृदयसंवादश्च उपपद्यते। एवञ्च महासत्तायामेकरसीभूता रत्याख्या आनन्दशक्तिरेव रसपदवीभारं वोढुमर्हतीति निर्विचिकित्सः सिद्धान्तः। उक्तञ्च ईश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्-

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥

अस्याञ्च प्रतिबिम्बितमशेषं नवनवायते, परमानन्दसान्द्रतया चानुभूयत इति किमत्र साधनीयं नाम।

अत्राप्यवधेयं किञ्चित्- इयमानन्दशक्तिः प्रधानभूताऽपि न एकाकिनी प्रसरति। आनन्दशक्तेरयं स्वाभाविकः स्पन्दः, यदियं द्वयोः चिच्छक्ति-सच्छक्तयोः साहचर्यमादायैव विजृम्भते। तदुक्तं शास्त्रकारैः-

यत्र चित्सत्तयोर्व्याप्तिस्तत्राऽऽनन्दो विराजते।
यत्राऽऽनन्दो भवेद्भावे तत्र चित्सत्तयोः स्थितिः॥ इति।

अनया च प्रक्रियया आलम्बनोद्दीपनादीनां भावान्तराणाञ्च व्यामिश्रीभावोऽपि न दुष्यति। न खलु, प्रपाणकरसे सत्यपि माधुर्यप्राधान्ये एलामरिचादीनां सम्बन्धो वार्यते, प्रत्युत तेन च कश्चन विशेष एवोपजायते। भगवान् परमशिवो नटराज इति प्रसिद्धनामा न एव सर्वशास्त्रोपदेष्टा स्वयं तदनुभविता च, तस्मिन् कर्तृत्वकर्मत्वयोः सामानाधिकरण्यं न दुष्यति। नाट्यादेव रसानुभव इति सिद्धान्तः। स च भगवान् पञ्चसन्धिमूलभूताः पञ्च अवस्थाः परिकल्प्य विश्वमञ्चे महारसमाविर्भावयतीति शास्त्रकाराः स्वदृशा व्याचक्षिरे। यथा-

जनन-शैशव-यौवन-वार्धक-
व्ययमयैरखिलैरपि सन्धिभिः।
अभिनयन्नपि पौरुषनाटकं
परिणतौ स शिवोऽस्मि महानटः॥ इति।

एतावता परमेश्वरस्य आनन्दशक्तिरेव रसनाद् रस इति कथने न शङ्काकलङ्कावकाशः। 'रसो वै सः', 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति श्रुतयोऽपि पक्षममुं समर्थयन्ते। यत्तु केचिद् व्याख्याकारा रसविषये 'ब्रह्मास्वादसहोदरः' इति विशेषणे ब्रह्मज्ञाने ब्रह्ममात्रं प्रकाशते, रसास्वादे तु चित्प्रतिबिम्बता विभावादयोऽपीति प्रतीयन्त इति तस्य सहोदरत्वमित्याहुः। तेऽपि न सम्यग्दर्शिनः। ब्रह्मानन्दस्तु आनन्दत्वेन एक एव, नहि सर्वव्यापके चरमोपलभ्ये तस्मिन् आनन्दे काचन विजातीयः, 'उपेयप्रतिपत्त्यर्थमुपपत्त्या अव्यवस्थिताः' इति न्यायेन उपेयरूपतायां वैषम्यस्याननुभवात्। किमधिकेन सर्वास्वपि ललितकलासु हृदयग्रन्थिविभेदेन परमानन्दावाप्तिरित्याचक्षते शास्त्रकाराः-

तालज्ञश्चाऽप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति।

एतच्च रसस्वरूपं परिनिष्ठितवाचां महाकवीनां रचनास्वेव प्राधान्येनाऽनुभूयते। प्रसिद्धप्रस्थानमतिक्रम्याऽपि प्रवर्तमानो महाकवीः रसप्रधानतया स्वरचनायां रसमुन्मुद्रयितुं प्रगल्भते। दिङ्मात्रं यथा मेघदूते प्रथमपद्ये-

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनाऽस्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्त्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥

इत्यत्र विप्रलम्भशृङ्गाराश्रययोः प्रणयिनोर्नाम निर्देशोऽपि नास्ति। कश्चिदनिर्दिष्ट-नामा यक्षस्तत्प्रेयसी च अग्रे वक्ष्यमाणा 'तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम्' इत्यादिरूपा। सर्वनाम्नैव द्वयोः परिचयेऽपि न बाधः। तत्रेदं कारणं महाकविः स्थानविशेषनामगोत्रादिनिरपेक्षो रसमेवाऽवतारयति। 'कान्ताविरहगुरुणा' इति, 'अस्तङ्गमितमहिमा' इति, 'वर्षयोग्येण भर्त्तुः' इत्यादिशब्दैः सहृदयाः सहजतया नायके जातस्नेहा आर्द्रीभवन्ति, अन्तःकरणे विप्रलम्भास्वादः सहसैव समुदेति, सेयं रससिद्धिर्महाकवेः। इतोऽप्यधिकमेक-मुदाहरणं कविकुलगुरो रघुवंशे यथा-

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयाऽसौ
लीलगारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥

न हि करुणरसानन्तरमव्यवधानेन शृङ्गारोत्पत्तिः क्वचिद् दृश्यते। अत्र तु परमकारुणिकः कविः प्रणयिनोर्विरहमसहमानस्तयोरपूर्वं सङ्गममुपकल्पयति। अस्ति च 'सद्यः' पदप्रयोगः। न चात्र सहृदयानां किमपि वैरस्यमुपजायत इत्यनुभवसिद्धम्।

एतद्विषये अभिनवभारत्यामाचार्यैरिदमुक्तं यत्—परमेश्वरप्रसादपवित्रितवाचा कविनैव दुर्घटमपि सुयोजितमिति सेयं महाकवे रससिद्धिः। अस्ति च प्रसिद्धिर्महाकवीनां स्वच्छन्दवाङ्मयधारायां न जम्बालजालकृतोऽवरोधः सम्भवतीति।

अवद्यजम्बालगवेषणाय कृतोद्यमानां खलसैरिभाणाम्।
कवीन्द्रवाङ्निर्जरनिर्झरिण्यां सञ्जायते व्यर्थमनोरथत्वम्॥

एवं महाकवीनां प्रबन्धतल्लजोऽपि रसाभिषेकं विना काव्याधिराजपदवीं नाऽधिरोहतीत्युच्यते। यथा—

तैस्तैरलङ्कृतिशतैरवतंसितोऽपि
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः॥

रसास्वादप्रक्रियायाः काचन अनुभवपद्धतिः सोपानक्रमेण पर्यवेक्षणीया, तथा हि—प्रथमतः सहृदयसुहृज्जनाऽनुरोधेन नाट्यमण्डपं प्रविष्टः सहृदयः प्रेक्षको नाट्यगृहनिर्माणकौशलं, समुचितं यवनिका-नेपथ्यादिविधानं सूक्ष्मया दृष्ट्या परामृशति। तत्कालोचितैः कुतपादिप्रारब्धैर्वाद्यध्वनिभिः शनैः शनैरार्द्रचेता सम्पद्यते।

शान्तरसे काचिद् दृष्टिः

साहित्यशास्त्रे रसपरिगणनायां शृङ्गारादयो नव रसाः परिभाष्यन्ते। 'नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती'त्यादिमम्मटाचार्योक्तिश्च नवसंख्यां विख्यापयति। केचित्तु नवनवत्वेनाऽनुभूयमाना रसा इति क्षणे क्षणे नवनवत्वेनाऽनुभूयमानत्वमेव कविकौशलं विशिष्यत इत्याहुः। नवाना रसानां समाहारस्तु न, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्ट' इति महाभाष्योक्त्या 'त्रिलोकी', 'पञ्चमूली' इतिवत् मम्मटोक्तौ 'नवरसी'त्यापत्तेः। अन्ये तु नवरसेन रुचिरामिति तृतीयातत्पुरुषमाहुः। नवरसेत्यत्र नव अवयवा यस्य स नवावयवः स चासौ रसश्च नवरस इति शाकपार्थिवादित्वाद् मध्यमपदलोपी कर्मधारयः, 'त्रिगुणसचिवः' इत्यत्र त्र्यवयवको गुणस्त्रिगुण इतिवत्। 'त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषः' इत महाकविप्रयोगाच्च। ततो रसानां नवसंख्याकत्वे न विवादः।

ते च शृङ्गारादयः शान्तान्ता नवैवेति मुनेर्भरतस्याऽपि सम्मतिः। तत्र तावत् कोऽयं रसपदार्थः काव्यजीवनाधायको येन विना कवेर्महती हानिः–

नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाऽकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः।।

इत्युक्तेः। 'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इत्युक्तेश्च। तत्र प्रथमतः अग्निपुराणलक्षणमालोचनीयम्। तद्यथा–

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया।।

एतेन अक्षरस्य ब्रह्मणः सहजानन्दाभिव्यक्तिरेव रसात्मना परिणमतीत्युक्तम्। 'कदाचन' इत्युक्तेर्न सर्वदा तादृशी रसाभिव्यक्तिः, किन्तु परिणतवाग्वैभवस्य कस्यचिदेव पुंसो वाचि पुण्यपरिपाकात्तादृशी रसाभिव्यक्तिर्भवतीति सूच्यते। अत एवाहुर्ध्वनिकारादयः– 'अस्मिन्ननादिपरम्परावाहिनि संसारे द्वित्राः पञ्च वा महाकवयः' इति।

रसाश्चैते भावेभ्य उपजायन्ते। भवन्तीति भावा इति व्युत्पत्त्या प्रथमसत्तासाध- कत्वं भावानाम्। तदुक्तं प्राचीनैः–

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः॥ इति।

यतो हृदयसंवादी भाव एव प्रथममन्तःकरणे प्रस्फुरितः समुचितसामग्री-करम्बितः सोपानारोहणन्यायेन परिपोषमश्नुवानो रसपदवीमारोहतीति तद्विदां सिद्धान्तः। तदुक्तम्–

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्ककाष्ठमिवाऽग्निना॥

अत एव मुनेः सूत्रम्–'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति। सूत्रं चैतत् स्वमनीषिकया व्याचक्षाणा मीमांसा–सांख्य–न्यायमतपारदृश्वानः सन्ति। परं प्रसङ्गानुपयोगाद् व्यञ्जनावादिनामाचार्याभिनवगुप्तपादानामेव सरणिः शरणीक्रियते न परेषाम्। यतस्ते हि शास्त्रकाराः सामाजिके साक्षाद्रसनिष्पत्तिं नाङ्गीकुर्वन्तीति तन्मतानुसरणे न सहृदयहृदयसंवादः। यत्तु हृदयसंवादि तदेव साहित्यविदामुपादेयम्। 'रस'शब्दोऽत्र स्थायिभावपरः, स्थायिनो हि भावा अनादिवासनारूपाः सामाजिकानामन्तःकरणे बीजरूपेणाऽवतिष्ठन्ते। बहिर्नाट्यकाव्यादौ तत्तदुचितविभावादिसामग्रीसमवाये कविकौशलाद् व्याप्रियमाणे सद्यो रसरूपेणाऽऽस्वाद्यन्त इत्येव सिद्धान्तः। बीजाङ्कुरन्यायेन स्थायिभ्यो रसनिष्पत्तिः स्वीकरणीया। परन्तु सहृदयसंवादे साधारणीयकरण-व्यापारमहिम्ना रसास्वादकाले क्रमो नोपलभ्यते। विद्यमानोऽपि क्रमः सूचीमुखेन शतपत्रपत्रपुञ्जभेदनवन्नाऽऽलक्ष्यत इत्यतो रसादयोऽसंलक्ष्यक्रमध्वनय इत्युक्तमाचार्यैः। साधारणीकरणञ्च स्वत्व–परत्वादिसम्बन्धविशेषराहित्येन प्रतीतिविषयत्वम्।

ननु तादृशः सम्बन्ध एव न भवति, स्वत्वपरत्वान्यतरस्य सम्बन्धघटकत्वात्। अत्रोदाहरणदृष्ट्या परिमार्गणीयम्–नाटकादौ सम्यगभिनीयमाने 'शकुन्तला' दिविषये सामान्याकारेण 'नायिके'यमित्येव प्रतीतिर्न तु तव मम वा नापि न तव न ममेति स्वीकारपरिहारनियमयोरध्य- वसायः। नापि सन्निहितानां सुहृदां परस्परमसूयाबुद्धिः। एतावता तादृशप्रतीतेर- लौकिकत्वं सिद्धम्। अत एवाऽऽस्वादकालो परब्रह्मानुभवान्नातीवभिन्न इत्युक्तं 'ब्रह्मास्वादसहोदरः' इति। अत्र वेदान्तवासनावासितधियो वदन्ति–'ब्रह्मास्वादे ब्रह्ममात्रं प्रकाशते, इह तु विभावादिविषयसंवलितं चैतन्यमिति सहोदरत्वमुक्तम्' इति।

माहेश्वरदर्शनपरमार्थविदस्तु तादृशानुभवगोचरस्य विषयानन्दस्याप्यशेषलौकिककक्षोल्लङ्घनात् स्वात्ममात्ररूपेण परिणामाद् ब्रह्मरूपत्वमेवाऽऽतिष्ठन्ते। चित्प्रतिबिम्बितो विभावदिराशिरपि चिद्रूप एवेति जलधितरङ्गयोरिव रसभावयोर्न पार्थक्यमित्याहुः। 'कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरभूतत्वमश्नन्' इति श्रुतिरप्यमुमेवार्थं पुष्णाति। भक्तिसूत्रकारा अपि 'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे' इति सूत्रयन्तः साधारणीकरणमेव कटाक्षयन्तीति प्रतिभाति। भक्तिश्च गौणी, परा च। गौणी बहिरङ्गजप–ध्यान–पूजन–नामकीर्तनरूपा, परा तु तादृशकर्मजन्याऽनुरागविशेषरूपा। स च अनुरागः स्थायिभावः स्वात्मोपलब्धेः। एवञ्च स्थायिभावानामेव रसात्मना परिणामान्नवसंख्याकानां रसानां निष्पत्तिर्भवतीति साहित्यशास्त्रविदां सरणिः।

तत्र शृङ्गारादिरसान्तरापेक्षया शान्तरसे कश्चन विशेषः। निर्वेदः शमो वा स्थायिभावोऽस्य रसस्याङ्गीक्रियते। तत्रायं निर्णयः–गृहकलहादिजन्यः किञ्चित्कालावस्थायी विषयवैमुख्यापादको निर्वेदनामा भावस्तु व्यभिचारी, आगमापायधर्मशीलत्वात्। यः पुनः सद्गुरूपदेश–पुराणोपनिषदादिश्रवण–तपश्चरणादिजन्मा दृढतरः संस्कारो विषयव्यावर्तकः, स एव निर्वेदः शान्तरसस्य स्थायिभावतामापद्यते।

ननु सर्वावस्थाप्रशमरूपस्य शान्तरसस्य स्वीकारे तद्विषये नाट्यादौ अभिनये बाधः। चतुर्विधाऽभिनयानां चेष्टाविशेषसाध्यत्वेन चेष्टासामान्यापगमे तदसम्भ्वात्। अत्र वदन्ति- न तावत् सर्वावस्थाविरामरूपः शमोऽभिनेतव्यः

किन्तु युक्तवियुक्तदशायां यः शमः स एवाऽभिनेयतामर्हतीति–'अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा' इत्याद्युदाहरणे तादृशचित्तवृत्तिजुषः पुरुषस्याऽभिनयः सम्भवतीति नाट्येऽप्यस्य स्थितिः साधनीयैव।

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः।।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते।।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः।
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।।
रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ।।

इत्यादिरूपेण विवृतमेतत्स्वरूपं लक्षणकारैः। अस्य मानवजीवनचरमपरिणतिरूपत्वेन मोक्षमार्गोपायत्वेन पर्यन्ततो मुक्तिरूपत्वेन वा स्वीकारात् प्राधान्यमस्ति। अत एव सर्वरसोद्गमतिरोभावयोराधारभूतोऽयमेव रस इत्यप्यामनन्ति।

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्तादुत्पद्यते रसः।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते।।

इत्युक्तेः। वस्तुतो भावातीतमिदमेव चैतन्यम्। तच्च भगवतः स्वरूपेणाऽवस्थानमित्येव निर्देशमर्हति। तदुक्तम्–

न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनः परमात्मनः।
भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम्।।

एतदभिप्रायेणैव महाकवेः कालिदासस्य सूक्तिः–

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायाऽस्तु वः।।

अत्र महाकविर्बहिरन्तर्व्यापकस्य शब्दब्रह्मोपलक्षितस्य स्थाणोरविचलस्य

परमेशस्य महेश्वरस्य स्थिरभक्तियोगसुलभत्वमुद्घोषयति। न हि महाकवयः किमप्यक्षरं निरर्थकं प्रयुञ्जते। तदत्र स्थिरभक्तियोगो नाम द्वैतदशामतीत्य स्वात्माभेदेन भगवदुपलब्धिरिति तदीयः सिद्धान्तः। सा च भक्तिः पञ्चमपुरुषार्थरूपा 'यं मुक्ता अप्युपासते' इत्यादिश्रुतिप्रमाणिता। इयञ्च जाग्रदादिदशाचतुष्टयातीताऽप्यविशेषेण प्रवर्तमाना मालान्तर्निगूढसूत्ररूपा चिन्मयी स्थितिरिति प्रतिभाति। अत एव शिवसूत्रेष्वपि– 'चैतन्यमात्मा' इत्यत्र चितिः, चेतनः, चित्तं चेत्यमेतेषां समवाय एव चैतन्यमित्याख्यायते। एतदेव सर्वरसविलासभूमिरिति।

■

विक्रमोर्वशीये कश्चिद्विमर्शः

कविकुलगुरोः कालिदासस्य तिसृषु नाट्यरचनासु विक्रमोर्वशीयं नाम त्रोटकमन्यतममिति विदितं विदुषाम्। तत्र नाट्योपयुक्तेषु उपरूपकेषु त्रोटकं परिगण्यते। यद्यपि संस्कृतवाङ्मये न भूयसां त्रोटकानामुपलब्धिः तथापि कालिदासस्यैतया रचनया त्रोटकनिर्मितिरपि लब्धास्पदा समुत्कर्षं च भजते।

साहित्यदर्पणे 'स्तम्भितरम्भं' नाम अन्यदपि त्रोटकमुल्लिखितं दृश्यते, परं नाद्ययावदिदं दृष्टिगोचरतामयासीत्। 'लक्ष्यानुसारेण लक्षणानि प्रणीयन्ते' इति नियममनुसरद्भिः प्राचीनैरपि तथाविधविषयवस्तुसंग्राहकाणि लक्षणानि व्यरच्यन्त। तथा हि त्रोटकलक्षणं साहित्यदर्पणे–

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम्।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम्।। इति।

प्रत्यङ्कं सविदूषकत्वादेव शृङ्गारोऽङ्गीति दर्पणकारोक्तिः। परं विचार्यमाणे प्रकृते त्रोटके शृङ्गारवीरयो रसयोः समानभावेन प्रसरः कविना कल्पितः सहृदयैरनुभूयते। मन्ये केवलशृङ्गारप्राधान्ये तत्र लोकोपदेशकारित्वं न स्यादिति कवेरुभयत्र संरम्भः।

अत्र कथानकस्य किमपि वैशिष्ट्यं जागर्ति। श्रुतेरेव सन्दर्भाद् महाकविना वस्तु परिगृहीतम्। प्राञ्चः कवयो नानाशास्त्रेभ्यः काव्यवस्तूनि गृह्णन्ति स्मेति राजशेखरेण काव्यमीमांसायां प्रादर्शि। तत्रापि श्रुत्यर्थग्रहणे कवेः प्रवृत्तिः प्रशस्यैव। शतपथब्राह्मणस्य वाक्यमिदम्– 'उर्वशी ह्यप्सराः पुरूरवसमैडं चकमे' इति। इदमेव प्रतीकमुपादाय पुरस्तात् केनापि कविना स्वरचनायां निबद्धं यथा–

चन्द्राद् बुधः समभवद्भगवान्नरेन्द्र-
माद्यं पुरूरवसमैलमसावसूत।
तं चाप्सराः स्मरवती चकमे किमन्य-
दत्रोर्वशी स्मितवशीकृतशक्रचेताः।। इति।

काव्यार्थयोनयः श्रुतिस्मृत्याद्या द्वादशेति प्राञ्चः। राजशेखरस्तु कांश्चन 'उचितसंयोगादिविषयान्' संयोज्य षोडशसंख्यामभिधत्ते।

श्रुतिभ्यः कवीनामर्थवचनं परम्परातः प्रवृत्तमस्तीति तत्र वचनमिदम्–

नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति।।

इदमेकं प्रथमं वैशिष्ट्यं यत् श्रौतसन्दर्भमूलं नाटकीयं कथावस्तु कविना प्रस्तूयते। अत्र दिव्यमानुषयोः सङ्गमेन कथावस्तु दिव्यमानुषमिति शक्यते वक्तुम्।

कालिदासस्य सर्वाण्यपि पात्राणि उदात्तचरितानि भवन्ति। तदनुसारमत्रापि नायकस्य नायिकायाश्च स्वरूपं समुज्ज्वलभिनन्दनीयं च वर्तते। रघुवंशमहाकाव्ये सूर्यवंशीयानाम् ऐक्ष्वाकूणां वर्णनं सम्पाद्य ततः परं सोमवंशीयानामपि करणीयमिति धिया तेन कविना सोमवंश्यानामेकः पुरूरवाः पुरस्कृत इति प्रतीयते। त्रोटकस्यान्तिमे भागे वैतालिकद्वारा शुभाशंसनप्रसङ्गे श्लोकोऽयमुदीर्यते–

अमरमुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दुः–
बुध इव शिशिरांशोर्बोधनस्येव देवः।
भवपितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तै–
रतिशयिनि समस्ता वंश एवाशिषस्ते।।

इयं च शुभप्रशस्तिः पुरूरवसः पुत्रस्य आयुषो विषये।

किञ्च तृतीयाङ्के राज्ञ्या क्रियमाणे रोहिणीचन्द्रपूजनप्रसङ्गे राजा विशेषतो वर्णयति चन्द्रमासं यथा–

रविमावसते सतां क्रियायै सुधया तर्पयते सुरान् पितॄंश्च।
तमसां निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते।।

अत्र महाकविर्भङ्ग्यन्तरेण राज्ञो महाकुलप्रसूतत्वं ततश्चोत्तमनायकत्वं प्रतिष्ठापयति। अयं च राजा सर्वदा महेन्द्रस्य साहाय्यं कुर्वाणो देवलोकेष्वपि अबाधितगतिर्निरूपितः। तादृशस्य च वीरस्य दिव्याङ्गनासम्बन्धोऽपि नानुचित इति कवेराशयः। अयं च पुरूरवा धीरोदात्तलक्षणोपेतो धार्मिकः परमोदारश्च दर्शितः कविना।

एवं नायिकापक्षेऽपि किमपि विशिष्टं विचारणीयं वर्तते। साहित्यशास्त्रे नायिका तावत् त्रिविधेति प्रसिद्धिर्यथा–स्वीया परकीया सामान्या चेति। तत्राद्यं भेदद्वयं विहाय तृतीयैव नायिका देवाङ्गना अप्सरःकुलसम्भूता उर्वशी परिगृहीताऽस्मिन् रूपके। सामान्या इति नामनिर्वचने सर्वभोग्येत्यर्थं आपाततः प्रतीयत एव। तद्दोषपरिहाराय प्रथमत एव सावधानः कविस्तस्या अलौकिकमुत्कर्षं साधयितुं दैत्यकृतापहरणप्रसङ्गे सूत्रधारद्वारा पद्यमवतारयति–

ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री
कैलासनाथमुपसृत्य निवर्तमाना।
वन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम्॥

नरनारायणावतारस्य भगवत उरुदेशादुत्पन्नेति तस्याः श्लाघ्यजन्मत्वमुपपाद्य सर्वभोग्यत्वदोषं कविः परिमार्जयति। एवमग्रेऽपि गन्धर्वराजस्य चित्ररथस्य वचनेऽपि–

'पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते।
दैत्यहस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया॥'

इति पुनरपि सूचयता कविना 'दुर्बद्धं सुबद्धं भवती'तिन्यायेन नायिकाया उत्कर्षः साध्यते। ततश्च साहित्यशास्त्रकारैर्विचार्यमाणः प्रकृतिविपर्ययदोषोऽप्यत्र स्थानं न लभते। किञ्च दिव्याङ्गनारूपत्वात्तस्याः पुरुषान्तरसम्बन्धेऽपि न चरित्रभङ्गदोष उद्भावनीय इत्याशयः। सा च महेन्द्रादादरमवाप्यैव पुरूरवसः सान्निध्यमुपैतीति तस्या विनीतात्वमप्युपपादितं कविना।

कथाश्रयभूतयोः प्रधानपात्रयोः स्वरूपसम्पादनं प्रथमतः कवेः कौशलं तच्च सम्यगत्र साधितमाभाति। एवं नारीचरित्रचित्रणे कुशलोऽयं कविः

विवाहिताया राज्ञो देव्या अपि परमोदात्तं परिचयमुपपादयति। तथा हि सा चन्द्रोदयपूजनप्रसङ्गे सुस्पष्टमाख्याति–

'एषाऽहं देवतामिथुनं रोहिणीमृगलाञ्छनं साक्षीकृत्य आर्यपुत्रमनुप्रसादयामि–अद्यप्रभृति यां स्त्रियम् आर्यपुत्रः प्रार्थयते या च आर्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यम्' इति।

पश्यत–कियदौदार्यं देव्या महानुभावत्वञ्च। किञ्च कविकल्पनाप्रसूतत्वादिदमलौकिकमिति न मन्यव्यम्। यतो राज्ञां बहुविवाहप्रथा चिरन्तनी, राजापि देव्यामुर्वश्याञ्च समानमादरमुपदर्शयति। मललपवनवर्णनव्याजेन तदेतद्दाक्षिण्यं स्फुटीकृतं नायकेन यथा–

निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्तीं च लासयन्।
स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात् कामीव प्रतिभाति मे।।

पुरूरवसा कृतं देव्याः स्वरूपवर्णनमपि स्वाभाविकमादरद्योतकं च यथा–

सितांशुका मङ्गलमात्रभूषणा
पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका।
व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना
मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते।।

एतेन नायकस्य स्वाभाविकं चरितं विशेषतः कविना समुपस्थाप्यते।

कुमारवनं प्रविष्टाया उर्वश्या लतात्वेन रूपपरिवर्तनं तस्या अन्वेषणे राज्ञो व्याकुलता, पदे पदे लतापादपपशुपक्षिणां सन्दर्भे तदन्वेषणप्रयासश्च भगवतो रामस्य सीताविरहप्रसङ्गं स्मारयति। तथा हि रघुवंशे–

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं
स्तनाभिरास्तबकावनम्राम्।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः
सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः।। इत्यादि।।

कालिदासकृतिषु रामायणस्य प्रभाव उपजीव्यतया वा सर्वथा

सङ्गच्छते। परं तमेव अर्थं नूतनया शैल्या प्रस्तौतीति विशेषः।

रामायणे हनुमत्प्रदत्ता मुद्रिकैव जानक्या विश्वासमजनयत्। तथैव शाकुन्तलेऽपि राज्ञा प्रदत्ता मुद्रिकैव नायकयोः सङ्गमे साहाय्यमाचरति। विक्रमोर्वशीयेऽपि राजपुत्रस्य बाणेन विहगादाक्षिप्तः– सङ्गमनीयमणिः। तथा च राज्ञ उक्तिः–

'रत्नमिति न मे तस्मिन् मणौ प्रियत्वं विहङ्गमाक्षिप्यते। प्रियया तेनास्ति सखे सङ्गमनीयेन सङ्गमितः।' उर्वश्या दिव्यानुभवः पुत्रस्य शीघ्रमेव बुद्धिः कार्यक्षमता च दर्शितेति न विरुध्यते, तच्च विदूषकेण समाधीयते यथा–

'मा भवान् मानुषीधर्मं दिव्यासु सम्भाषयतु। प्रभावनिगूढानि तासां चरितानि' इति। पुत्रदर्शनान्त एव उर्वश्याः शाप आसीत्। ततश्च सा दिव्यलोकं गतेति मूलकथा, परं कविना सुखान्तमेव संविधानकं दर्शयितुं पुनरपि सा राज्ञः सविधे स्थितिमाप्तुं योग्येति नारदोक्त्या समर्थितम्। यथा-

'इयं च उर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवतु'

इत्यस्मिन् रूपके महाकविना उदात्तचरितानि पात्राणि प्रतिपादयता शृङ्गारवीरयो रसयोः सामञ्जस्यमपि प्रादर्शि।

चतुर्थाङ्के राज्ञो विरहावस्थानां नानाविधानि चर्चरी-खुरकखण्डिकाप्रभृतीनि नाट्यगीतानि प्रदर्शितानि यानि नान्यत्रोपलभ्यन्ते।

केषाञ्चिन्मते प्रक्षिप्तोऽयमंशः। परमहं मन्ये नाट्याङ्गप्रदर्शनं कवेरभीष्टमेवासीत्। महाकविर्न केवलं वैभवमात्रं प्रशंसति किन्तु श्रीसरस्वत्योः सहभावं भावयते। तच्च भरतवाक्येन स्फुटीक्रियते–

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।
सङ्गतं श्रीसरस्वत्योः भूतयेऽस्तु सतां सदा॥

एवमत्र संक्षेपेण संविधानकमात्रे काचन विचारदृष्टिरुपन्यस्ता। अत्र प्रबन्धे प्रतिपदं गुणालङ्कारध्वनिप्रभृतीनां विवेचनाय स्वतन्त्रं निबन्धान्तरमपेक्ष्यते। इह तु एतावन्मात्रं विवेचितमिति।

■

कैशिकी वृत्तिः

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्तुर्नृत्यानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनयाद्दण्डपादो भवान्याः॥

वृत्तिशब्दः प्राचीनेषु शास्त्रेषु प्रचुरप्रचारविषयीभूतः प्रायः सर्वैरपि शास्त्रकारैः स्वशास्त्रीयसिद्धान्तोपपादनवेलायां परिगृहीतः परिष्कृतश्च तत्तत्प्रसङ्गानुसासरेणेति विदितमेव विद्यावीथीपथिकानाम्।

वृत्तिव्यवहारो व्यापारो जीविका स्वभावः शब्दार्थयोः सम्बन्धः इत्याद्यनेकेष्वर्थेषु प्ररूढो गतिविशेषं सूचयति। साहित्यशास्त्रेऽपि ध्वनिकारेण तृतीयोद्योते रसविषयकमनौचित्यं परिजिहीर्षुणा कांश्चन उपायानभिदधता पर्यन्ते कारिकायामुपात्तं 'वृत्त्यनौचित्यमेव च' इति। व्याख्यातञ्च– 'यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीना काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः' इत्यादिना।

अयमाशयः–सहित्यशास्त्रकाराणां यद् रसविषयकव्यापारवती तादृशी काचन सङ्घटना या सामाजिकस्य चित्तवृत्तिमपि रसावगाहनाय प्रेरयेत् सैव वृत्तिशब्दवाच्या भवेदिति। अनुप्रासलक्षणेऽपि साहित्यदर्पणकारेण व्याख्यायि-रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद् वृत्त्यनुप्रास इति। इदं तु शब्दालङ्कारमात्रविषयकतया तावन्मात्रोचितं लक्षणम्। नाट्यवृत्तीनां तु शब्दार्थनेपथ्यविन्यासादि सर्वोऽपि विषयो वृत्तिकोटिं प्रविशति। एवं तादृशवृत्तीनां रसाभिव्यञ्जनक्षमत्वं सामाजिकचित्तवृत्तिप्रेरकमिति प्रयोज्यप्रयोजक-भावेन द्वयमपि लक्ष्यभूतमस्त्येव।

काव्यमीमांसायां राजशेखरो लिखति–

'तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीतिः' इति। एतान्यपि लक्षणानि लक्षणोपलक्षणविधया यावदर्थसंग्राहकाणि।

नाट्यशास्त्रीया वृत्तयो भारतीप्रमुखास्तु तत्तद्रसानुरोधेन उपदिष्टा अपि यथासम्भवं बहुविधमर्थजातं गर्भीकृत्य प्रवर्त्तन्ते, नाट्यस्य बहुविधाङ्गसम्भृतत्वात्।

नाट्यशास्त्रप्रथमाध्याये–'भारतीं सात्वतीं चैव वृत्तिमारभटीं तथा' इत्यादिश्लोकव्याख्यानावसरे अभिनवभारत्यामाचार्यैरुपपादितं यथा–'भारती वाग्वृत्तिः, मनोव्यापाररूपा सात्त्विकी सात्वती। सदिति प्रख्यारूपं संवेदनम्। तद्यत्रास्ति तत्सत्त्वं मनः। तस्येयमिति। इयर्ति इत्यरा भटाः सोत्साहा अनलसाः। तेषामियमारभटी कायवृत्तिः। केशाः किञ्चिदप्यर्थक्रियाजातमकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिनः। तद्वत्सौन्दर्योपयोगी व्यापारः कैशिकीवृत्तिरिति तावन्मुख्यः क्रमः। अन्यस्य तु यस्तद् व्यपदेशः स प्रधानत्वादनेकरसप्रधानं पानकरीत्या कैशिकीत्यादिमधुरव्यपदेशवत्। एवञ्च यत्किञ्चिल्लालित्यं तत्सर्वं कैशिकीविजृम्भितम्' इति।

अत्र आचार्याणामयमाशयः प्रतिभाति– चतुर्विधाभिनयप्राधान्येन यद्यप्येता वृत्तयो व्याख्यातास्तथाप्येतासु सर्वास्वपि वैचित्र्यलालित्ययोः सन्निवेशः परमावश्यकस्तेन विना नाट्यस्य न चारितार्थ्यम्। किञ्च पानकरसे यथा कटुकषायाम्लादीनां रसानां मिश्रणेऽपि मधुरं 'पानकं'मिति व्यपदेशस्तथा नाट्यगतचमत्कारानुभवाय वैचित्र्यलालित्यप्रयोजिकायाः कैशिक्या अपरिहार्यत्वम्। अभिनये यः कश्चन रञ्जकत्वाधायको विशेषः स तादृशवैचित्र्यलालित्यानुप्राणित एव मन्तव्यः। अत्र महाकवेः कालिदासस्य पद्यमपि स्मरणीयम्–

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्त्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥

अत्रापि–'ललिताभिनय'मिति प्रयोगस्य विशेषणं पूर्वोक्तमाशयं पुष्णाति। वामनेन 'सौन्दर्यमलङ्कारः', 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' इत्याद्युपनिबध्नता

प्रायस्तादृश एवाऽभिप्रायः सूच्यते, सौन्दर्यपदस्य रञ्जकत्वाधायकयावत्पदार्थसङ्ग्राहकत्वात्। नाट्यशास्त्रे निरूपितानां लक्षणानां भूषणानां वा सर्वोऽपि समवायो विविधवैचित्र्योपपादनाय कल्प्यते, तेषामलङ्कारान्तर्गतत्वमन्यद्वा रूपमिति नात्र विचारणीयम्।

सा च कैशिकीवृत्तिर्भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्तावधौ दृष्टा मुनिना–

नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना रसभावक्रियात्मिका।
दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः।
कैशिकी श्लक्ष्णनेपथ्या शृङ्गाररससम्भवा।।

व्याख्यातमिदमाचार्यैः–नर्तनं नृत्तम्। गात्राणामङ्गोपाङ्गानां विलासेन विक्षेपः। न तु केनचित् कर्तव्यांशेन। लोकोऽप्येवंविधे विषये एवमाह–'नृत्यन्तीव गच्छति' इत्यादि। तत्र येऽङ्गहारा अङ्गानां हरणानि अत्रुटितरूपतया समुचितस्थानप्राप्तिः, तैः सम्पन्ना। अनेन व्याख्यानेन ललिताख्यस्य गतिविशेषस्य सूचना लभ्यते, यथोपन्यस्तं दर्पणे– 'सुकुमारतयाऽङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्' इति। अग्रे च व्याख्यायते–ननु नाट्योपयोगिनी कथम्। आह–सैव यदि श्लक्ष्णेन श्लिष्यतोचितेन नेपथ्येन सहिता भवति। यद् वक्ष्यति– 'शृङ्गार उज्ज्वलवेषात्मकः।' तन्नाट्योक्तः शृङ्गाररसः सम्भवति नान्यथा। नेपथ्यग्रहणं सुकुमारस्याङ्गिकादेरप्युपलक्षणम्। इत्यादि। 'रसभावक्रियात्मिका' इत्यस्य व्याख्याने स्फुटमेव कैशिक्याः प्राणायमानत्वं व्यवस्थापितम्। तथा हि–'एतदुक्तं भवति–रौद्रादिरसाभिव्यक्तावपि कर्तव्यायां योऽभिनय उपादीयते सोऽप्यनुप्रासवलनावर्तनाद्यात्मकवैचित्र्यस्याऽमिश्रणया दुःश्लिष्टोऽश्लिष्ट एव वा न रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति सर्वत्रैव कैशिकी प्राणाः।' इति। एवमुपवर्णिता कैशिकीवृत्तिर्यद्यपि भगवता विष्णुनाऽपि प्रयुक्तेत्यग्रिमाध्यायेषु निबद्धं तथाप्यस्या उद्भवो भगवतो नीलकण्ठादेव–

'दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यतः।'

इत्येतदंशव्याख्यायामाचार्या विवृण्वते–

'शङ्करस्यैव भगवतः परिपूर्णानन्दनिर्भरीभूतदेहोच्चलदान्तरनिर्वार-सुन्दराकारस्य, अत एव नृत्यत इति कर्तव्यान्तरवैकल्यादानन्दनृत्तमात्रावस्थितस्य प्रयोज्यत्वेन मया दृष्टा' इति।

अत्रेदं किमपि शैवप्रत्यभिज्ञासरणिमनुसृत्य विचार्यते–भगवतः परिपूर्णत्वाऽभिव्यक्तिरेवाऽऽनन्दस्य कारणम्, यदुक्तम्– 'पूर्णत्वादहमित्यन्तर्ज्ञानमानन्द उच्यते' इत्युक्तेः। आदिमान्तिमवर्णराश्यात्मिकायां मातृकायामेव सकलप्रपञ्चस्य स्थितिः, अतो जगज्जननसामर्थ्यात् सा मातृकेत्युच्यते। सैव भगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिरित्यपि वक्तुं शक्यते। सा च 'अहन्ता' सर्वत्र जीवजाते पशुदशायां सङ्कोचमवष्टभ्य व्यवहारं प्रवर्तयति। सति पुनरावरणापगमे शिवदशामनुभावयति।

जगद्गुरोः शिवस्य तु परमस्वातन्त्र्यात्तत्तच्छक्तिविलासानुभवः सहजसिद्धः। 'शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः' इत्युक्तेः। शिवस्यानन्तशक्तिमयत्वेऽपि प्राधान्येन पञ्चैव शक्तयः परिस्फुरन्ति चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्याः। स्वप्रकाशवपुषो भवगतः सत्तैव चिद्रूपा, चित्सत्तयोर्भेदाभावात्। चित्सत्तयोर्योगे नियता चाऽऽनन्दस्य स्थितिः। यदुक्तम्-

या चित् सत्तैव सा प्रोक्ता सा सत्तैव चिदुच्यते।
यत्र चित्सत्तयोर्व्याप्तिस्तत्राऽऽनन्दो विराजते।। इति।

तत्रापि बाह्याभ्यन्तरव्यापारभेदाद् विमर्शो द्विविधो मन्तव्यः। यद स्वस्मिन् हृदयप्रकाशरूपे एवात्मनि तिष्ठति तदा विमर्शः शुद्धो विमर्श इत्येव व्यवह्रियते, यदा तु विकल्पोपश्लेषलक्षणं क्षोभमनुभवति तद विश्वविस्तारः प्रपञ्चस्फुरणवैचित्र्यात्मा इति तत्राधिको विशेषणांशः कश्चिदापद्यते। एवं प्रकाशविमर्शात्मा भगवान् सिसृक्षाऽपरसंज्ञया स्वशक्त्या समाविष्टः क्षोभमनुभवति, तदेवाऽऽनन्दनृत्यप्रसङ्गः। तेन च वृत्तिसामान्यरूपायाः स्वातन्त्र्यशक्तेः प्रभावान्नानाविधास्तत्तदवस्थाकारा वृत्तयः परिस्फुरन्ति। स्तिमितप्रायेऽपि महाम्बुधौ कुतश्चित् पवनस्पन्दाद्यथा कल्लोलसहस्राणामुद्भवस्तथैव भगवति नृत्योन्मुखे नानाविधविश्ववैचित्र्याणामुद्गमः।

तन्त्रालोके प्रथमाह्निके स्थितं मङ्गलपद्यमत्रानुसन्धेयं प्रतिभाति।

तथा च–

नौमि देवीं शरीरस्थां नृत्यतो भैरवाकृतेः।
प्रावृण्मेघघनव्योमविद्युल्लेखाविलासिनीम्॥

अत्र न 'नर्तक आत्मा' इति शिवसूत्रानुसारेण भगवतो नर्तकत्वमुक्तम्। तस्य च पूर्णाहन्तावेशनिर्भरत्वं भैरवाकृतेरिति पदात् प्रकाश्यते। विश्वभरणात् रवणाच्च भैरवः। तस्य शरीरस्थामविनाभावसम्बन्धेन स्थिताम्। 'देवी'मिति क्रीडाविजिगीषादिसमस्तव्यवहारकारिणीमिति। अत्र दृष्टान्ततया प्रावृण्मेघान्तरद्योतमानां विद्युल्लेखामिवेत्युक्तम्। विद्युल्लेखा च मेघमण्डले भूयो भूयः परिस्फुरन्ती चमत्कारमादधाना पुनरपि तत्रैव विलीयत इति तस्याः स्वभावः। एवमेव भगवतः क्रियाशक्तिरियं विश्ववैचित्र्यमुद्भावयन्ती समनुभूयते। क्रियाशक्तिप्रपञ्च एव विश्वमिति सिद्धान्तः।

सैव च नाट्योचितपरिवेषेण परिगृहीता विशेषत आनन्दशक्त्यानुप्रविष्टा सती कैशिकीपदाऽभिधेया समजायतेति कथने न कश्चन बाधः प्रतिभाति। भगवतो नीलकण्ठस्य नामापि 'महानटः', 'नटराजः' इति वा प्रसिद्धमेव। स एव स्वेच्छया वर्णकपरिग्रहं (भूमिकाविशेषम्) कृत्वा पुरुषरूपेण नटतीत्युच्यते शास्त्रकारैः। 'आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः' इत्युक्तलक्षणाः पञ्चावस्था अपि पुरुषदशायां परिचेतव्या एव। यथोच्यते–

जनन-शैवव-यौवन-वार्धक-व्ययमयैरखिलैरपि सन्धिभिः।
अभिनयन्नपि पौरुषनाटकं परिणतौ स शिवोऽस्मि महानटः॥

स एव 'शम्भु'रित्युच्यते। 'शृङ्गारकरुणादिरसास्वादस्थानीयं शब्दस्पर्शाद्यनुभवात्मकं शं सुखं प्रेक्षकाणामिन्द्रियाणां भवत्यस्मादिति व्युत्पत्त्या। एवञ्चानया दिशा कैशिकीवृत्तिस्वरूपं किञ्चिदालोचितं तद्विद्वद्वरेण्यैर्यथोचितमनुसन्धेयमित्येव निवेदनम्।

■

महाकविः श्रीजगद्धरभट्टस्तस्य रचना 'स्तुतिकुसुमाञ्जलिः'

यत्कृपातरणिमात्रसंश्रयात् गोष्पदीभवति वाङ्मयाम्बुधिः।
सा समस्तसुरवृन्दवन्दिता भारती भवतु मङ्गलाय वः॥
नामरूपात्मकं विश्वं यस्य लीलामयं वपुः।
प्रकाशाय नमस्तस्मै सविमर्शाय शम्भवे॥

सम्मान्या अध्यक्षमहाभागाः! सारस्वतरसावगाहनचतुरा विद्वद्वराश्च!

अद्य भवतां पुरतः संस्कृतसाहित्यसुधासिन्धोः समुद्धृतं किमपि स्तोत्ररत्नमुद्दिश्य तत्परिचयप्रदानाय वाक्चापलमवतारयामि।

संस्कृतवाङ्मयार्णवोऽतिविस्तृतस्तस्य पर्यन्तो नाद्यावधि बुद्धिमद्भिर्गवेषणापरायणैरपि दृशोर्गोचरतां नीतः।

अद्य यावद् उपलब्धेषु सीमातिगेषु ग्रन्थेषु मुद्रितेषु अमुद्रितेषु सत्स्वपि प्रत्यमहमुपलभ्यमानैर्नवैर्नवैः प्रबन्धैरुपचीयत एव भारत्याः कोषः।

नानाविधेषु गवेषणागारेषु तेषा संग्रहः सूचीकरणं मुद्रणं विमर्शनं प्रकाशनञ्च सन्ततं प्रवर्तमानमेवाऽऽस्ते।

यथार्था भाति काचिदियं प्राचीना सूक्तिः–

आसंसारमुदारैः कविभिः प्रतिदिनगृहीतसारोऽपि।
अद्याप्यभिन्नमुद्रो विभाति वाचां परिस्पन्दः॥

(भाषया अस्यायमाशयः–कवियों ने हमेशा सरस्वती का खजाना लूटा, परन्तु अभी तक उसकी बाहर की सील भी नहीं टूटी है।)

सत्यमिदमाभाति—अनयैव दृष्ट्या संस्कृतभाषार्णवे स्तोत्राण्यपि गवेषयामस्तर्हि तेषामपि अन्तिमा संख्या नैव उपलभ्येत। संस्कृतसाहित्यस्य इतिहासलेखकैः स्तोत्रपरिचयविषये नितरां कार्पण्यमेव प्रदर्शितम्।

'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इति रीतिमनुसरद्भिर्लेखकैः प्रायः काव्यनाटकालङ्कारच्छन्दःप्रभृतिष्वेव विषयेषु लेखनी व्यापारिता। स्तोत्राणां तु गीतिकाव्येषु खण्डकाव्येषु यत्र तत्र सङ्केतमात्रेण परिचयः प्रदर्शितः।

संस्कृतस्तोत्रसाहित्यं शैव-वैष्णव-शाक्त-गाणपत्य-सौर-बौद्ध-जैनादिनाना-सम्प्रदायेषु विभक्तं विविधरचनाचमत्कारपूर्णञ्च जागर्ति। स्तोत्रं नाम देवताप्रसाद-नस्य प्रमुखमङ्गम्। देवताऽपि वस्तुतो विचार्यमाणा परमात्मरूपा स्वात्मरूपा वा। स्वात्मैव परमेश्वर इति शास्त्रकाराणां डिण्डिमघोषः। स च भक्तानुग्रहाय नामरूपात्मकं परिच्छिन्नमिव रूपं गृह्णाति, भक्तेभ्यश्चतुर्विधान् पुरुषार्थान् यथेच्छं प्रयच्छति। स च तस्य महान् अनुग्रहस्यैव विलासः।

स्तोत्रं न केवलं मनुष्याणामपि तु देवतानामपि परितोषस्य सुगम उपायः। उक्तञ्च महाकविना कालिदासेनाऽपि 'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये' इति।

यद्यपि स्तोत्रसाहित्यस्य खण्डकाव्येष्वन्तर्भावः क्रियते लेखकैः, परं तथाविधानि महान्ति स्तोत्राणि सारगर्भाणि रसवन्ति च महाकविभिर्विरचितानि सन्ति, येषु महाकाव्यव्यपदेश एव कर्तुमुचितः प्रतिभाति। सहैव काव्यसौन्दर्येण निगूढानि दार्शनिकान्यपि तत्त्वानि सहजया हृदयग्राहिण्या च भाषया येषु कविभिः सन्निवेशितानि दृश्यन्ते। विशेषतश्च भक्तिरसेनाऽऽप्लाविते अन्तः-करणे नानाविधाश्चमत्कारिण्यः कल्पनाः सविशेषमनुभवमान्दोलयन्ति।

स्तोत्राणाममङ्गलनिवारकत्वं मम्मटादिभिराचार्यैः पुरैव समुद्घोषितं 'शिवेतरक्षतये' इति वदद्भिः।

स्तोत्रेषु सुप्रसिद्धानि कानिचन यथा—पुष्पदन्ताचार्यस्य शिवमहिम्नः स्तवः, महामुनेर्दुर्वाससः शक्तिमहिम्नस्तवः, श्रीशङ्करभगवत्पादानां नानादेवतास्तोत्राणि। तत्रापि सौन्दर्यलहरी, मूकमहाकवेः पञ्चशती, वेङ्कटाध्वरिणो लक्ष्मीसहस्रम्,

कुलशेखरस्य मुकुन्दमाला, लीलाशुकस्य कृष्णकर्णामृतम्, अप्पयदीक्षितस्य वरदराजस्तवः, पण्डितराजजगन्नाथस्य गङ्गालहरी, अन्याश्च लहर्यः प्रसिद्धाः। काव्यमालागुच्छकेषु कानिचिज्जैनबौद्धकवीनां स्तोत्राण्यपि मुद्रितानि अवलोक्यन्ते। येषां सर्वेषा परिगणनमशक्यप्रायम्।

सम्प्रति काश्मीरशैवपरम्परायां लब्धजन्मनो महाकवेः श्रीजगद्धरभट्टस्य अद्भुतरमणीयं स्तुतिकुसुमाञ्जलिस्तोत्रमुद्दिश्य तद्विषये समासेन कश्चित्परिचयोऽयमवतार्यते। इदं स्तोत्रं विद्वत्समाजे विदितमपि न तथा प्रसिद्धिमवाप। मन्ये निर्णयसागरे बहोः कालात् पुरा मुद्रितमपि दुर्लभमेवाऽऽसीत्। परं सौभाग्यात् चतुःषष्ट्यधिकोनविंशतितमे ईसवीयाब्दे (१९६४ ई) वाराणस्यां गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालयतः प्रकाश्यमानायाम् अच्युतग्रन्थमालायां पण्डितवरेण प्रेमवल्लभत्रिपाठिना विस्तृतेन हिन्दीभाषानुवादेन सह प्रकाशितमिदं सुलभतामयासीत्।

अनुवादोऽपि विशदो हृदयग्राही च समुपात्तः। काश्मीरदेशः शारदापीठतया प्राचीनतरात् कालात् प्रसिद्धः, विविधानां महाकवीनां साधकानाञ्च क्रीडाभूमिरिव व्यद्योतिष्ट।

आचार्याभिनवगुप्तपादानाम् आनन्दवर्धनादीनां शास्त्रावदानं विद्वत्समाजे प्रथितमेव। कविसमुदायेष्वपि रत्नाक–विल्हण–कल्हण–क्षेमेन्द्राद्याः स्वरचनाभिः कुन्देन्दुसुन्दरं यशःपुञ्जं विस्तारयामासुः।

महाकविर्बिल्हणस्तु केसराङ्कुराणां कविताङ्कुराणाञ्च काश्मीरेष्वेव समुदयं मन्यते। तथा हि तदुक्तिः–‘सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति यस्मिन् कविताविलासाः’ इति।

एवंविधे निसर्गरमणीये भूभागे प्रायश्चतुर्दश्या ईसवीयशताब्द्या मध्यभागे १३५० वर्षे श्रीजगद्धरभट्टः स्वजन्मना भुवमलञ्चकार। अस्य पितामहो गौरधरः, पिता च रत्नधरः। उभावप्येतौ महापण्डितौ परमशिवभक्तौ च अभूताम्। गौरधरेण किमपि यजुर्वेदव्याख्यानमपि विरचितमिति स्तुतिकुसुमाञ्जलिपर्यवसानपद्यादवगम्यते। तथा हि–

अनन्तसिद्धान्तपथातिगामिनः
समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः।
ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना
व्यनक्ति यस्याऽद्भुतविश्रुतं श्रुतम्॥

तथैव रत्नधरविषयेऽपि पद्यम्—

सुतोऽभवद्रत्नधरः शिरोमणि-
र्मनीषिणामस्य गुणौघसागरः।
यमाश्रिताऽऽह्लास्त सरस्वती हरेः
उरःस्थलं रत्नधरं श्रितां श्रियम्॥

अग्रे च कविः स्वात्मानमपि परिचाययति—

अथाऽस्य धीमानुदपादि वादिनां
वितीर्णमुद्रो वदनेष्वनेकशः।
उदारसंस्कारसुसारभारती-
पवित्रवक्त्राम्बुरुहो जगद्धरः॥
निर्मत्सरः सहृदयः श्रुतपारदृश्वा
विश्वातिशायिविनयः प्रियवाक् सुशीलः।
किं वाऽपरं कविगिरां सदसद्विचार-
चातुर्यधुर्यधिषणः शरणं य एकः॥

तस्याऽयं स्वपरिचयोऽपि सर्वथा यथार्थ एवेति तदीयरचनापरिशीलनेन ज्ञायते।

अनेन भट्टजगद्धरेण स्वपुत्रस्य यशोधरस्य कृते व्याकरणे कातन्त्रवृत्तिर्नाम काचन रचना निरमायि, यस्याः काचन टीका राजानकशितिकण्ठेन विनिर्मिता। अयं शितिकण्ठः काश्मीरस्थ-पद्मपुरे कृतवासः श्रीजगद्धरस्य दौहित्रस्य दौहित्र्याः पुत्र आसीत्। इदञ्च तदीयश्लोकादेव अवगम्यते, यथा—

यो बालबोधिन्यभिधां बुधेन्द्रो
जगद्धरो यां विततान वृत्तिम्।

तन्नप्तृकन्यातनयातनूजो
व्याख्यामि तां श्रीशितिकण्ठकोऽल्पम्॥

अयं शितिकण्ठोऽपि विद्वत्समाजे लब्धसम्मानो देशान्तरभ्रमणेन ख्यातश्चाऽभवत्। गुर्जराधिपतिना मुहम्मदशाहनाम्नाऽपि तस्य सम्मानो व्यधायि। तस्मिन् काले हैदरशाहस्य पुत्रो हस्सनशाहनामा काश्मीराधिपतिरासीत्। स्वव्याख्यायामेतदुल्लिखितं तेन विदुषा–

भूजानौ हस्सनाख्ये भुवमवति मया तन्यते ग्रन्थ एषः।

हस्सनशाहः पञ्चदश्याः शताब्द्या अन्तिमभागे काश्मीरानधितिष्ठति स्म। तेन ततः सपादशतवर्षेभ्यः पूर्वमेव श्रीजगद्धरस्य समयः स्वीकर्तव्यतया निर्णीयते।

स्तुतिकुसुमाञ्जलेरन्याऽपि 'लघुपञ्चिका'–व्याख्या नाम राजानकरत्नकण्ठेन विरचिता विद्यते। या वाराणसीमुद्रिते स्तोत्रे परिशिष्टरूपेण योजिता दृश्यते।

अयं रत्नकण्ठस्तु अवरङ्गजेबभूपतेः समकालिकः काश्मीरपण्डितेषु प्रख्यातः समभवत्। एतावता अस्य स्तोत्रस्य तस्मिन् समये विपुलः प्रचारो विद्वज्जनप्रशस्यता चाऽऽसीदिति निर्णेतुं शक्यम्। अन्या अपि काश्चन टीकाः स्तोत्ररत्नस्यास्य विद्वद्भिर्व्यलिख्यन्त इति प्राचीनटीकानाम्नां समुल्लेखादनुमीयते। वासवदत्तावेणीसंहार मालतीमाधवप्रभृतीनां टीकाकारः कश्चिद जगद्धरनामा प्रस्तुतात् कवेः सर्वथा भिन्न एवेत्यवगन्तव्यम्।

जगद्धरभट्टस्य परमाद्भुतमिदं स्तोत्रं प्राचीनविदुषाम् अध्ययनपरिशीलनादौ परिचितमासीदिति रचनासाम्यात् प्रतीयते। गोस्वामितुलसीदासस्य कृतिष्वप्यस्य क्वचिच्छाया प्रतिबिम्बितेव प्रतीयते। सत्यमिदं प्राचीनमाभाणकम्–

यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम्।
नहि कस्तूरिकाऽऽमोदः शपथेन विभाव्यते॥

शैवसिद्धान्तानुसारिणाऽनेन कविना स्तुतिकुसुमाञ्जलीनाम् अध्यत्रिंशत्संख्याका गुच्छका गुम्फिताः सन्ति। काश्मीरीयशैवदर्शने षट्त्रिंशत्तत्त्वानि

तदुत्तरं सप्तत्रिंशम् अष्टात्रिंशञ्च परमशिवस्वरूपमुपवर्ण्यते, सा रीतिः स्तोत्रे स्वीकृता कविना। अन्ते च स्ववंशपरिचयः प्रदत्तः। प्रतिगुच्छक चत्वारिंशत् पञ्चाशत् क्वचित् शताधिका अपि श्लोका विद्यन्ते। सङ्कलनया प्रबन्धेऽस्मिन् पञ्चदशाधिका चतुर्दशशती पद्यानां (१४१५) गोचरीभवति। एतावता महाकाव्यश्रेण्यामस्य गणना संख्यया गुणवत्तया च नूनं कर्तुमुचिता प्रतिभाति।

प्रथमतः स्तोत्रमारब्धुकामः कविरयं निजां सरस्वतीं प्रेरयति। अत्र सरस्वती वाग्रूपिणी नदीरूपिणी च मन्तव्या। यथा–

ह्लादवद्भिरमलैरनर्गलैर्जीवनैरघरैर्नवैरियम्।
स्वामिनः कृत्मशमक्षमा क्षणं रोधुमर्हति मनः सरस्वती॥

अस्मिन्पद्ये नदीपक्षे वाणीपक्षे च सरलतया अर्थयोजना कृता कविना।

एवमन्येन पद्येन निजां वाणीम् उमारूपेण परिणमय्य सा ईश्वरं वरं लब्धुम् अभिलषतीत्युच्यते, यथा–

भक्तितः सपदि सर्वमङ्गला
बोधिता निजधियैव मेऽनया।
आरिराधयिषतीश्वरं वरं
लब्धुमीप्सितमियं सरस्वती॥

अत्र मे अनया धिया बोधिता अथवा मेनया मात्रा बोधिता सर्वमङ्गला इयं सरस्वती वरं प्रतिरूपेण लब्धुम् अथवा परदानं लब्धुम् आराधयितुमिच्छती–त्युच्यते। इत्याद्युपक्रमानन्तरं भगवतः सर्वव्यापकमनाहतनादात्मकम् अशेषवाङ्–मयगर्भं प्रणवात्मकं स्वरूपं स्तौति–

ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम्।
दन्ध्वनीति हृदि मत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः॥

अस्मिन्नेव प्रकरणे पुनरुक्तवदाभासस्य किमपि रमणीयमुदाहरणं द्रष्टव्यं यथा–

अम्बरेण गगनेन संवृतं जीवनैः शिरसि वारिभिः श्रितम्।
भोगिभिश्च भुजगैर्विभूषितं शङ्करं शुभकरं भजामहे॥

द्वितींय स्तोत्रं तावद् नमस्कारात्मकं विहितं कविना। तत्र प्रवाहमय्या भाषया अनुष्टुप्छन्दोभिः कमनीया शैली, सा च दिङ्मात्रेण यथा–

ॐ नमः परमार्थैकरूपाय परमात्मने।
स्वेच्छावभासितासत्यभेदभिन्नाय शम्भवे॥
नमः शिवाय निःशेषक्लेशप्रशमशालिने।
त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेदभवभेदविभेदिने॥
नमो निसर्गनिर्विघ्नप्रसादामृतसिन्धवे।
संसारमरुसन्तापतापितापन्नबन्धवे॥

इत्यादिरूपेण अनुष्टुप्वृत्तस्य कवेर्धारा प्रसरति।

तृतीयस्तोत्रमाशीर्वादात्मकमुपरचितं कविना। ततोऽपि काश्चित्सूक्तयो दर्शनीयाः। यथा–

नित्यं निरावृति निजानुभवैकमान-
मानन्दधाम जगदङ्कुरबीजमेकम्।
दिग्देशकालकलनादिसमस्तहस्त-
मर्दाऽसहं दिशतु शर्म महन्महो नः॥

अत्र सर्वव्यापकस्य निजानुभवमात्रगम्यस्य देशकालाभ्यामपरिच्छिन्नस्य विभोः स्वरूपं परामृश्यते।

यश्च नानाविधैरुपासनाप्रकारैर्भक्तानां भोगमोक्षयोर्मार्गं निरर्गलं प्रकाशयति स जगद्गुरुर्वो रञ्जयत्वित्याह–

यः कुण्डमण्डलकमण्डलुमन्त्रमुद्रा-
ध्यानार्चनस्तुतिजपाद्युपदेशयुक्त्या।

भोगापवर्गदमनुग्रहमानतानां
व्यानञ्ज रञ्जयतु स त्रिजगद्गुरुर्वः॥

चतुर्थस्तोत्रे हरिहरात्मकवपुषः स्तुतिः सा च विस्तरभयान्नात्र वर्ण्यते।

पञ्चमे स्तोत्रे 'कविकाव्यप्रशंसा' इति शीर्षकाङ्कितेे काव्यमहिमा रमणीयतया समुपात्तः। यत्र सरलतरश्लेषघटितं प्रथमं पद्यम्–

आपन्नतापहरणप्रवणा घृणेव
त्वङ्गत्तरङ्गसुभगा गगनापगेव।
पीयूषसारशिशिरा शशभृत्कलेव
वाणी शिवैकशरणा जयतीश्वरीव॥

अत्र मालोपमाविन्यासेन चमत्कृतिः सरलश्लेषश्च अर्थद्वयबोधकोऽनूभूयते। अयोग्यजनस्तुतौ काव्यनियोजनं महते दुःखाय भवतीति कवेर्भणितिः–

अस्थाने गमितालयं हतधियां वाग्देवता कल्पते
धिक्काराय पराभवाय महते तापाय पापाय वा।
स्थाने तु व्ययिता सतां प्रभवति प्रख्यातये भूतये
चेतोनिर्वृतये परोपकृतये प्रान्ते शिवावाप्तये॥

अस्मिन्नेव प्रकरणे तादृशमेकं पद्यं कविना निरमायि, यस्मिन् कविस्वरूपं काव्यस्वरूपञ्च समानशब्दैरेव प्रतीयते, यथा–

ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धोऽभिधा-
भक्तिव्यक्तिविशिष्टरीतिरुचितैरर्थैर्धृतालङ्कृतिः।
वृत्तस्थः परिपाकवान् अविरसः सद्वृत्तिरप्राकृतः
शस्यः कस्य न सत्कविर्भुवि यथा तस्यैव सूक्तिक्रमः॥

अस्मिन् पद्ये सर्वाण्यपि साहित्यशास्त्रीयाणि तत्त्वानि उपदर्शितानि– तथा च माधुर्योजःप्रसादाख्या गुणाः, शब्दशुद्धिः, अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जनाख्यास्तिस्रः शब्दशक्तयः, रीतयो वैदर्भी-लाटीपाञ्चाली-गौडीनामधेयाः, औचित्यमलङ्काराणां संग्रहः, छन्दसामुचितः सन्निवेशः, शब्दानां परिपाकः,

रसप्राणत्वं, वृत्तय उपनागरिकाद्याः कैशिकीप्रभृतयो वा, ग्राम्यतादिदोषराहित्यम् इति अपेक्षितानि सर्वाण्यपि काव्याङ्गानि सूचितानि। कविपक्षे तु ओजस्वी, मधुरः, प्रसादविशद इत्यादिविशेषणानि सहजतया सङ्गच्छन्ते।

षष्ठस्तोत्रे तु पृथ्वीच्छन्दोभिरोजगुणोज्ज्वला रचना समुपस्थाप्यते। तत्र दिङ्मात्रं यथा–

जयत्यविरलोच्छलद् गरलवह्निहेतिच्छटा-
सटालफणभीषणक्षपणपाशमोक्षक्षमः।
उदारकरुणारसप्रसरसारसिक्ताशयः
प्रपन्नविपदर्णवोत्तरणकर्णधारो हरः॥

सप्तमस्तोत्रे काऽपि सरलासरला हृदयहारिणी च विनोक्तिपरम्परा दर्शनीयैव। यथा–

यथा हि शीलेन विना कुलाङ्गना
यथा विवेकेन विना मनीषिता।
सदर्थबोधेन विना यथा श्रुति-
र्महीभुजङ्गेन विना यथा मही॥
यथा विना द्यौररविन्दबन्धुना
विना शशाङ्केन यथा निशीथिनी।
विदग्धवर्गेण विना यथा सभा
विना विभूतिर्विनयेन वा यथा॥
कृपाविपाकेन विना यथा मति-
र्यथा सुपुत्रेण विना गृहस्थितिः।
तथैव शोच्या हरिणाङ्कशेखर-
स्तवोपयोगेन विना सरस्वती॥

अत्र विनोक्तिनामा अलङ्कारः सहृदयश्लाघ्यतया स्फुट एव भासते।

प्रतिस्तोत्रं नवनवा रचनाविधयः कविना उपक्रान्ताः सफलताञ्च प्रापिताः। भावप्रवणः कविरेकादशे स्तोत्रे शिवप्रणयिनीं स्ववाणीमाश्वासयितुमुपक्रमते।

भक्तस्य हृदयं हि वाण्या उपास्यस्य भगवतश्च वासस्थानम्। एकत्र स्थितयोरपि तयोर्यदि न प्रणयस्ततः परं किन्नाम दुःखम्। एतदाशयेन कविर्ब्रूते–

किं भूयसा यदि न ते हृदयङ्गमेय-
मस्या गृहे वससि किं हृदये मदीये।
सार्धं प्रियेण वसनं तदुपेक्षणञ्च
दुःखावहं हि मरणादपि मानिनीनाम्।।

ततः कविर्विचारयति यदि प्रभोः सदने काश्चन नार्यो वसन्ति, ताभिः सङ्गत्य इय मम वाणी प्रभोः प्रसादं प्राप्नुयात्। यतः स्त्रीणां स्वभावतः स्ववर्गे प्रीतिर्भवत्येव। यथा–

मातः सरस्वति! बधान धृतिं त्वदीयां
विज्ञप्तिमार्तिविधुरां प्रभवे निवेद्य।
देवी शिवा शशिकला गगनापगा च
कुर्वन्त्यवश्यमबलाजनपक्षपातम्।।

एतासु उल्लिखितास्वपि नारीषु कतमा तावत् साहाय्यं कुर्यादिति दोषगुणपरिच्छेदे निर्णयं प्रतिपद्यते कविः। यथा–

'एषा निसर्गकुटिला यदि चन्द्रलेखा
स्वर्गापगा च यदि नित्यतरङ्गितेयम्।'
'देवी दयार्द्रहृदया तु नगेन्द्रकन्या
धन्या करिष्यति न ते निबिडामवज्ञाम्।'

अत्र 'नगेन्द्रकन्या'पदे ध्वनिवशादियं महाकुलप्रसूता नूनं तव साहाय्यं विदध्यातृ कवेराशयः। एवं स्थले स्थले कवेर्भावप्रवणता भक्तिरसप्रवाहश्च नूनमनुभवगम्यः।

कालपाशभयादत्यन्तमाकुलो भक्तः कविरयं वेगेनेव भगवन्तमनुधावति–

आः किं न रक्षसि नयत्ययमन्तको मां
हेलावलेपसमयः किमयं महेश!।

मा नाम भूत्करुणया हृदयस्य पीडा
व्रीडाऽपि नाऽस्ति शरणागतमुज्झतस्ते॥

माऽस्तु नाम करुणा लोकलज्जावशादपि तावन्मां रक्ष।

पुनरपि भगवता क्रियमाणाया उपेक्षायाः कारणानि ज्ञातुमभिधत्ते–

अज्ञोऽसि किं किमबलोऽपि किमाकुलोऽसि
व्यग्रोऽसि किं किमघृणोऽसि किमक्षमोऽसि।
निद्रालसः किमसि किं मदघूर्णितोऽसि
क्रन्दन्तमन्तकभयार्तमुपेक्षसे यत्॥

एवं बहुधा कटुशब्दैः सम्बोधितोऽपि भगवान् मौनमुद्रां न जहातीत्याश्चर्येण कथयति–

इत्यादि दूढ्य इव निष्ठुरपुष्टभाषी
यत्किञ्चन ग्रहगृहीत इवाऽस्तशङ्कः।
आर्त्या मुहुर्मुहुरयुक्तमपि ब्रवीमि
तत्राऽपि निष्कृप भिनत्सि न मौनमुद्राम्॥

'विषस्य विषमौषधम्' इति न्यायेन मादृशस्य वक्रस्वभावस्य कृते तादृश एव कश्चिदुपायः कर्तव्यो भवता इत्याशयेनाह–

स्वामिन्निसर्गमलिनः कुटिलश्चलोऽह-
मेतादृगेव च रिपुर्मम मृत्युपाशः।
भ्रूपल्लवस्तव तथाविध एव तस्य
शान्त्यै विषे हि विषमे विषमेव पथ्यम्॥

इत्युचिता औषधोपचाररीतिः प्रदर्शिता भक्तेन।

किञ्च विपरीताचरणबुद्ध्या यदि त्वं प्रसीदसि तदा तथैव क्रियताम् इत्याशयेन ब्रूते–

यस्ते ददाति रवमस्य वरं ददासि
यो वा मदं वहति तस्य दमं विधत्से।

इत्यक्षरद्वयविपर्ययकेलिशीलः
किं नाम कुर्वति नमो न मनः करोषि।

शिवपूजायां भक्तैर्मुखेन अव्यक्तध्वनिः क्रियते स रवः, तेन च भक्ताय वरं ददासि, यश्च मदं धत्ते तस्य दमं विधत्से। एवं नमः कुर्वति मयि मनः करणमुचितमेव भवेत्।

पञ्चदशं स्तोत्रं नाम्ना करुणाराधनमिति, तत्र मनोरमकल्पनाभिः करुणावर्णनमकारि कविवरेण, दिङ्मात्रं यथा–

करुणा तव जीवितेश्वरीमतिशेते भगवन्नुमामपि।
उमया हृतमर्धमेव यत्सकलस्त्वं पुनरेतया हृतः॥

इयं तव प्रणयिनीं पार्वतीमप्यतिक्रामति, तया तु तव देहार्धमात्रं हृतम्, करुणया तु सकलोऽपि भवानपहृतः।

भगवतो महेश्वरस्य वपुषि सर्वत्र कश्चन खण्डभावः, परं करुणा तु सर्वथा अखण्डैव तिष्ठति। यथा–

वपुःखण्डे खण्डः प्रतिवसति शैलेन्द्रदुहितुः
शिखण्डे खण्डेन्दुः स्वयमपि विभुः खण्डपरशुः।
तथाऽपि प्रत्यग्रं शरणमुपयातं प्रति विभो-
रखण्डो व्यापारो जगति करुणाया विजयते॥

सप्तदशे 'भक्ति'नामनि स्तोत्रे कविः स्वरचनाया उद्भवस्य विषये आश्चर्यं प्रकटयन्नाह–

द्राक्षा साक्षादमृतलहरी कर्कशात्काष्ठकोषाद्
भूरिच्छिद्रात्प्रकृतिमधुरा मूर्च्छना वंशगर्भात्।
सूक्तिव्याजान्मम च वदनात्कर्णपेया सुधेयं
निर्गच्छन्ती जनयति न कं विस्मयस्मेरवक्त्रम्॥

अहो कर्कशात्काष्ठाजालाद्यथा द्राक्षाफलानां प्रादुर्भावः। यथा च छिद्रप्रचुराद् वेणोर्मधुरस्वराणां लहर्यः समुल्लसन्ति, तथैव मम वदनात्प्रादुर्भवन्ती

इयं कर्णपेया सुधा कं वा न व्यामोहयितुं प्रभवेत्।

अष्टादशे 'सिद्धि'नामके स्तोत्रे मालिनीच्छन्दसां चमत्कारः। तथा हि–

जयति जितविकारः क्लृप्तलोकोपकारः
कृतविपदपकारः शान्तमोहान्धकारः।
अतुलपुरुषकारः प्राप्तविश्वाधिकारः
स्मररचितनिकारः पार्वतीचाटुकारः॥

सरला सानुप्रासा सेयं रचना। एवमन्यदपि पद्यमेकम्–

अकलितमहिमानं ध्वस्तमिथ्याभिमानं
ददद‌मृतसमानं बोधमाभासमानम्।
प्रकटितलघिमानं दुर्वहं वर्धमानं
भवभवमवमानं भिन्द्धि मे बाधमानम्॥

द्वाविंशे स्तोत्रे चित्रकाव्यकौतूहलं दर्शयता कविना कादिपदबन्धनं प्रदर्शितम्। तत्र द्वादश श्लोकाः सन्ति, तेष्वन्तिमः समुपस्थाप्यते–

कल्लोलिनीकुटिलकैरविणीकुटुम्ब-
कङ्कालकल्पितकरालकिरीटकोटिः।
कात्यायनीकरकरम्बितकीर्यमाण-
कर्पूरकुङ्कुमकणः करुणां करोतु॥

कैरविणीकुटुम्बश्चन्द्रः। अर्थचमत्कारेष्विव शब्दचमत्कारनिर्माणेऽपि सर्वथा प्रतिभासम्पन्नस्तत्रापि भावप्रवणतां न मुञ्चति कविरयम्। तथा हि त्रयोविंशे स्तोत्रे 'शृङ्खलाबन्ध'नामके यमकविशेषे द्रष्टव्यम्–

'जगति विबोधितविधुरं विधुरञ्जितचारुशेखरं गिरिशम्।
गिरि शंसामि ससाध्वससाध्वसमानन्ददानपरम्॥'

'न परं शरण प्रभवति भवति कृतावज्ञमानसे महताम्।
महतां भजति हि सहसा सहसा तव भारती मधुरा॥'

'मधुरागारुणनयना नयनाशविधौ पटीयसी प्रमदा।
प्रमदार्पणार्थमुदिते मुदिते त्वयि सा तृणं भजताम्॥'

एषु पद्येषु गतप्रत्यागतरीत्या चरमवर्णं पुनरादाय अग्रिमं पद्यं प्रवर्तते। यमकेषु अर्थभेदेन शब्दानामावृत्तिर्भवतीति सुधियो जानन्ति। अत्रापि प्रसादगुणवशादर्थस्य भावस्य बोधोऽनायासेन भवति।

त्रयस्त्रिंशं स्तोत्रं 'कर्णपूर'नाम्ना ग्रथितम्। तत्र शर्दूलविक्रीडितानां श्लाघनीयः प्रवाहो दृश्यते। यथा–

स्वामिन् वाङ्मयदेवता भगवती स्वेच्छाविहारक्रिया-
क्रीडाकाननमाननं भव भवद्भक्तस्य नूनं व्यधात्।
नो चेन्नूतननूतनः प्रतिदिनं हृद्यः समुद्यन् क्रमाद्
अस्मिन्नुज्ज्वलवर्णकोमलपदन्यासः कथं लक्ष्यते॥

नूनं वाग्देवतया भवद्भक्तस्य वदनं क्रीडाकाननं विहितम्, यस्मात्तत्र नूतनकोमलपदन्यासः चरणन्यासः अक्षरन्यासो वा कथमन्यथा दृष्टिपथं प्रयाति।

अस्मिन्नेव प्रकरणे एकः कश्चन तादृशः श्लोकः कविना गुम्फितो यत्र शिवभक्तस्य पण्डितस्य महाकवेः सर्वाऽपि लौकिकी चर्या प्रत्यक्षीभवति। यथा–

सद्विद्याभ्यसनः सभानिवसनः सौधासनाध्यासनः
शुद्धान्नग्रसनः सुधौतवसनः सत्साध्वसध्वंसनः।
सह्लादोल्लसनः प्रसन्नहसनः सम्पन्नसद्वासनः
सत्काव्यव्यसनः सुधार्द्ररसनः शम्भोः कृतोपासनः॥

अत्र प्रतिपादं त्रयस्त्रयः अनुप्रासास्तैस्सह सुस्पष्टोऽप्यर्थः प्रतीयत एव। उन्मुक्तस्वभावसम्पन्नस्य परमोदारस्य च शिवभक्तस्य कवेरेतादृशं शब्दचित्रमन्यत्र दुर्लभमेवास्ति।

कियद्वा उदाह्रियतामस्य महाकवेर्वश्यवाक्त्वं यया कया वाऽपि दिशा प्रवर्तमानोऽस्य वाङ्मयप्रवाहः सर्वथा पूर्णतामेवाऽवगाहते। स्तुतिप्रशंसाख्ये प्रकरणे कविर्वदति–

इह हि स्वात्ममहेश्वरपरिभावनशुद्धसंविदः सुधियः।
कमलदलानि जलैरिव बहिरावरणैर्न लिप्यन्ते॥

'पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति प्रसिद्ध्या एवंविधः कविर्विषयोपरागैर्न लिप्यते।

विषयोपभोगरहितः सहजो ह्लादः सतां मतो मोक्षः।
तमपि यदीच्छसि वेदितुमवहितहृदयः शृणु स्तुतीः शम्भोः॥

विषयसङ्गराहित्येऽपि स्वाभाविक आनन्द एव मोक्षः, स चैतादृशस्तुतिरसावगाहनेन सुलभ इति कवेराशयः।

इदं शरीरं तावन्नानाव्याधिभिरुपद्रुतं नानामलावृतं यद्यपि भवति, तथापि भगवदुपासनायान्तु परमसाधनमस्तीति तस्य न तिरस्कारः कर्तव्यस्तस्य कमनीयतैव स्वीकर्तव्येत्याशयेनोक्तम्–

अशुचि शुचामायतनं मलकलिलमिदं कलेवरं सत्यम्।
भगवदुपासनसाधनमिति भवति न कस्य कमनीयम्॥

अष्टात्रिंशे स्तोत्रे कविः स्वात्मानमेव परामृशति किं वा मया कृतमुचितमनुचितं वा? तत्र पर्यन्ततः जीवनस्य साफल्यमेव लब्धमिति कथने तस्य नास्ति सङ्कोचः, यथा–

विमर्शशून्येन मया निरर्थकः
खलेन कालः सकलोऽतिवाहितः।
इदं त्वसारादतिसारमुद्धृतं
धृतं यदीशस्तुतिवेतनं मनः॥

विषयलुब्धस्य जनस्येव मनसो वेतनरूपेण शिवस्तुतिः प्रदीयते।

परमेश्वरात्मनो गुरोः शक्तिपातं विना परमेश्वराराधने रतिरेव न जायते, यतश्च मे तादृशी प्रीतिः, अयं महतामनुग्रहस्य परिणामः—

अवैमि भाग्योपचयः स पुष्कलः
स शक्तिपातः खलु पारमेश्वरः।
स वा महार्हो महतामनुग्रहो
यदीश्वराराधनसाधनं मनः॥

शक्तिपातविषये शैवागमेषु विशिष्टा चर्चा उपलभ्यते। यथोक्तं मालिनीविजयतन्त्रे—

रुद्रशक्तिसमाविष्टः स यियासुः शिवेच्छया।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति॥

एतादृशस्तवनिर्माणजनितमानन्दं हृदि स्फुरन्तं स्वशब्दैः कविः प्रकटयति—

अहो कृतार्थोऽस्मि मनोऽभिरामया
गिरा गुणालङ्कृतयेह रामया।
तनुः स्थिरेयं ध्रियते निरामया
भवे च यद्भक्तिरभङ्गुरा मया॥

ध्यानमग्नः कविरयं पुरः स्फुरन्तं महेश्वरं पश्यतीव। तात्कालिकः परमानन्दश्च प्रभोरेव संवेद्यः, न इतरस्य।

पुरः स्फुरन्तं विमृशन् महेश्वरं
विलीनवेद्यान्तरवेदनो दशाम्।
नवस्तवोल्लेखविधौ स्पृशामि यां
ममान्तरात्मा विभुरेव वेत्ति ताम्॥

नवनवस्तवनिर्माणसमये कवेरन्तःकरणे य आनन्दोद्रेकः समुदेति, तं तु अन्तरात्मा महेश्वर एव जानाति। बाह्यो जनः कथं जानीयात्।

महता ननु पुण्येनैव मनुष्यजन्म तत्र पुरुषता, वैदुष्यं, ब्राह्मणता, तत्रापि कवित्वशक्तिस्तत्रापि शिवैकपरायणता लभ्यते। ततश्च मया इयं कल्याणपरम्परा प्राप्ता। सा शिवस्तुतिप्रसङ्गेन साफल्यमुपगतेति कविना कथ्यते–

मनुष्यता पूरुषताऽग्र्यवर्णता
मनीषिता सत्कविता शिवैकता।
इयं मम क्षेमपरम्परा विभोः
स्तुतिप्रसङ्गेन गता कृतार्थताम्॥

अस्य कवेः सहजमधुरा काव्यधारा अनायासेनैव मुखान्निर्गच्छन्ती सहृदयहृदयानि मदयतीति दृष्टान्तपूर्वकमुच्यते–

मृगेन्द्रशावा इव कन्दरोदरात्
करीन्द्रकुम्भादिव मौक्तिकोत्कराः।
विनिःसरन्तः कवितुर्मुखादमी
मनोज्ञतां बिभ्रति कस्य न स्तवाः॥

यथा गुहामध्यात् सिंहशावका उत्प्लुत्य बहिरायान्ति, यथा वा गजेन्द्रस्य कुम्भस्थलाद् मौक्तिकानि निपतन्ति, तथैव कवेरस्य सूक्तयः समुदयन्ति।

आसां सूक्तीनां निस्यन्दमानं मधुकामिनीनां कटाक्षवीक्षितमिव स्तनन्धयानां मुग्धजल्पितमिव वा श्रोतॄणां सहृदयानां मनो नूनमार्द्रीकरिष्यति। यथाह–

मनस्विनीनामिव साचि वीक्षितं
स्तनन्धयानामिव मुग्धजल्पितम्।
अवश्यमासां मधु सूक्तिवीरुधां
मनीषिणां मानसमार्द्रयिष्यति॥

संसारव्यवहारसातत्यात् शुष्कमिव नीरसमिव विदुषां काव्यग्रहणे कौतूहलमियं स्तवावली कर्णपथं नीता सती नूनं तरुणी करिष्यतीत्याशयेनोच्यते–

इयं मधुश्रीरिव केलिकाननं
सरोवरं प्रावृडिवाऽऽतपक्षतम्।
स्तवावलीकाव्यकुतूहलं सता-
मकालजीर्णं तरुणीकरिष्यति।।

सत्यमिदं कवेर्वचनमस्याः स्तवमालायाः पुनः पुनः परिशीलनेन काव्यसौन्दर्यास्वादने मानसं तरुणायत इत्यनुभवः सहृदयानाम्। इत्थमस्य रसस्यन्दिनो महाकवेः स्तोत्रविषये स्थालीपुलाकन्यायेन ईषत्परिचयरूपेण वा किञ्चिदालिखितम्।

भगवत्याः सुरभारत्या भाण्डागारे वर्तमानानां रत्नानामद्यापि मूल्याङ्कनं कर्तुमपेक्ष्यते, येनास्माकं बुद्धिवैशद्यं ज्ञानक्षेत्रस्य विस्तारश्च सम्पद्येत।

एतावानेव ममाऽऽशयः, न पुनः स्ववैदुष्यप्रख्यापनम्। अन्ते च अस्य महाकवेर्नर्कुटकवृत्ते निबद्धं सूक्तमुल्लिख्य विश्राममुपनयामि वाचां प्रसङ्गम—

अयमिह किङ्करेण रचितश्चरणाम्बुजयोः
स्तुतिकुसुमाञ्जलिर्भगवतस्तरुणेन्दुभृतः।
अविरलभक्तिसिक्तनवसूक्तिलताऽवचितः
कलयतु सौरभेण सुकृतां स्पृहयालु मनः।।

।। इति शिवम्।।

■

राजशेखरस्य काव्यशास्त्रीया दृष्टिः

विदितचरमिदं विदितवेदितव्यानां गीर्वाणवाणीपरिचरणपरायणानां प्रेक्षावतां यदिदं साहित्यशास्त्रं काव्यशास्त्रापराभिधानं सर्वलोकोपकारकं चतुर्विधपुमर्थसमर्जनस्य सुलभं साधनं चेति।

किं बहुना, ऋते यत्परिज्ञानात् पुरुषः सामाजिकश्रेणीमध्यं प्रवेष्टुं न क्षमते। न च वैदग्ध्यमधिगच्छति। यद् वर्णयन्ति कवयः–

साहित्यविद्याहीनानां सर्वशास्त्रविदामपि।
समाजं परिपश्यन्ति समजं बुद्धिशालिनः॥

यद्यपि शब्दसाधुत्वज्ञानाय पाणिन्यादीनामाचार्याणां परिशीलनमावश्यकम्, परं न केवलं शब्दसाधुत्वज्ञानमात्रेण लोकयात्रानिर्वाहः सम्भवति, परन्त्रापि उचितानुचितहानोपादानविधानं च नितान्तमपेक्ष्यत एव। अत एव शब्दशास्त्रेण साधुत्वेनाऽऽख्यातानामपि शब्दानां प्रयोगनियमः प्रयोगनिषेधश्चानेन शास्त्रेण क्रियते। यथा- कार्तार्थ्यप्रभृतयः श्रुतिकटुशब्दाः सहृदयै रौद्रादावेव रसे प्रयोज्याः, न तु शृङ्गारादौ। 'अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितै'रित्यादयो वर्णास्तु शृङ्गारादावेव प्रयोज्याः। एवं रणित–क्वणित–शिञ्जित–गुञ्जितादिशब्दा यथाक्रमं मञ्जीर- रशना–घण्टा–भ्रमरादिध्वनिष्वेव प्रयोज्याः, नान्यत्र।

एवं ग्राम्यादयः शब्दा विदूषकाद्युक्तिष्वेव न तु उत्तमपात्रोक्तिषु। दैवतपद्मादिशब्दानां पुंस्याम्नातत्वेऽपि न प्रयोगः क्रियते। कर्णावतंसादिपदानां प्रयोगेऽपि न खलु तद्वज्जघनकाञ्चीत्यादयः प्रयोक्तुमुपयुज्यन्ते। तदेवंविधैरुदाहरणैः शास्त्रस्यास्य क्वचित्प्रवर्तकत्वं क्वचिन्निवर्तकत्वं च सिद्ध्यतीति स्वातन्त्र्येण स्वरूपतः शास्त्रत्वे न विवादः।

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च पुंसां येनोपदिश्यते।
तद्धर्माश्चोपदिश्यन्ते शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः॥

इति लक्षणमत्र समन्वेति।

हितशासकत्वादपि शास्त्रत्वमस्य सिद्धम्। किञ्च सर्वासामपि विद्यानां कलानां चोद्गमभूमिर्भगवान् वेद एवास्माकं भारतीयानां मते जागर्ति। तदनुसारमेव नाट्यशास्त्रकारो भरताचार्यो वेदार्थसारभूतत्वमस्य शास्त्रस्य निबध्नाति–

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।

इत्याद्युक्तिभिः।

कविकुलशेखरो राजशेखरस्तु शब्दशक्तिदोषगुणालङ्कारमात्रविचारप्रचुरां परिपाटीमपहाय कविशिक्षार्थं विविधेभ्यः शास्त्रेभ्यः कविप्रयोगेभ्यश्च वैदग्ध्यसंवर्धनाय विविधानि तत्त्वानि सङ्गृह्य हृदयङ्गमया सरण्या काव्यमीमांसां सूत्रयाञ्चकार।

तन्मते साहित्यापरपर्यायस्य काव्यमार्गस्य प्रथमोपदेष्टा भगवान् श्रीकण्ठो जगद्गुरुः शिव एव। नैतावता वेदमूलकत्वे कश्चन विरोधः। भगवान् शब्दराशिर्वेदः स्वप्रकाशो यथा स्वीक्रियते, तथैव भगवतः परमेश्वरस्य निःश्वसितरूपोऽपीत्यत्र न विवादः।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्।।

इत्यादि-प्राचीनप्रयोगदर्शनात्। अपरञ्च–

अष्टादशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम्।
आदिकर्त्ता कविः साक्षाच्छूलपाणिरिति श्रुतिः।।

इति स्मृतिवचनान्यपि प्रतिपादयन्ति।

तदनुसारं काव्यशास्त्रावतारस्य परम्परा राजशेखरेणोपवर्णितेयं समीचीनैव प्रतिभाति।

'अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः सोऽपि भगवान् स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः।

तेषु सारस्वतेयो वन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्' इत्यादिरीत्या शास्त्रस्यास्य गुरुपर्वक्रमानुसारिणी स्थितिः सर्वप्रथममुद्घोषिता राजशेखरेण। पारम्पर्यं विना शास्त्रस्य प्रामाण्यं श्रद्धेयत्वं च नोपपद्यत इत्ययं तस्य संरम्भः।

सारस्वतेयस्योत्पत्तिकथा बाणभट्टेनापि स्वरचितहर्षचरितारम्भे स्वपूर्वपुरुषचरिते निवेशिता लक्ष्यते। अन्यच्च क्वचित्पुराणादावपि तादृशी कथा स्मर्यत इत्यापि प्रमाणसिद्धम्। एतावता न सर्वथा राजशेखरस्य कल्पनामात्रप्रसूतोऽयं पारम्पर्यक्रमः किन्तु प्रमाणान्तरसिद्धोऽप्यस्ति। काव्यपुरुषशिष्येषु 'रूपकनिरूपणीयं भरतः' इत्युक्त्या नाट्यशास्त्रकारः स्मर्यते, तद्वदेवान्येषामपि ग्रन्थाः सम्भवन्ति, परमिदानीं कालविच्छेदात् विकीर्णत्वात्तेषामनुपलब्धिः। अत एव राजशेखरेणाप्युक्तं– 'इत्थंकारं प्रकीर्णत्वात् सा किञ्चिदुच्चिच्छिदे' इति।

एवमुच्छिन्नप्रायस्य काव्यशास्त्रीयस्य विविधविषयजातस्यैकत्र सङ्ग्रहायैव अष्टादशाधिकरणीं मीमांसां जग्रन्थ विद्वद्वरः। केचिदित्थं मन्यन्ते यदष्टादशाधिकरण्याः काव्यमीमांसायाः प्रथम एवायं भागः, शिष्टास्तु सप्तदश न लभ्यन्त इति। एतद्ग्रन्थनिर्माणोद्देश्यं तु रचनासु प्रवृत्तानां कवीनां व्युत्पादनं वैदग्ध्यापादनञ्चेति तेनैवोच्यते–

यायावरीयः संक्षिप्य मुनीना मतविस्तरम्।
व्याकरोत् काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः।। इति।

वाङ्मयस्य पौरुषेयापौरुषेयरूपेण विभागं विधाय वेदाङ्गेषु 'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इत्यलङ्कारशास्त्रस्य वेदार्थविवेचने सर्वथाऽऽवश्यकत्वमुदाहरणद्वारा स्थिरीकरोति कविरयम्। तथा हि–

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखया' प्रभृतिमन्त्रेषु रूपकातिशयोक्तिप्रभृतीनामलङ्काराणां विवेचनमन्तरा सम्यगर्थावगतिरेव न स्यात्। एवमेव प्रायः सर्वेषु रूपकादिप्रधानेषु सूक्तेषु स्थितिः। राजशेखरस्य प्रतिपादनशैल्या अयं विशेषः, यदयं सर्वत्रोदाहरणप्रदाने वेदमूलकक्रममनुसरति यथा च प्रतिज्ञातं तेन– 'प्रत्यधिकरण ऋचं यजुःसामाऽथर्वणं ब्राह्मणं चोदाहृत्य भाषामुदाहरिष्यामः'

इति।

इत्थमेव चतुर्दशविद्यास्थानपरिगणनानन्तरं 'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्, गद्यपद्यमयत्वात्, कविधर्मत्वात्, हितोपदेशकत्वाच्च, तद्धि शास्त्राण्यनुधावति' इति तदुक्तिः।

एवम् आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता-दण्डनीतिभिः सह पञ्चमी साहित्यविद्या स्वीकर्तव्येति स्वमतमुद्घोषयति। अस्यैव साहित्यलक्षणं सपरवर्तिभिराचार्यैः प्रकारान्तरेण परिगृहीतं बहुभिरिति प्रतीयते। 'शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' इत्येतदीयं लक्षणम्।

यथावच्छब्देन औचित्यमूलकः सहभावः सूच्यते, तेन च समुचितशब्दार्थसंघटनात्मका गुणालङ्काररीतिप्रभृतयः सर्वेऽप्यपेक्षिताः काव्यतत्त्वजीवातवः संगृह्यन्ते। एतस्यैवोक्तिमुपजीव्य भोजराजश्शृङ्गारप्रकाशे शब्दार्थयोर्द्वादशसम्बन्धात्मकं साहित्यं व्याचष्टे। यदुक्तं तत्रैव–

'तत्राऽभिधाविवक्षातात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभावदोषहानगुणोपादानालङ्कारयोगरसावियोगरूपाः शब्दार्थयोर्द्वादश सम्बन्धाः साहित्यमित्युच्यते' इति। एवमाचार्यकुन्तकस्य लक्षणेऽपि तत्प्रतिच्छाया स्फुटीभवति। तथा हि–

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥

इति तदीयलक्षणे यथावत्पदस्यैव व्याख्या अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वशब्देन स्फुटीक्रियते। किं बहुना, सुप्रसिद्धस्य मम्मटाचार्यस्यापि काव्यलक्षणे 'तददोषौ शब्दार्थौ' इत्यादिरीत्या सूक्ष्मरूपेण साहित्यमेव लक्षितमिति प्रतिभाति। मन्ये 'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये' इति महाकवेः सूक्तिमवलम्ब्यैव लक्षणकाराणां प्रवृत्तिः समजायत। यतस्तत्रापि वस्तुतः साहित्यमेव लोकोत्तरमुपनिबद्धमाभाति। स्वविरचिते बालरामायणनाटकेऽपि प्रसङ्गात् समुपात्तेयं सूक्तिः कवेराशयं विशदयति–

यत्क्षेमं त्रिदिवाय वर्त्म निगमस्याङ्गं न यत्सप्तमं
स्वादिष्टं च यदैक्षवादपि रसाच्चक्षुश्च यद्वाङ्मयम्।

तद्यस्मिन् मधुरं प्रसादि रसवत्कान्तञ्च काव्यामृतं
सोऽयं सुभ्रु पुरो विदर्भविषयः सारस्वती जन्मभूः॥

काव्यपुरुषस्यावयवनिरूपणव्याजेन राजशेखरः सर्वसम्मतं काव्यस्वरूपं व्यवस्थापयति, यथा–

'शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्, समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चाऽसि, उक्तिचणञ्च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरं प्रवह्लिकादिकञ्च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति' इति।

एतेन निरूपणेन तावत्कालपर्यन्तं भरतादिभिरन्यैश्चाचार्यैः स्वीकृतानि काव्याङ्गान्यत्र सन्निवेशितानि राजशेखरेण। साहित्यविद्यावध्वाः कल्पनया च नाट्यशास्त्रोक्तानां प्रवृत्तीनां सङ्ग्रहोऽपि विहितः, तथा च नाट्यशास्त्रे त्रयोदशाध्याये–

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोक्तृभिः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोड्रमागधी॥

इति प्रवृत्तय उपवर्णिता दृश्यन्ते। प्रवृत्तिभिः सहैव वृत्ति-रीत्योः परिगणनमपि समुचितमेव। तस्येयं परिभाषा सर्वथा नवीना काव्यशास्त्रे–

तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासक्रमो रीति इति। राजशेखरात्पूर्वं ध्वन्यालोककृता वृत्तिविषये यदुक्तं तदप्यत्र विचार्यतामर्हति, तेन रसविरोधपरिहारोपायेषु–'रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च' इत्ययं निजः कारिकाभागो वृत्तौ व्याख्यातः–'वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव। यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः' इत्यादिना। इतोऽपि स्फुटतरं वृत्तिरूपं व्याख्यातं ध्वनिकृता पुरस्तात्कारिकायां यथा–

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो विविधाः स्थिताः॥

व्याख्यातं च पुरस्तात्–'तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिक्याद्या वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः' इत्यादि।

रीतिविचारप्रसङ्गेन च राजशेखरो वैदर्भीरीतिः कवीनामादर्शभूता परम्परयेति तदर्थमयं 'वत्सगुल्म'नाम्नि वैदर्भप्रदेश एव वधूवरयोः औभयीकाव्यपुरुषयोरावासं कल्पयामास। शिष्याणां स्वरूपपरिचयप्रसङ्गे काव्यनिर्माणकारणविचारे राजशेखरः शक्तिं प्रतिभाया जनयित्रीं पृथगेव मन्यते। तदुक्तिर्यथा–'शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी' इति। यद्यपि रुद्रटप्रोक्ता शक्तिः प्रतिभातो नातिभिन्नेव प्रतिभाति। तथा हि–

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

तदीयलक्षणं, राजशेखरस्य–'या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं भासयति सा प्रतिभा' इति लक्षणेन संवदति। तथापि शक्तिरतिरिक्तैव काव्यनिर्माणमूलहेतुस्तन्मते। अभिनवगुप्तपादैर्ध्वन्यालोकलोचने प्रथमोद्योतावसाने श्लोकः कश्चिदुल्लिखितः। यथा–

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥

अत्र विश्वोन्मीलनहेतुः काचन शक्तिः पराप्रतिभाख्या समुपवर्णिता। सा भगवति परमेश्वरे जगत्सिसृक्षारूपेण वर्तते, कविरपि काव्यप्रपञ्चसृष्टेः प्रजापतिस्तदन्तःकरणेऽपि सा पराप्रतिभा काव्यमयजगत्सिसृक्षारूपेण जागर्ति, सैव शक्तिरिति राजशेखरस्याशयः समुन्नीयते।

प्राचीनविदुषामेकपक्षीयमाग्रहं क्वचिदपि नाङ्गीकरोति राजशेखरः, यतो मेधाविनां दृष्टिभेदाद्रुचिभेदाच्च क्वचित्कौशलमधिकं निषपद्यत इति योग्यतावशाद् यद् वैशिष्ट्यं तदन्यैरभिनन्दनीयमेवेति व्यवस्थापयन् राजशेखरो विवेचकेषु विशिष्यते।

तथाहि 'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ' इति, 'यथा स्वविषये सर्वो गरीयान्' इति, न हि राजहंसश्चन्द्रिकापानाय प्रभवति, नापि

चकोरोऽद्भ्यः क्षीरोद्धरणाय' इति, 'उपकार्योपकारकभावं तु मिथः शास्त्रकाव्ययोरनुमन्यामहे यच्छात्रसंस्कारः काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकप्रवणतां तु निगृह्णाति, काव्यसंस्कारोऽपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरुणद्धि काव्यैकप्रवणतां तु विरुणद्धि' इत्येवंरूपास्तदीया उक्तयः सामञ्जस्यमुपस्थापयन्ति।

एवं काव्यपाकविषयेऽपि भामह–वामन–प्रभृतीनां मतान्यालोच्य राजशेखरः सर्वसम्मतपाकलक्षणमित्थमभ्युपैति–'रसोचितशब्दार्थसूक्तिनिबन्धनं पाकः' इति। काव्यगतानां पदार्थानां निरूपणप्रसङ्गे सहृदयप्रसिद्धिरपि प्रमाणीभवतीति पाकविषयेऽपि सा स्वीकर्तव्येति तदभिप्रायः।

असत्यार्थाऽभिधायित्वात्काव्यं नोपदेशार्हमिति केषाञ्चिन्मतं निराकुर्वता राजशेखरेण तादृशमसत्यमर्थवादरूपमस्तीत्युक्तम्। अयमर्थवादो न केवलं काव्ये श्रुतिषु शास्त्रेष्वपि दृश्यत इति कथमसौ परित्याज्यः स्यात्। यथोक्तम्-

नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः।
स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च॥ इति।

किञ्च–पुंश्चल्यादीनां यानि कविभिश्चरित्राणि प्रतिपादितानि तानि वैदग्ध्यापादनद्वारा ताभ्यो निवृत्तिमेवोपदिशन्ति। यदुक्तम्–'अस्त्ययमुपदेशः, किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन' इति यायावरीयः।

एवमसभ्यार्थाविधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यमिति वादिनोऽपि समाहिताः, 'प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः। तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते' इत्येवंवदता।

कामशास्त्रमप्यङ्गभूतं प्रसङ्गापन्नमध्येतव्यमिति तदभिप्रायः अनधीतकामतन्त्रा युवानोऽपि सीदन्ति, अतः काव्येषु यथावसरं तत्परिज्ञानमप्यावश्यकमिति सन्निवेश्यते कविभिः।

पाठप्रतिष्ठाविवेचने वाक्यस्य ब्राह्मं, शैवं, वैष्णवमिति त्रिधा विभागं कृत्वा, तस्यापि भेद–प्रभेदा भूयांस उपवर्णिताः तत्तद्देवतास्वभावानुरूपाणि तद्वचसां लक्षणानि च निरूपितानि। अस्य विचारस्य मूलभूतं स्रोतः पुराणेभ्य एव सङ्गृहीतमिति तत्रैव निर्दिष्टम्। एवंविधा सूक्ष्मेक्षिका नान्यस्य

काव्यशास्त्रनिर्मातुरन्यत्र दृश्यते। एवंविधवाक्यरचनाभेदानामुपयोगो नाटकादौ तत्तत्पात्रभाषासु सम्भवतीति राजशेखरस्य दृष्टिः। भगवान् विष्णुर्मर्त्यलोके बहुविधानवतारान् गृह्णातीति तस्य यद्वैष्णवं वचस्तदेव मानुषमिति व्यपदिश्यते। तदेव रीतित्रयभेदेन कविभिः प्रवर्तितमिति मन्यते यायावरीयः।

एवमुच्चारणविषये शिक्षाशास्त्रोक्तां रीतिमनुसनधाय काव्यानुगुणां पाठशैलीं गुणदोषविवेकपूर्वकमुपस्थाप्य पर्यन्ते पाठसौष्ठवस्य सूत्रमेकं निर्दिशति–

पञ्चस्थानसमुद्भववर्णेषु यथास्वरूपनिष्पत्तिः।
अर्थवशेन च विरतिः सर्वस्वमिदं हि पाठस्य।। इति।

नूतनार्थचिन्तनं तावत्कवीनां परममुद्देश्यं तस्याधिगमाय श्रुति–स्मृति–इतिहासाद्याः काव्यार्थयोनयो द्वादश प्राचीनाः सूचिताः, उचितसंयोगेन, योक्तृसंयोगेन, उत्पाद्यसंयोगेन, संयोगविकारेण च सह ताः षोडश इति सङ्कलय्य परिगणितास्तेन। पूर्वप्रतिज्ञानुरोधेन श्रुतिप्रभृतिभ्य एवोदाहरणानि सङ्गमयति विवेचकोऽयम्। प्राचीनाः कथयन्ति–

नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति।। इति।

■

श्रीमतामतिरात्रयज्वनां कृतिः
श्रीपदार्थदीपिका श्रीपदार्थव्यवस्था वा

गीर्वाणवाणीपरिचरणपरायणानां विदुषां न नामाऽविदितं चतुरधिकशतप्रबन्धनिर्माणकर्मठानां शिवावतारभूतानां श्रीमदप्पय्यदीक्षितेन्द्राणां महनीयं नामधेयम्। शाङ्करपरम्परायां लब्धोदया दीक्षितेन्द्राः शिवावतारभूता एवाऽभूवन्निति शिवरहस्यादिवचनप्रामाण्यादामनन्ति विद्वांसः। एतेषामनुजन्मानोऽपि भ्रातुरनुगुणाः सकलविद्यापारदृश्वानः श्रीमदाच्चान्दीक्षितनामधेया आसन्निति ज्ञायते। महाकविभिः श्रीनीलकण्ठदीक्षितैर्गङ्गावतरणकाव्ये नलचरितनाटके च कश्चित्परिचयः प्रदत्तः। यथा–

तत्समानप्रभावस्य तदनन्तरजन्मनः।
आसीदाच्चान्दीक्षितस्य पुत्रो नारायणाध्वरी॥

(गङ्गावतरणकाव्यम्–१/४८)

सूत्रधारः–तत्सोदर्यस्य विद्वत्कवेराच्चान्दीक्षितस्य महिमा केन वर्ण्यते, तथापि किञ्चिद् वर्णितं गुरुरामकविना–

शब्दब्रह्म जगाहुषी जगृहिषी वैशेषिकं साहुषी
तर्कोमर्दमुपेयुषी श्रुतिशिखां भाट्टे पदं दाशुषी।
सांख्यार्थानधिजग्मुषी विविदुषी साहित्यमर्माऽखिलं
कस्मिन्नस्य न शेमुषी नृपसभे नाऽपूपुषद् वैदुषीम्॥

(नलचरितम्–१/४)

एतेषामपरमपि 'चारुदीक्षितः' इति नामधेयमासीदिति कलिविडम्बनहस्तलेखादवसीयते। एतेषां समयः प्रायः १५२३–१५६० ईसवीयाब्दावधिक इति लेखकाः प्रमाणयन्ति। एते च नातिदीर्घायुषः सञ्जाता इत्यनुमीयते। एतेषां द्वौ तनयावभूताम्–ज्येष्ठो नारायणाध्वरी, कनिष्ठश्च अप्पय्यदीक्षितनामा।

श्रीनारायणाध्वरिणोऽपि विद्वांसः साहित्यरत्नाकर–महावीरचरितप्रभृति–ग्रन्थानां टीकाकारा आसन्। एते विशेषतया श्रीदेव्युपासकाः साधका अभूवन्निति नलचरिते 'जगदम्बिकापूरुषावतार'पदेन निर्दिष्टा नीलकण्ठकवीन्द्रैः। तेषां विषयेऽन्यत्रापि तस्यैव कवेरपरा सूक्तिर्विराजते–

नारायणाध्वरीन्द्राय नमोऽस्तु ज्ञानसिन्धवे।
शारदा यत्कटाक्षाणां साऽप्यवेतनकिङ्करा॥ इति।

नारायणाध्वरीन्द्रस्य कुटुम्बिनी भूमिदेवीति ख्याता। अनयोर्दम्पत्योः पञ्चपुत्राः समजायन्त। ते सर्वेऽपि विद्वांसः शिवभक्ता इत्यग्रिमेण पद्येन ज्ञायते–

जयन्ति तनयास्तस्य पञ्च सौभ्रात्रशालिनः।
गर्भदासा महेशस्य कवयश्च विपश्चितः॥ इति।

(गङ्गावत. १/४९)

पुत्राणाञ्च नामानि क्रमेण यथा– आच्चान्, नीलकण्ठः, चिन्नप्पधैया, चन्द्रकलावतंसः, अतिरात्रयाजी चेति। तेषु कनिष्ठः अतिरात्रयाजीति स्पष्टमवगम्यते। अयमपि स्वकुलमर्यादानुरूपं शास्त्रेषु लब्धवैदुष्यः काव्य–नाटकादिनिर्माणनिपुणश्च सञ्जात इति ज्ञायते। अस्यैव काचिन्नातिविस्तृता कृतिः श्रीपदार्थदीपिका श्रीपदार्थव्यवस्था वा वाराणस्यामेव समुपलब्धा, तद्विषये परिचयरूपेण किञ्चिदुपपादयितुं क्रियते यत्नः।

श्रीशङ्करभगवत्पादपरम्परायां प्रायः सर्वत्रैव श्रीविद्योपासनाऽपि सुतरामभ्यर्हितत्वेन स्वीक्रियत इति जानन्ति विद्वांसः। अप्पय्यदीक्षितेन्द्राः सविशेषं भगवति महेश्वरे भक्तिभाजः शैवशास्त्रव्याख्यातारश्च समभूवन्नित्यत्र न सन्देहः, परं तेषां श्रीविद्योपास्तिविषये काऽपि कृतिर्नोपलभ्यते, न च तद्विषये ते स्वयमपि सूचयन्तीति मन्ये सुतरां रहस्यत्वाद् अवसराभावाद्वा तैरत्रविषये न लेखनी प्रवर्तितेति। अतिरात्रयज्वनः प्रकृतप्रबन्धोपलब्ध्या तेषामेव सम्प्रदायागता सरणिरियमित्युन्नेतुं शक्यम्। यद्यपि अप्पय्यदीक्षितेन्द्रै–रात्मार्पणस्तुतिर्भगवन्तं शिवमुद्दिश्य समुपनिबद्धा। तामेवाऽनुध्यायन् श्रीनीलकण्ठः कविरानन्दसागरस्तवे प्रस्तौति–

त्वय्यर्पितं प्रथममप्ययज्वनैव
स्वात्मार्पणं विदधता स्वकुलं समस्तम्।
का त्वं महेशि कुलदासमुपेक्षितुं मां
को वाऽनुपासितुमहं कुलदेवतां त्वाम्॥

वस्तुतः शिवोपास्तिः शिवशक्त्युभयोपास्तिरूपैवेति शास्त्ररहस्यवेदिनोऽवगच्छन्ति। नीलकण्ठस्य वचनाच्च भगवत्या उपास्तिरप्पय्यदीक्षितानामपि सर्वथा समभ्यर्हिताऽवर्ततेति मन्यामहे।

किञ्च, आत्मार्पणं नाम पूजावसानकाले किमप्यावश्यकं कृत्यमिति तत्तत्पद्धतिदर्शनान्निश्चीयते, यथा चाऽस्यामेव श्रीपदार्थदीपिकापद्धत्यामन्तिमे भागे पङ्क्तयः–'तत् स्वकृतकर्मसमर्पणपूर्वकम् आत्मनिवेदनं कुर्यात्–इत पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्याम् उदरेण शिश्ना यत् स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा मां मदीयञ्च सकलम् अस्मत्स्वामिन्यै श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नम इति सम्यगर्पयेत्' इति।

एभिः प्रमाणैरियमप्पय्यदीक्षितपरम्परानुसारिणी पद्धतिरस्तीति निःसन्देहं शक्यते वक्तुम्।

अप्पय्यदीक्षितेन्द्राणां नीलकण्ठे विशेषतश्च स्नेहो दीक्षितेन्द्रैराशीर्वादप्रदानञ्चेत्यादिवृत्तं प्रसिद्धमेव। नीलकण्ठदीक्षितस्य समय ईसवीयाब्ददृष्ट्या १५७६ कालादारभ्य १६६० पर्यन्तमासीत्। तदनुषङ्गेण अतिरात्रयज्वनोऽपि तत्समान एव काल उन्नीयते।

महाराष्ट्रभाषायां नीलकण्ठकवीन्द्रस्य समग्रं जीवनं तदीयं ग्रन्थनिर्माणाद्यवदानञ्च नागपुरस्थेन प्रो. केशवरामरावजोशीमहाशयेन भूरि परिश्रम्योपनिबद्धम्, तत एव भूयांसः सन्दर्भा उपलभ्यन्ते। तस्मिनन्नपि प्रबन्धे अतिरात्रयज्वनस्त्रय एव प्रबन्धा उपलभ्यन्त इत्युक्तम्। ते च यथा–१. कुशकुमुद्वतीयं नाटकम्, २. त्रिपुरविजयचम्पूः, ३. चित्रमीमांसादोषधिक्कारश्चेति। तेनास्य पद्धतिग्रन्थस्य सर्वथा प्राथम्येनोपलब्धिरस्तीति प्रमोदमादध्याद् गवेषकाणाम्।

अतिरात्रयज्वाऽपि पाण्डित्यप्रकर्षमासाद्य सर्वैः सम्मानितोऽभवदिति तदीयोक्त्या प्रतीयते। यथा–

यन्नारायणदीक्षितेन्द्रतनुभूसाधारणं घुष्यते
यच्च श्रीयुतनीलकण्ठमखिनः सोदर्यतालक्षणम्।
विद्वांसस्तदिदं समस्तमधुना श्रीकण्ठदासस्य मे
लक्ष्यन्तामतिरात्रयाजिन इतः पाण्डित्यमत्यद्भुतम्।।
(त्रिपुरविजयचम्पूः)

अस्य ज्येष्ठे भ्रातरि गुरुबुद्धिर्महानादरश्चेति प्रकृतपद्धतिसन्दर्भैर्निश्चीयते, तदग्रे सप्रमाणमुपदर्शयामः।

कुशकुमुद्वतीयनाटकप्रस्तावनायां श्रीनीलकण्ठकविविषये गौरवमात्मनश्च तच्छिष्यतां सूचयति सोऽयमतिरात्रयज्वा। तथा हि तत्रत्यः सन्दर्भः–

"पारिपार्श्वकः–अथ श्रीहालास्यचैत्रोत्सवयात्रायामार्यमिश्राः समापतन्ति। किं समापतन्ति इति? (परिषदं निर्वर्ण्य) (सानन्दम्) अथवा किमभिमतेति। सर्वस्याऽपि प्रार्थितदुर्लभैवैषा। यतः–

विद्वद्वादविवादकालयुगपद्विस्फूर्त्यहंपूर्विका–
निर्यद्युक्तिसहस्रदर्शितनिजाहीन्द्रावताराकृतिः।
कर्तुं कारयितुं तथा रसयितुं नव्यानि काव्यान्यलं–
भूष्णुर्भाति सभासभाजितमतिः श्रीनीलकण्ठाध्वरी।।

सूत्रधारः–अयं किल भरद्वाजकुलपारावारपारिजातः सकलकलासाम्राज्य-सिंहासनाधिपतिस्तत्रभवतो नारायणाध्वरिणरूपः परिपाकः, कर्ता काव्यानां, व्याकर्ता तन्त्राणाम्, आहर्ता क्रतूनाम्, व्याहर्त्ता सकलनृपसभेषु, दिगन्तविश्रान्त-कीर्त्तिरपारमहिमा, मानवाकृतिः साक्षादेव दाक्षायणीवल्लभः, श्रीकण्ठमत-सर्वस्ववेदी श्रीनीलकण्ठाध्वरी।

नटी–(उरसि हस्तं निधाय) न चैतं न जानामि। एष खलु द्वितीयशङ्कररूपाणां अप्पय्यदीक्षितानां . . . . नप्ता नलचरितनाटकप्रबद्धा।

सूत्रधारः—अथ किम्। ज्ञातस्तवाभिप्रायः।

स्वादूनेव रसान् कटून् विदधतां कर्षन्तु मामेति च
क्रन्दन्त्येव पदानि वा कवयतां कुर्वन्तु लज्जां च वा।
कुत्रैको मधुरो रसः क्व मधुरा वाणीति नो जीवतां
कर्णौ निष्करुणं दहन्ति कवयः कस्मादिदानीन्तनाः॥

इत्यतो नलचरितश्लोकाद्भीताऽसि। मा मैवम्।

तच्छिक्षया परिणतं तदतिप्रियञ्च
तत्कर्णधारितमभूदपि यस्य काव्यम्।
तेनेदमद्य निरवद्यरसानुसारि
तेने नवं प्रकरणं तदिह प्रयोज्यम्॥

नटी—कुत्र तन्नाटकम्?

सूत्रधारः—नन्वस्यैव सभानेतुरनुजन्मा विदितवेदितव्यः कविलोकमित्रमतिरात्रयाजी।

नटी—युज्यते, युज्यते। कोऽन्य ईदृशनिरवद्यसरसकविकर्मनिर्माता।"

एवमतिरात्रयज्वनो नीलकण्ठविषये महानादरः, तदीयशिक्षागौरवञ्च सम्यगनुभूयते। एवमेव शृङ्गारकोषभाणे नीलकण्ठसुतो गीर्वाणेन्द्रनामा स्वपितुर्गौरवं विद्यासु वैचक्षण्यमाचष्टे। द्वाविमौ गीर्वाणेन्द्र–अतिरात्रयाजिनौ श्रीनीलकण्ठस्य काव्यकलां वैदुषीञ्च सविशेषमनुहरतः।

अतिरात्रयज्वनः किमप्यन्यदपि नाम स्यान्न वा इति न ज्ञायते, सर्वत्रैकेनैव नाम्ना तदुल्लेखो दृश्यते। श्रीपदार्थदीपिकाया आद्यन्तसन्दर्भेणाऽपि कश्चित्परिचयविशेषो निर्णीयते। यथा ग्रन्थावसाने पुष्पिकेयम्—

''इति श्रीमद्भरद्वाजकुलजलधिकौस्तुभश्रीकण्ठमतप्रतिष्ठापनाचार्यचतुरधिकशतप्रबन्धनिर्वाहकश्रीमदप्पय्यदीक्षितसोदर्यश्रीमदाचार्यदीक्षितपौत्रेण श्रीनारायणदीक्षितात्मजेन श्रीनीलकण्ठदीक्षितानुजेन श्रीमदतिरात्रयाजिना विरचिता श्रीपदार्थव्यवस्था समाप्ता'' इति।

ग्रन्थारम्भे मङ्गलाचरणादि यथा–

प्रस्विन्नाननपद्ममाकुलकरप्रेङ्खत्क्वणत्कङ्कणं
संरम्भश्लथमौलिमाल्यमसकृद्व्यालोलहारावलि।
वाग्देवीशरदिन्दुसुन्दररुचोर्वादान्मिथः कुर्वती
पश्यन्ती परदेवताऽवतु दरोपक्रान्तमन्दस्मिता।।
अन्तर्लीनविमर्शप्रकाशरूपं समस्तमन्त्रनुतम्।
श्रीगीर्वाणेन्द्रमहं प्रणमामि गुरुं परे व्योम्नि।।

अत्र द्वितीयपद्ये परिवर्णिताः श्रीगीर्वाणेन्द्रसरस्वतीनामधेयाः काञ्चीपीठाधिष्ठिताः शङ्कराचार्यचरणा एव प्रतीयन्ते। एते च श्रीनीलकण्ठकवीन्द्राणामतिरात्रयज्वनाञ्चोपासनायां दीक्षागुरवोऽपि बुभूवुरिति कथने नास्ति संशीतिः। नीलकण्ठप्रणीतं गुरुराजस्तवाभिधानमेकं स्तोत्रमप्युपलभ्यते, तत्र क्वचित्काश्चन पङ्क्तयो विलुप्ताः सन्ति। तत्रत्यवर्णनेन गीर्वाणेन्द्राणां माहात्म्यमुच्चैरनुभूयेत। श्रीगीर्वाणेन्द्रसरस्वतीचरणाः प्रपञ्चसारसङ्ग्रहनिर्मातारः प्रसिद्धाः। तच्च नीलकण्ठदीक्षितेन स्फुटमुपश्लोकितं यथा–

तत्त्वज्ञानकलापदाक्षरमनून् शैवान् षडप्यध्वनः
संशोध्यैव चिरन्तनैश्च गुरुभिः केचित् क्वचित्तारिताः।
एकेनैव तु सारसंग्रहकृतिव्यक्तेन मन्त्राध्वना
गीर्वाणेन्द्रगुरुर्विशृङ्खलमवत्याप्रौढमूढं जगत्।।

अन्यत्राऽपि गुरुविषये तदुक्तयो भक्तिनिर्भरा अनुभूयन्ते। यथा–
सर्वारम्भपराङ्मुखस्य जरया भग्नस्य रुग्णस्य मे।
गीर्वाणेन्द्रसरस्वतीचरणयोश्चिन्ता परं तारिका।। इति।

उद्धूतस्मितमुत्प्रबन्धकरुणाकल्लोललोलेक्षणं
त्रय्यन्तामृतवर्षिधर्षितपराहङ्कारशङ्कारवम्।
एकं तद्वदनाम्बुजं कुलगुरोर्भक्त्या निदिध्यासतः
पञ्चाहो परितः स्फुरन्ति युगपद्वक्त्राणि चित्राणि मे।।

एवमादिभिर्भावार्द्रैः पदैः स्तुवन् नीलकण्ठकविर्गुरोर्माहात्म्यमभि-

व्यनक्ति। अतिरात्रयज्वाऽपि मङ्गलाचरणे तमेव गुरुं भजत इति द्वयोरपि सहोदरयोः श्रीगीर्वाणेन्द्रा एव दीक्षागुरवोऽपि भवेयुरिति कल्पना नाऽसङ्गता स्यात्। स्तुतिपद्ये प्रकाशविमर्शात्मकशैवशास्त्रीयमूलसत्त्वरूपेण गुरुप्रणतिः प्रसङ्गौचित्यमनुबध्नाति।

काञ्चीपीठपरम्पराया ऐतिह्ये श्रीगीर्वाणेन्द्रचरणानां विशदं वृत्तं संगृहीतं भवेदिति सम्भावयामि। नीलकण्ठादीनां महाविदुषामुक्तिष्वेव तादृशस्य महात्मनो गुरोः स्वरूपं किञ्चिल्लक्ष्यते। मङ्गलाचरणानन्तरमत्र प्रबन्धे किमप्युपोद्घातरूपेण लिखितमतिरात्रयाजिना। तत्र शिवानन्दलहर्यां यदप्पय्यदीक्षितेन्द्रचरणैः परतत्त्वविषये निरूपितम्, तदेवात्र ग्राह्यमित्युक्तम्। अग्रे चोपासनाविषय उपक्रमोपसंहारादिविचाराणां बहुत्वाद् दुरवगाहत्वाच्च श्रीनीलकण्ठप्रणीतग्रन्थानुसारेणैव पद्धतिरियं निबद्धेत्युक्तम्। तथा च तत्रत्या पङ्क्तिः—'सकलतन्त्रोपसंहारक्षमसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमूलदेवताऽपरविग्रहश्रीनीलकण्ठदीक्षितैरस्मज्ज्येष्ठचरणैः शिष्यानुग्रहाय कृतं बहुमीमांसान्यायदुरवगाहं सौभाग्यचन्द्रातपमनुसृत्य व्यवस्था प्रदर्श्यत' इति। अयं सौभाग्यचन्द्रातपग्रन्थोऽप्यत्रैव प्रथमतया समुल्लिखितो दृश्यते, नीलकण्ठकृतिषु कुत्रापि तच्चरितलेखकैर्न निर्दिष्टः। अत्रैवोपोद्घाते शैवतन्त्राणां प्रामाण्येऽपि शक्तितन्त्राणां क्वचिद्वामाचारप्राधान्ये कथं प्रामाण्यमित्यादिपूर्वपक्षमुपक्षिप्य वेदाऽविरुद्धांशे चिच्छक्त्युपासनायाश्च प्रत्यक्षश्रुतिनिर्देशात् प्रामाण्यमेवेत्यादि व्यवस्थापितम्। उपोद्घातानन्तरं पद्धतिक्रमेण ब्राह्ममुहूर्तोत्त्थानादिसाधकचर्या प्रदर्शिता। स्थले स्थले कर्मणां संक्षेपविस्तरविषये अङ्गाङ्गिभावादौ च विचारोऽपि समाहितः। यथा—

हृदि सामान्यसमयी चिन्तयेत् परमेश्वरम्।
विशेषसमयी बिन्दौ मूर्ध्नि निर्वाणदीक्षितः॥

इत्यस्मत्पितामहचरणोक्तरीत्या यथाधिकारं हृदयादिषु देवीं ध्यायेत्' इति।

"अजपाविधानं प्रातरेव कर्तव्यमिति नियमाभावाद् अग्रे वक्ष्यते" इति।

"....सकलं श्रौतस्मार्तसंस्कारकर्मसु प्रधानकर्मानुष्ठानसमये मूलविद्या स्मर्तव्येति आचाराह्निकयोश्च वैदिकतान्त्रिकयोश्च समुच्चय इति। तत्रापि

वैदिकमादौ तान्त्रिकस्य तु पश्चात्कर्तव्यतेति . . . .तदनुसारिप्रयोगो लिख्यते'' इति।

"यद्यपि भूतशुद्धिप्रकारा बहवः सन्ति, चन्द्रातपे च रत्नकोषोक्तप्रकारावेव प्रदर्शितौ, तथापि लाघवानुसारेण प्रपञ्चसारसङ्ग्रहेऽस्मद्गुरुचरणोक्तरीत्या तत्प्रकारः प्रदर्श्यते'' इति।

"अस्मद्गुरुचरणास्तु—अशक्तश्चेद् भूतशुद्धिस्थाने केवलमातृकान्यासमेव कुर्याद् इत्याहुः'' इति।

"बहुमन्त्रविद्भिस्तावन्मन्त्रजपाशक्तौ मातृकैव जप्ता, उक्तमन्त्रजपप्रत्याम्नायरूपा भवतीत्युपदेशः'' इतीत्यादिरूपेण तत्तत् स्थलेषु विचारोऽपि विहितः।

कामकलाविषये मातृकादिस्वरूपे च सूक्ष्म-सूक्ष्मतरा भावनाप्रकाराश्च यथास्थानं निवेशिताः सन्ति, विशेषतश्च प्रत्यक्षगुरुमुखावगततत्त्वजालस्य लेखकस्य क्रियाभिज्ञत्वं सम्प्रदायानुसारित्वञ्च प्रामाण्यमावहति। अस्यां पद्धत्यां बहूनां सन्दर्भग्रन्थानामुल्लेखोऽपि विहितः। तेषु प्रायेण निम्नाङ्किता दृश्यन्ते, यथा— कामिकम्, वातुलम्, बृहत्कालोत्तरम्, योगिनीहृदयम्, चतुःशतीशास्त्रम्, कल्पसूत्रम्, दक्षिणामूर्त्तिसंहिता, तन्त्रराजः, कालिकापुराणम्, देव्यागमः, रुद्रयामलम्, कामकलाविलास इत्यादयः।

अस्य ग्रन्थस्य मूलस्वरूपात् प्रतिलिपिरियं विहिता केनापि सुदर्शननाम्ना पुरुषेण। तस्य संस्कृतभाषायां व्युत्पत्तिः सम्यङ्नास्तीति लेखकप्रमादादवसीयते। लेखकश्च कश्चिदुत्तरभारतीय एवास्ति। प्रतिलिपिकालस्तु क्वापि नोल्लिखितः, तथापि पुस्तकं प्राचीनमेव प्रतीयते। मध्ये मध्ये हरिताललेपेन मार्जनं शोधनं च व्यधायि। पुस्तकपृष्ठसंख्या नवाशीतिमिता (89), आकारश्च लघीयान्। सन्दर्भाः क्वचित् क्वचिदस्पष्टा विभाव्यन्ते। मुद्रणावसरे सपरिश्रमं संशोधनमावश्यकं भवेत्। एतत्पुस्तकोपलब्ध्या श्रीमतामप्पय्यदीक्षितानां श्रीविद्यापारम्परीज्ञानं सुलभं जातमिति प्रमोदस्थानं शास्त्राध्ययनशीलानामुपासनातत्त्वविविदिषूणां मनीषिणामिति।

■

म.म.खिस्तेश्रीनारायणशास्त्रिणां जीवनेतिवृत्तम्

एतेषां महानुभावानां जन्म वाराणसेये सुप्रतिष्ठिते महाराष्ट्रब्राह्मणकुले प्रायः षष्टिवर्षेभ्यः प्राक् १८८३ ईसवीयाब्दे समभूत्। बाल्य एव काले दुःखकरं पितृवियोगमनुभवन्तोऽपि सर्वतो निःसहाया अप्येते परिश्रमशीलतया प्रतिभासम्पन्नतया गुरुजनशुश्रूषया च सर्वथैवाऽविगणय्य नानाविधं विघ्नजातमध्ययनैकतत्परा बभूवुः।

बाल्यादेव महानुभावानां प्रतिभा लोकविस्मयजननी, स्वभावश्च निर्भीकः सर्वेषां कुतूहलोत्पादकः समवर्तत। सर्वतः प्रथमं महामहोपाध्याय-सी. आई.ई. पदालङ्कारणां श्रीगङ्गाधरशास्त्रितैलङ्गमहोदयानां शिष्यवरैर्लोकोपकारव्ययिताशेषजीवनैर्बाबाशास्त्रिनामधेयैर्गुरुवरैर्दत्तहस्तावलम्बाः सुतनिर्विशेषमङ्गीकृताश्चैते व्याकरणाध्ययने कृतप्रवृत्तय आायन्। परन्तु श्रीमद्भिर्गङ्गाधरशास्त्रिभिरेतेषां स्वाभाविकं साहित्यानुरागं काव्यरचनासौष्ठवं चालोक्य साहित्यशास्त्राध्ययने स्वाज्ञया प्रवर्तिता इमे महाभागाः। ततः प्रभृति तेभ्यो म. म. गङ्गाधरशास्त्रिगुरुवरेभ्यस्तदनुजेभ्यो म. म. रामशास्त्रिगुरुवरेभ्यश्च चिरकालं साहित्यदर्शनधर्मशास्त्रादीनि शास्त्राणि प्राचीनपद्धत्या पठितुमारभन्त शास्त्रिवर्य्याः। राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालये तदानीन्तनच्छात्रमण्डले प्रगल्भतायां रचनापाटवे विशिष्टं स्थानमेतेषामासीत्। संस्कृताध्ययनेन सहैवांग्लभाषाध्ययनमपि प्रवर्तितमेभिः। तात्कालिको राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षो डॉ. वेनिसमहोदयोऽपि शास्त्रिवरेषु सुतनिर्विशेषं स्निह्यति स्म। तस्मादध्यक्षवरात् 'एपिग्राफी'-विषयेऽपि शास्त्रिवरैर्महनीयः समुपार्जितो ज्ञानराशिः। एवं सम्यगध्ययनं सम्पादयद्भिरेभिः १९१५ ईशवीयाब्दे सर्वप्राथम्येन साहित्याचार्यपदवी पदकेन सह समुपार्जिता।

तदनु 'साधोलालरिसर्चस्कालर'-वृत्तिमधिगम्य प्राचीनग्रन्थसंशोधनादौ चिरमेभिः परिश्रमोऽकारि। डॉ. वेनिसमहोदयानन्तरं म. म. डॉ गङ्गानाथझामहोदयानामाध्यक्ष्ये

सरस्वतीभवनपुस्तकालयीयहस्तलिखितग्रन्थाध्यक्षस्थाने नियुक्तिरेतेषां १९२० ईशवीयाब्दे डॉ. वेनिसमहोदयानामन्तिमं पत्रमुपलभ्य तदनुसारमेवाभूत, न तु शास्त्रिवरैरत्र किञ्चिदावेदनपत्रादिकं दत्तमासीत्।

ततः प्रभृति शास्त्रिवरैः सरस्वतीभवनपुस्तकालये महता परिश्रमेण दुर्लभो बहुमूल्यश्च ग्रन्थसमवायः संगृहीतो योऽद्यापि भारतवर्षे प्रथमश्रेणीमेवाधितिष्ठति। शास्त्रिवरैः संगृहीतानां ग्रन्थानां संख्या प्रायः पञ्चाशत्सहस्रतोऽन्यूनैवाऽऽस्ते। विविधानां साहित्यतन्त्रधर्मशास्त्रकोषव्याकरणादिविषयकाणां प्राचीनदुर्लभग्रन्थानां चत्वारिंशदधिकानां सम्पादनमपि सरस्वतीभवनग्रन्थमालायामान्यत्र च शास्त्रिवरैः कृतं वर्तते। एवम् 'अमरभारती' इति काचन सरसा संस्कृतमासिकपत्रिकापि वर्षद्वयं यावत् सम्पाद्य प्रकाशिता महाभागैः। 'विद्वच्चरितपञ्चकम्', 'दरिद्राणां हृदयम्', 'दिव्यदृष्टिः' इत्यादयः संस्कृतचरितकथाप्रबन्धाः, पारेशतं काव्यरचनाः, शाकुन्तलस्वप्नवासवदत्तप्रभृतिनाटकानां टीकाग्रन्थाश्च शास्त्रिवरैः सन्निबद्धाः सुरभारत्याः कोषं वर्धयन्तो वर्तन्त एव। बङ्गप्रदेशीयतारकेश्वरमन्दिरस्य व्यवहारवादे प्रचलति राजकीयादेशात् शङ्कराचार्यस्य तन्त्रप्रामाण्याङ्गीकर्तृत्वं शास्त्रिवरैस्तथायुक्तिप्रमाणसहस्रैरुपपादितं यथा तदानीन्तनः प्रतिपक्षिवर्गोऽपि प्रशंसकः संवृत्तो महाभागानाम्।

एवं गच्छता कालेन १९४६ ईसवीयाब्दे भारतसम्राजा शास्त्रिवराणां वैदुष्यसम्मानार्थे 'महामहोपाध्याय'पदवी सादरमेभ्यः समर्पिताभूत्। ततः १९४८ ईशवीयाब्दे डॉ. मङ्गलदेवशास्त्रिमहोदये गृहीतावकाशे तदानीन्तनोत्तरप्रदेशीयशिक्षामन्त्रिवरो गुणग्राही श्रीसम्पूर्णानन्दमहोदयः शास्त्रिवरान् राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्याध्यक्षपदे प्रतिष्ठापयामास। अतीतेऽप्यवकाशग्रहणवयसि वर्षद्वयं यावन्महाविद्यालयाध्यक्षपदगौरवं विशुद्धसंस्कृतपण्डितैरद्यावध्यनधिगतं समनुभूय शास्त्रिवराः १९५० ईसवीयाब्दे सेवातोऽवकाशमभजन्त। साम्प्रतमपि च गीर्वाणवाणीगौरवं वर्धयन्तस्तपसि विशेषतः कृतमनोयोगा गमयन्ति कालं काशिकायामेव।

■

वासन्ती

> ‘‘को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे।’’
> (भवभूतिः)

(1)

‘पुत्रि! किमित्यत्र मौनमालम्बमाना शून्यदृष्टिर्मनसि भ्रमता विचारेण व्याकुलीकृतेवाद्य प्रतिभाससे?

एतदाकर्ण्य सहसैव विचारनिद्रया प्रबुद्धा वासन्ती समीरणोल्लासितं दुकूलमावृण्वती समुत्थाय पितरं दीनानाथशर्माणमवादीत्–‘तात! अद्य प्रातःकालादारभ्य वसन्तविषये रणरणकचेखिद्यमानमानसा तदीयं भागधेयं कष्टकरमेवावलोकयामि’। वसन्तः किल वासन्त्या ज्यायान् भ्राताऽऽसीत्। अथ दीनानाथशर्मा किञ्चिद्गम्भीरमिव स्वाकारं विधाय भूयोऽप्यवोचत्-‘पुत्रि! अलं तदीयचिन्तया। स खलु मया बहुशो विनिवारितोऽपि न तां व्यसनितां त्यजति। सम्प्रति मया भाषणमपि परित्यक्तम्। अद्यैव पश्य कीदृशं कलहं कृत्वा बहिर्निर्गतः। भगवता पुत्रस्त्वेक एव दत्तः, किन्तु सोऽप्येवंविधः। विधेर्विलसितमेतत्। किमन्यद् ब्रूमहे’ इत्येवं वादिनो दीनानाथशर्मणो वदनमान्तरविषादजनितेन कालिम्ना समाच्छादितमभूत्। अथ वासन्ती तां पितुरवस्थां विलोक्य विषयपरिवर्तनेच्छया वातायनादुत्थाय जगाद–‘षड्वादनसमयो दृश्यते, भवतोऽपि सन्ध्योपास्तेः कालोऽयम्। पक्कप्रायमेव भवेदशनम्’ इत्युक्त्वाऽऽभ्यन्तरे प्रविवेश।

(2)

दीनानाथशर्मणो गृहं लक्ष्मणपुरे नगरमध्य एवाऽऽसीत्। एतेषां गृहे पत्नी, एकः पुत्रः, एका कन्या चेति परिवार आसीत्। कन्या वासन्ती बुद्धिमती, सदाचारसम्पन्ना, युक्तायुक्तविवेकाऽभिज्ञा चाऽभूत्। सम्प्रति सा शैशवं समाप्य यौवने पदमाधातुं सन्नद्धैवाऽऽसीत्। दीनानाथशर्मा तस्मिन्नेव

नगर एकस्मिन्नाङ्ग्लविद्यालये संस्कृताध्यापक आसीत्। वेतनं चासौ अशीतिमुद्रात्मकं लभते स्म। तेनैव द्रव्येण गार्हस्थ्यशकटं यथाकथमपि चलति स्म। पुत्रस्य दुराचरणेन सर्वदैवैतस्य चेतः परितप्यते स्म। कन्यायाश्च विवाहकालमुप- स्थितमालोक्य वरान्वेषणे सप्रयत्न आसीदसौ ब्राह्मणः। साम्प्रतिकेषु दिवसेषु दीनानाथशर्मणो मनसि 'दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वा' इत्येव विचारो नक्तन्दिवं भ्रमति स्म। सूनोर्दुरवस्थया दीनानाथस्य कन्यैव पुत्रप्रेम्णो भाजनमासीत्। दीनानाथस्य पत्नी नवीनाचारानभिज्ञा सरलस्वभावा सदाचारपरायणा मनोरमाऽऽख्यासीत्। तस्या एव चरितं वासन्त्यामपि प्रतिबिम्बितमासीत्। वसन्तः प्रथमं मातुः शिक्षया सुशीलो बभूव। किन्तु पश्चान्नागरिकविटानां सङ्गत्या कुमार्गमवततार। एतदेवैकं शल्यमासीद्दीनानाथमनसः। एतदभावे तदीयं गार्हस्थ्यं सुवर्णमयमभविष्यत्।

(3)

शनैः शनैर्भगवान् भास्करो भुवनतलं स्वकीयभाभिर्भासयन्नभोऽङ्गणमभजत्। प्राभातिकः पवनोऽपि सलीलं विलसन् रुचिपुरुष इव कुसुमसौरभमाघ्राय तनुलतांसदेशमालम्ब्य वहति स्म। प्राची तस्मिन् काले सकलभ्यो जनेभ्य उत्साहसम्पदमर्पयन्ती दानशीला सीमन्तिनीव दृश्यते स्म।

अस्मिन्नेव काले दीनानाथशर्मणो गृहे मङ्गलवाद्यध्वनिरुदतिष्ठत्। आम्, ज्ञातम्, अद्य वासन्त्या विवाहोत्सव आसीत्। अनवरतमन्तर्बहिः प्रविशता निर्गच्छता च जनसम्मर्देन समाकुलमासीद्दीनानाथगृहद्वारम्। सर्वतः सम्प्रवृत्तेऽपि प्रमोदप्रवाहे वासन्त्याः पितरौ कयाचिद् वेदनयाऽऽक्रान्ताविव दृश्येते स्म। अद्य विवाहोत्सवे वसन्तो नागत आसीत्। न जाने स क्व पलायित आसीत्। एतदेव तयोदम्पत्योर्दुःखकारणमभूत्। वासन्त्याः पतिर्माधवनाथः सच्छीलो धनवान् रूपगुणसम्पन्नो वासन्त्या अनुरूप एवासीत्। वासन्ती जनसम्मर्दे कथमपि सहजलज्जाजडया दृशा तमवेक्ष्य तदीयगुणगरिमाणं वयस्याभ्यः समाकर्ण्य, स्वात्मानं धन्यममन्यत। किन्तु को जानाति स्म तदा यदस्य विवाहस्य कीदृशो विपाको भवितेति।

अथ व्यतीते विवाहोत्सवे वासन्ती साश्रुनेत्रोत्पला कथमपि पितरौ नमस्कृत्य स्वगृहं प्रातिष्ठत। वासन्त्यां गतायां मनोरमेदमवदत्–'अस्माकमेक एवाधार आसीज्जीवनस्य, सोऽपि गतः। पुत्रस्तावत् कीदृशीं पीडामाधत्त इति वयमेव वेत्तुं पारयामः। हन्त! दौर्भाग्यमस्माकं न जाने कियद् वर्तते! पुत्र एवास्माकं वंशधूर्धरः। तस्मिन्नेवासद्वृत्ते किमिवास्माकं सुखं भवेदिति।'

(4)

पतिगृहे वर्षद्वयं व्यतीतं समागताया वासन्त्याः। एतावति काले सेव्यमान- श्वशुरादिगुरुजनाया गृहकर्मसम्पादननिपुणाया वासन्त्याः सुखेनैव कालो जगाम। पत्युरपि समधिकं प्रेम वासन्ती लेभे। कदाचित् पित्रोः स्मृतिराकुलयति स्म तदीयं चेतः। किन्तु पतिप्रेम्णः प्रभावेण नाधिकं कष्टोत्पादिनी जनकयोः स्मृतिरभूत्।

किन्तु नहि सर्वदा सुखमविच्छिन्नमवतिष्ठते। कुमित्रसंसर्गान्नु, स्वात्मनो विमृश्यकारित्वान्नु, वासन्त्या दुर्भाग्यस्य नियतत्वान्नु, माधवनाथो मदिरापानसातत्यमाललम्बे। प्रथमतः कियन्तिचिद्दिनानि सुगुप्तमसावनुतिष्ठति स्म तत् कर्म। किन्तु चतुरतरा वासन्ती सद्य एव तदलक्षयत्। न प्रत्यक्षमुच्चचार पत्युर्मनः क्लेशोदयभिया। भृशमसौ दुःखसागरे निपतिता पत्युरुद्धरणायाहोरात्रं विचारयन्त्येवातिष्ठत्। अथैकस्मिन् दिने विलम्बेनायातं मदबलघूर्णमानचक्षुर्युगलं माधवनाथमवेक्ष्य वासन्ती सद्य एव शयनीये तमवस्थाप्य तालवृन्तेन शनैः शनैर्वीजयन्ती पत्युः क्रोधाशङ्कया निवार्यमाणेव मन्दमन्दाक्षरा परिपप्रच्छ-'नाथ! कोऽयमद्यत्वे समवलम्बितो भवता पन्थाः? अतिगर्हणीयः परिहरणीयश्चायम्' इति। अथैतदाकर्ण्य सापराधमिव स्वात्मानं मन्यमानः शिरोऽप्युन्नययितुं न शशाक माधवः। किन्तु सद्य एव तादृशमात्मनो विकारमुपसंहृत्य धार्ष्ट्यमिवावलम्ब्य जगाद–'यद् वयं कुर्मस्तत्समीचीनमेव। न कोऽप्यत्र भवतीनां वाचामवसरः'। एवमभिधाय तत्क्षणं माधवो गृहाद् बहिः कुत्रचिन्निरगात्। वासन्ती तु तत्रैव स्थिता लालाटीं लिपिं प्रमार्ष्टुमिवाश्रुजलसंग्रहे तत्पराऽभवत्।

(5)

'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' इति न्यायेन दैवयोगान्माधवनाथस्य विटमण्डलीषु वसन्तेन सह स्वनगरे पानगोष्ठीसौहार्दमुदपद्यत। किन्तु वसन्तः

'भगिनी तिरस्करिष्यति' इति भयेन माधवनाथस्य गृहं कदापि न गच्छति स्म। एकदा माधवनाथो वासन्त्या भूयो भूयोऽनुनीयमानः सकोपमभाणीत्–'प्रथमं गत्वा स्वबन्धुराजं निवर्तय। पश्चान्मामुपदेक्ष्यसि'। एतदाकर्ण्य ततः प्रभति 'कथं वसन्तोऽपि सहैवैतेषाम्?' इति द्विगुणमौन्मत्यमनयोर्भविष्यतीति समधिकया चिन्तया समाक्रान्ताऽभूत्। सकलेऽपि गृहोपकरणे विक्रीते सति, शनैः शनैर्वासन्त्या आभूषणान्यपि मदिरागृहोपहारतां जग्मुः। दिनद्वयादारभ्य गृहे लेशोऽपि नासीदशितव्यस्य वस्तुनः। चिरन्तनया वृद्धया परिचारिकया वासन्त्या अवस्थां परिकल्प्य स्वगृहात् किञ्चिदशितव्यमानीतमासीत्। तच्च कथमपि वासन्त्या दुस्त्यजतया बुभक्षाया निगीर्णम्। माधवस्तु बहोः कालादेव बहिरेव यथाभिलषितं भोजनं विधत्ते स्म।

वसन्तस्य समागमेन माधवनाथस्य स्वेच्छाचारित्वं भृशमवर्धत। प्रथमं दिवसान्तर एकवारमपि माधवनाथो गृहमायाति स्म। इदानीं तु साप्ताहिकमपि गृहागमनं कृच्छ्रेण भवति स्म। माधवनाथस्य चरितं श्रुत्वा सपत्नीको दीनानाथशर्मा समधिकमखिद्यत। प्रथमत एव पुत्रविषयकः क्लेश आसीदेव, पुनरेतेन दुहितुर्दौर्भाग्यगरिम्णा स ववृधे। एवमुभयतः कष्टमनुभवन् समेधमानाधिपरिपीड्यमान आत्मनो गार्हस्थ्यभविष्यमन्धकारमयमवलोक्य शयनीयमभजत। माधवनाथोऽपि स्ववपुषि बहुलदुराचारविधानेन तनिमानमतिसूक्ष्मयता समागमत्। संलक्ष्य चैतद् वासन्ती कयाचिन्नूतनया चिन्तया दुःखसागर आकण्ठं ममज्ज। पुरन्ध्रीणामियमेव चिन्ताऽतिदुर्विषह्या भवति।

यद्धि वासन्त्या शङ्कितमासीत्, तच्छनैः शनैः सत्यतामुपगन्तुमिव सन्नद्धं ददृशे। माधवनाथो रोगशय्यायां सुस्वाप। वासन्त्याः सदाचारपरायणत्वं सकलकष्टसहत्वं च माधवानाथो न वेत्ति स्मेति न, किन्त्वात्मनो गर्वप्रदर्शनार्थमेकदाऽपि तस्या आदरं न विदधे। वासन्ती तु सकलमप्यवमानं सहमाना कदापि न खेदयामास माधवीयं मनः वाचा, कर्मणा, चेष्टयाऽपि वा।

अथैकस्मिन् दिने वासन्ती नित्यक्रमानुसारं माधवनाथमुपचरन्ती गृहकर्मणि संलग्नाऽऽसीत्। माधवनाथस्तां तादृशीमवेक्ष्य, शनकैः 'प्रिये! वासन्ति!' इत्येवं सगद्गदं शनैराकारयामास। वासन्ती तु निद्राप्रबुद्धेव तं

तादृशमश्रुतपूर्वं तदीयं व्याहारमाकर्ण्य साश्रुलोचना पर्यङ्कस्य समीपमागत्य तूष्णीं तस्थौ। सा तदीयाह्वानस्य प्रत्युत्तरमपि विसस्मार। माधवनाथस्तामागतामवेक्ष्य मुहूर्त्तं यावत् किमपि वक्तुं न शशाक। अथासौ मस्तकमुन्नमय्य उत्थातुं प्रयत्नमकरोत्। वासन्ती झटिति तदभिसन्धिं लक्षयित्वा, स्वहस्तावलम्बेन तमुत्थापयास्थापयत्। अथ माधवनाथो वासन्त्याः पाणिं रोगकृशे स्वपाणावादाय साश्रुनेत्रो बभाषे–'दयिते! बह्वपराद्धं मया, क्षम्यताम्, त्वादशी गृहलक्ष्मीर्मया दुराचारेण पद्भ्यामताड्यत! धिङ्माम्! मादृशं–' मध्य एव तस्य वचनमाक्षिप्य वासन्ती 'नैवमहं नरकगामिनी विधेया' इति वचनमाभाष्य पत्युर्वदने स्वपाणिपल्लवं व्यधात्। वासन्त्यास्तपः साफल्यमुपययौ, किन्तु सा रोगराक्षसदंष्ट्रया माधवनाथं रक्षितुं नाशकत्। एकस्मिन् दिने विलपन्तीं वासन्तीं परित्यज्य माधवः शाश्वतं पदं प्राविशत्।

वसन्तोऽपि माधवनाथस्य मरणवार्तया समुन्मीलितलोचनोऽभवत्। कतिपयदिवसानन्तरं वसन्तः कथमपि साहसमवलम्ब्य स्वभगिन्या गृहमाजगाम।। किन्तु तत्रत्यैः प्रतिवेशिभिरिदमुक्तं यत् 'पत्युर्मरणानन्तरमल्पीयसैव कालेन सा कुत्राप्यगमत्' इति। अथ वसन्तः खिन्नमानसः पितरौ सेवनामो मनस आश्वासनाय तीर्थयात्रायै सहैव पितृभ्यां निर्जगाम। अथ क्रमेणासौ हरिद्वारतीर्थे समाययौ। तत्रैकस्मिन् दिने गङ्गातीरे तेन काऽपि योगिनी दूरतः समायान्ती दृष्टा। तां च समीपमागतां सम्यग् निर्वर्ण्य सहसैव वसन्तवदनात् 'किं वासन्ति!' इत्यक्षराणि निर्ययुः। साऽपि वसन्तमवेक्ष्य 'किं भ्रातः!' इत्युक्त्वा पादयोरपतत्। अथ वसन्त आचरणमूलात्तामवेक्ष्य 'भगिनि! किमिदम्?' इत्यपृच्छत्। वासन्ती तु सहसैव विहस्याकथयत्–

"को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे"

इति।।

■

कालिदासमहोत्सवः
(राजस्थानस्थ–जोधपुरसंस्कृतकालेजस्य)

केकाः केकिकुलस्य कोकिलकलालापांश्च वीणागुण-
क्वाणैर्मध्यम-मन्द-तार-हतिभिर्व्यक्त्या दिशन्ती भृशम्।
नीरक्षीरविवेकविश्वविदिते हंसे वसन्ती रसा-
न्मुग्ध-स्निग्ध-मितस्मिताञ्चितमुखी वाग्दवता दीव्यतु॥

परमादरणीयाः सभाध्यक्षमहाभागाः। प्राचार्यवर्याः। प्रेयांसो विद्याव्रता अन्तेवासिनः। सज्जनाश्च!

महदिदं मे सौभाग्यस्थानं यदितो दूरतराद् वाराणसीनगरात्तत्रभवद्भिरहं सप्रश्रयं समाहूय सुरसरस्वतीसेवावसरे समायोजितोऽस्मि।

वस्तुतस्तु शास्त्रधौतोऽयं पन्थाः कर्तव्यस्य, यत्कथमपि केनापि रूपेण वाग्देवतोपासनं यया कयाऽपि प्रणाल्या विधेयमेव। यत्प्रथतेतरां श्रौती भणितिः–

'एक शब्दः संप्रयुक्तः सम्यग् ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' इति।

इयमस्माकं पुराणी गैर्वाणी वाणी सर्गारम्भे महात्मभिर्महर्षिभिः प्रत्यक्षीकृतवैभवा लोकोपकाराय जाड्यतिमिरापसारणाय च शिष्यपरम्परयोपदिष्टा सद्गुणगणपरिपुष्टा भागीरथीव प्रवहन्ती पुनातितरामद्यापि सर्वमपि विश्वम्भरामण्डलम्। यदुक्तम्–

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

ज्ञानराशिर्भगवान् वेदः स्वप्रकाशः सहस्रभानुरिव प्रकाशमानः सर्वाण्यपि शास्त्राणि प्रकाशयतति। न हि प्रकाशः प्रकाशान्तरमपेक्षते, न प्रदीपः प्रदीपान्तरसाहाय्यमाकाङ्क्षते, इति किमत्र पौरुषेयापौरुषेयत्वादिविचिकित्सापङ्कावगाहनेन।

वेदमूलान्येव सर्वाणि शास्त्रणि सर्वाः कलाः सर्वाश्च मर्यादा इति सूक्ष्मेक्षिकया प्रेक्षमाणानां न परोक्षं किमपि। किम्बहुना, सर्वोपकारक्षमं साहित्यशास्त्रमपि श्रुतिमातुः कुक्षिप्रसूतमेवेति नाट्यशास्त्रेऽपि पठ्यते–

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतिमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि। इति।

अत एव 'अलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयस्य भणितिरपि श्रद्धेयैव। ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद् वेदार्थोऽपि न हृदयङ्गमीभवति।

सम्प्रति सविशेषमध्याप्यते साहित्यम्। तच्च सरलसरलमिति कृत्वा व्याकरणन्यायमीमांसादिशास्त्राध्ययनात् पराङ्मुखाः केवलसाहित्याध्ययने कृताभिनिवेशाः सविशेषं दृश्यन्ते जनाः। परमिदमस्थानविचेष्टितं मन्ये साहित्यं नाम सर्वासां विद्यानां सहभावः–

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः॥

इत्युक्तिः प्रसिद्धैव। अत एवायं साहित्याम्बुधिर्दुरवगाहो दुस्तरश्चेति प्रतिभानवतां कवीनां विषयः। यदुक्तं बिल्हणेन–

साहित्यपाथोनिधिमन्थनात्थं
कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः। इति।

व्युत्पत्तिमन्तरा प्रतिभावतोऽपि न प्रसरति वैदुषी। व्युत्पत्तिर्नाम विविधविषयावगाहनक्षमा बुद्धिः। साहित्यशास्त्राध्ययनशीलानां व्युत्पत्तिमाह रुद्रटाचार्यः–

छन्दो व्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन॥

'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ' इति राजशेखरोऽपि ब्रूते। इयांस्तु विशेषः– साहित्यशास्त्रस्य यदस्य शैल्या गभीरो दुरवगाहोऽपि विषयः सुलभ सुमधुरः सर्वसंवादी च सम्पद्यते। यदुक्तम्–

शास्त्रेषु दुर्ग्रहोऽप्यर्थः स्वदते कविसूक्तिषु।
दृश्यं करगतं रत्नं दारुणं फणिमूर्धनि॥

फणिफणारूढं रत्नं को वाऽऽकलयितुं साहसं विदधीत? तदेव यदि सौवर्णमञ्जूषानिषण्णं तदा कं वा सुस्पर्शतया सुखावलोकनीयतया च न प्रमदयति?

शब्दशास्त्रीया व्युत्पत्तिरपि द्विधा सम्पादनीया–पाणिन्यादिशासनद्वारा, महाकवि प्रयोगपरिशीलनैश्च। अन्यथा भग्नैकचक्रो रथ इव न प्रवर्तेत वाग्व्यवहारप्रसारः। इदमेवाऽभिप्रेत्य दण्डिना निर्दिश्यते–

इह शिष्टानुशिष्टान्तं शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥ इति।

एवमन्यान्यपि शास्त्राणि परस्परोपकारकतया नूनं परिचेतव्यानि। अध्ययनस्य न कोऽप्यविषयः, सर्वोऽपि लौकिकः शास्त्रीयो वा व्यवहारो यथासम्भवमभ्यसनीय एव–

बहुभ्यो बहुबोद्धव्यं बहुधा बहुवासरान्।
बहुकल्पशतस्थायि लब्धुं बहुविधं यशः॥

इत्युक्तरीत्या नाध्ययनस्य पर्यवसानमस्ति। यतः कुतोऽपि प्रज्ञाप्रकाशकं ज्योतिरन्वेष्टव्यं, न यापनीयो वृथा समयो मिथ्याकथासु। प्रकाश एव परं तत्त्वमिति केनाप्युदाहरणेन कविः कश्चिदाह स्म–

पाषाणाः सर्व एवैते पद्मरागेषु को गुणः।
प्रकाशः कश्चिदत्राऽऽस्ते परत्र स न विद्यते॥
अमलीमसमच्छिद्रमक्रेयमतिसुन्दरम्।
अदेयमप्रतिग्राह्यमहो ज्ञानं महाधनम्॥

देशस्यास्य माङ्गल्यसम्पादनाय छात्रैः संयतैर्विद्वद्भिश्च भवितव्यम्। विद्यासेविन एव देवास्तत्पराङ्मुखाश्च असुरा इत्यत्र न सन्देहः, अध्ययनशीलैर्विनयिभिरेव देशस्य परं कल्याणमन्यथा तु विपर्ययः स्यात्।

'विद्वद्भिः शोभते देशस्तैर्विहीनस्त्वमङ्गलः' सहैव वैदुष्यसम्पादनेन गुरुभक्तिरपि परमपेक्ष्यते, तया विना कृतस्तु पुरुषधौरेयः प्रमत्त इव स्तम्बेरमः सर्वमपि शिष्टाचारमार्गमुच्छिनत्ति। स च गुरुर्द्विविधो मन्तव्यः—बाह्य आचार्यरूपो विविधविद्योपदेशकः, आन्तरस्तु चिच्छक्तिरूपसुषुम्णानाडीमधिष्ठितो विवेकरूपः। ज्ञानमिदं त्रिप्रत्ययमाम्नायते—'त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानं गुरुतः शास्त्रतः स्वतः' गुरोरधिगताद् ज्ञानादेव अन्तःप्रकाशः प्रज्वलन् परमार्थं प्रापयति। महाभारते महर्षिरपि सूचयति—

ऋतस्य दातारमनुत्तरस्य निधिं निधीनां चतुरन्वयानाम्।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं पापाल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठान्॥

एवं भवन्तः प्रभवन्तो गुरुभक्तिभाजः सन्मार्गानुसरणनिपुणाः सकलविद्यापारदृश्वानो लौकिके पारमार्थिके च पथि समानभावेन विहरन्तो भारतभूमातुर्भालस्थलीं रञ्जयन्तु मञ्जुलकुङ्कुमपिञ्जरिम्णेति मुहुर्मुहुरभ्यर्थये भगवन्तमुमारमणं तरुणेन्दुशेखरम्।

शारदाविलासस्य महाकवेः कालिदासस्य स्मृतिदिवसावसरे यदस्याश्छात्रपरिषदः प्रवृत्तिः साऽपि नूनं शुभपरिणामा स्यादेव। भारतीयसंस्कृतेः प्रतिनिधिभूतो महाकविरयं सांस्कृतिको नायक एवास्य देशस्य। च चाभिलषति भवतां सुदीर्घं दृढतराकारं, स्फटिकभङ्गविमलां प्रज्ञां, प्रज्ञानुरूपमेव स्थेयांसं कार्यसंरम्भम्, कार्यसंरम्भानुरूपमेव च भुवनाधिकं भाग्यवैभवञ्च।

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सरदृशारम्भः आरम्भसदृशोदयः। इति तस्योक्तिः।

भारतवर्षीया राजनीतिः शास्त्रे, शास्त्रे च निष्णातानां प्रवीराणां स्कन्धयोर्बलमादायैव पुरः प्रवर्तते, यदभिधत्ते महाकविः—

शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिचा।। इति।

संस्कृतभाषायाः साहित्यस्य सदाचारस्य राजनीतेः काव्यकल्पनामाधुर्यस्यैकत्र दर्शनमभिवाञ्छितं चेत्सकलमपि कालिदासवाङ्मयं श्रद्धया परिशीलनीयम्।

साम्प्रतं केन्द्रीय-प्रान्तीयशासनविषये विवादाः प्रादुर्भवन्ति, परस्परमसहयोगो यत्र तत्र श्रूयते। कविशिरोमणिस्तु वसन्तवर्णनव्याजेन शासनसञ्चालनस्य कामप्युचितां दिशं निर्दिशन्नाह-

अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम्।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम्।।

पद्येऽस्मिन् चत्वारो दिक्पाला दिक्षु, केन्द्रे च सम्राडुवर्णितः। 'समधुरम्' इति विशेषणेन तेषां परस्परोपकारित्वमत्यन्तमपेक्षितमिति सूच्यते।

केन्द्र-प्रदेशयोः परस्परोपकारकत्वे सति न काऽपि विप्रतिपत्तिः क्वचिदुत्कन्धरा भवितुमर्हति। अन्योन्यसहयोगेन शासनसूत्रे दृढीभूते नेतॄणां पराक्रमोऽपि प्रशस्यते। सर्वेः देशान्तरीयाः सोपायनपाणयः सामन्ताः प्रत्यासीदन्ति। एतत्सर्वम् 'अञ्चितविक्रमम्' इति विशेषणेन, वसन्तागमवृत्तान्तेन च अभिव्यज्यते।

शिक्षाविषयेऽपि महाकवेरस्य भणितयः कामपि समुचितां कर्तव्यरेखामुट्टङ्कयन्ति-

योग्यतमोऽप्याचार्यस्तदैव प्रशस्यो भवेद् यदा शिष्येषु स्वनैपुणीं संक्रामयितुं समर्थः स्यात्, न केवलमध्ययनमात्रेण कृतार्थता भवति पुरुषस्य।

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।

एवमस्य महाकवेर्मधुरमधुराणि सन्मार्गोपदेशकानि सूक्तानि प्रत्यहं परिभाव्यमानानि सर्वेषामस्माकं श्रेयोमार्गं विशदीकुर्युरिति तदीयस्मृतिदिवसावसरे श्रद्धावनतास्तच्चरणयुगले भावसुरभिलं हृदयकुसुमं निवेदयामः।

इयं राजस्थानभूमिः सत्यसन्धानां महाबलपराक्रमाणां स्वदेशभक्तिपूतान्तःकरणानां वीराणां प्रसवस्थली। शतशो यशोगाथा जेगीयन्ते साम्प्रतमपि एतस्याः। अस्या मृत्कणेषु किमपि लोकोत्तरं शौर्यबीजमुज्जृम्भते। सहैव विक्रमेण विद्यारक्षणव्रतमपि निरन्तरमेधमानमेतत्प्रदेशस्य श्रूयते चिरकालात्। सन्ति दुर्लभानां हस्तलिखितामपि भूयांसः संग्रहाः। सन्ति च मार्मिकाः कवयो विद्वांसश्च कलाविदोऽत्र प्रदेशे।

मन्ये, स्वातन्त्र्यप्रभया समुज्ज्वले दिङ्मण्डले प्रदेशस्यास्य शौर्यमौदार्यं प्राचीनं वैदुष्यं सर्वमपि सद्गुणकदम्बकं पुण्डरीकपटलमिव प्रफुल्लमामोदयिष्यति सर्वान् वसुधापुत्रान्।

पर्यन्ते एभिरेव कतिपयैः स्नेहसुरभिलैः शब्दैर्विद्यार्थिनः प्रार्थयन् छात्रपरिषदः समुद्घाटनमातनोमि। अत्रत्यानां प्राचार्यवराणामध्यापकमहानुभावानामन्तेवासिनामन्ये षाञ्च मयि निरतिशयामनुकम्पां सम्पादयतां सर्वथाऽधमर्णतां शिरसा धारयामि। किमधिकेन—

हृद्यैर्विद्याविनोदैरभिनवरचनाचारुभिः सच्चरित्रै-
र्मुक्ताहारानुकारां विदधतु विबुधाः कीर्तिवल्लीमतल्लीम्।
छात्राः सर्वे पवित्राः परिणतमतयः सन्तु शास्त्रेषु भूयः
सौभाग्योत्कर्षसीमा समुदयतु धरामण्डले मङ्गलाय॥ इति।

■

मैनुपुरीस्थसुरभारतीसेवासंस्थानम्

सम्मान्या नानाशास्त्रावगाहननिर्मलीभूतमनोमुकुराः! अन्तर्वाणिवरेण्याः! सामाजिकाः! परमोदारा गृहिणः! प्रेयांसश्छात्राश्च! महदिदं प्रमोदस्थानं मदीयं यद्भवद्भिरायोज्यमाने सुरभारतीसेवासंस्थाने संस्कृतसम्मेलने स्वात्मानमुपस्थाप्य कृतज्ञभावमनुभवानि।

विशेषतश्च तान् संयोजकमहाशयान् यैः प्रत्यूहबहलं कार्यजालमुत्तीर्य विद्वत्सङ्गमः सुरभातीविचारप्रसारश्चाऽऽजितस्तान् साधुवादै सम्मानयामि।

अद्यत्वे सस्कृतविद्याया अध्ययनाध्यापनादिविधौ मान्दं विन्दत्यपि सन्ति महोत्साहाः कर्मठाश्चेति पदमाश्वासस्य। प्रारब्धकर्मणां प्रत्यन्तगमनमेव पुरुषार्थः। यदुक्तम्–

प्रारभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रार्निषेवते।।

एवञ्च भवद्भिः क्रियमाणेन तपसा नूनं सुरभारती स्थैर्यं सकलश्लाघनीयत्वमभ्येष्यति। बहुवारं भवद्भिराहूयमानोऽप्यहं वय आधिक्याद् व्याधिबाधितत्वाच्च नागन्तुमपारयम्। इदानीं संस्कृतशिक्षाया विषये किञ्चिदवधेयं सर्वैरस्माभिः। शासनद्वारा पत्रपञ्जिकापूर्तिमात्रं संस्कृतोन्नयन- मुद्घोष्यते, न तु प्रत्यक्षस्तदुपचयो विधीयते, संस्कृताध्यापकानां वेतनमानमत्यल्पं, बाह्यविद्यालय-महाविद्यालयानुरूपमेव संस्कृताध्यापकानां वेतनादिव्यवस्था सुतरामपेक्षिता, तदर्थञ्च सङ्घीभूय प्रयासः कर्त्तव्यः।

अपि च विद्यालयेष्वध्यापकैर्यथाकालमुपस्थातव्यं, स्वकीयाचरणेन छात्राणां मनसि श्रद्धा समेधनीया।

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' इति न्यायेन बालाः स्वाध्यापकानां चरित्रमनुसरिष्यन्ति। अध्यापनकाले सरसया शैल्या मधुरया वाचा मधुरहाससहकृतं पाठनं प्रवृत्तये सम्पद्यते। शास्त्रीया अपि विषया लोकदृष्टान्तैः पोषिताः सन्तः सुग्राह्या भवन्ति। अध्यापक-छात्रयोः सम्बन्धो नाम जीवनस्य मूलभूतं सूत्रम्। तदेवाऽग्रे जीवने साफल्यमुपपादयत्।

■

नूतनशिक्षानीतिः संस्कृतञ्च

अमेयप्रतिभाम्भोधिसुमुल्लासनचन्द्रिका।
जयताज्जगदाराध्या जयिनी दिव्यभारती॥

भारतवर्षस्य चिरन्तनमितिहासं प्रारम्भादेव निजयशोवितानैरुज्ज्वलयन्ती गीर्वाणगणने गीयमाना ब्राह्मी सर्वातिशायितया जगति प्रतिष्ठामर्हतीत्यत्र कस्या वा विसंवादः।

उच्चावचेषु परिवर्तनेषु जायमानेष्वपि कालकल्लोलप्रहारैरान्दोलिताऽपि संस्कृतवाग्धारा कदाचित्तीव्रतया मन्दतया वा प्रावहद् इत्यत्र न सन्देहः। इतिहासोऽपि साक्षिभावां बिभर्ति– यावने शासनकाले सर्वथा प्रतिकूलेऽपि शास्त्रचर्चावसरे सहस्रशो ग्रन्था विविधविषयेषु विद्वत्तल्लजैरलिख्यन्त। प्रावर्तत च गुरुशिष्यप्रणालिकया विद्यासंस्कारस्तेन च समाजस्य परिमार्जनमपि।

प्रायेणाष्टादशविद्याः ख्याप्यन्ते। तद्यथा–ऋगादयश्चत्वारो वेदाः, शिक्षादीनि षडङ्गानि, मीमांसा, न्यायः, धर्मशास्त्रम्, पुराणम्, आयुर्वेदो, धनुर्वेदः गान्धर्ववेदः, अथर्ववेदश्चेति। इतिहासवेदधनुर्वेदौ गान्धर्वायुर्वेदावपि चोपवेदा इति केचित्। 'सार्ववार्णिकः पञ्चमो गेयवेद इति द्रौहिणिः'। एतेषाञ्चाङ्गोपाङ्गानां चतुःषष्टिकलानाञ्च विस्तारः सुरभारतीं शतशः प्रसारयतीति वाङ्मयवैभवमेतस्याः प्रसिद्धम्। अस्मदादिविलक्षण–पुरुषप्रणीतत्वेन स्वयमेव प्रकाशमानतया वा निगमानामपौरुषेयत्वं प्रथते। पौरुषेयत्वेऽपि परमपुरुषप्रणीतत्वमात्रं यथाऽऽगमेषु–

अष्टदशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम्।
आदिकर्ता कविः साक्षात् शूलपाणिरिति श्रुतिः॥

अलौकिकत्वादेव दिव्यत्वं देवभाषात्वञ्चास्याः कथ्यते। व्याकरणान्यपि इन्द्रादिप्रणीतानि बहुविधानि श्रूयन्ते, तेषु पाणिनिव्याकरणस्यैव सर्वापेक्षया

लोकोपकारक्षमत्वमिति तदालम्बने प्रवृत्तो महान् ग्रन्थराशिः प्रकटीकरोति। एवं निरुक्तादिरीत्याऽपि शब्दव्युत्पत्तिरङ्गीकृता प्राचीनैः, यदुक्तं प्राचीनैरेव–

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

आधुनिकं भाषाशास्त्रमिति यत् प्रसिद्धं तदपि प्राचीनां शिक्षानिरुक्तादीनां सूक्ष्मेक्षिकां नाऽतिशेते। आधुनिकैरर्वागृदृग्भिः संस्कृतभाषायाः प्राचीनत्वं सर्वमूलत्वसहमानैर्भाषाशास्त्रव्याजेन संस्कृतभाषायाः कानिष्ठ्यप्रसाधनव्यापार आरब्धः।

सहैव व्याकरणेन साहित्यस्य महीयानुपयोगो भाषापल्लवने। प्रत्युत लक्ष्यैकचक्षुष्का वैय्याकरणा इति न्यायेन सिद्धे लक्ष्यकदम्बके तद्व्युत्पत्त्यै प्रवर्तन्ते शाब्दिकाः। अत एव तत्रभावानाचार्यदण्डी द्विविधं भाषाप्रवाहं मेने। यथा–

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥
इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

साहित्यस्य मुख्यमुद्देश्यं विषयोचितभाषासन्निवेशः।

शब्दार्थयोः सामान्यतः सर्वत्र सहभावः किन्तु कवेर्व्युत्पन्नस्य विदुषश्च विशिष्टः सहभावस्तदेव साहित्यं नाम। यथोक्तमाचार्यकुन्तकेन–

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥

आभ्यामेव व्याकरणसाहित्याभ्यां भाषापरिष्कारः सौन्दर्यसम्पत्तिर्लोकव्युत्पादनं शिक्षणञ्च विधीयते।

इयमस्या गीर्वाणभारत्याः पृष्ठभूमिः। प्राचीनकालादारभ्यैतच्छताब्दीप्रारम्भं यावद् गुरुशिष्यपरम्परया चलन्तीयं भाषा शास्त्रसंस्कारपुष्टा प्रतिष्ठां

लेभे। तदनु प्रवृत्तेषु नूतनेषु विश्वविद्यालयेषु कलाविभागान्तर्गततया सङ्कुचिताकारा आंग्लभाषाप्रणालिकया पाठ्यमानेयं बहूनि वर्षाणि यावन्मार्गक्रमणं व्यतनीत्। तत्रापि केषाञ्चिद् ग्रन्थानां कतिपयांशपाठनमात्रं वितन्यमानमासीत्, आंग्लभाषया व्याख्याने स्वगौरवं मन्यमानाः पण्डितपदेष्वभिषेकं लेभिरे। ऐतिहासिकपरिचय एव भूयान् प्रयासः, मूलग्रन्थपाठने च शैथिल्यमन्वभूयत। यद्यपि संस्कृतमहाविद्यालयाः लघुविद्यालया वा प्राचलन्, तथापि तेषु विपुलवेतनाभावादगतिका एवाध्यापकाश्छात्राश्च यथाकथञ्चिद् अध्ययनाध्यापनं वितन्वानाः परम्परां पुपुषुः। तेष्वेव कतिचन विशिष्टा विद्वांसः समुदपद्यन्त, यैरद्यापि रक्षितः शास्त्रसेतुः। तथापि कियत्कालमेते तपस्विनः समाजे स्वस्थितिं धारयितुं प्रभवेयुः शनैः शनैरेतेषां शिष्यप्रशिष्याः पुत्र-पौत्रादयो विहाय प्राचीनां परिपाटीं नवीनविद्यालयप्रवेशेन स्वभागधेयनिर्माणमकामयन्त।

यद्यपि भारतस्वातन्त्र्यलाभान्तरं केचन मनस्विनः सुरभाषाया मौलिकं महत्त्वमनुभवन्तः पुनरस्याः समुज्जीवनाय विद्यालय–महाविद्यालय-विश्वविद्यालयनिर्माणेषु बद्धपरिकरा बभूवुः, यथा दिवङ्गमः श्रीसम्पूर्णानन्दमहाभागाः, अन्ये वा।

त्रिषु प्रदेशेषु संस्कृतविश्वविद्यालयनिर्माणं, केन्द्रीयसंस्कृतप्रतिष्ठानस्थापनञ्च महते विकासाय समजनि। तथाप्येतावता कालेन संस्कृतविद्याया अपेक्षिता पुनरुन्नतिर्नाभवत्। किन्तु साम्प्रतिकराजनीतिप्रभावात् छात्राणामध्ययने महान् प्रत्यूहः समुदभूत्। अर्थयुगप्राधान्यादर्थलाभ एव ज्ञानलाभादुच्चैः पदमध्यतिष्ठद् अङ्गुलिगण्या एव साम्प्रतं योग्यतायै ज्ञानविवृद्धये पिपठिषवो भवन्ति। जीविकासञ्चालनायैव साम्प्रतिकी शिक्षा प्रचलति। यथाकथञ्चिद् आवश्यकप्रमाणपत्रोपार्जनेन क्वचित्सेवायां प्रवेशो लभ्यः, एतावन्मात्रमुद्देश्यमवशिष्टं प्रायेण। तथापि नैतावता सर्वथा संस्कृतपराङ्मुखाः सर्वे इति शक्यते वक्तुम्।

अद्यापि संस्कृतपत्र–पत्रिकादीनां प्रकाशनं, समुचितानां विषयाणां लेखानां प्रकाशनं, शास्त्रीयग्रन्थानामध्ययनमध्यापनञ्च प्रवर्तमानं दृग्गोचरतामभ्येति। शासनसूत्रधारेषु संस्कृतभाषां प्रति न तावाननुरागो दृश्यते,

येन साधारणजनानां प्रवृत्तिः परिवर्धताम्। क्वचिदपवादविधया उच्चन्यायालयस्य संस्कृते निर्णयप्रदानं यथा वनवारीलालमहोदयस्य प्रयागोच्चन्यायालये दृश्यते, क्वचिद् वा वाक्कीलानां संस्कृते स्वपक्षप्रतिपादनं यथा वाराणस्याम् तदेतत्तु केवलं प्रयत्नविशेष एव वैयक्तिको न समाजे कमपि विशिष्टं प्रभावमुपस्थापयति।

केन्द्रशासनेन प्रस्तूयमानायां नूतनायां शिक्षानीतौ तु संस्कृतभाषायाः स्थानमतीवगौणमालक्ष्यते। यद्यपि संविधानस्वीकृतासु भाषासु संस्कृतभाषा परिगण्यते, तदनुसारं तस्या विकासाय साहय्याय वा शासनमपि सम्बद्धं स्वोत्तरदायित्वं धारयत्येव।

नवीनपाठ्यक्रमनिर्धारणे शिक्षाविशेषविदामपि महती भ्रान्तिः, सप्ताष्टवर्षीयाणां बालानां गले महती वस्त्रमञ्जूषा संलग्नाऽवलोक्यते, नानाविधविषयाणां पुस्तकानि लेखनपत्राणि च भारायितानि धारयन्ति शिशवः। पूर्वोत्तरमाध्यमिकशिक्षासु नाद्यावधि सन्तुलनं दृश्यते। बालानां कृते भाषाज्ञानं, सामान्यगणितम्, इतिहासभूगोलसमाजविज्ञानस्यैकं पुस्तकं, विज्ञानं काचित्कला वा पर्याप्ता स्यात्। पाठ्यांशोतिविस्तृतो भवेत्। भाषाशिक्षायामेव सरलसंस्कृतं नूनं निवेशयितुमुचितम्। संस्कृते सरला गद्यपद्यांशाः पुराणेतिहासवृत्तानि स संक्षेपेण सन्निवेशनीयानि भवेयुः।

एतावता लब्धसंस्कारास्ते शनैः शनैः स्वकीयेतिहासे बद्धरुचयः संस्कृत- भाषायामनुरागिणोऽपि सम्पद्येरन्। प्राथमिकी शिक्षैव तावत्संस्काराणां जनयित्रीति को वा न प्रतिपद्येत। 'यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नाऽन्यथा भवेत्' इत्युक्तदिशा शैशवे यदि सुमधुरया शैल्या संस्कृतभाषा पाठ्यते तदा भाविनां नागरिकाणां मानसं परिमार्जितं भविष्यतीति नास्ति सन्देहः।

रामायण-महाभारतादिकथानां सरलानि संक्षिप्तानि च संस्करणानि बालानां कृते प्रचारणीयानि येन तेषां स्वाध्यायरुचिः परिवर्धेत।

अत्र किञ्चिदस्ति निवेदनीयम्–यत् संस्कृताध्यापकैरपि स्पष्टवर्ण-संस्कारया गिरा समुपदेष्टव्याः शिशवः। ते यथा शृण्वन्ति तथैवोच्चारयन्तीति

स्वाभाविकमेतत्। एवमेव पद्यपाठे पद्यानुकूलेन लयेन प्रतिबोधनीया अध्येतारो यथा स्वयमेवाऽनुकरणे मतिरुपजायते। पण्डितानामपि भवत्युच्चारण-दोषः, स परिमार्जनीय एव। संस्कृते नानाविधानि सन्ति छन्दांसि तेषामुच्चारणमपि प्रत्येकं पृथक् शैल्या जायते, तत्रापि दत्तावधाना अध्यापका भवेयुरित्यावश्यकम्।

अद्यत्वे प्राथमिकी शिक्षैव तावदुपेक्षितप्राया सर्वत्र दृश्यते, तत्रापि सुतरां संस्कृतस्योपेक्षा उच्चारणस्य भवति प्रभावो भूयान्। पद्यपाठविषये प्राचीनैरपि सूच्यते–

ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम्।
श्रुतिसुखविविक्तवर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति॥ इति।

संस्कृतभाषायाः प्राचीनपरिपाटीविषयेऽपि किञ्चिदवधेयमस्ति–न हि प्रथमत एव लघुकौमुद्यादेर्ग्रन्थस्य पाठनं समुचितं किन्तु प्रथमं हितोपदेश–पञ्चतन्त्र– रघुवंश–रामायणादिभ्यः केचिदंशा अध्यापनीयाः। सहैव वाक्यानामनुवादः, शब्दरूपावली–धातुरूपावली–समासचक्रादीनामपि ज्ञानमुद्बोधनीयम्। सञ्जातायां व्युत्पत्तौ कस्यचिद् व्याकरणग्रन्थस्य सम्यगध्ययनमुपयुज्यते। शास्त्रविशेषे यथारुचि प्रवर्तेरन् अन्तेवासिनः। स्वाधीतशास्त्राणामभिप्रायप्रकाशने संक्षेप–विस्तराभ्यां विषयोपपादने च प्रथमो भाषासंस्कारः समीचीना व्युत्पत्तिश्च नितरामाधारस्थानीया भवति।

एवं प्राचीनशैली न तथा पूर्ववत् प्रकाशते यथा विगतशताब्द्यां पण्डितेषु लब्धप्रकाशा श्रूयते। प्रचीनपद्धत्या वेदानामध्ययनम्, ततो वेदाङ्गानामपि परिशीलनमावश्यकम्। प्रायो वेदशून्या एव सम्प्रति शास्त्रवेत्तारोऽपि। न हि वेदो धर्माचरणमात्रस्य साधनमपि तु सर्वविधस्य ज्ञानराशेराकर इति सर्वैरनुभूयते। अत एव वेदाध्ययनाऽभावे प्रत्यवायोऽपि स्मृतिकारैरादिष्टः–

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ इति।

वेदाध्ययनाङ्गत्वेनैव मीमांसापद्धतिरपि ज्ञेयैव। प्राचीनशास्त्राणां दृश्यन्ते पङ्क्तयः क्वचित् परस्परविरुद्धा इव। तास्तु न वस्तुतो विरुद्ध्यन्ते; किन्तु प्रकरणाधिकारिभेदादिना तेषां न्यायविधया सङ्गतिः क्रियते मीमांसाशास्त्रेण। तदेतद् वाक्यशास्त्रमित्युच्यते। न्यायालयीयेषु विवादेष्वति तदेतत् शास्त्रमुपयुज्यते।

प्राचीनग्रन्थेषु शास्त्राणां क्वचिच्चतुर्धा विभागः श्रूयते, यथा–पदशास्त्रं, पदार्थशास्त्रं, वाक्यशास्त्रं, वाक्यार्थशास्त्रञ्चेति। अत्रैव सर्वेषां प्रकाराणामन्तर्भावः। एवमत्र संस्कृतशिक्षाया नवीननिर्माणावसरे पण्डितैः शासकैश्च सर्वाङ्गीण एव परिष्कारः कर्तुमपेक्षितः। भारतवर्षस्य स्वातन्त्र्यलाभानन्तरमतीतेषु बहुषु वर्षेष्वपि संस्कृतभाषाया शिक्षापद्धतेश्च विषये नानाविधा विचाराः समुदभूताः, परन्तु कार्यरूपेण परिणतिस्तु न तथा भवतीति महान् खेदः। तथपि मन्ये पुनरपि नवीनयुगे समाजसंरक्षणाय प्रवृत्ताः स्वदेशयशोरक्षणे जागरूकाः प्रबुद्धजनाः प्रयतिष्यन्ते। यदत्र लेखे शोधनार्हं तदपि तथैव परिवर्तयितुमर्हन्ति धीमन्तः। सुरभारत्या गौरवमुपादेयत्वञ्च प्रतिष्ठामधिरोहत्वित्येव नः पार्यन्तिकं निवेदनम्।

■

पण्डित रघुदेव सरस्वती और 'विरुदावली'

अति प्राचीनकाल से 'मिथिला' या 'तीरभुक्ति' संस्कृत विद्या तथा संस्कृत के विद्वानों की आवास-भूमि रही है। जनक, याज्ञवल्क्य, मण्डन मिश्र, पक्षधर, वाचस्पति, गंगेशोपाध्याय आदि के नाम से प्रत्येक संस्कृत विद्यानुरागी परिचित हैं। संस्कृत विद्वानों की यह गौरवमयी परम्परा मिथिला में अविच्छिन्न रूप से आज तक चली आ रही है।

मिथिला (दरभंगा) राजवंश के प्रवर्तक पण्डितशिरोमणि ख्यातमाना महेश ठक्कुर थे। इन्हें मिथिला का राज्य मुगल दरबार से अपने लोकोत्तर पाण्डित्य प्रदर्शन से प्राप्त हुआ था, ऐसी अनुश्रुति है। इन्हें दिल्ली में यमुना तट पर 'कंकाली' देवी की मूर्ति प्राप्त हुई थी, जिसे लाकर दरभंगा में इन्होंने विधिवत् प्रतिष्ठापित किया। यही 'कंकाली' दरभंगा राजवंश की कुलदेवता है। महेश ठक्कुर के बाद उनके पुत्र गोपाल ठक्कुर ने राज्य सम्हाला, परन्तु दुर्दैव से वह शत्रुओं से आक्रान्त होकर राज्य छोड़ने को बाध्य हुए। राज्य-त्याग की पहली रात्रि को उन्होंने कंकाली के मन्दिर में विश्राम किया। रात्रि में उन्होंने एक श्लोक सुना-

महेश्वरसुतद्रोही स्वर्गारोही भविष्यति।
न चिरेणैव कालेन कंकालीकवलीकृतः।।

भगवती का यह आश्वासन पाकर गोपाल ठक्कुर लौटकर पुनः अपने स्थान पर गये और धीरे-धीरे उनकी विपत्ति भी हट गयी। यह कथा दरभंगा के 'कंकाली' मन्दिर पर लगे हुए शिलालेख पर अंकित है।

गोपाल ठक्कुर चार भाई थे, जिनमें एक भाई अच्युत ठक्कुर थे। ये भी प्रतिष्ठित विद्वान् थे। अच्युत ठक्कुर को पुत्र-सन्तान नहीं हुई,

उनकी कन्या से पण्डित रघुदेव उत्पन्न हुए।

म. म. डॉ. उमेश मिश्र द्वारा सम्पादित 'विद्याकरसहस्रकम्' नामक सुभाषित-संग्रह की भूमिका से ज्ञात होता है कि रघुदेव सरस्वती मिथिला के प्रसिद्ध विद्वानों में गिने जाते हैं। इनका समय प्रायः सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। शाहजहाँ से उन्हें 'सरस्वती' पद प्राप्त हुआ था।

पण्डित रघुदेव की 'विरुदावली' का एकमात्र संस्करण काशी में प्रभाकरी यन्त्रालय के द्वारा संवत् १९६० में प्रकाशित हुआ है। इसमें पं. चक्रधर झा महोदय की टीका 'विबुधराजिरंजनी' नाम की है। टीकाकार अच्छे पण्डित मालूम होते हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् पं. रामावतार शर्मा के ये सहपाठी थे तथा इस पुस्तक के संशोधन तथा सम्पादन में उक्त शर्मा जी से काफी सहायता मिली थी, यह बात भूमिका से ज्ञात होती है। भूमिका से कवि के विषय में एक किंवदन्ती भी परिज्ञात होती है।

शाहजहाँ के शासन-काल में पं. अच्युत ठक्कुर के दौहित्र श्री रघुदेव अपने मातामह के राज्यांश को प्राप्त करने के लिए दिल्ली गये। वहाँ दरबारी प्रतिबन्धों के कारण बादशाह से जल्द मुलाकात न हो सकी। अतः पण्डित रघुदेव विद्यार्थियों के साथ राजमहल से थोड़ी ही दूर यमुना-तट पर अश्वत्थवृक्ष के नीचे आसन जमाकर बैठे।

बादशाह को स्नान के लिए यमुनातीर पर आया हुआ देखकर इधर से पण्डित जी ने पत्तों पर विरुदावली लिखकर छोड़ना शुरू किया। बादशाह के पास वे पत्ते पहुँचे। शाहजहाँ बड़ा गुणग्राही और रसिक बादशाह था। वह उन संस्कृत गद्य-पद्यों की छटा देखकर मुग्ध हो गया।

अनुचरों ने पता लगाया और वे पण्डित जी को बादशाह के पास ले गये। इस प्रकार पण्डित जी का लक्ष्य सिद्ध हुआ। पण्डित जी को दरबार में आने का निमन्त्रण मिला। बादशाह ने पण्डित जी की विलक्षण प्रतिभा से प्रसन्न होकर उन्हें 'सरस्वती' उपाधि से विभूषित किया। यथासमय पण्डित जी ने 'विरुदावली' का संकलन कर इसे सम्राट को

समर्पित किया तथा अपना कार्य पूरा कर वह ससम्मान अपने देश 'मिथिला' लौट आये।

पण्डित रघुदेव का पारिवारिक परिचय विरुदावली के अन्तिम पद्यों से मिलता है–

श्रीविश्वेश्वरमिश्रतः कुमुदिनी देवी कुमारं कुला-
लङ्कारं समवाप्य यं गजपतिं गौरी गिरीशादिव।
दौहित्रोऽच्युतठक्कुरस्य कृतिनः श्रीहारिताम्रान्वयः
श्रेष्ठोऽसौ रघुदेवबालककविर्वैदेहभूमण्डनः॥
विद्याहृद्यमुखं महीपतिमथ श्रीबुद्धिनाथं ततो
लक्ष्मीदेवकुलाधिदेवमहितं श्रीमोहनं मोहनम्।
नत्वा श्रीहरिदेवदेवजनुषं ज्येष्ठं वयोभिर्गुणैः
कृत्वेमां विरुदावलीमिह सदानन्देऽनुजे न्यस्तवान्॥

'पुष्पिका' के इन दो श्लोकों से कवि का परिचय यह मिलता है–विश्वेश्वर मिश्र पिता तथा कुमुदिनी देवी माता का नाम था। कवि अच्युत ठक्कुर के दौहित्र हैं, 'हारिताम्र' (हरिअम्मे) वंश का नाम है। महीपति, बुद्धिनाथ, मोहन, हरिदेव आदि कवि के ज्येष्ठ बन्धुवर्गों के नाम हैं और सदानन्द नाम के छोटे भाई को कवि ने यह ग्रन्थ दिया था। प्रस्तुत विरुदावली से कुछ पद्य तात्कालिक सुभाषित संग्रहों में लिये गये हैं। जैसे 'विद्याकारसहस्रकम्' में कुछ पद्य मिलते हैं। 'विरुदावली' राजस्तुति का नामान्तर है। 'गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते' यह उनका लक्षण है। और भी, स्पष्ट और विस्तृत लक्षण यह है–

कलिकाश्लोकविरुदैर्युता विविधलक्षणा।
कीर्तिप्रतापशौण्डीर्यसौन्दर्योन्मेषशालिनी॥
कलिकाद्यन्तसंसर्गिपद्यदोषविवर्जिता।
शब्दाडम्बरसम्बद्धा कर्तव्या विरुदावली॥

अर्थात् कलिका (दण्डक छन्द का एक भेद), श्लोक शार्दूलविक्रीडित आदि, कहीं-कहीं गद्य भी हो, राजा के प्रताप, कीर्ति,

उदारता, सौन्दर्य आदि का भरपूर वर्णन हो, दण्ड या गद्य के आदि-अन्त में श्लोक हों, शब्दों का आडम्बर पूरा हो, यह विरुदावली का लक्षण है।

रघुदेव कवि ने प्रायः इस लक्षण का पूरा अनुसरण किया है। शब्दाडम्बर के साथ कवि ने स्थान-स्थान पर अर्थ-चमत्कार का भी समुचित सन्निवेश किया है। इस प्रकार की रचना कोई हँसी-खेल नहीं है। अत्यन्त तीव्र प्रतिभा, अपेक्षित शब्द भण्डार की उपस्थिति तथा औचित्यपूर्ण योजना करने की कुशलता–इन गुणों के बिना ऐसी रचना नहीं बन सकती। प्राचीन कवियों के परिश्रम को देखकर, दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। अहर्निश शब्दार्थ की सेना को सुसज्ज रखना अत्यन्त कठिन काम है। मंगलाचरण के बाद, पहला यह श्लोक आशीर्वाद में रूप में कहा गया है–

त्वद्यानोद्यमहृद्यमर्दितहयोद्रिक्ताद्रि धातुद्रवे,
दर्पान्धद्विरदान्धकारिणि भवे सन्ध्यानुसन्ध्यायिनः।
पिण्डीकृत्य दिशो दशोदितयशोहिण्डीर हे वीर ते
चण्डीभर्तुरकाण्डताण्डवविधिः खण्डीकरोतु द्विषः॥

अर्थात् दसों दिशाओं का मथन कर कीर्तिरूपी फेन आपका उमड़ पड़ा है, ऐसे हे राजन्! आपकी विजययात्रा के समय उत्तम घोड़ों के द्वारा उड़ाई हुई पर्वतों की गेरू आदि धातुओं की धूलि से आसमान जब लाल हो रहा था, मदान्ध हाथियों के चारों ओर जब अन्धकार-सा छा रहा था, उस असमय की सन्ध्या से स्वयं भगवान् शंकर भी भ्रान्त होकर ताण्डव नृत्य करने लगे। वह भगवान् का प्रचण्ड नृत्य आपके शत्रुओं को नष्ट करे।

ओजस्विनी रचना के साथ ही चमत्कारपूर्ण अर्थविन्यास वीर रस के अनुकूल है। इन श्लोकों को 'शूर'श्लोक कहा गया है। अब 'वीरविरुदम्' की छटा देखिये–

जय जय हीन प्रमुदित दीन, क्षितिधरलीन स्वचकित चीन।
स्फुरितनवीन ध्वनिजितवीण प्रतिहतमीन ध्वज सुकुलीन।
प्रसरदहीन प्रतिभटपीन द्युतिभुजवीण प्रखरधुरीण॥

अर्थात्, दोनों को आपने हर्षित किया है। आपके भय से चीन का राजा पहाड़ी में जा छुपा है। आपकी मधुर वाणी से वीणा लज्जित है। कामदेव को आपने परास्त किया है। आप उच्चकुलीन हैं। शेषनाग के समान आपकी भुजाएँ हैं। वीणा-वादकों में आप सर्वश्रेष्ठ हैं।

'कान्तकलिका' का एक नमूना देखिये–

चलति त्वयि रङ्गादपि चतुरङ्गानमितभुजङ्गाधिपतिफणम्।
विदलति भृशमुर्वी शतगुणगुर्वी शिव शिव खर्वीकृतकमठम्॥
चिरमतिकम्पादनुकृतशम्पा निजकरसम्पाटितशिरसः।
प्रतिभूपतिदारा विगलितहारा घनजलधारा वलितदृशः॥
च्युतचिकुरकलापा विहितविलापा जघनतलाधःकृतरसनम्।
प्रविशन्ति गिरीणा भयगतचीना भयभरदीना गहनवनम्॥
प्रविशति बत लंके शिशुरपि शंके सचकितमंके कमलमुखी।
किमपरमिह जम्भाहितपरिरम्भादपि सुखलम्भादिविनशची॥
करविगलितपद्मा मृगयति पद्मा दिशि दिशि पद्मायतनयनम्।
भयगद्गदवाणी भजति भवानी सपदि हिमानीकरतिलकम्॥
हरितोऽपि हयालीखरखुरपाली खुरक्तिकरालीकृतरजसा।
निह्नुवत इवालं रविकरजालं दयितमनालम्बितरभसा॥

अर्थात्, आपके उठते ही पृथ्वी सौ गुनी भारी हो जाती है, शेषनाग चौरस फण फैलाता है, कच्छप बोझ से दबने लगता है। पृथ्वी टुकड़े-टुकड़े होने लगती है। बिजली की तरह सर्वदा काँपने वाली शत्रु-स्त्रियाँ अपने हाथों सिर पीटने लगती हैं, उनके हार टूट जाते हैं। अश्रुधाराएँ उनकी आँखों से बहने लगती हैं। उनके बाल अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, वे विलाप में तत्पर हो जाती हैं, उनकी मेखला टूटकर गिर जाती है, उनके चीनांशुक (साड़ियाँ) गिर पड़ती हैं, वे भय से व्याकुल हो

पर्वतों के गहन वन में दौड़ी चली जाती हैं। लंकेश्वर की स्त्री भी डर के मारे अंक में सटी हुई है और क्या कहा जाय, इन्द्राणी भी इन्द्र के आलिंगन सुख से वंचित हो जाती है। लक्ष्मी के हाथ से कमल छूटकर गिर जाता है और वह कमलाक्ष विष्णु को चारों ओर खोजने लगती हैं। भयगद्गद कण्ठ से भवानी भी शंकर के पास शरण ले रही है। दिशाएँ भी घोड़ों की उड़ाई हुई धूल से अपने प्रियतम सूर्य को मानो छिपाने लगती हैं।

शूरश्लोक, वीरविरुद, कान्तकलिका और फिर शूरश्लोक, इसी क्रम से इस प्रबन्ध की रचना की गयी है। इन तीनों के एक समूह का नाम 'त्रिक' कहा जाता है। इस प्रकार इस प्रबन्ध में कुल उनतीस 'त्रिक' हैं। मंगलाचरण आदि सब मिलाकर रचना की श्लोक संख्या १९३ है। प्रत्येक 'त्रिक' में कुछ नवीनता को लाने का प्रयत्न किया गया है। 'कान्तालिका' में विभिन्न दण्डकों की रचना कवि ने की है। 'वीरविरुदम्' में भी अनेक प्रकार दिखलाये गये हैं। यहाँ एक नमूना देखिये–

'भंगदून बंगहूण रंगलून चंगसून
दामतल्प कामकल्प नाम जल्पत–
मनल्पकक्ष देववृक्ष एव लक्ष्यसे
वलक्षसेव गण्डपालिमण्डितालि
गन्धशालि सिन्धुरालि कुम्भदेश–
दम्भालेशगंज के शम जुवेश।।' इत्यादि।

अर्थात् बंगहूण आदि राजा आपसे पराजित हैं, क्रीड़ागृह में पुष्प-शय्या पर आप सोते हैं, आप कामदेव के तुल्य हैं, आपकी योग्यता सर्वाधिक है, आपकी सेवा महनीय है, अपने सेवकों के लिए आप कल्पवृक्ष के समान हैं। आप शत्रुओं के मदोन्मत्त हाथियों के कुम्भस्थल का भंजन करते हैं, आपकी केश–रचना मनोहर है।

एक 'शूरश्लोक' में विभिन्न देश की रमणियों का वर्णन इस प्रकार है–

'चौली चोलमपाकरोति चपला माली मृणालीयते
नेपाली नृप! लीयते न लभते निद्रामपि द्राविडी।
कुञ्जे गुञ्जति गुर्जरी गिरितटीगर्भे विदर्भेश्वरी
कौवेरी शबरीव भाति भवतो भेरीरवैर्भैरवैः॥'

अर्थात्, चोल देश की कामिनी कंचुक छोड़ देती है, चंचल मालदेश की स्त्री कमलनाल के समान कृश हो रही है, नेपाली पहाड़ में छिप रही है, द्राविड़ी को निद्रा नहीं आती, गुर्जरी लताकुंजों में भटक रही है, विदर्भ देश की रानी पहाड़ी कन्दराओं में जा छिपी है। उत्तर देश की स्त्री भिल्ली बनी है। यह सब आपके भयदायक भेरी रणवाद्य के नाद का फल है।

इस संक्षिप्त लेख में अधिक उदाहरण देना सम्भव नहीं है। इस छोटे से 'विरुदावली' में उस समय की रचना–पद्धति तथा पाण्डित्य का पर्याप्त परिचय मिलता है। मुगल शासन–काल में भी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ बनीं, बहुत–सी तो काल का ग्रास बन चुकी होंगी। विशेषतः संस्कृत में विरुद–काव्य इस शैली का कम दिखाई पड़ता है। अतः यहाँ हमने उसका संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया है।

■

कालिदास के राम

महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृति के सबसे सफल उपस्थापक हैं, प्रवाहमयी भाषा में अन्तःकरण को छूने वाले भावों के परिधान में, कथावस्तु को द्रष्टा के सामने उपस्थापित कर देना कालिदास की सहज सिद्ध कला है।

अपनी इसी शैली और भारतीय परम्पराओं के मार्मिक ज्ञान के कारण सारे संसार ने कालिदास को भारत का प्रतिनिधि माना है। भगवान् राम भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रकाशमान् कीर्तिस्तम्भ हैं। भारतीय भाषाएँ, साहित्य और कला राम के रामरस में सनी और सुरभित हैं। वह भारतीय वस्तु ही नहीं है जिसमें राम की अभिराम छाप न लगी हो।

साधारणतः कालिदास ने अपने सभी नायकों को धीरोदात्त एवं भारतीय पौरुष के प्रतीक रूप में चित्रित किया है; परन्तु भगवान् राम में विशेषता यह रही है कि भगवान् के अवतार होते हुए भी मानवीय मर्यादाओं तथा भावनाओं का पूर्ण विकास राम में समुद्वेलित रहा है।

राम की उत्पत्ति के बाद नामकरण के सम्बन्ध में कवि का कहना है–

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम्॥

भगवान् राम का अभिराम श्याम कलेवर देखकर ही पिता ने संसार का सर्वप्रथम मङ्गल शब्द 'राम' नाम के लिए चुना है।

बात छोटी-सी पर कवि की कला कितनी मार्मिक है। इधर राम की उत्पत्ति हुई, उधर लंका में सिंहासनासीन रावण के मुकुट से कुछ मणि टूटकर बिखर गये, मानों रावण की राज्यलक्ष्मी ने भावी अनर्थ की आशङ्का से आँसू बहाए–

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः॥

परशुराम के संवाद के समय कालिदास ने परशुराम का उग्रतम रूप चित्रित किया है; परन्तु परशुराम ने राम के वास्तविक स्वरूप को जानते हुए भी केवल उनके वैष्णव तेज को देखने के लिए ही क्रोध का नाटक रचा, यह कालिदास का कथन निम्न श्लोक से स्पष्ट होगा–

प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम्।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा॥

राम के स्थितप्रज्ञ स्वभाव को एक ही पद्य से कवि ने स्पष्ट किया है–

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः॥

राज्याभिषेक के लिए मङ्गलवस्त्र और अलंकार धारण करने वाले या वन जाने के लिए वल्कल धारण करने वाले राम की मुखाकृति समान थी। कोई भी अन्तर दोनों अवस्थाओं में न आया। संग्राम के मैदान में राम को सन्तोष था कि आज वास्तविक योग्य शत्रु मैंने पाया है, जिसने इन्द्रादि लोकपालों को जीता और अपने मस्तकों को काटकर शङ्कर को चढ़ाया, कैलास जैसे पर्वत को भी हाथों से तौला, शत्रु हो तो ऐसा ही हो–

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितेश्वरम्।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत॥

नाटक का उत्कर्ष सिद्ध करने की कला कवि ने इस श्लोक के द्वारा निभायी है।

पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर लंका से अयोध्या तक की राम की यात्रा बड़े ही सुन्दर और समयोचित शब्दों में कालिदास ने प्रस्तुत की है। इस संक्षिप्त लेख में उस पर न लिखकर केवल यह कहना है कि प्रारम्भ में राम को 'हरि' कहकर कवि ने आदिपुरुष महाविष्णु से राम का अभेद सिद्ध किया है–

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच॥

अपने शब्दगुण वाले पद (स्थान) का विमान से अतिक्रमण करते हुए समुद्र की शोभा देखकर राम नाम वाले हरि ने जाया सीता से कहा। आकाश को 'विष्णुपद' भी कहा जाता है।

सीतापरित्याग की करुण कहानी कालिदास ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में अभिव्यक्त की है, कर्तव्य और स्नेह के अन्तर्द्वन्द्व की अभूतपूर्व गाथा कवि के शब्दों में अवतरित हुई है।

राम ने अपनी व्यथा को अपने लिए रखा, क्योंकि लोकानुरंजन राजा का परमधर्म है, राजा का व्यक्तिगत जीवन कोई मूल्य नहीं रखता, राजा समष्टि के लिए है।

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः॥

सीता निर्दोष है, इसमें सन्देह नहीं है, पर लोकापवाद का प्रतिकार करना प्रथम कर्तव्य है, चन्द्रमा स्वयं शुद्ध, निर्मल है; पर भूमि की छाया उनके लिए कलङ्क बन गई।

कुश और लव के द्वारा रामायण का गायन सुनकर राम की उत्सुकता, यथासमय सीता का दर्शन आदि घटनाएँ मर्मस्पर्शी हैं। अन्ततः

सीता की शुद्धिपरीक्षा ही राम के कठोर जीवन का अन्तिम आघात रहा।

राम का जीवन उस भारतीय महापुरुष का जीवन है, जो समष्टि के लिये, लोककल्याण के लिए होता है। राम नहीं, उस विष्वक्सेन ने रावणवधरूपी लक्ष्य को पूरा कर परमपद में प्रवेश किया। उसकी तनु 'सर्वलोकप्रतिष्ठा' है। लोक-कल्याण ही राम का जीवन है, यदि शेष कुछ बचा तो वे दो कीर्तिस्तम्भ, एक दक्षिण में लङ्कानाथ विभीषण और दूसरा उत्तर में 'पवनतनय' हनुमान्। इस अन्तिम पदार्थ के द्वारा महाकवि कालिदास ने रामचरित्र का उपसंहार किया है।

■

श्रीसंकठा-स्तुतिः

अयि गिरिनन्दिनि नन्दितमेदिनि विश्वविनोदिनि नन्दिनुते।
गिरिवरविन्ध्यशिरोधिनिवासिनि विष्णुविलासिनि जिष्णुनुते॥
भगवति हे शितिकण्ठकुटुम्बिनि भूरिकुटुम्बिनि भूतिकृते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥१॥

हे पर्वतराज की पुत्री! पृथ्वी को आनन्दित करनेवाली, संसार को सुखी बनानेवाली, नन्दिगण से नमस्कार की जानेवाली, पर्वतों में श्रेष्ठ विन्ध्याचल की चोटियों पर रहनेवाली, विष्णु भगवान् को प्रसन्न रखने वाली, इन्द्र से प्रणाम की जानेवाली, भगवती, शंकर भगवान् की गृहिणी, विशाल कुटुम्बवाली, ऐश्वर्य देनेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करने वाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो॥१॥

सुरवरवर्षिणि दुर्धरधर्षिणि दुर्मुखमर्षिणि हर्षरते।
त्रिभुवनपोषिणि शङ्करतोषिणि कल्मषमोषिणि घोषरते॥
दनुजनिरोषिणि दुर्मदशोषिणि दुर्मुनिरोषिणि सिन्धुसुते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥२॥

हे इन्द्र को समृद्ध बनानेवाली! दुर्धर और दुर्मुख नाम के दैत्यों का संहार करने वाली, सदा प्रसन्न रहने वाली, तीनों लोकों का पालन करनेवाली, शंकर भगवान् को संतुष्ट रखनेवाली, पापों को हटानेवाली, गर्जना करने वाली, दैत्यों पर क्रोध करने वाली, अभिमान को तोड़ने वाली, ढोंगी तपस्वियों पर क्रोध करने वाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, समुद्रकन्या, हे महिषासुर का मर्दन करने वाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो॥२॥

अयि जगदम्ब कदम्बवनप्रियवासिनि तोषिणि हासरते।
शिखरिशिरोमणि-तुङ्गहिमालयशृङ्ग-निजालय-मध्यगते॥
मधुमधुरे मधुकैटभगञ्जिनि महिषविदारिणि रासरते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥३॥

हे जगज्जननि, कदम्बवृक्ष के जङ्गल में वास करनेवाली, सन्तोष देनेवाली, सदैव हँसमुख रहनेवाली, पर्वतों में श्रेष्ठ ऊँचे हिमालय की चोटी पर अपने मन्दिर में रहनेवाली, मधुपान से सुन्दर दिखाई पड़नेवाली, मधु-कैटभ और महिष नामक दैत्यों को विदीर्ण करनेवाली, रासक्रीड़ा में मग्न रहनेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करने वाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।।३।।

अयि निजहुंकृतिमात्रनिराकृतधूम्रविलोचनधूम्रशते।
समरविशोषित-रोषित-शोणितबीजसमुद्भव-बीजलते॥
शिव-शिव-शुम्भ-निशुम्भमहाहवतर्पितभूतपिशाचरते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥४॥

हे धूम्रलोचन नामक दैत्य को हुंकार मात्र से भस्म करने वाली धूमावती दुर्गे, रणभूमि में क्रुद्ध रक्तबीज दैत्य से उत्पन्न अनेक रक्तबीजों के खून को पी जानेवाली, शुम्भ-निशुम्भ नामक दैत्यों के महायुद्ध से तृप्त किये हुए कल्याणकारी शंकर के भूत-पिशाचों पर अनुग्रह करनेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।।४।।

अयि शतखण्डविखण्डितरुण्डवितुण्डितशुण्डगजाधिपते।
निजभुजदण्डनिपातितचण्ड-विपाटितमुण्ड-भटाधिपते॥
रिपुगजगण्डविदारणचण्ड-पराक्रमशौण्ड-मृगाधिपते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥५॥

हे गजाधिपति के बिना सूड़ के धड़ को सौ टुकड़े करने वाली, योद्धाओं में श्रेष्ठ चण्ड और मुण्ड नामक दैत्यों को अपनी भुजाओं से

नष्ट-भ्रष्ट करने वाली, शत्रु के हाथी के गण्डस्थल की चीरने में उत्कट पराक्रमशाली सिंह को रखनेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।।५।।

धनुरनुषङ्ग-रणक्षणसङ्ग-परिस्फुरदङ्ग-नटत्कटके।
कनकपिशङ्ग-पृषत्कनिषङ्ग-रसद्भटशृङ्ग-हताबटुके।।
हतचतुरङ्ग-बलक्षितिरङ्ग-घटद्बहुरङ्ग-रटद्बटुके।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते।।६।।

हे रणोत्सव में धनुष लेकर अपने शरीर को केवल हिलाने मात्र से सम्पूर्ण शत्रुसैन्य में कँपकँपी पैदा करनेवाली, सोने के पीले तीर और तरकस से युक्त, गर्जनेवाले बड़े-बड़े योद्धाओं की गर्दन काटनेवाली, हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल–चारों प्रकार की सेनाओं को मारकर रणभूमि में अनेक प्रकार के शब्द करने वाले बटुकों को उत्पन्न करनेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।।६।।

अयि रणदुर्मद-शत्रुवधाद्धुर-दुर्धरनिर्भर-शक्तिभृते।
चतुरविचारधुरीण-महाशय-दूतकृत-प्रमथाधिपते।।
दुरित-दुरीह-दुराशय-दुर्मति-दानवदूत-दुरन्तगते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते।।७।।

हे रणभूमि में खूँखार शत्रुओं के वध से बढ़ी हुई अदम्य और पूर्ण शक्ति को रखनेवाली, चतुराई के विचारों में श्रेष्ठ और गम्भीर कल्पनावाले प्रमथाधिपति शंकर भगवान् को दूत बनानेवाली, पापी, बुरी भावना तथा बुरे विचारवाले मूर्ख दैत्यों के दूत से न जानी जा सकने लायक महिमावाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।।७।।

अयि शरणागत-वैरिवधूजन-वीरवराभयदायिकरे।
त्रिभुवनमस्तक-शूलविरोधि-शिरोधिकृतामल-शूलकरे।।

दुमिदुमितामर-दुन्दुभिनाद-मुहुर्मुखरीकृत-दिङ्निकरे।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥८॥

हे शरण में आये हुए शत्रुओं की स्त्रियों के वीर पतियों को अभय प्रदान करनेवाले हाथवाली, तीनों भुवनों के प्राणियों को पीड़ा देनेवाले दैत्य शत्रुओं के मस्तकों पर प्रहार करने योग्य तेज शूल को हाथ में धारण करने वाली, दुम्-दुम् ऐसे देवताओं की दुन्दुभि के शब्दों से दसों दिशाओं को गुँजानेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करने वाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो॥८॥

सुरललना-ततथेयित-थेयित-थाभिनयोत्तर-नृत्यरते।
कृतकुकुथा-कुकुथोदिडडादिक-तालकुतूहल-गानरते॥
धुधुकुट-धूधुट-धिन्धिमितध्वनि-धीरमृदङ्ग-निनादरते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥९॥

हे अप्सराओं के 'था, थै-थै, थक्' आदि शब्दों से युक्त भावपूर्ण नाच में मगन रहनेवाली! अनेक भिन्न-भिन्न मात्राओं के तालों से गाये जाने वाले आश्चर्यजनक गायन सुननेवाली, 'धा, किट्, धूम, किट्, तिर, किट्' आदि पखावज की गम्भीर ध्वनि को सुननेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो॥९॥

जय जय जाप्यजये जयशब्दपरस्तुतितत्पर-विश्वनुते।
झणझण-झिंझिम-झिंकृतनूपुर-शिञ्जित-मोहित-भूतपते॥
नटितनटार्ध-नटीनटनायक-नाटननाटित-नाट्यरते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥१०॥

हे जपमन्त्र की जयशक्ति तेरी विजय हो। हे जय-जयकार सहित स्तुति करने वाले समस्त संसार के लोगों से प्रणाम की जानेवाली, अपने पैजेब के 'झन् झन् झिन् झिन्' शब्दों से शंकर भगवान् को मोहित करनेवाली, प्रसिद्ध नट अर्धनारीश्वर, नटों में श्रेष्ठ शंकर भगवान् के

ताण्डवनृत्य से सुशोभित नाटक देखने में मगन रहनेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय- जयकार हो।१०।।

अयि सुमनः-सुमनः-सुमनः-सुमनः-सुमनोरमकान्तियुते।
श्रितरजनी-रजनी-रजनी-रजनी-रजनीकर-वक्त्रभृते।।
सुनयन-विभ्रमर-भ्रमर-भ्रमर-भ्रमर-भ्रमराभिदृते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते।।११।।

हे प्रसन्नचित्त और सन्तुष्ट देवों द्वारा चढ़ाये हुए फूलों से मनोहर शोभा को धारण करनेवाली, हे राक्षसों को वरदान देनेवाले श्री महादेव की भार्या, रात्रिसूक्त से प्रसन्न होनेवाली तथा चन्द्रमा के समान मुखवाली, हे कस्तूरी मृगों में घबड़ाहट उत्पन्न करनेवाले वीर भौरों से तथा भ्रम को दूर करने वाले ज्ञानियों से अनुसरण की जानेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।।११।।

महित-महाहवमल्लमतल्लिक-बल्लितरल्लितभल्लिरते।
विरचितवल्लिकपालिकपल्लिकझिल्लिक-भिल्लिकवर्गवृते।।
श्रुतकृतपुल्लसमुल्लसितारुण-तल्लजपल्लव-सल्ललिते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते।।१२।।

हे प्रशंसनीय महायुद्ध के वीर श्रेष्ठों के दाहिने-बायें पैतरों से चलाये हुए भालों के निरीक्षण में चित्त लगाने वाली, हे कृत्रिम लतागृह का पालन करने वाली, स्त्रियों की बस्ती में वाद्यविशेष बजानेवाली भिल्लिनियों के समूह से आराधित, हे कान पर रखे हुए विकसित, सुन्दर तथा रक्तवर्ण कोमल किसलय से सुशोभित होनेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।।१२।।

अयि सुदतीजन-लालसमानस-मोहन-मन्मथराजसुते।
अविरल-गण्डगलन्-मदमेदुर-मत्त-मतङ्गजराजगते॥
त्रिभुवन-भूषणभूत-कलानिधि-रूपपयोनिधि-राजसुते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥१३॥

हे सुन्दर दाँतवाली स्त्रियों के उत्कण्ठित मनों को मोह लेनेवाले कामदेव को उत्पन्न करनेवाली, सतत मद से भरे हुए गण्डस्थल से युक्त मदोन्मत्त गजराज के समान मन्द-मन्द गमन करनेवाली, तीनों लोकों को भूषित करनेवाले चन्द्रमा के समान कान्तिवाली, महासागर की कन्या, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो॥१३॥

कमलदलामलकोमलकान्ति-कलाकलितामल-भालतले।
सकल-विलासकलानिलयक्रम-केलिचलत्कलहंसकुले॥
अलिकुलसंकुल-कुन्तलमण्डल-मौलिमिलद्-बकुलालिकुले।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥१४॥

हे कमल के पत्ते के समान टेढ़े, कोमल और स्वच्छ कान्तिवाले एक कला के चन्द्रमा से सुशोभित ललाटवाली, विलासिता के सम्पूर्ण गुणों की स्थानभूत अपनी सहज गति से हंसों को चाल सिखानेवाली, भौंरों के समान काले और गझिन बालों की चोटी पर मौलश्री की सुगन्ध से भ्रमरों का आकर्षण करने वाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो॥१४॥

करमुरलीरव-वर्जित-कूजितलज्जित-कोकिलमञ्जुमते।
मिलितमिलिन्द-मनोहरगुञ्जित-रञ्जित-शैलनिकुञ्जगते॥
निजगण-भूतमहाशबरीगण-रङ्गणसंभृत-केलिरते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥१५॥

अपने हाथ की वंशी के मधुर शब्द को सुनकर बोलना बन्द करके लज्जित हुई कोकिल पर प्रेम की बुद्धि रखनेवाली, भौंरों के झुण्ड

से गुंजाये हुए और सुशोभित पर्वत प्रदेश के कुञ्जों में विहार करनेवाली, अपने भिल्लनी, किरातिनी आदि गणों की नर्तनयुक्त विचित्र क्रीड़ाओं को देखकर प्रसन्न होनेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करने वाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।।१५।।

कटितटपीत-दुकूलविचित्र-मयूखतिरस्कृति-चण्डरुचे।
जितकनकाचल-मौलिमदोर्जित-गर्जितकुञ्जर-कुम्भकुचे।
प्रणतसुरासुर-मौलिमणि-स्फुरदंशु-लसन्नख-चन्द्ररुचे।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते।।१६।।

अपनी कमर पर पहनी हुई पीले रंग की साड़ी की विचित्र चमक से सूर्य की चमक को नीचा दिखानेवाली, सुमेरु पर्वत की सोने की चोटियों पर मदोन्मत्त गर्जना करनेवाले हाथियों के गण्डस्थल के समान शोभायमान स्तनमण्डलवाली, प्रणाम करनेवाले देव और दैत्यों के मस्तकों की मणियों की चमक से चमकनेवाले नखों से चन्द्रमा के समान चरण नखोंवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी। तेरी जय-जयकार हो।।१६।।

विजितसहस्र-करैकसहस्र-करैकसहस्र-करैकनुते।
कृतसुरतारक-सङ्गरतारक-सङ्गरतारक-सूनुनुते।।
सुरथसमाधि-समानसमाधि-समानसमाधि-सुजाप्यरते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते।।१७।।

हे हस्त नक्षत्र समूह के एक सहस्र को जीतनेवाले सहस्र किरणवाले सूर्य की एकमात्र नमस्करणीय, हे देवताओ के उद्धार के लिए युद्ध लड़नेवाले, तारकासुर से संग्राम करने वाले तथा भवसागर से तारनेवाले श्री महादेव जी के पुत्र कार्तिकेय से नमस्कार की जानेवाली, हे राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य की सविकल्पक समाधि के समान समाधियों में जपे जानेवाले मन्त्रों से प्रेम रखनेवाली, हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।१७।।

पदकमलं करुणानिलये वरिवस्यति योऽनुदिनं सुशिवे।
अयि कमले कमलानिलये कमलानिलयः स कथं न भवेत्॥
तव पदमेव परं पदमस्त्विति शीलयतो मम किं न शिवे।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥१८॥

हे दयामयि शिवे! तेरे चरण-कमलों की जो प्रतिदिन सेवा करता है, हे कमल में रहनेवाली महालक्ष्मी! उसके घर में लक्ष्मी का वास क्यों न होगा, अर्थात् अवश्य ही होगा। हे गिरिजे! तेरा चरण-कमल ही मेरा परम पुरुषार्थ मोक्ष है, ऐसी दृढ़ भावना रखनेवाले मुझको किस बात की कमी हो सकती है, अर्थात् किसी बात की कमी नहीं रह सकती। हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो॥१८॥

कनकलसत्कलशीकजलैरनुषिञ्चति तेऽङ्गणरङ्गभुवम्।
भजति स किं न शचीकुचकुम्भनटीपरिरम्भसुखानुभवम्॥
तव चरणं शरणं करवाणि सुवाणि पथं मम देहि शिवम्।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥१९॥

सोने के चमकनेवाले घड़ों के जल से जो तुम्हारे मन्दिर के आँगन को धोकर साफ करता है, क्या वह इन्द्राणी के समान बड़े-बड़े स्तनवाली सुन्दरी को आलिङ्गन करने के सुख का अनुभव नहीं करता, अर्थात्, अवश्य करता है। हे सरस्वति! तेरे चरण को ही मैं अपनी शरण बनाऊँ। हे माता! मुझे कल्याणदायक रास्ता दिखा। हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो॥१९॥

तव विमलेन्दुकलं वदनेन्दुमलं कलयन्ननुकूलयते।
किमु पुरुहूतपुरीन्दुमुखीसुमुखीभिरसौ विमुखीक्रियते॥
मम तु मतं शिवमानधने भवती कृपया किमु न क्रियते।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते॥२०॥

तेरे स्वच्छ चन्द्रमा के समान शोभावाले मुखचन्द्र की जो सतत सेवा करके अपने अनुकूल बना लेता है, क्या उसको इन्द्रदेव की अमरावती नगरी की रहनेवाली चन्द्रवदनी अप्सराएँ कभी भी निराश कर सकती हैं? अर्थात् कभी नहीं। हे शंकर भगवान् के सम्मान को अपना सर्वस्व समझनेवाली! मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि तेरी कृपा से ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो सिद्ध न हो सके। हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करनेवाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।।२०।।

अयि मयि दीनदयालुतया कृपयैव त्वया भवितव्यमुमे।
अयि जगतो जननीति यथाऽसि मयाऽसि तथाऽनुमतासि रमे॥
यदुचितमत्र भवत्पुरगं कुरु शाम्भवि देवि दयां कुरु मे।
जय जय हे महिषासुरमर्दिनि रम्यकपर्दिनि शैलसुते।।२१॥

हे उमे! तू सदैव दीनों पर दया करनेवाली है, इसलिए मेरे पर भी तू सदा कृपा ही कर। हे महालक्ष्मी! तू संसार के सभी जीवों की माँ है, इसलिए मेरी भी तू माँ है, ऐसा समझता हूँ। जो तेरे को उचित मालूम पड़े, तो तू मुझे भी अपने मणिद्वीप नगर का निवासी बना। हे शाम्भवि देवि! मेरे ऊपर दया कर। हे शैलपुत्री, शंकर की प्रिय पत्नी पार्वती, हे महिषासुर का मर्दन करने वाली महालक्ष्मी! तेरी जय-जयकार हो।।२१।।

स्तुतिमिमां स्तिमितः सुसमाधिना नियमतो यमतोऽनुदिनं पठेत्।
परमया रमया स निषेव्यते परिजनोऽरिजनोऽपि च तं भजेत्।।२२॥

जो मनुष्य इस स्तोत्र का ध्यानपूर्वक एकाग्रचित्त से ब्रह्मचर्य, दया, शान्ति, दान, सत्य, अपरिग्रह, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य और दम इन व्रतों का पालन करते हुए नियम से प्रतिदिन पाठ करेगा, उसके पास सदैव विपुल धन रहेगा और अपने तथा पराये सभी उसको चाहेंगे।।२२।।

।।श्रीसङ्कटनाशिन्यै समर्पितमस्तु।।

■

आचार्य बलदेव उपाध्याय तथा उनकी कृति 'काशी की पाण्डित्य परम्परा'

आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय वर्तमान में प्राच्य वाङ्मय के प्रचार- प्रसार एवं उद्बोधन में एकमात्र अग्रदूत कहे जा सकते हैं। पण्डित जी की अनवरत साधना से संस्कृत वाङ्मय के वेद, दर्शन, साहित्य, इतिहास, धर्म, संस्कृति आदि के विषय में व्यापक ऐतिहासिक तथा तात्त्विक सामग्री आज उपलब्ध है। यद्यपि बीसवीं शती के प्रारम्भ में संस्कृत वाङ्मय का विशेषतः वेदों का अध्ययन न करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने प्राच्य वाङ्मय पर इतिहासात्मक ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया, परन्तु उनमें स्वभावतः भारतीय मौलिक दर्शन का अभाव था। यह उनका दोष न था, उनके दीर्घ प्रयास तथा परिश्रम की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। इतिहास लेखन के सम्बन्ध में उनकी प्रेरणा को नकारा नहीं जा सकता तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययन का प्रसार भी उन्हीं लोगों ने किया। प्रारम्भ में भारतीय विश्वविद्यालयों में उन्हीं के ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे, परन्तु कालक्रम से भारतीय विद्वान् भी इस क्षेत्र में अग्रसर हुए तथा चिन्तन का मानदण्ड बदलने लगा। डॉ. भण्डारकर, म. म. पी.वी. काणे, डॉ. एस. के. डे, म. म. मिराशी प्रभृति विद्वानों ने पर्याप्त कार्य किया, उसके बाद यह परम्परा आगे चल निकली। इण्डियन एण्टिक्वेरी, रायल एशियाटिक सोसाइटी आदि के द्वारा भी दुर्लभ सामग्री का प्रकाशन आदि होने लगा। इस क्षेत्र में अनेक विद्वान् अग्रसर हुए, ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण तथा उनकी भूमिकाओं से विपुल सामग्री संग्रहीत हुई।

पण्डित बलदेव जी का अध्ययन काल वाराणसी का स्वर्णयुग था। महामना मालवीय जी की प्रेरणा से सर्वोच्च विद्वानों का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संग्रह हुआ। आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव जी, म.

म. रामावतार शर्मा, म. म. प्रमथनाथ तर्कभूषण, डॉ. नीलकमल भट्टाचार्य आदि विद्वानों की ज्ञानगरिमा को पण्डित जी ने अपने अध्ययन काल से ही आत्मसात् करना प्रारम्भ किया था।

इधर संस्कृत कालेज में म. म. डॉ. गंगानाथ झा, म. म. गोपीनाथ कविराज, म. म. राम शास्त्री तैलंग एवं म. म. लक्ष्मण शास्त्री तैलंग आदि विद्वानों का यशःसौरभ फैला हुआ था। पण्डित जी ने–

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥

इस उक्ति के अनुसार विद्वानों के परिचय, पाण्डित्य तथा ज्ञान का ग्रहण किया।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि पण्डित जी की लेखनी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, इतिहास लेखन मात्र उनका लक्ष्य नहीं है, परन्तु उसके विषय का प्रतिपादन भी अत्यन्त विशद किया गया है। उदाहरण के लिए उनके 'भारतीय दर्शन' को ही देखें। चरित्र की दृष्टि से 'आचार्य शंकर' दर्शनीय हैं। साहित्य शास्त्र का विवेचन तथा तत्सम्बद्ध इतिहास छोटे-बड़े कई संस्करणों में आपने प्रकाशित किया है, अभी हाल ही में 'काशी की पाण्डित्य परम्परा' के नाम से आपका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जो निकला है, वह काशी की विगत साढ़े सात सौ वर्षों (१२०० ई. से १९५० ई. तक) की सारस्वत साधना का विस्तृत एवं विशद इतिहास है। इतना बड़ा संकलन अभी तक अन्य किसी भारतीय भाषा में दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इनका एक कारण और भी है। पण्डित जी ने जिस काल में विद्यार्जन किया था, उस समय काशी की गलियों में वेदों और शास्त्रों की ध्वनि गूँजती रहती थी। गंगातट के पक्के महाल वैदिकों और पण्डितों के साधना स्थल थे, घनान्त वेदपाठ और शास्त्रों की फक्किकाएँ जगह-जगह सुनायी पड़ती थीं। पण्डित जी जैसा भविष्यद्रष्टा उस अवसर से भला कब चूकता। पण्डित जी के अभिन्न मित्र तथा मेरे पूज्य पिता जी के भी मित्र पण्डित बटुकनाथ शर्मा, जो पण्डित जी के

साथ ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे, की बैठक में नवीन और प्राचीन ज्ञानधारा का अनवरत प्रवाह चलता था। मुझे बाल्यकाल में यह सब देखने में बड़ा आनन्द आता था। पूना, बम्बई से लेकर बंगाल तक के सारस्वतवीर पं. बटुकनाथ शर्मा जी की बैठक में आते थे तथा पण्डित बलदेव जी, मेरे पिता जी (म. म. नारायण शास्त्री खिस्ते), प्रो. क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, प्रो. सत्यांशु मोहन मुखोपाध्याय आदि प्राय: वहाँ उपस्थित रहते थे। उस वातावरण में नये-नये ज्ञान-क्षेत्र का परिमार्गण होता रहता था। पण्डित बटुकनाथ शर्मा नव्य और प्राच्य दोनों धाराओं के परिनिष्ठित विद्वान्, सहृदय कवि, संगीतविद् तथा अन्तर्मुख साधक भी थे। इस वातावरण का प्रभाव पण्डित जी की लेखनी से अभिव्यक्त होता रहता है। 'काशी की पाण्डित्य परम्परा' लिखकर पण्डित जी ने एक बड़े भारी अभाव को भर दिया है।

प्राचीन विद्वान् अपने विषय में बहुत कम लिखते थे। यह उनकी विनम्रता या प्रसिद्धि-पराङ्मुखता ही कहनी पड़ेगी। कुछ लोगों ने लिखा भी है, परन्तु ऐसे ग्रन्थ अत्यन्त अल्प हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ के चरित्र लिखने का पहला प्रयास स्व. म. म. पं. गंगाधर शास्त्री तैलंग जी ने किया। पं. गंगाधर शास्त्री जी ने काशी के पण्डित-पत्र में अपने दोनों गुरुओं का चरित्र प्रकाशित कराया था। 'श्रीराजारामशास्त्रिणो जीवनवृत्तान्तः' तथा 'श्रीबालशास्त्रिणो जीवनवृत्तान्तः' इस नाम से वे दोनों निबन्ध मुद्रित हुए थे। इसी परम्परा को ध्यान में रखकर मेरे पूज्य पिता जी (म. म. पं. नारायण शास्त्री खिस्ते) ने 'विद्वच्चरितपञ्चकम्' नाम से ललित गद्य-पद्यमय संस्कृत-भाषा में पाँच विद्वानों के चरित्र लिखे थे। यह पुस्तक सरस्वतीभवन से १९२५ में प्रकाशित हुई थी। इसमें तात्कालिक विशिष्ट विद्वानों की पर्याप्त चर्चा आयी है। हथुआ नरेश ने किसी प्रसंग में पाँच मूर्धन्य विद्वानों का सम्मान किया था, उसके नाम हैं—म. म. गंगाधर शास्त्री, म. म. कैलास चन्द्र शिरोमणि, म. म. दामोदर शास्त्री, म. म. शिवकुमार मिश्र, म. म. तात्या शास्त्री। इन विद्वानों के चरित्रों में उनके विशिष्ट शिष्यों का भी परिचय दिया गया है। इस

पुस्तक के आधार पर हिन्दी में भी कुछ लिखा गया। इसके बाद पण्डित बलदेव जी का ही यह महान् प्रयास है, जो काशी के समग्र इतिहास पर प्रकाश डालता है। यद्यपि इसमें भी कुछ वैदिक तथा संस्कृत के विद्वानों का परिचय नहीं दिया जा सका है। यह स्वाभाविक भी है कि काशी का विद्वत्समाज इतना विस्तृत था कि सम्पूर्ण अन्वेषण करना एक बहुत बड़ा कार्य है। अपने आप में आचार्य जी का यह ग्रन्थ क्रमबद्ध पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता है, तथा साढ़े सात सौ वर्षों का विवरण देता है।

आचार्य जी ने प्रथमतः काशी का वर्णन वैदिक काल से उपनिषद् आदि तक की चर्चा तथा उसकी ज्ञानप्रधान भूमिका का वर्णन किया है। बौद्धकाल तथा पुराणों में काशी की स्थिति का भी सप्रमाण विवेचन किया है। गौतम बुद्ध से गुरु नानक तक काशीयात्रा के क्रमबद्ध विवेचन दिखाकर काशी की प्राचीन पृष्ठभूमि तथा तीर्थ के वैशिष्ट्य का भी आपने सविस्तार तथा हृदयंगम वर्णन लिखा है। इसके बाद मध्ययुग के महान् तार्किकों, मीमांसकों एवं दार्शनिकों का परिचय देकर अद्यतन विद्वत्परम्परा के मूलस्रोत पर आपने प्रकाश डाला है। मध्ययुग में बंगाल, मिथिला तथा महाराष्ट्र से अनेक विद्वान् काशी आये तथा यहाँ उन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। विशेषतः महाराष्ट्र के विद्वानों की संख्या अधिक थी, जिसमें भट्ट, शेष आदि कुल के पण्डितों का कार्य अधिक था। भट्टवंश के सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्धि है कि इसमें १५ पीढ़ियों तक अविच्छिन्न ग्रन्थकार होते रहे। बंगाल के उच्च नैयायिक भी यहीं आकर विद्याप्रसार में लगे। मीमांसा, ज्योतिष, वेदान्त आदि ग्रन्थों का प्रणयन भी पर्याप्त हुआ। शेषवंश से व्याकरणशास्त्र की पुष्ट परम्परा चल पड़ी। साहित्य में भी पण्डितराज जगन्नाथ आदि विद्वान् इसी युग में हुए। कवीन्द्राचार्य सरस्वती का ऐतिहासिक अभियान–हिन्दुओं का कर छुड़ाने के लिए शाहजहाँ के पास जाना आदि इसी समय की बात है। वेदान्त के विद्वान् मधुसूदन सरस्वती तथा गोस्वामी तुलसीदास जी समकालिक थे। वेदान्त, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र के विद्वानों का विशद परिचय इस

भाग में दिया गया है। इसी प्रकार ज्योतिष की विद्वत्परम्परा पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके बाद के उत्तरवर्ती काल में व्याकरणशास्त्र की नव्य परम्परा के उद्भावक पं. नागेश भट्ट का परिचय दिया गया है, आगे इसी परम्परा में आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय का भी परिचय आया है, जो अनेक शास्त्रों के पण्डित और ग्रन्थ-निर्माता थे। इसके बाद ब्रिटिश शासन के आरम्भ में शासक-चतुर अंग्रेजों ने भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के लिए तथा न्यायालयीय निर्णय के हेतु पण्डितों का सहयोग प्राप्त करना चाहा और इसी के फलस्वरूप 28 अक्टूबर, १७९१ ईस्वी में काशिक राजकीय संस्कृत पाठशाला स्थापित की गयी। तात्कालिक काशी मण्डल में रीजेण्ट डंकन साहब ने वायसराय लार्ड कार्नवालिस से प्रार्थना कर, तात्कालिक काशीनरेश महाराजा से धन और भूमि की प्राप्ति की और 'काशी राजकीय संस्कृत पाठशाला' को सन्नद्ध किया। आगे चलकर इस संस्था को एक से बढ़कर एक विद्वानों का सहयोग मिला और आगे की शताब्दी यहीं के विद्वानों से गौरवान्वित हुई। यद्यपि काशी तथा काशी के बाहर से अनेक विद्यालयों, महाविद्यालयों से विद्वान् काशी की प्रतिष्ठा का संवर्धन करते रहे, तो भी संस्कृत कालेज का अवदान सर्वाधिक रहा। इसमें एक कारण और भी था। काशी संस्कृत कालेज के प्रिन्सिपल के रूप में आनेवाले विदेशी विद्वान् भी सुरभारती के भक्त थे, जिसमें डॉ. वैलन्टाइन, ग्रिफिथ, थीबो, वेनिस आदि का नाम उल्लेखनीय है।

उनमें भी डॉ. वेनिस का समय स्वर्णयुग कहा जाता है। उस समय की विद्वत्परम्परा के प्रमुख रत्न संस्कृत कालेज में एकत्र हुए थे। डॉ. वेनिस की ज्ञान-संवर्धन की परम्परा को दो सुयोग्य उत्तराधिकारी क्रमशः प्राप्त हुए- एक डॉ. गंगानाथ झा तथा दूसरे स्वनामधन्य म. म. गोपीनाथ कविराज।

पण्डित जी ने तात्कालिक महापण्डितों का सांगोपांग परिचय, शास्त्रार्थ - कथा, ग्रन्थ-रचना, शिष्य-शाखा आदि पर पर्याप्त विवरण दिया है। म. म. दामोदर शास्त्री, म. म. बच्चा झा, म. म. गंगाधर शास्त्री

तथा प्रज्ञाचक्षु गट्टूलाल आदि की विश्रुत वाद-कथा का मनोरम चित्रण पण्डित जी ने किया है। उस समय के धुरन्धर पण्डित म. म. कैलास चन्द्र शिरोमणि, म. म. राखालदास न्यायरत्न, पण्डितसम्राट् म. म. शिवकुमार शास्त्री आदि का वैशिष्ट्य यथास्थान वर्णित है। काशी की पण्डित-परम्परा अत्यन्त सुदीर्घ रही है। काशी में पढ़कर अनेक विद्वान् विभिन्न नगरों, राजधानियों में जाकर प्रतिष्ठित हुए। उस समय के ग्वालियर, इन्दौर, बड़ौदा, जम्मू, काश्मीर, मैसूर, हैदराबाद तक यहाँ से विद्वान् जाकर बस गये तथा उन्होंने काशी की परम्परा को पल्लवित किया। प्रख्यात पण्डित श्री बाल शास्त्री अपरनाम बाल सरस्वती जी की नव्य व्याकरण की परम्परा सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त थी।

पण्डित जी ने पण्डितों के साथ ही तात्कालिक विरक्तों, संन्यासियों की परम्परा का भी पर्याप्त विवेचन किया है। काशी के विशुद्धानन्द सरस्वती, भास्करानन्द जी आदि अलौकिक पुरुष थे। इसके बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में तथा अन्यत्र आने वाले विशिष्ट विद्वानों का भी आपने परिचय लिखा है, जो आज भी नयी पीढ़ी को प्रेरणादायक है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय जी की लेखन-शैली अत्यन्त सन्तुलित और मँजी हुई है। आपने अपेक्षित सभी बातों का समावेश कर इस ग्रन्थ की सर्वोपयोगिता और महत्ता प्रतिष्ठापित की है। आचार्य जी की इस महनीय रचना से आने वाली तथा वर्तमान पीढ़ी के लिए महनीय ज्ञानराशि सुरक्षित रही। यदि यह ग्रन्थ न लिखा जाता तो शायद निकट भविष्य में काशी की सारस्वत साधना का उज्ज्वल इतिहास ही लुप्त हो जाता। उनकी इस कृति के लिए हम सभी ऋणी हैं। आचार्य जी ने अपने ऋषि-ऋण का अपाकरण कर जिस पुण्यराशि को प्राप्त किया, वह विद्वत्समाज के लिए अभिनन्दनीय है। हमारी प्रार्थना है काशीपति बाबा विश्वनाथ से कि वह आचार्य जी को शतायु करें, जिसमें हम लोग मार्गदर्शन पाते रहें।

■

प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र की शिक्षापद्धति और उसका आधुनिक सन्दर्भ में उपयोग

पातु वो निकषग्रावा मतिहेम्नः सरस्वती।
प्राज्ञेतरपरिच्छेदं वचसैव करोति या।

संस्कृत-भाषा और उसके व्याकरण, सहित्य, दर्शन, शिल्प, कला आदि विषयों का क्षेत्र सामान्य सीमा से प्रतिबद्ध नहीं है। प्रत्येक विषय के विशाल क्षेत्र हैं। प्रस्तुत अल्प विचार संस्कृत-भाषा की अद्यतन स्थिति को देखते हुए साहित्यविषयक प्राचीन सन्दर्भों की उसमें उपादेयता या आदान-प्रदान के सम्बन्ध में किया जा रहा है।

प्रथमतः एक बात कहनी अत्यावश्यक है कि संस्कृत-भाषा के प्रति यह सामान्य दृष्टि कि संस्कृत दुर्बोध एवं दुरधिगम है, क्योंकि उसका व्याकरण अत्यन्त जटिल एवं सूक्ष्म है, अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। संस्कृत भी एक भाषा है। भाषा के लिये व्यवहार ही मुख्य साधन होता है। प्राचीन शास्त्रकार शब्दशक्ति का ज्ञान कराने में व्यवहार को सर्वश्रेष्ठ साधन मानते थे। शक्तिग्रह के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित नियम सभी विद्वानों को विदित है-

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

प्रसिद्ध आलङ्कारिक दण्डी का कथन है-

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।।

लोकव्यवहार की परम्परा के लिये शिष्टव्यवहार ही कारण है। यहाँ शिष्ट शब्द का तात्पर्य उन कवियों से है, जिनकी रचनाएँ आबाल-वृद्ध सभी पढ़ते हैं तथा प्रतिदिन के कार्यकलापों में उनका उपयोग करते हैं। सिद्ध व्यवहार का समर्थन करने के लिये व्याकरणशास्त्र की आवश्यकता है-"शब्दानामन्वाख्यानं व्याकरणम्" यह कहा गया है। संस्कृत-भाषा के प्रति एक पृथग् भावना रखना ही उसकी दुर्ज्ञेयता बन गई है। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में एक विदेशी भाषा के समान संस्कृत-भाषा का पाठ्यक्रम रखा जाता है, जबकि वह भारत की अपनी प्राणभूत प्रधान भाषा है। संस्कृत शिक्षा का प्रारम्भ काव्यात्मक शैली में किया जाता है। राजशेखर ने काव्यपुरुषोत्पत्ति कथा के द्वारा लौकिक-भाषा का छन्दोमय-व्यवहार ही प्रथम सोपान माना है। छन्दोमयी वाणी पहले वेद में ही थी। काव्यपुरुष ने उसकी लोक-व्यवहार में प्रथम अवतारण की। सरस्वती का कथन है-

त्वत्तः पूर्वे हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न पद्यम्।
त्वदुपज्ञमथातः छन्दस्वद्वचः प्रवर्त्स्यति॥

तात्पर्य इसका यह है कि संस्कृत-भाषा का छन्दोबद्ध रूप ही शिक्षा का प्रथम माध्यम रहा है। परम्परागत संस्कृत शिक्षा प्रणाली में बालकों को प्रथमतः देवताओं की स्तुतियाँ याद कराई जाती थीं। अमरकोष एवं अष्टाध्यायी के मूलपाठ का अभ्यास कराया जाता था। आज के छात्रों ने नवीन वातावरण के प्रभाव से इसे 'रटन्तविद्या' कहकर तिरस्कृत कर दिया है। परिणामतः वे मूलभूत शिक्षा से दूर हो गये। प्राथमिक संस्कार ही भावी जीवन के लिये आधारशिला का कार्य करते हैं-"यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नाऽन्यथा भवेत्" यह प्रसिद्ध ही है। आज अनुसन्धान या रिसर्च के क्षेत्र में भी इस परम्परागत ज्ञान का अभाव अत्यन्त बाधक हो रहा है। केवल ऐतिहासिक शिलालेख, मुद्राओं, शिल्पों या भग्नावशेषों का अध्ययनमात्र संस्कृत-भाषा के यथार्थ सन्दर्भ को परखने में पर्याप्त नहीं होगा जब तक कि क्रमबद्ध रीति से हम अध्ययन का मार्ग पार नहीं करेंगे। साथ ही संस्कृत विद्या के अध्ययन

के लिये शील का उपार्जन अत्यावश्यक है। शील सदाचार में ही अन्तर्भूत है। "शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपम्" यह कुल्लूकभट्ट का कथन है। हारीत के अनुसार शील तेरह प्रकार का है–ब्रह्मण्यता, देव-पितृभक्तिता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्य, मैत्रता, प्रियवादित्व, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य और प्रशान्ति। प्रसङ्गतः इसकी चर्चा करनी पड़ी। संस्कृत-भाषा उदात्त-भावों की जननी है। उसके लिये मानसिक शुद्धि भी परम आवश्यक है।

इसी सन्दर्भ में गुरु-शिष्य सम्बन्ध की महत्ता को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। आज यह प्रश्न उठ रहा है कि इन परम्परागत विश्वविद्यालयों या महाविद्यालयों या पाठशालाओं की क्या आवश्यकता है? जबकि नवीन पद्धति से शिक्षा प्रचार सर्वत्र तेजी से हो रहा है। नवीन शिक्षा प्रणाली की मान्यता एवं जीविका के क्षेत्र में अधिक उपयोगिता के कारण प्राचीन शैली धीरे-धीरे शिथिल हो रही है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उस परम्परा की यदि हम रक्षा न कर सके तो अपने मूलधन को नष्ट कर हम केवल कागजी घोड़े रह जायेंगे।

प्राचीन और नवीन अध्ययन प्रणाली में काव्यशास्त्रीय विषयों पर कुछ तुलनात्मक-चर्चा इस प्रसङ्ग में करनी अनुचित न होगी।

नवीन प्रणाली अनुवाद प्रधान है, संस्कृत की मूल रचना का अंग्रेजी या हिन्दी में अनुवाद ही शिक्षालयों में पढ़ाया जाता है। पचास अंक के प्रश्नपत्र में चालीस अनुवाद या भावार्थ लेखन से पूरे किये जाते हैं, दस या पाँच अंक की संस्कृत व्याख्या पूछी जाती है। छात्र समझता है कि इससे कोई हानि नहीं है। अधिकांश छात्र संस्कृत व्याख्या छोड़कर भी उत्तीर्ण हो जाते हैं। प्राचीन पद्धति में सभी उत्तर संस्कृत-भाषा में ही करना होता है, अतः उसका प्रवेश भाषा में अपेक्षाकृत अधिक होना स्वतः सिद्ध है। दुर्भाग्य से आज संस्कृत की प्राचीन प्रणाली में भी यह रोग प्रविष्ट हो रहा है। संस्कृत काव्य-नाटकों और लक्षण-ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद इतने सुप्राप्त हो रहे हैं, जिससे

पण्डित वर्ग भी उसी रास्ते पर चल पड़ा है। यह खतरे की सूचना है। हिन्दी अनुवाद से हमें विरोध नहीं है, हिन्दी राष्ट्र की भाषा है, उसकी समृद्धि सर्वथा स्पृहणीय है, किन्तु संस्कृत का अध्ययन संस्कृत के द्वारा ही अधिक उपयुक्त होगा।

प्राचीन शिक्षा प्रणाली में विशेषतः महाराष्ट्र में या काशी की परम्परा में काव्य का अध्ययन करने की निम्नाङ्कित प्रणाली थी–

रघुवंश, किरातार्जुनीय आदि काव्यों के किसी श्लोक का, प्रथम मूल का शुद्ध एवं सस्वर उच्चारण गुरु के द्वारा कराया जाता था, उसके अनुसार शिष्यगण उसे दुहराते थे, उसके बाद पदच्छेद की शिक्षा दी जाती थी, उसके बाद अन्वय एवं शब्दार्थ का ज्ञान कराया जाता था, फिर समस्त पदों के समास का बोध कराया जाता था, इसके बाद कोष या व्याकरण सम्बन्धी नियम बताये जाते थे। कुछ दिनों में छात्र स्वयं पदच्छेद करने लगता था, प्रत्येक पद्य में आने वाले शब्दों के सातों विभक्तियों के रूप भी सिखाये जाते थे। इस पद्धति से दो-तीन सर्ग काव्य की शिक्षा प्राप्त कर छात्र स्वयं भाषा में रुचिपूर्वक प्रविष्ट हो जाता था। क्रमशः छन्द एवं अलङ्कार का ज्ञान भी छात्र ग्रहण करते थे। महाकवि की उक्ति–

'लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्'। इसी प्रकार की शिक्षा-पद्धति का संकेत करती है। इस दृष्टि से संस्कृत-भाषा की प्रारम्भिक शिक्षा, जो गुरुकुलों में चलती थी, उसका पुनरुज्जीवन अत्यन्त आवश्यक है।

साहित्य या काव्यशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र भी पर्याप्त व्यापक है, धीरे-धीरे सभी शाखाओं पर अध्येता को चलना पड़ता है। कविचर्या के प्रसंग में राजशेखर ने कहा है–"नामधातुपारायणे, अभिधानकोशः, छन्दोविचितिः, अलङ्कारतन्त्रं च काव्यविद्याः। कलास्तु चतुःषष्टिरूपविद्याः।" इन दोनों विद्या और उपविद्या का ग्रहण कर ही कवि काव्य-रचना में प्रवृत्त होता था–"गृहीतविद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत।" प्रतिभा, व्युत्पत्ति

और अभ्यास तो काव्य के लिये प्रसिद्ध कारण हैं। उनमें व्युत्पत्ति का असाधारण स्थान है। व्युत्पत्ति बहुत से अध्ययन मात्र से साध्य नहीं है; किन्तु बहुविषयक ज्ञान के बाद होने वाला एक बुद्धिसंस्कार है, जो काव्य के प्राणभूत औचित्य की रक्षा करता है। इसी आशय से रुद्रट ने कहा है–

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युपत्तिरियं समासेन॥

इस व्युत्पत्ति का आधान करने की दिशा में वर्तमान शिक्षा-पद्धति कहाँ तक सफल है, इसे विज्ञगण स्वयं देखें। अतः इन प्राचीन गुरुकुल-पद्धति के विद्यालयों की शिक्षा इसी दिशा में यदि यथार्थतः चल सके, तो देश का बहुत लाभ होगा। आधुनिक अनुसन्धान की शैली में जितना परिश्रम बहिरङ्ग पर किया जाता है, उतना आभ्यन्तर विषयों पर नहीं होता। कारण स्पष्ट है–व्युत्पत्ति का अभाव होने से भाषागत एवं विषयगत विवेचन को गौण बनाकर लेखक के काल-निर्णय, ग्रन्थ की पाण्डुलिपि की उपलब्धि पर ही अधिक पन्ने भर दिये जाते हैं। एतदर्थ पारम्परिक शैली से विषय का अध्ययन तथा संस्कृत-भाषा पर पूर्ण अधिकार आवश्यक है।

हमें यहाँ किसी एक पक्ष से आग्रह नहीं है, कार्यप्रणाली की उपयोगिता पर ही विचार करना है।

संस्कृत के प्राचीन कवियों और लेखकों ने अध्येताओं के लिये अनेक शैलियों के प्रयोग किये। उदाहरणार्थ, गद्य-साहित्य में दण्डी के 'दशकुमारचरित' को ही देखा जाय तो भाषा की विविधता तथा नये-नये शब्द-प्रयोगों की सम्पत्ति उसमें प्रचुरतम मात्रा में प्राप्त हो जाती है। गद्य-साहित्य में इस कोटि का दूसरा ग्रन्थ नहीं है। अर्वाचीन लेखकों में पं. अम्बिकादत्त व्यास का 'शिवराजविजय' तथा कतिपय अन्य भी कृतियाँ इस आवश्यकता की पूर्ति करती हैं। पद्य-रचना शैली में दो धाराएँ दृष्टिगोचर हैं– एक कालिदास की प्रसन्न मधुर शैली, जिसका

अनुकरण कतिपय कवियों ने किया। बिल्हण, क्षेमेन्द्र आदि भी इस परम्परा के अनुगामी रहे। छात्रों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के लिये इन रचनाओं से पर्याप्त प्रेरणा मिलती थी तथा आज भी मिल रही है। दूसरी प्रौढिप्रधान रचना, जिसके प्रमुख कवि भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि अनेक हैं। यह शैली विकसित बुद्धि वाले छात्रों के लिये अधिक उपयुक्त रही। इन दोनों ही प्रणालियों का पारम्परिक अध्ययन किये बिना यथार्थतः छात्र व्युत्पन्न नहीं हो सकता। नाटकों की संवाद-प्रणाली भी अत्यन्त कुशलता से बोधप्रद होती है। इस दिशा में संस्कृत कवियों की देन भी नितान्त श्लाघनीय है। यदि हम बड़े नाटकों को छोड़कर 'भास' के छोटे-छोटे रूपकों का ही उपयोग करें, तो यह छात्रों के लिये अत्यन्त उपयोगी हो सकता है। इन बातों का तात्पर्य यह है कि संस्कृत साहित्य का प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक अध्ययन ही लाभप्रद होगा। अनुवाद शैली या कतिपय अंशों के चलनमात्र से चलने वाला पाठ्यक्रम कभी भी समुन्नत बोध नहीं दे सकता। अतः परम्परागत शिक्षापद्धति की रक्षा तथा संवर्धन अवश्यक कर्तव्य है।

काव्य-नाट्य के बाद यदि साहित्य-शास्त्रीय सिद्धान्त विवेचन पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि मूलग्रन्थों का पंक्तिशः अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। साहित्य के प्रचीन आचार्यों के बाद मध्य युग का ध्वनिसिद्धान्त, जो पूर्ववर्ती एवं परवर्ती अलङ्कारशास्त्र के बीच सेतु का कार्य करता है, उसका ठोस अध्ययन आवश्यक है। ध्वनिसिद्धान्त पर वैयाकरणों के स्फोटवाद का पूर्ण प्रभाव है। आचार्य अभिनवगुप्त ने रस के विषय में जो व्याख्या प्रस्तुत की, उसकी पृष्ठभूमि प्रत्यभिज्ञादर्शन पर प्रतिष्ठित है। अतः साहित्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के अध्येता के लिये इन शास्त्रों का परिचय कथमपि उपेक्षणीय नहीं है। ''अन्योन्यानुबन्धीनि शास्त्राणि'' शास्त्रों का परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव रहता है, अतः प्राचीन प्रणाली के अध्ययन की उपयोगिता पर प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता। इस दृष्टि से भामह की यह उक्ति चरितार्थ है–

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः॥

साहित्य-शास्त्रीय दोष-गुण-अलङ्कारों का विवेचन सामान्य रूप से बाह्य चमत्कार मात्र कहा जाता है; परन्तु आलङ्कारिकों ने विभिन्न शास्त्रीय तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की आधारशिला पर इस सुरम्य उद्यान का निर्माण किया है। ख्यातिवाद के अनेक प्रकार, अनेक प्रकार के प्रमाण-प्रमेयों की मीमांसा, इन अलङ्कारों को जीवन प्रदान करती है। अभिनवगुप्तपादाचार्य की रससूत्र-व्याख्या एक स्वतन्त्र साहित्य-प्रस्थान की प्रवर्तिका है। इन विषयों के अध्ययनार्थ हमें प्राचीन परम्परागत प्रणाली की रक्षा करनी आवश्यक है।

प्राचीन परम्परागत विद्या-क्षेत्रों में जो कुछ त्रुटियाँ आ गई हैं, उनका भी हमें निराकरण करना पड़ेगा। संस्कृत के विद्वानों का अध्ययन-क्षेत्र व्यापक होना चाहिए, एकदेशीयता उनके लिये घातक हो रही हैं। समाज की स्थिति अर्थमूलक है, आज संस्कृत का पण्डित उपेक्षित एवं दरिद्र है, हृदय से उसके समर्थक कम हैं। शासन एवं समाज के द्वारा संस्कृत के द्वारा संस्कृतज्ञ का समादर अधिक होना चाहिए।

इन कतिपय शब्दों को आपके समक्ष रखकर मैं अपनी त्रुटियों के लिये आपसे क्षमा चाहता हूँ। महाकवि की वाणी में प्रार्थना करता हूँ-

"सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्॥"

■

भारत की महाविभूति : आचार्य श्रीचन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती

भारतवर्ष सन्तों, आचार्यों, सत्पुरुषों का सर्वदा निवास स्थल रहा है। आज भी वह परम्परा किसी न किसी रूप में जीवित और जागृत है। भगवान् आदि शङ्कराचार्य ने अनेक शताब्दियों के पहले अवतीर्ण होकर विक्षीणप्राय भारत की वेदमूलक परम्परा का पुनरुज्जीवन किया था तथा सभी मर्यादाओं की स्थिति सुदृढ़ की थी। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि भगवान् शङ्कर का अवतार न होता तो हम अपनी अस्मिता भूल जाते। जो कुछ वेदों में, पुराणों में, शास्त्रों में निहित मर्यादा है और व्यवस्था है, उसे हम देख न सकते। हमारी संस्कृति और सभ्यता शङ्कर की कृपा से ही सुरक्षित है।

इसी सन्दर्भ में आज हम काञ्ची कामकोटि पीठ के महान् आचार्य श्री चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती महाराज की जीवन शताब्दी मना रहे हैं। वैसे तो भारत में शङ्कराचार्य के अनेक पीठ हैं और उन पर आचार्यगण अधिष्ठित हैं, परन्तु सच कहा जाय तो यथार्थ शङ्कराचार्य शब्द की सार्थकता श्री चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती जी के साथ ही जुड़ी है।

आचार्य ने बाल्यावस्था में संन्यास ग्रहण कर पीठ का कार्य सँभाला। एक निःस्पृह, त्यागी तथा धर्म प्रतिष्ठापक के रूप में संलग्न यति का जीवन आपका रहा। भारतवर्ष का कोई भी किसी भी जाति या वर्ग का व्यक्ति हो आपके पास जाकर चित्त का समाधान पाता है, कोई भेदभाव आपके पास नहीं है, है तो एक अपार करुणा और इस देश की संस्कृति की रक्षा की कामना। देशी-विदेशी अनेक विद्वानों ने आपसे मिलकर बहुत कुछ पाया। पालब्रंटन जो भारत की अध्यात्मविद्या को जानने आया था, आपसे मिला था। आपने कहा था- 'अभी ठहरो। तुझे भारत में ही गुरु मिलेगा' और अन्ततः उसे अरुणाचल के सन्त रमणमहर्षि का अनुग्रह मिला।

मैंने सन् १९३५ में काशी में हनुमानघाट के मठ में आपके दर्शन और वार्तालाप का अवसर पाया था। मेरे पूज्य पिता जी म. म. नारायण शास्त्री खिस्ते तथा म. म. चिन्नास्वामि शास्त्री उपस्थित थे, उसी समय मेरे अध्यात्म(दीक्षा)गुरु पूज्य श्री गोडबोले महाराज भी बम्बई से पधारे थे। इन महानुभावों की गम्भीर चर्चा का मैंने अवलोकन मात्र किया था।

उसके बाद तो कई अवसर आये। सन् १९६७ में राजमहेन्द्री में एक सम्मेलन के अवसर पर जन समुदाय में बैठे आचार्य ने मेरा नाम लेकर पुकारा। उनकी स्मरण-शक्ति का चमत्कार देखकर मैं श्रद्धा से झुक गया।

मद्रास से माउण्ट रोड पर आचार्य दण्ड-कमण्डल लेकर बिना किसी ताम-झाम के सरपट चले जा रहे थे। सारी जनता मार्ग दे रही थी। उस समय किसी ने क्षण भर बैठने और उपदेश देने के लिए कहा, तो आप नङ्गे चबूतरे पर बैठ गये और उपहार के रूप में एक नीबू मात्र लिया तथा कुछ हित की बातें कहकर आगे बढ़ गये। व्यक्तित्व ऐसा था कि अस्थिपुंज से सूर्य की प्रभा निकल रही हो।

उनका मुझे जब-जब दर्शन होता था, वे अध्यात्मविषयक कर्तव्य का बोध कराते थे। उसके बाद प्रसिद्ध भक्ति-सङ्गीत गायिका श्री शुभलक्ष्मी जी के रिकार्डिंग के प्रसङ्ग में मद्रास और काञ्ची मुझे जाना पड़ा। उस समय आचार्य मौनमुद्रा और विदेहस्थिति में शहर से दूर एक मन्दिर में रहते थे। हम लोगों ने दर्शन किया तो आचार्य ने आशीर्वाद की मुद्रा से अनुग्रह किया। आचार्य की जीवन घटनाएँ अविश्वसनीय, अद्भुत चरित्रों से पूर्ण हैं, परन्तु वे भक्तिमात्र से ग्राह्य हैं, बाह्याडम्बर से नहीं।

अपना पूरा जीवन ग्राम-ग्राम में घूमकर वेद और वैदिक-संस्कृति की रक्षा के लिये आचार्य ने लगा दिया। आज उनकी शताब्दी मनायी जा रही है, जो हम भारतवासियों का पवित्र कर्तव्य है। मैं सहस्रों भक्तों के साथ अपनी मानसिक श्रद्धा-पुष्पाञ्जलि आचार्य जी के श्रीचरणों में अर्पित करता हूँ।

■

छात्र परिषद् : अतीत और अनागत

भारतवर्ष में छात्र परिषदों की सृष्टि बहुत पुरानी नहीं है। आंग्ल शिक्षा मण्डित अधिकारियों के प्रभाव से यूरोपियन शिक्षा-प्रणाली के आदर्श पर इन परिषदों की प्रकल्पना कालेजों में की गयी। वैसे छात्रों में स्वयं ही प्रवृत्ति उत्पन्न हो, इसके लिए प्राचीन गुरुकुलों में चर्चा, वाद-विवाद या अन्य आयोजन करने की प्रथा भारतीय परम्परा में बहुत पुरानी है।

सायंकाल या रात्रि भोजन के बाद अध्यापक और विद्यार्थी मिलकर पारिवारिक भावना से चर्चाएँ करते थे। मैंने कुछ वर्षों पूर्व दक्षिण भारत के संस्कृत विद्यालयों में इस बात को देखा था, वे छात्र भाषण तथा अपने विषयों के अभिज्ञ हो जाते थे। छात्र परिषद् के संघटन का उद्देश्य यह था कि छात्रों को भावी जीवन में समाज में समरस होने का ज्ञान तथा संसदीय प्रणालियों का भी परिचय हो सके।

बहुत समय नहीं बीता है जबकि हिन्दू विश्वविद्यालय या और विश्वविद्यालयों में छात्रों की पार्लियामेंट बनती थी। उनका मार्गदर्शन योग्य अध्यापक करते थे। छात्रों की भाषण शक्ति और कल्पना का विकास तथा आत्मविश्वास इससे बढ़ता था। पहले तो कालेजों में छात्रगण हस्तलिखित पत्रिका निकालते थे, बाद में आर्थिक सुविधा होने पर मुद्रित पत्रिकाएँ भी प्रकाश में आने लगीं।

उस समय इन परिषदों के माध्यम से योग्य छात्र आगे जाकर सफल अध्यापक या सामाजिक कार्यकर्ता, राजनीतिविद् बने और जीवन में ऊँची बुलन्दियों का उन्होंने स्पर्श किया। कांग्रेस की पहली पीढ़ी में ऐसे ही लोग आगे आये थे।

संस्कृत कालेज, वाराणसी का मैं छात्र था। हमारे विद्यालय में प्रत्येक द्वादशी को प्रातः आठ से दस बजे तक दो घंटे छात्र परिवार का

आयोजन होता था। हम लोग या तो निबन्ध पढ़ते थे अथवा किसी शास्त्रीय विषय पर शास्त्रार्थ करते थे तथा एक हस्तलिखित पत्रिका भी निकालते थे। बड़ा ही शान्त और सुखद वातावरण था, गुरुजन भी उचित मार्ग निर्देशन करते थे।

भारतवर्ष की राजनीति गम्भीरता को छोड़कर जबसे छिछले पानी पर उतरी, तब से छात्र परिषदों का उपयोग पार्टियों के लिए होने लगा। वर्तमान समय में कोई भी छात्र परिषद् पार्टी से अछूती नहीं है। यह अवस्था पतन की राह बन रही है। सबसे बड़ी चीज जो देश के लिए मूलाधार है–चरित्र का निर्माण; वह सर्वथा नष्ट हो गया है। मेरा आशय यह नहीं है कि छात्र चरित्रशून्य होते हैं, इसके भी उज्ज्वल उदाहरण हैं; किन्तु उपद्रवियों के माहौल में चरित्र का कोई स्थान नहीं रह गया है।

खास तौर पर देखा गया है कि साइंस या टेक्नालॉजी के छात्रों की परिषदों में विशेष रुचि नहीं होती; क्योंकि उनके पास समय ही नहीं होता। फलतः कला या आर्ट के छात्रों का समुदाय इन परिषदों में अधिक रहता है। उनको सिर्फ परीक्षा के कुछ पूर्व ही पढ़ने की आवश्यकता मालूम होती है। अब तो वह भी शून्य बिन्दु पर जा रही है। अध्ययन की आवश्यकता ही नही रह गयी। छात्रों का नेतृत्व दस-बीस साल करने के बाद छात्र स्वयं एक संस्था का रूप धारण कर लेता है। पार्टियों से धन उपलब्ध होने से कोई परेशानी नहीं रहती। ऐसे छात्रनेता आजीवन या कम से कम आधे जीवन तक तो परिषद् पर ही निर्भर रहते हैं। नेतागिरी एक पेशा बन जाता है, जिसके उदाहरण बहुत देखने को मिलेंगे। ये ही छात्रनेता विधायिका में भी जाते हैं और अपनी कला का वहाँ भी उपयोग करते हैं। आधुनिक समय में भी कुछ छात्रनेताओं ने अपने चरित्र एवं कार्य से सफलता प्राप्त की है, परन्तु सामान्य रूप से छात्र परिषदों का उपयोग माँग बढ़ाना, अध्ययन बन्द करवाना, तोड़-फोड़ आदि विध्वंसात्मक कार्य करने में ही बचा है। छात्र और पुलिस का संघर्ष एक कष्टप्रद समस्या है। शासन के पास उपद्रव को शान्त करने

का दूसरा उपाय नहीं है। आज राजनीति में वार्तालाप या बातचीत के द्वारा समस्या के समाधान की केवल चर्चा मात्र होती है, प्रत्यक्ष रूप से तो संघर्ष, मारपीट, लूटपाट, हत्या ये ही साधन बनते हैं। छात्र परिषदों के कारण अधिकांश विश्वविद्यालयों में अध्ययन को ग्रहण लगा हुआ है।

दूसरी ओर भी देखना जरूरी है। केवल छात्र ही पथभ्रष्ट नहीं हैं, उनके पीछे ऐसे अध्यापकों की भी एक पंक्ति है, जो इन छात्रों से लाभ उठाना चाहती हैं तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए इस साधन का उपयोग करती है।

विश्वविद्यालयों की नियुक्ति में अध्यापकों की नीति चरम कोटि पर आ गयी है। विशेष गुट के प्रभाव से ही अध्यापक नियुक्त होता है। कुलपति की स्थिति तो दयनीय हो जाती है कि वह क्या करे और किसकी सुने?

कुछ कुलपति भी ऐसे निपुण हैं, जो अपने आदमियों को धड़ल्ले से नियुक्ति कर लेते हैं।

इस वातावरण में छात्र परिषद् एक माध्यम या साधनमात्र रह गयी है। यदि यही दशा रही तो अधिक पतन ही होगा। पार्टियों का प्रभाव तथा धन का उपयोग छात्र परिषदों पर जब तक रहेगा, तब तक तीव्रतर संघर्ष होगा ही।

छात्रशक्ति यदि सहचारों से संगठित हो तो पूरे देश का कलेवर बदल सकती है; परन्तु इसमें सहिष्णुता और चरित्र का बल कहाँ है? सुशील, अध्ययनरत छात्र को बेवकूफ समझा जाता है।

छात्रों के विषय में शासन को एक सुदृढ़ और संशोधित नीति की घोषणा करनी चाहिए, जिससे भविष्य का मार्ग कल्याणकारी हो सके। अन्यथा भावी पीढ़ी का समय अन्धकारमय हो जाएगा।

■

भारत की राष्ट्रीयता का पर्याय है संस्कृत-भाषा

हाल ही में उत्तर प्रदेश शासन के शिक्षामन्त्री द्वारा कक्षा छः से इण्टर तक संस्कृत शिक्षा की अनिवार्यता घोषित की गई है।

यह एक प्रशंसनीय कदम है। भारत की राष्ट्रीयता का पर्याय ही संस्कृत भाषा है। भारतीय लोगों के लिये वे चाहे जिस जाति या धर्म या वर्ग के हों, संस्कृत जानना इसलिये आवश्यक है कि इस राष्ट्र की मूलभूत संस्कृति एवं उदात्त विचारों का परिचय संस्कृत से ही हो सकता है। सम्पूर्ण धर्मों और भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव निर्विवाद मान्य है। साथ ही संस्कृत के द्वारा मानवीय संवेदनशीलता एवं सहज बन्धुत्व की भावना को प्रतिष्ठापित किया जा सकता है।

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" यह भगवान् रामचन्द्र का ही वाक्य है।

अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में गुटविरहित मानव समाज की रचना का उल्लेख है। संस्कृत-भाषा के सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ भी हैं, जैसे यह भाषा कठिन है, बिना व्याकरण के इसका ज्ञान नहीं होता इत्यादि। परन्तु यह सब दुष्प्रचार मात्र है। कोई भाषा व्यवहार से शीघ्र आती है, उसमें अलग से व्याकरण की आवश्यकता नहीं है।

व्याकरण एक विज्ञान या शास्त्र है, जो स्वतन्त्र रूप से पढ़ा जा सकता है। इस सम्बन्ध में चिरकाल पूर्व ही विद्वानों ने मार्गदर्शन किया था। 'पञ्चतन्त्र' संसार की सर्वश्रेष्ठ बाल साहित्य की पुस्तक है, जिसमें उपदेश देने के लिए मनोरम कथाओं और महत्त्वपूर्ण सूक्तियों का संग्रह किया गया है। इधर इसका प्रचार बन्द है, उसे पुनः पाठ्यक्रमों में रखना

चाहिए। पञ्चतन्त्र से ही समस्त विश्वसहित्य में बालकथा का प्रसार हुआ है, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

पाठ्यक्रम के विषय में शासन को चहिए कि प्राचीन ग्रन्थों के मौलिक सरल अंशों का ही चुनाव किया जाय। यदि नई पुस्तकें लिखने की योजना बनी, तो वर्तमान विद्वान् अपना व्यापार शुरू कर देंगे और लाभ नहीं होगा; क्योंकि प्रायः नये पाठ्यक्रम की पुस्तकों में लेखकों की अयोग्यता स्पष्ट हो जाती है। सरल अनुवाद, व्यावहारिक वार्तालाप तथा सुभाषित-चर्चा, अन्त्याक्षरी आदि से संस्कृत-भाषा शीघ्र अभ्यस्त होगी।

आगे की कक्षाओं में महाकवि कालिदास, भारवि, बाण, दण्डी के उपयुक्त अंश पढ़ाये जाँय। अतः पाठ्यक्रम बनाते समय पूरी सावधानी की आवश्यकता है। संस्कृत के कवियों ने भारतीय विशुद्ध राजनीति एवं चरित्र निर्माण में बहुत कार्य किया है। उनसे बालकों को प्रेरणा मिलेगी।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एक अनिवार्य संस्कृत का पत्र था। उसे बन्द कर विश्वविद्यालय ने महामना की आत्मा को आघात पहुँचाया है। अतिशीघ्र वह पत्र चालू किया जाए। ज्ञान, विज्ञान, प्रतिरक्षा, गणित या चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में संस्कृत की उपयोगिता निर्विवाद सिद्ध है। शासन की पत्रावलियाँ भी सरल संस्कृत में लिखी जा सकती हैं।

प्राचीन अर्थशास्त्र से शब्द-संग्रह भी हो सकता है। उत्तर प्रदेश शासन को हम इस कार्य के लिए बधाई देते हैं, बशर्ते वह अपने विचारों को शीघ्र क्रियान्वित करने में सफल हो।

■

लोकमान्य की पावन स्मृति

भारतवर्ष की पराधीनता का प्रतिकार करने का प्रथम शंखनाद लोकमान्य तिलक ने ही किया था। विदेशी शासकों की मजबूत किलेबन्दी को हाथी की टक्कर लोकमान्य ने दी थी। आज देश को आजादी मिले अनेक वर्ष हो गये, आजादी का मूल्य लोग अब भूल रहे हैं। घने नैराश्य के अन्धकार में किंकर्तव्य-विमूढ़ जनमानस को 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' यह मन्त्र देकर अपने पैरों पर खड़े होने का आवाहन तिलक की प्रथम अवधारणा थी।

मन्दान्ध ब्रिटिश शासकों को राजनीति और वैदुष्य तथा जनशक्ति जागरण के बल से परास्त करने का मार्ग लोकमान्य का था। बलवान् फड़के आदि पुराने क्रान्तिकारियों की स्थिति से बोध उठाकर तिलक जी ने दूसरा मार्ग अपनाया, जिसका प्रायोगिक रूप 'केसरी' और 'मराठा' पत्रों का प्रकाशन था। तिलक जी की ओजस्विनी लेखनी से जन-जन में स्वातन्त्र्य की चिनगारी सुलगने लगी। 'केसरी' के लेख विदेशी शासकों के लिये बाण सिद्ध हुए, जिनका कोई उत्तर उनके पास न था, अन्ततः केवल पशुबल से वे जनता को दबाने लगे एवं तिलक जी को कई बार कारागार में बन्द किया। इसका फल उलटा ही हुआ। तिलक जी ने समय का सर्वदा उपयोग किया। जेल जीवन में उन्होंने भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में मौलिक ग्रन्थ लिखे, जिनका शाश्वतमूल्य आज भी प्रतिष्ठित है।

तिलक जी में नेतृत्व के गुण थे। तपस्या से वे ओत-प्रोत थे, जनता उनके इशारे पर मरने-मिटने को उद्यत हो गई। लन्दन में अपने

मुकदमे में वे स्वयं बहस करते थे, जिनका उत्तर अंग्रेजों के पास नहीं था।

अप्रतिम प्रतिभा के धनी तिलक ने समय-समय पर जो लिखा या जो भाषण दिये, वे आज के लिए प्रेरणाप्रद सूत्र हैं। उनका शाश्वत महत्त्व है। समाज के सर्वाङ्गीण उत्थान के लिए तिलक जी ने गणेशोत्सव, शिवाजी-जयन्ती आदि कार्यक्रम प्रारम्भ किये, जिससे युवामानस जाग उठा एवं अंग्रेजी हुकूमत हिल गई। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उनकी बहुत देन है।

आज की स्वतन्त्रता की आधारशिला के संस्थापक उस महापुरुष का उसके जन्म-दिन पर हम स्मरण करें और उनके मार्ग पर चलने का संकल्प करें।

■

सम्प्रदाय और साम्प्रदायिकता

आजकल नेताओं के भाषण में 'सम्प्रदाय' और 'साम्प्रदायिकता' इन दो शब्दों की चर्चा अधिक हो रही है, विशेषतः कांग्रेस के नेताओं में।

संस्कृत और हिन्दी भाषा में इन शब्दों का अर्थ प्रशंसात्मक है, जबकि वर्तमान सन्दर्भ में इनकी व्याख्या निन्दापरक की जा रही है।

सम्प्रदाय का अर्थ 'सम्यक् प्रदाय' से बनता है। अच्छी तरह से किया जाने वाला ज्ञान या जीवन की शिक्षा ही सम्प्रदाय है। संस्कृत के कोषों में दो व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं—१. शिष्टपरम्परा से अवतीर्ण उपदेश, २. गुरु या परम्परा से सदुपदिष्ट व्यक्तिसमूह।

इस अर्थ में पूर्वाचार्यों, महर्षियों या वेद और शास्त्रों की परम्परा से उपदिष्ट ज्ञान या जीवन पद्धति ही सम्प्रदाय है और बिना सम्प्रदाय का ज्ञान अधूरा और अप्रामाणिक कहा जाता है। इसी तरह संसार की अन्य जातियों या धर्मों की परम्परागत शैली ही सम्प्रदाय है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी परम्परा का ही अनुकरण करना चाहिए।

भारतवर्ष में वैसे तो अनेक जातियाँ और धर्म हैं तथा उनकी परम्पराएँ भी हैं। उनको अपनी परम्परा के अनुसार जीने का अधिकार है। इस अधिकार में प्रान्तीय या केन्द्रीय शासनों को परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। इसी को 'धर्मनिरपेक्षता' कह सकते हैं। राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री हर सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण उत्सवों पर अपनी शुभकामनाएँ घोषित करते हैं।

भारत में प्रमुख रूप से दो परम्पराएँ चिरकाल से साथ ही पनपती रहीं। एक हिन्दू तथा दूसरी मुस्लिम। साथ ही बौद्ध, श्रमण,

सिक्ख, ईसाई इत्यादि भी इनके साथ चलते रहे। इस स्थिति में यदि किसी समुदाय पर कोई ज्यादती अत्याचार हुआ है तो उसको सुधारने का उत्तरदायित्व शासन पर आता है। इस पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में अयोध्या के रामलला के स्थान पर विचार करना चाहिए। वर्तमान विवादित स्थान वस्तुतः राम या विष्णु का मन्दिर था, यह बात प्रामाणिक पुरातत्त्ववेत्ताओं की समीक्षा से सिद्ध हो चुकी है।

उस स्थान से नीचे प्राप्त ध्वंसावशेष भी यह बात पुष्ट करते हैं। ऐसी स्थिति में शासन को उसे मन्दिर ही कहना चाहिए। विदेशी आक्रामकों ने यदि उसे तोड़कर रूपान्तर कर दिया, तो वर्तमान स्वदेशी सरकार का यह निष्पक्ष कर्तव्य है कि उसे पूर्वरूप में स्वीकार कर मन्दिर घोषित करे एवं उसके निर्माण में सक्रियता दिखाये।

यदि किसी अन्य धर्म का स्थान यहाँ के किसी सम्प्रदाय ने बदल दिया हो, तो उसे भी पूर्वरूप देने का कार्य शासन ही करे। ऐसी स्थिति में मन्दिर निर्माण की बात को 'साम्प्रदायिक' शब्द से निर्दिष्ट कर निन्दा न करे। अन्यथा यह अत्यन्त गर्हित मनोवृत्ति का द्योतक होगा।

'सम्प्रदाय' शब्द गौरव का बोधक है, जिसके ठीक उलटे अर्थ में पढ़े- लिखे मर्मज्ञ भी प्रयोग कर रहे हैं। यह तो स्वार्थ की राजनीति का आवरण है, जो इनकी आँखों पर छाया है। समुद्रतटीय प्रदेशों में चिरकाल से ईसाई सम्प्रदाय ने फैलाव कर रखा है। अनपढ़ गरीब जनजातियों को उच्च जीवन स्तर का प्रलोभन देकर धड़ल्ले से धर्मान्तरण किया जा रहा है। ये मूलतः भारतीय और हिन्दू होते हुए भी अज्ञान से इस जाल में फँसते रहते हैं, इस ओर शासन आँख मूँद कर देखता है। यद्यपि समय-समय पर चर्चा होती रही है। इससे कितनी बड़ी राष्ट्रीय हानि होती है, यह बात विचारणीय है! शासन चाहता है कि विभिन्न वर्गों में लोग बँट जाँय और वोटों का लाभ हो। अतः शासन इन बातों की अनदेखी करता रहा।

हमारी राय में 'हिन्दू' शब्द का अर्थ यही है कि जो इस भारत या हिन्दुस्तान में रहता है, चाहे वह किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का हो। इस तरह बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक की परिभाषा भी समाप्त हो जायेगी। जब हमारे प्रधानमन्त्री या उनके पार्षद बारम्बार 'साम्प्रदायिकता' के उन्मूलन की बात करते हैं, तो लगता है कि भारत की व्यापक सत्ता पर कुठाराघात हो रहा है। सम्प्रदाय और साम्प्रदायिकता दोनों शब्द प्रतिष्ठा के सूचक हैं।

हर विद्या, कला, धर्म या परम्परा का एक सम्प्रदाय होता है और उनका आदर एवं अनुसरण करना ही साम्प्रदायिकता है, अतः हमारा अनुरोध है कि इन शब्दों का गलत प्रयोग न किया जाए।

■

हिन्दू धर्म के दो आधार

भारतीय परम्परा में शास्त्रों तथा विभिन्न मतों की विचारधाराओं के अनुसार दो बातें निर्विवाद सिद्ध हैं–आत्मा और ईश्वर। आत्मा देह में आती है और देह से जाती है। यद्यपि आत्मा को निर्गुण, निर्विकार कहा गया है, परन्तु सारे संस्कारों का वहन भी वही करता है। उदाहरण के लिए दर्पण स्वभावतः स्वच्छ प्रकाश रूप है, उसमें कोई अपना रंग नहीं है; परन्तु उसमें संसार की समस्त वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है। यही स्थिति आत्मा की है। अपने संस्कार या कर्मों के अनुसार आत्मा परलोक में या देहान्तर में जाता है। इस यातायात का माध्यम होने से आत्मा की महत्ता सर्वाधिक मानी गयी है। आत्मा प्रकाश की इकाई है। परमात्मा और आत्मा में वास्तविक भेद नहीं है; परन्तु सृष्टिक्रम के चलने पर भेद–प्रक्रिया आभासित होती है। समुद्र और उसका एक तरंग या सूर्य और उसकी एक किरण इतना ही भेद आत्मा और परमात्मा में कहा जा सकता है।

हिन्दू धर्म की सभी विधाएँ आत्मा के संस्कार पर जोर देती हैं, चाहे वर्णाश्रमों के संस्कार हों या उपासना शास्त्र के। पहले प्रवृत्तिमार्ग के शोधक हैं, तो दूसरे निवृत्तिमार्ग के हैं। आत्मा के अस्तित्व से ही पुनर्जन्मवाद सिद्ध होता है। अनेक धर्मों के लोग पुनर्जन्म नहीं मानते; परन्तु ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं जिनसे अन्ततः पुनर्जन्म मानना पड़ता है। केवल भारत में ही नहीं, किन्तु अन्य देशों में भी पुनर्जन्म या उसकी सृष्टि की चर्चा सुनी गयी है।

आत्मा के उत्तरोत्तर विकास एवं परिशोधन के लिए ही ऋषियों ने संस्कारों का विधान किया है। पुत्र उत्पन्न होने पर जब जातकर्म–संस्कार

पिता करता है, तो वह कहता है–**''आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स्वजीव शरदां शतम्''**। अर्थात् तुम पुत्र नामक आत्मा ही हो या मेरी ही आत्मा का अंश हो। तुम सौ बरस जीयो।

संस्कार गर्भ-धारण के पूर्व से शुरू होता है और सम्पूर्ण जीवन की समाप्ति के बाद भी चलता रहता है। **''निषेकादिश्मशानान्ता: सर्वा वै मन्त्रतः क्रियाः''** यह उक्ति प्रसिद्ध है। परन्तु सभी आत्मा की समान गति नहीं है, अपने संस्कारों या कृत कर्मों के अनुसार उसकी भिन्न-भिन्न स्थिति होती है। कोई मृत्यु के बाद तत्काल जन्म ग्रहण करता है, दूसरा कुछ समय वर्षों या महीनों के बाद जन्म लेता है। कोई जन्म ग्रहण नहीं भी करता है। यह सब कर्म सूत्रों के अनुसार होता है। उदाहरण के लिए बैंक के खाते की तरह यथासमय व्याज या अर्जित का भुगतान होता रहता है।

''गातयो भिन्ना यथा हि देहिनाम्''–प्रत्येक प्राणी की योनि अलग रहती है। आत्मा के अस्तित्व पर ही इहलोक और परलोक की सभी समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। अब प्रश्न यह है कि यह यातायात का सुख और दु:खमय चक्र जब आत्मा को कभी नहीं छोड़ता, तो उसकी अन्ततः मुक्ति कैसे हो?

इसका अच्छे-अच्छे संस्कारों का अधिक से अधिक ग्रहण और उनका अनुसरण करना, जिससे क्रमशः ऊर्ध्वगामित्व प्राप्त हो सके। अन्ततः यह जीवरूप अंश अपने मूलरूप परमात्मा को प्राप्त कर सकता है और उसका एकमात्र साधन है- जप।

यह भारत के मनीषियों के विचारों का निचोड़ है। जिन लोगों ने आत्मा के अस्तित्व पर आपत्ति उठाई है, वे भी किसी न किसी रूप से उसे मानते हैं, केवल विवाद के लिए भले ही अन्य शब्दों का प्रयोग किया गया हो। जितना सुपरिष्कृत एवं युक्तिसंगत चित्रण ऋषियों ने किया है, उसकी तुलना में विश्व की किसी भी संस्कृति में नहीं मिलेगा। यदि कुछ चित्रण है तो यहीं के चित्रण का रूपान्तर मात्र है।

अब ईश्वर के विषय में सोचना चाहिए। वस्तुतः ईश्वर के अतिरिक्त कोई पदार्थ इस सम्पूर्ण विश्व में नहीं है। वही सारी सृष्टि या उसके संहार का स्वामी है। प्रश्न है कि यदि ईश्वर है और सृष्टि-संहार भी उसकी सहज क्रिया है, तो उसे इस उधेड़-बुन से क्या लाभ है?

इस विषय में शास्त्रकारों का कथन है कि ईश्वर कोई जड़ पदार्थ नहीं है। वह सर्वव्यापक चैतन्य है और उस चैतन्य में इच्छा, ज्ञान और क्रिया सर्वदा रहती है और उन्हीं के कारण सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह का चक्र चलता रहता है। उदाहरण के लिए कोई सम्राट किसी बड़े देश का अधिपति हो तो वह खाली तो नहीं बैठ सकता। उसे सारी शासन की प्रक्रिया चलानी पड़ती है और उसका फल यदि है, तो उसका परितोष ही है। मैं साम्राज्य का संचालन कर रहा हूँ, यह भावना ही प्रधान है।

ठीक इसी तरह उस परम सम्राट को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने और उसका आनन्द लेने में सन्तोष होता है। अतः यह विश्वचक्र का स्पन्द उसका ऐश्वर्य या विलास है। यदि ईश्वर किसी जंगल में पड़े शिला की तरह होगा, तो उसका ऐश्वर्य या सामर्थ्य कैसे अभिव्यक्त होगा? महाकवि ने सच कहा है–

"यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः"। इस अर्थ में शुद्ध 'ईश्वर' शब्द भगवान् शिव का वाचक है। ईश्वर में निग्रह और अनुग्रह की शक्तियाँ हैं और वह यथाधिकार उसके प्रयोग में भी है।

ईश्वरसिद्धि पर बहुत लिखा गया है। सारा विश्व चेतनामय है, यह तो अब विज्ञान से भी सिद्ध हो गया है। सृष्टि में विकास-प्रक्रिया निरन्तर चलती है। इस चैतन्य धारा का कोई मूल-सूत्र या जेनेरेटर अवश्य ही होना चाहिए, जो अशेष स्पन्दन को अनुप्राणित करता है। हजार प्रयत्न करने पर भी सृष्टि के गहनतम परिवर्तनों पर प्रभुत्व करना मानव के लिए अब भी असाध्य बना है। विज्ञान जड़ वस्तुओं पर प्रभुत्व के लिए सतत यत्नशील है; परन्तु उसकी कोई भी उपलब्धि अन्तिम

नही है। अत्यन्त संघर्षमय स्थिति में मानवमात्र प्रभु के कृपाकण के लिए अञ्जलि बाँधता है और कल्पनाशील ईश्वर का अनुग्रह भी प्राप्त करता है; परन्तु इतने पर भी सभी का मोहभंग नहीं होता।

यद्यपि सृष्टि की सामान्य प्रक्रिया के अनुसार ही ईश्वरेच्छा से सभी काम चलते हैं; परन्तु विशेष स्थिति में वह अपने विशेषाधिकार का प्रयोग सम्प्रभुता सम्पंन्न सम्राट् की तरह करता है। पुराणों की बात छोड़िए, आधुनिक युग में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। 'योगसूत्र' ईश्वर को सृष्टि का आदिगुरु कहता है; क्योंकि वह कालातीत है और सभी गुरुओं का आदिगुरु है–**'स पूर्वेषामपि कालेनाऽनवच्छेदात्।।'**

गुरु के लक्षणों में सबसे प्रधान लक्षण है– शिष्यों का हित करना, कल्याण की राह दिखाना और वही विश्व का बन्धु, ईश्वर, सभी के आदि से अन्त तक के चिन्तन की विश्रामभूमि है, यही भारतीय मनीषियों का अभिप्राय है।

■

॥ तन्त्रशास्त्रीयनिबन्धाः ॥

त्रैपुर-दर्शनम्

आचार्यतनुमाश्रित्य बोधयन्ती परापरान्।
तत्त्वार्थान् सा जयत्येका चन्द्रमौलिकुटुम्बिनी॥

शैव-शाक्तदर्शनपरम्परासु परिचयभाजां विदुषां तदन्यतमत्वेन प्राधान्येन वा श्रीविद्यासम्प्रदायस्तदीयं विपुलतरं वाङ्मयञ्च श्रुतिगोचरीभूते विद्येते एव। सम्प्रदायस्यास्य विशेषस्तावदयम्–आगमवेदभागयोः समशीर्षिकया परिगणनमुपयोगश्च सम्प्रदायेऽस्मिन् परिदृश्यते, तत एव च श्रीशङ्करभगवत्पाद-अप्पयदीक्षित-भास्करराय-राघवभट्टप्रभृतीनां महात्मनां महाविदुषाञ्च दर्शनेऽस्मिन् साभिनिवेशं प्रवृत्तिस्तत्तद्ग्रन्थव्याख्यातृत्वञ्चावलोक्यते। प्रत्यभिज्ञादर्शने श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्या इव श्रीविद्यापराभिधत्रैपुर-सम्प्रदायेऽस्मिन् व्याख्यातृषु मूर्धन्यभावं श्रीभास्कररायदीक्षितेन्द्रा भजन्ते। विविधप्रकारैर्व्याख्यानप्राचुर्यं परम्परायामस्यामपि दृश्यते। सम्प्रति लेखेऽस्मिन् त्रिपुरारहस्यज्ञानखण्डीयं विषयमवलम्ब्य संक्षेपेण प्रमेयविचारः प्रस्तूयते।

अत्रेदं किञ्चिदैतिह्यमुपयुज्यते– पुरा किल ब्रह्मलोके ब्रह्मसभायां समवेतायां समुपस्थितेषु महर्षिवृन्दारकेषु सूक्ष्मातिसूक्ष्मपरतत्त्वविचारः प्रादुरभूत्। 'परतत्त्वनिर्णयेनाहं साकल्येन समर्थः' इति ब्रह्मणोत्तरिते विष्णुलोकं गतेष्वेतेषु विष्णुनाऽपि तथैवोक्ते महेश्वरं सम्प्राप्ता महर्षयः। भगवान् महेश्वरोऽपि तथैवोत्तरितवान्। अथ सर्वेष्वेवासमर्थेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः परतत्त्वनिर्णयाय भगवतीं महाविद्यां ध्यायन्तश्चिरं प्रसादयामासुः। कारणपुरुषाणां ब्रह्मादीनां महर्षीणाञ्च तपसा परितुष्टा चिच्छरीरिणी त्रिपुरा चिदाकाशमभिव्याप्य वर्तमाना शब्दब्रह्ममयी प्रादुरासीत्। गगनाङ्गणे मेघगम्भीरनिस्वनः प्रादुर्बभूव–

वदन्त्वृषिगणाः किं वो ध्याता तद् द्रुतमीहितम्।
मत्पराणां हि केषाञ्चिन्न हीयेताभिवाञ्छितम्॥' (२०.२०)

इति। अथ ब्रह्मादयो यथोचितं स्तोत्रादिभिर्महाविद्यां परितोष्य स्वीयान् प्रश्नानवतारयामासुः। यथा–

‘ब्रूहि यत्तेऽपरं रूपमैश्वर्यं ज्ञानमेव च।
फलं तत्साधनं मुख्यं साधकं सिद्धमेव च॥
सिद्धेस्तु परमां काष्ठां सिद्धेषूत्तममेव च।
देव्येतत् क्रमतो ब्रूहि . . . . ॥’ (२०.२७-२८)

इत्यादिना। अथ भगवत्या महाविद्यया साररूपेण प्रत्येकं प्रश्नाः समाहिताः, सारभूतमागमानाममृतमिदमिति च सूचितम्। यथा–

‘अमृतं ह्यागमाम्भोधेः समुद्धृत्य ददामि वः’ इति। (२०.३०)

तत्र प्रथमप्रश्ने ‘यत्तेऽपरं रूपमि’त्यत्र ‘अ’कारप्रश्लेषेण प्रश्नस्यांशद्वयं परम्, अपरमिति सञ्जायते। तदनुरोधेन प्रथमतः परं रूपं व्याख्यातम्। यथा–

परा प्रतिभैव देव्याः परं रूपमिति सिद्धान्तः। सा परा प्रतिभा किं स्वरूपेत्याकांक्षायामिदमवधेयम्। इह खलु घटपटादिनानाविधविचित्रदृश्याकारा प्रतिभा ज्ञानशब्दवाच्या स्वप्रकाशाऽनपह्नवनीया जागर्ति। यदि तस्या अपह्नवः स्यात्तर्हि न प्रश्नो नाप्युत्तरं घटते, प्रश्नप्रतिवचनादेः प्रतिभामात्रायत्तत्वात्। नहि तस्यास्तत्तद्दृश्याकारक्षणिकप्रतिभामात्रपरिनिष्ठितं रूपम्, स्मृत्यनुसन्धानाद्यनुपपत्तेः। अतस्तद्रूपं तत्तत्प्रतिबिम्बपरिच्छिन्नदर्पणांशराश्यनुस्यूतमहादर्पणात्तत्तद्दृश्याकारपरिच्छिन्ना परप्रतिभाधाराराश्यनुस्यूतमहाप्रतिभैव। एषैव परा प्रतिभा सामान्यज्ञानरूपा देशकालाद्यपरिच्छिन्ना परं रूपमिति त्रिपुरारहस्यदीपिकायां श्रीनिवासस्योक्तिः। अयमेवार्थः श्रीईश्वरप्रत्यभिज्ञायां भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादितः। यथा–

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाऽविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥ (१.५.१४)

इति। सौभाग्यभास्करे श्रीभास्कररायदीक्षितैरपि ‘देशकालापरिच्छिन्ना’ इति नामव्याख्यानेऽयमेवार्थः परामृष्टः। तद्यथा–‘‘देशकालाभ्यामपरिच्छिन्ना।

तत्कृतपरिच्छेदाभाववती। 'इह नास्ती'ति प्रतीतिविषयोऽत्यन्ताभावो देशतः परिच्छेदः, 'पूर्वं नासीदग्रे न भविष्यती'ति प्रतीतिविषयौ प्रागभावप्रध्वंसौ कालतः परिच्छेदः। 'अधुना नास्ती'ति त्वत्यन्ताभाव एव। ईदृशपरिच्छेदाभावो नाम तत्प्रतियोगित्वाभावः, प्रतियोगित्वसम्बन्धेन तयोरभावो वा तद्वतीत्यर्थः'' इति।

इदमेव परं रूपं त्रिपुरायाः, यत्र दर्पणप्रतिबिम्बन्यायेन जगदवभासते। यदुक्तम्–

यत्र सर्वं जगदिदं दर्पणप्रतिबिम्बवत्।
उत्पन्नञ्च स्थितं लीनं सर्वेषां भासते सदा॥ (२०.३१)

ननु दर्पणे बिम्बनिमित्तकं प्रतिबिम्बभासनम्, परप्रतिभायां कुतो जगदवभासनमिति चेत्, उच्यते–स्वातन्त्र्याख्यशक्तिमहिम्नैव तदपि सङ्गच्छते।

ननु 'भासते' इत्युक्तेर्भास्यभासकद्वैतानपगमः, तदपि समाहितम्। यथा **'यद्योगिनां निर्विकल्पं विभात्यात्मनि केवलम्'** इति। स्वात्मनि चिद्रूपे देहादिदृश्याभासलेशशून्ये केवलमहमित्यखण्डानुभवाकारे द्रष्टृमात्ररूपेणैव तद्भानमिति भावः। यथोक्तं महर्षिणा दुर्वाससा शक्तिमहिमस्तोत्रे–

'विश्वं व्याप्य चिदात्मनाहमहमित्युज्जृम्भसे मातृके' इति।
(श्लो. २७)

नन्वेवंविधे परप्रतिभारूपे योगिभिन्नानामस्मद्विधानां किं प्रमाणं येनाश्वासः सम्भवेदित्यत उच्यते– **'यदभाने न किञ्चित्स्याद् यच्छास्त्रैरभिलक्षितम्'** (२०.३५) इति। यत्स्वरूपानङ्गीकारे विश्वस्य सर्वस्याप्यन्धबधिरप्रायतापत्तिरिति व्यतिरेकेणोच्यते। शास्त्राणां तु, लक्षणावृत्त्यैव प्रवृत्तिः, साक्षादभिधातुमसामर्थ्यात्। अत एव 'अभिलक्षितम्' इत्युक्तिः। ललितानामत्रिशत्यामपि पठ्यते 'लक्ष्यार्था लक्षणागम्या' इति। अत्रापि भूतकालिकप्रत्ययविधानाच्छास्त्रैरभिलक्षितं तिष्ठत्येवेति सूच्यते। इदमेव परं रूपं महाविद्यायाः इति प्रथमप्रश्नस्य प्रथमोंऽशः समाहितः।

अथापरं रूपं व्याख्यायते–'तत्तु सगुणं सगुणसदृशं वा'। साम्प्रदायिकास्तु सगुणसदृशं न पुनः सगुणमिति विवृण्वते, षट्त्रिंशत्तत्त्वसंख्यानवेलायां गुणानामधोऽधः परिदृश्यमानत्वात् तदूर्ध्ववर्तितत्त्वकदम्बकाधिष्ठितस्य रूपस्य गुणातीतत्वादिति तेषामभिप्रायः। यथोक्तं श्रीविद्याङ्घ्रिगीते–'सगुणसदृशकरुणाकृतिकलिते' इति। तत्स्वरूपं निरूपितं यथा–

ब्रह्माण्डानामनेकानां बहिरूर्ध्वे सुधाम्बुधौ।
मणिद्वीपे नीपवने चिन्तामणिसुमन्दिरे॥
पञ्चब्रह्ममये मञ्चे रूपं त्रैपुरसुन्दरम्।
अनादिमिथुनं यत्तदपराख्यमृषीश्वराः॥ (२०.३६-३८)

इत्यादिश्लोकैः। अनेकब्रह्माण्डाद्यूर्ध्वभावावस्थितिकथनादेव निरवधिकैश्वर्यनिरूपणद्वारा सगुणमूर्तिभ्य उत्कृष्टत्वेन प्रशंसनमिति टीकायाम्।

त्रैपुरसुन्दरं त्रिषु पुरेषु धामसु जाग्रदादिषु सर्वस्पृहणीयत्वेनातिसुन्दरमनुगतं यत्परं रूपं परचिदात्मतत्त्वं तत्सम्बन्धिभक्तानुग्रहाय स्वस्वातन्त्र्यमात्रनिमित्तावभासितरूपमेव प्रधानमपरं रूपमित्याशयः। अप्रधानमपरं रूपं तु **'गणेशस्कन्ददिक्पालाः शक्तयो गणदेवताः'** (२०.३९) इत्यादिना निरूपितं सर्वविधपूज्यदैवतकदम्बकात्मकं ज्ञेयम्। **'यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वम्'** (१०.४१) इत्यादिगीतोक्तदिशा सर्वेषां मूलतेजोंऽशभागितयाऽप्रधानापररूपतेति संवदति सोऽयं निरूपणप्रकारः।

इदानीमैश्वर्यस्वरूपं निरूप्यते–तत्रापि मुख्यमैश्वर्यमेकम्, बहुविधान्यपरिगणनीयानि चान्यानि। स्वरूपाद्भिन्नं कारणमनपेक्ष्यैव जगदाकारेण स्फुरणं मुख्यमैश्वर्यम्। न च स्वांशभेदापेक्षया तथा स्फुरणमुपपादनीयम्, अखण्डचिन्मात्रत्वेन तत्रांशाभावात्। यथोच्यते–

अनपेक्ष्यैव यत्किञ्चिदहमद्वयचिन्मयी।
स्फुराम्यनन्तजगदाकारेण ऋषिपुङ्गवाः॥
तथा स्फुरन्त्यपि सदा नात्येम्यद्वैतचिद्वपुः।
एतन्मे मुख्यमैश्वर्यं दुर्घटार्थविभावनम्॥' (२०.४३-४४)

इति। अयं भावः—विचित्रजगदाकारस्य प्रतिबिम्बतुल्यत्वान्न मे स्वरूपप्रतिहतिः, गुरुशिष्यभावेन बन्धमोक्षादिलीलाश्च पुनः पुनः समाचरन्ती क्रीडामीति वा, निरुपादानसम्भारमेव जगदेतत् सृजामीति वा, यतो भूयस्यो ममैश्वर्यपरम्परा इत्यादि समुपवर्णितं महाविद्ययैव। तदुक्तम्—

नित्यमुक्ता पुनर्मुक्ता भूयो भूयो भवाम्यहम्।
निरुपादानसम्भारं सृजामि जगदीदृशम्।।
इत्यादि सन्ति बहुधा ममैश्वर्यपरम्पराः। (२०.४७-४८)

इति। अथ स्वेच्छामात्रकल्पिताविद्याबन्धनिवृत्तये ज्ञानस्वरूपमुच्यते—

मम ज्ञानं बहुविधं द्वैताद्वैतादिभेदतः।
परापरविभेदाच्च बहुधा चापि तत्फलम्।। (२०.५०)

इत्यादिना। ध्यातुः स्वातिरिक्तमूर्तिमन्त्रादिविविधविषयकध्यानमेव द्वैतज्ञानम्। अत एवाद्वैतज्ञानादस्यापकृष्टत्वम्। नन्वेवं ध्यानोपासनादीनां निष्फलत्वापत्तिरिति चेन्न। भगवन्नियतिशक्तिनियमितत्वाच्चित्तशोधनद्वारा मुख्यफलप्रापकत्वं न हीयते। अत एवोक्तम्—

'तच्चापि सफलं ज्ञेयं नियत्या नियतं यतः।' इति। (२०.५२)

अपरस्वरूपनिर्णयप्रसङ्गे 'ब्रह्माण्डानामनेकानां बहिरूर्ध्वे सुधाम्बुधौ' इत्याद्युक्तदिशा स्फुटीकृतस्य दैवतस्योपासनमेव मुख्यफलप्रापकं भवतीति कथ्यते—

अपरञ्चापि विविधं तत्र मुख्यं तदेव हि।
प्रोक्तमुख्यापरमयं ध्यानं मुख्यफलक्रमम्।। (२०.५२-५३)

इति। यद्यपि **'अद्वैतविज्ञानमेव परविज्ञानमीरितम्'** (२०.५३) इति, तथाप्यपरमुख्यस्वरूपोपास्तिमन्तरा शुद्धचिदद्वैतस्वरूपप्रवेशो न लभ्यत इत्यस्त्यस्य शास्त्रस्य घण्टाघोषः। यथा—

मामनाराध्य परमां चिरं विद्यां तु श्रीमतीम्।
कथं प्राप्येत परमां विद्यामद्वैतसंज्ञिकाम्।। (२०.५४)

इति। अद्वैतविज्ञानं तावच्चित्तस्य शुद्धचिदात्मनि मज्जनेन तदेकीभावप्राप्त्या निर्विकल्पसमाधिरूपमेव। परं तादृशसमाधेर्व्युत्थितस्य तत्समाधावनुभूतं शुद्धचिद्रूपमनुविभातं सत्तदेव 'अहम्' इत्यखण्डाकारेण प्रत्यभिज्ञातं भवति। इदमेव परं विज्ञानं जीवन्मुक्त्यवस्थाहेतुः।

एवंविधज्ञानद्वयस्य किं फलमिति जिज्ञासायामुच्यते–

विज्ञानस्य फलं सर्वदुःखानां विलयो भवेत्।
अत्यन्ताभयसम्प्राप्तिर्मोक्ष इत्युच्यते फलम्॥ (२०.६३)

इति। भावनोपनिषद्यपि–'एवं . . . . भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति। स एव शिवयोगीति गद्यते' इत्युक्तम्। इदं फलं प्रधानतया प्रोक्तम्, आनुषङ्गिकाणि फलान्यर्थकामाद्यवाप्तिरूपाणि राज्यलाभादीनि तु नोक्तानि, ज्ञानिनां तत्र स्वरसतः प्रवृत्त्यभावात्, प्रत्युत तेषां प्रतिबन्धकत्वाच्च।

इदानीं साधनं वक्तुमुपक्रमते–**'एवंविधमहामोक्षे तत्परत्वं हि साधनम्'** (२०.७८) इति। किं नाम तत्परत्वमिति जिज्ञासायामुक्तम्–'एतदवश्यं साधयिष्यामीति तत्साधनसम्पादने विलम्बासहनप्रयोजकचित्तवृत्तिविशेषः' इति। इत्थं दृढव्यवसायस्य साधकस्य बुद्धेर्नैर्मल्यतारतम्येन शीघ्रं चिरेण वा लक्ष्यप्राप्तिर्भवत्येव। यथोच्यते–

दिनैर्मासैर्वत्सरैर्वा मुक्तः स्याद्वाऽन्यजन्मनि।
बुद्धिनैर्मल्यभेदेन चिरशीघ्रव्यवस्थितिः॥ (२०.८१)

इति। यद्यपि बुद्धिदोषा बहवः सन्ति, परं सङ्कलय्य गणने त्रय एव यथा–अनाश्वासः, कामवासना, जाड्यञ्चेति। तेषामपि तद्विपरीतनिश्चयाभ्यासाच्छनैः शनैः परिक्षयो जायत इत्यलमप्रकृतेन।

अतः परं साधकस्वरूपं निरूप्यते–पूर्वोक्ततात्पर्यवान् परस्यां देवतायां दृढभक्तिशाली च साधक इत्युच्यते। केवलं साधनतत्परो योगाङ्गाद्यनुरक्तो भक्तिवर्जितश्चेन्न स फलभागिति निर्दिष्टम्। यथा–

यस्तु मामीश्वरीं सर्वबुद्धिप्रसरकारिणीम्।
अनादृत्य साधनैकपरः स्यान्मूढभावतः॥
पदे पदे विहन्येत फलं प्राप्येत वा न वा। (२०.१०१-१०२)

इति। **'तत्र मद्भक्तियुक्तस्तु साधकः सर्वपूजितः।'** (२०.१०४) इति च।

इदानीं सिद्धिस्वरूपं प्रदर्श्यते– **'सिद्धिरात्मव्यवसितिर्देहानात्मत्वभावना'** (२०.१०४) इति। देहादिविलक्षणशुद्धचिन्मात्ररूपे सततावस्थानं सिद्धिरित्यर्थः। यद्यपि भूमिकाभेदादुपासकस्य काश्चन सिद्धयः, स्वभावतो लभ्याः, काश्चित्तु काम्यकर्मादिनापि, तथापि ज्ञानिभिस्तत्र परमोपेयबुद्धिर्न विधेयेति तात्पर्येणोच्यते–

सिद्धयः खेचरत्वाद्या अणिमाद्यास्तथैव च।
आत्मविज्ञानसिद्धेस्तु कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(२०.१०८-१०९)

इति। स्वात्मविज्ञानसिद्धिमत उपासकधौरेयस्य पूर्वोक्ताः खेचरत्वाद्याः सिद्धयः सहजा एव सम्पद्यन्त इत्युक्तम्–

स्वात्मविद्यासाधनेषु ताः सर्वाः सुप्रतिष्ठिताः। (२०.११०)

इति। साप्यात्मविज्ञानसिद्धिस्त्रिविधा–उत्तममध्यमाधमभेदात्। तत्रोत्तमा तावद् व्यवहारदशायां वर्तमानस्य समाधौ वा प्रविष्टस्य नित्यनिरवच्छिन्नशुद्धचिद्रूपान्यूनानधिकतया तिष्ठति। यथा–जनकादीनाम्। एवं जाग्रदाद्यवस्थात्रयेऽपि समानाकारा या सा परमोत्तमेति कथ्यते। लोकस्य सर्वदा व्यवहारदशां प्रत्युन्मुखत्वं यथा स्वाभाविकम्, यादृशी च स्वरसवाहिनी प्रवृत्तिस्तादृश्येव यदा शुद्धचिद्रूपोन्मुखी सम्पद्येत तदैव 'सिद्धेः परमा काष्ठा' इति वक्तुं शक्यते। यदुक्तम्–

अयत्नेनैव परमे स्थितिः संवेदनात्मनि।
अव्याहता यदा सिद्धिस्तदा काष्ठां समागता॥ (२०.१२४)

इति। मध्यमाधमसिद्धयोस्तु स्वरूपं शुद्धचिद्रूपोन्मुखत्वतारतम्यभेदादवगन्तव्यम्।

'एवं सिद्धिमनुप्राप्तः सिद्धेषूत्तम उच्यते।' (२०.१२७) इत्युक्तदिशा पूर्वोक्तसर्वात्मत्वसिद्धिसाम्राज्यमनुभवतः पुरुषधौरेयस्यैव 'सिद्धोत्तम'पदेन व्यवहारः।

एवंविधस्य सिद्धिमतो बहूनि लक्षणानि निर्दिष्टानि सन्ति, परमेतावान्निष्कर्षो यत्–

सर्वं सुखञ्च दुःखञ्च व्यवहारञ्च जागतम्।
स्वात्मन्येवाभिजानाति स सिद्धेषूत्तमो मतः॥ (२०.१३०-१३१)

इत्युक्तनयेन दर्पणवज्जगद्व्यवहारप्रतिबिम्बाश्रयत्वेन स्वरूपं जानानो नित्यमुक्तस्तिष्ठतीति। तादृशः सिद्धोत्तमो महाविद्यास्वरूपान्नातिरिच्यत इति स्वयं तयैव निर्दिष्टम्—

सिद्धोत्तमोऽहमेवेह न भेदस्त्वावयोः क्वचित्।
एतद्वो ऋषयः प्रोक्तं सुस्पष्टमनुयुक्तया॥ (२०.१३३-१३४)

इति।

एवं त्रैपुरदर्शनस्य सक्षिप्तोऽयं परिचयो विदुषां प्रमोदमादध्यादिति विरम्यते विस्तरात्।

■

आगम-परिचयः

वागाद्यतीतमुपदेशपथाऽनुपेय-
मद्वैतमात्महृदयं प्रकटीचिकीर्षुः।
योऽर्द्धाम्बिकेशवपुषाऽऽविरभूत्परस्मै
तस्मै विचित्रविभवाय नतिर्भवाय।।

निगमागमयोरेकशास्त्रत्वम्

आगमः कः? किं प्रयोजनः? किमाकारचेति किञ्चन परिचाययितुं प्रयतामहे–

पितृ-देव-मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।।

इति मनूक्तदिशा त्रैकालिक-सकलार्थोपज्ञभूमिरकृत्रिमोऽपौरुषेयो महर्षिभिः साक्षात्क्रियमाणो ज्ञानराशिर्वेदनामधेयो यथा प्रथते; तथैव 'आगमस्तु अनवच्छिन्नमाहेश्वरप्रकाशपरमार्थः' इत्याचार्याभिनवगुप्तपादोक्तया दिशा स्वप्रकाश-यथार्थज्ञानरूप इति उभयोरेकलक्षणता सिद्धैव। अत एव कुल्लूकभट्टेन 'श्रुतिर्द्विविधा- वैदिकी तान्त्रिकी चे'त्युद्धृतं वचनम्। एवमागमो वेदाद्वस्तुतो न भिद्यते। यथा–वेदोपबृंहणाय पुराणानां प्रवृत्तिस्तथैव तन्त्राणामप्युपबृंहणाय दृश्यते। पुराणेषु तत्र तत्र वर्ण्यमान उपासनाप्रकारः सर्वथाऽऽगममूलक एवेति को वा विप्रतिपद्यते? एतदभिप्रायेणैव श्रीकण्ठशैवाचार्यैः स्वकीये ब्रह्मसूत्राणां भाष्ये उच्यत इदं यत्–

'वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः', तस्य तत्कर्तृत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधः–त्रैवर्णिकविषयः सर्वविषयेश्चेति। उभयोरेकः कर्त्ता शिवः। उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ' इति श्रीकण्ठभाष्ये (२.२.३८)। तथा च श्रुतिरेवाह–

'ईशानः सर्वविद्यानाम्। यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इत्यादि।

स्मृतिरपि समर्थयते तथा–

अष्टादशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम्।
आदिकर्ता कविः साक्षाच्छूलपाणिरिति श्रुतिः॥

'वेदांश्च प्रहिणोति' इत्यत्र 'च'कार इतरविद्यासमुच्चायकस्तेन तन्त्राणां पुराणादीनां च ग्रहणम्। एवं वाचस्पतिमिश्राणां तत्त्ववैशारद्यामुक्तमागमलक्षणं धर्मलक्षणानुकारि सम्यगेव यथा–'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः' इति, एवं 'शिववक्त्रादागतं गिरिजामुखे गतं वासुदेवस्य च मतमित्यागम' इत्यादि बहुप्रकारा व्युत्पत्तिरागमपदप्रतिपाद्यस्य शास्त्रस्य लभ्यते। येन केनापि लक्षणेन स्वतःप्रमाणं ज्ञानमित्येवाऽऽयाति।

तथा च त्रिपुरारहस्ये माहात्म्यखण्डे–

वेद एव हि तन्त्रं स्यात्तन्त्रं वेदः प्रकीर्तितम्।
नाऽनयोर्विद्यते भेदो लेशांशेनाऽपि कुत्रचित्॥
तथा हि वेदभागेषु तन्त्रभागः प्रदृश्यते।
यत्र मन्त्र-यन्त्र-पूजाविधानं सुस्फुटं स्थितम्॥
एवंविधो वेदभागो यतस्तन्मूर्ध्नि संस्थितः।
तन्त्रसङ्केतसंयुक्तस्ततस्तन्त्रं समुत्तमम्।
तन्त्रेष्वपि वेदभागो मन्त्रब्राह्मणभेदिताः।
दृश्यन्ते कर्मविधिषु तस्मात्तन्त्रं समुत्तमम्॥ इत्यादि।

आगमशब्दस्य व्यापकता

अथ 'आगमशब्दस्य' वैशिष्ट्यं पर्यालोचनीयम्। आगमेषु आगमशब्दः सर्वस्यापि शब्दराशेर्वाचकतयाऽभ्युपेयते, न केवलं 'तन्त्राख्य'–तद्भेदविशेषवाचकतया। तथा च त्रिपुरारहस्ये माहात्म्यखण्डे–

'वेदो ह्यागमभागः स्याच्छब्दराशिस्तथाऽऽगमः।
तस्या मूर्तिरतः सर्वं प्रवृत्तं तस्य संश्रयात्॥

त्रैवर्णिकाऽधिकारेण वेदरूपः प्रवर्तते।
दयया परमेशानः सर्वानुद्धर्तुमिच्छया।।
वेद आगमसंज्ञानं विभावयदनुत्तमम्।
आगमः परमेशस्य विमर्श इति निश्चयः।।
क्रमेण ब्रह्ममुख्यानां मुखादुद्भावयत्तु तम्।
अपारो ह्यागमाम्भोधिः सर्वलोकेषु सङ्गतः।।
कालेन मन्दधिषणान् कृपणानभिलक्ष्य तु।
ऋषिभिस्तमागमाब्धिं मथित्वा प्राज्या धिया।।
सारसंग्रहरूपात्मतन्त्राऽमृतमनुत्तमम् ।
देशभेदविभेदेन पृथगेव विभावितम्।।
तत्र द्विजानां वेदोक्तकर्मभिः संस्कृतात्मनाम्।
श्रौतकर्ममुखेनैव तान्त्रिके ह्यधिकारिता।
शूद्रादीनां तु कैवल्याद् भवेत्तन्त्राधिकारिता।।' इत्यादि।

एवं आगमपदं सर्वस्यापि वाङ्मयराशेरभिधायकतया परिगृहीतं दृश्यते, स च परमेश्वरस्य सहजामर्शः स्वाभाविकमविनाभूतं च ज्ञानमिति तस्य स्वतःप्रामाण्यं सिद्धमेव।

आगमस्य क्वचित्सारसंग्रहरूपमेव 'तन्त्र'मित्युच्यते। तन्त्रपदेन विस्तारार्थक'तन्'धातुमूलेन आगमप्रतिपाद्यानां मन्त्रोपास्तिप्रकारसर्गादिविषयाणां संग्राहको ग्रन्थ उच्यते। स्पष्टं च तल्लक्षणं वाराहीतन्त्रादौ।

महाभारते स्वतः प्रामाण्यमागमानां समर्थितम्। तथा च–

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः।।

इति। आत्मप्रामाण्यानि स्वतःप्रमाणानीत्यर्थः।

आगमानां प्रवृत्तिः

इह खलु अस्माकं भारतीयानां संस्कृतिः परमपुरुषार्थैकप्रयोजना। साक्षात्परम्परया वा स्वरूपावाप्तिरूपो मोक्षाख्यस्तुरीयः पुरुषार्थ एव सर्वासां

विद्यानामुद्देश्यम्। तदवाप्तिश्च सर्वेषां प्राणिनां न समानतया सम्भवति, विविधकर्मपरिपाकपरवशत्वात्।

परमेश्वरः परमकारुणिकतया सर्वानपि तानुद्दिधीषुः मिथो विलक्षणा अपि तत्तदधिकारिजनोपयोगिनीर्विद्याः प्रादुर्भावयामास। अधिकारश्च चित्तशुद्धितारतम्यात्, चित्तशुद्धिश्च विहितानुष्ठान-निषिद्धपरिहारादि-स्वधर्माचरणपूर्वकभगवदाराधनादेवेति सर्वत्राऽऽभासमानो विद्यानां विरोधोऽधिकार-भेदमूलक एवेति सिद्धान्तः।

तथा चाहुः शास्त्रकाराः—'अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्युक्तान्यशेषतः' इति। दिङ्मात्रं यथा—नास्तिकानामेवाऽऽर्हतादिदर्शनेषु त्रैवर्णिकानामेव वैदिक-मार्गेष्वधिकारः।

एवं तत्र तत्रोपलभ्यमानानि तत्तद्विद्याप्रशंसकानि वचनानि तत्तदधिकारिणं प्रति प्रवर्तकानि, तत्तन्निन्दावचनानि च तत्तदनधिकारिणं प्रति निवर्तकानि। यथा—बाल्ये क्रीडायामेव प्रवर्तयतोः पित्रोर्बालस्य अक्षरा-भ्यासयोग्यतायां जातायां क्रीडानिवर्तकत्वं दृश्यते, सेयमेव सरणिः शास्त्राणामपि। यथा न्यायादिशास्त्रेषु स्वभूमिकामात्रलाभेन मोक्षप्राप्तिवर्णनम्। तत्र पुरुषार्थप्रवृत्तौ विलम्बशङ्कया न कश्चित् प्रवर्तेत इति स्वशास्त्रस्यैव फलरूपतया मोक्षप्राप्तिर्वर्ण्यते। देहादिभिन्नाऽऽमुष्मिकयातायातक्षमस्वात्मज्ञानरूपे तत्प्रयोजने निवृत्ते तु 'आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्' इत्यादयो निषेधाः पूर्वभूमिकातः पुरुषमुत्तरभूमिकां प्रापयन्तीति शास्त्रेषु क्रियमाणोऽप्यपह्नवः श्रेयस एव।

एवं क्रमेण 'धर्ममेवाचरेत् प्राज्ञः' इत्यादयो विधयस्तदुत्तरभूमिकारूपकर्म-काण्डाचरणमहिमानमधिगमयन्ति। एवं धर्मार्थकामेषु साधितेषु चतुर्थपुरुषार्थ-लिप्सया पूर्वभूमिकात्यागाय 'नास्त्यकृतः कृतेन' इति कर्मनिन्दा प्रवर्तते। एतावत्पर्यन्तमज्ञानभूमिका एवोच्यन्ते।

अथ ज्ञानभूमिकारोहणाय 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत्', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादयो ब्रह्मज्ञानविधयः प्रवर्तकाः। भगवतो वशिष्ठस्य

मते सप्तैव ज्ञानभूमिकाः, 'अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम्' इत्युक्तेः।

तासां नामानि क्रमेणैतानि–विविदिषा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्तिः, असंसक्तिः, पदार्थाभाविनी, तुर्यगा इति। तल्लक्षणानि चाकरेषु द्रष्टव्यानि।

ज्ञानभूमिकोपयोगितया च वेदे उपनिषत्काण्डस्योत्तरमीमांसायाश्चाध्ययनं कर्तव्यकोटिं निविशते।

ब्रह्मज्ञानमपि द्विविधम्–शाब्दमपरोक्षानुभवरूपञ्च। तत्र शाब्दभूमिकालाभे सञ्जाते ततो निवर्तनाय–'पाण्डित्यान्निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' इत्यादयो विधयः। एवमपरोक्षानुभवाय प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य विविदिषाविचारणाख्ययोर्द्वितीय-तृतीयभूमिकयोर्मध्ये भक्तिरूपा महती भूमिका समुद्भवति, तदुपयोगितया भक्तिमीमांसाध्ययनम्। भक्तिश्च पञ्चमभूमिकान्तमनुगच्छति। तत्लाभोत्तरमपरोक्षानुभवरूपषष्ठभूमिकालाभः। सैव च जीवन्मुक्तिः। तदव्यवहितोत्तरमेव च विदेह-कैवल्यमित्ययं ज्ञानभूमिकानां क्रमः सुव्यवस्थितः।

एवमनेकासु भूमिकास्वेकैकाऽपि बहुभिर्जन्मभिरेव साध्यते। एवं महता प्रयत्नेन परब्रह्मणः शाब्दतत्त्वनिश्चयभूमिकापर्यन्तं क्रमेणारूढस्य संसारे नात्यन्तमासक्तिर्नाऽपि दृढो निर्वेद इत्याकारिका विलक्षणा चित्तशुद्धिः सम्पद्यते।

तादृश एव भक्तिमार्गेऽधिकारी। भक्तिरपि द्विविधा–गौणी परा चेति। आद्या सगुणस्य ब्रह्मणो ध्यानार्चनजपनामकीर्तनादिरूपा, द्वितीय परभक्तिस्त्वे- तज्जन्यानुरागविशेषरूपा। तत्राद्वैतभक्तिरेवाऽऽगमानां प्रवृत्तौ हेतुः। 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' इत्युक्त्याऽभेदभक्तिरेव प्रतिपाद्यते। श्रुतिरपि तथा 'यं मुक्ता अप्युपासते' इत्यादिरूपा। एवं प्रायः सर्वेषां वेदशिरोभागानामागमानां चैकवाक्यता दृश्यत एव। आगमास्तु क्वचित् त्रैवर्णिकाधिकारेण, क्वचित्सर्ववर्णाधिकारेण, क्वचिदज्ञातवर्णानामधिकारेण प्रवृत्ता इति विशेषः। नेदं निन्दास्थानं प्रत्युत परमेश्वरस्यानुग्रहातिशय एवाऽयम्। एतदभिप्रायेण प्रहृष्यतो भक्तस्य भणितिः स्तवचिन्तामणौ–

अहो निसर्गगम्भीरो घोरः संसारसागरः।
अहो तत्तरणोपायः परः कोऽपि महेश्वरः॥

एवमशेषजगतोऽनुजिघृक्षैव परमेश्वरमुखेभ्य आगमशास्त्रमुद्भावयामास।

अत एव स्वयं निर्गुणोऽपि परमेश्वरस्तत्तदधिकारिजनोपयोगाय तानि-तानि तन्त्राणि प्रणिनाय। स्वयमेकोऽपि प्रकाशविमर्शाख्यस्वांशद्वयकल्पित-गुरुशिष्यभावः प्रश्नोत्तरव्याजेन सर्वानप्यागमानवतारयामास। यथा स्वच्छन्दाऽऽगमे-

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥ इति।

एवं प्रथमं गौण्या ततः परया भगवदभेदभक्त्या निजरूपावाप्तिरेवोद्देश्यमागमानाम्। तत्प्रवर्तने च भगवतः करुणातिशय एव हेतुः।

अत एव वैदिकमार्गानुगानामपि पञ्चदेवतोपास्तिर्न विरुध्यते। भागवते-

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥

इत्यत्रोक्तया दिशा प्रायः शिष्टानां मिश्रमार्गानुगामित्वं दृश्यते। अस्माकं सर्वेष्वपि संस्कारेषु विधिषु च वेदतन्त्रयोर्मिलितयोरेव प्रयोगो दृष्टिगोचरीभवति। ईप्सितपदेन यस्य यत्राधिकारिता तेन तथाऽऽचरणीयमिति सूचितम्।

आगमेष्वधिकारिविभागः

यथोपनीतस्य त्रैवर्णिकस्यैव वेदाध्ययनाधिकारस्तथैव तत्त्वविदा गुरुणा कृतदीक्षस्यैवागमोक्तेषु कर्मस्वधिकारः।

एतावानेव विशेषो यत्—कुतश्चित्कारणाद्वेदाधिकारात्परिभ्रष्टानामाऽऽगमेषु वेदानधिकारिणामप्यागमभेदेन प्रवेशो भवितुमर्हति, यथा पाञ्चरात्रविशेषपाशुपत-विशेषादौ। तत्र हेतुस्त्वयम्—

श्रुतिभ्रष्टः श्रुतिप्रोक्तप्रायश्चित्ते भयं गतः।
क्रमेण श्रुतिसिद्ध्यर्थं मनुष्यस्तन्त्रमाश्रयेत्॥

एवं कानिचन तन्त्राणि तदर्थमपि प्रवृत्तानि न पुनः सर्वाणि, तथा चोच्यते–

पाञ्चरात्रं भागवतं तथा वैखानसाभिधम्।
वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान्॥

इति। अज्ञैस्तु एतदज्ञानात् सर्वाण्यपि तन्त्राण्यवैदिकानि इति निन्द्यन्ते। प्रत्युत वैदिकमार्गस्य प्रत्यवायबहुलत्वात्सद्यः स्वाभीष्टलक्ष्यप्राप्तिस्तेन न भवतीति वैदिकेनापि तन्त्रोक्तमुपासनमनुष्ठेयमेवेति समर्थितं भागवते–

'य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥'

इत्यत्र 'च'कारेण वैदिकसमुच्चिततान्त्रिकविधेः करणीयता द्योतिता भवति। अत एव विशिष्य आशुफलप्रदातृतया त्रयीधर्मपरायणैरप्यागम आश्रयणीय एवेति पर्यन्ततः आगमानुयायिता सर्वेषामपि समुचितैव दृश्यते।

आगमानां स्वरूपभेदः

आगमाश्च भेदप्रधानाः, भेदाभेदप्रधानाः, अभेदप्रधानाश्चेति सामान्यतस्त्रिधा भिद्यन्ते। तत्र चित्तशुद्धितारतम्यात् स्वाधिकारानुसारेण गुरुणा यो यत्र नियोजितः स तदनुष्ठान एव प्रयतेत नान्यत्र।

यत्र काम्यकर्मणां बहिरङ्गोपासनानां चाधिक्यं त एव भेदप्रधाना भेदाभेदप्रधानाश्च। येषु पुनर्ज्ञानप्राधान्यादन्तरङ्गोपासनानामेव प्राचुर्यं काम्यकर्मणामल्पत्वमभावो वा, त एव अभेदप्रधाना आगमाः। बालानां गुडजिह्विकयेव क्वचित्काम्यकर्मप्रपञ्चनेनापि जनानामुन्मुखीकरणं सम्भवतीत्येतावदेव तदुद्देश्यम्।

'कृत्रिमापि भगवद्भक्तिरकृत्रिमफलोदया' इत्यभियुक्तोक्तदिशा क्वचित्काम्यकर्मणामुपदेशद्वारेण पार्यन्तिकं फलं प्रत्युन्मुखीकरणम्। क्वचित्तु आथर्वणीयानां शान्तिकपौष्टिकराष्ट्ररक्षाद्यात्मकानां प्रयोगाणां तु नितान्तमुपयोगितयाऽभ्यर्हितत्वं वर्तत एवेति प्रयोगप्राचुर्यमपि तन्त्राणामुपयुक्तम्। उक्तञ्च–अथर्ववेदसंहिता–

व्याख्यानस्योपक्रमे सायणाचार्येण 'ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति' इति।

अभेदप्रधानास्त्वागमाः प्रधानलक्ष्यस्य स्वात्मोपलब्धिरूपस्यैव प्रतिपादकाः मुख्यतया, अङ्गत्वेनान्येषां विषयाणामपि समावेशस्तेषु भवत्येव।

एवं संक्षेपतोऽयमागमानां परिचयः प्रदत्तः। शास्त्रस्यास्य गुरुपरम्परैकलभ्यत्वाद् अतिदुरूहत्वाद् रहस्यतमत्वाच्च विशेषज्ञं गुरुमनाश्रित्य क्रियमाणः सर्वोऽपि क्रियाकलापो भस्मनि हुतमिव वैफल्यमासादयेत्। व्यामोहश्च भवति तत्तद्विषयेषु। तदुक्तम्–'तन्त्राणां बहुरूपत्वात् कर्तव्यं गुरुसम्मतम्' इति, अन्यथाकरणे निषेधश्च श्रूयते–

पारम्पर्यविहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः॥

इति भगवता शिवेन जगदुद्धारव्यग्रचेतसा सर्वेऽप्यागमा निरमायिषत। अनभिज्ञानां जिज्ञासूनाञ्च मतिभ्रमो मा भूदित्येतावन्मात्रमुद्देश्यमस्य लघुतरस्य प्रबन्धस्य न पुनर्विज्ञताप्रदर्शनम्।

यदत्र मधुरं किञ्चित्तदस्तु विदुषां मुदे।
यदत्र कटुकं भूयान्नीलकण्ठस्य तन्मुदे॥

■

स्पन्दब्रह्मविमर्शः

यं प्राप्य सर्वाऽऽगमसिन्धुसंघः
पूर्णत्वमभ्येति कृतार्थतां च।
तं नौम्यहं शाम्भवतत्त्वचिन्ता-
रत्नौघसारं परमागमाब्धिम्॥

—अभिनवगुप्तपादाचार्याः

इह खलु निखिलेऽपि विचारवीचिमालिनि मतिविभवोडुपमात्रे सञ्चरणसाहसजुषां विदुषां पुरस्तादस्ति चिरादभ्यस्तः प्रश्नोऽयम्– किं तावत् पारमार्थिकं सकलशास्त्रसिद्धान्तभूतं तत्त्वं ब्रह्म–परमेश्वर–हरिहर–प्रकृति–पुरुषप्रभृतिनाना-शब्दप्रतिपाद्यमानमिति।

तत्र केचन प्रत्यभिज्ञातपारमेश्वरस्वरूपा महामाहेश्वराचार्याः सविश्रम्भं प्रतिपादयन्ति यत्– स्पन्द एव परं तत्त्वमिति।

यद्यपि 'स्पदि किञ्चिच्चलने' इति धातोर्निष्पन्नः किञ्चिच्चलनक्रियारूपः स्पन्दः, स च कथं परं तत्त्वमिति न ज्ञायते वक्तुम्, किन्तु तत्रोपलक्षणन्यायेन सर्वव्यापकक्रियारूपमर्थमादाय सर्वकर्तृत्वलक्षणः परमेश्वरस्वभावः प्रतिपाद्यमानो न दुष्यति। न च कर्तृत्वादिधर्मारोपे ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वभङ्गप्रसङ्गः शङ्कनीयः, तस्योपरिष्टाद् वक्ष्यमाणया सरण्या स्वरूपाऽविनाभूततयैव समर्थयिष्यमाणत्वात्।

अयमेव स्पन्दस्तत्तदवान्तरसम्प्रदायभेदाद् माया, शक्तिः, ऊर्मिः, चितिः, संवित्, कुण्डली, कला, नित्या, प्रतिभेत्यादिभिः शब्दैर्व्यपदिश्यते। पारमार्थिकं तु स्वरूपमेकमेव।

ननु स्पन्दशब्दमुखेनैव व्यपदेशे कोऽयमाग्रहः? ब्रह्मप्रभृतीनि सन्त्येव तदभिधानानीति चेत्; उच्यते– सजातीय–विजातीय–स्वगत–सकलधर्मरहितब्रह्म-

स्वरूपापेक्षया स्पन्दात्मना तत्स्वीकारे कोऽप्यनुभवगम्यस्तत्स्वरूपोत्कर्षः प्रतीयते। उद्यन्तृत्वलक्षणो हि पमरेश्वरस्वभावः, यद्वशादेव सृष्ट्यादिपञ्चविधकृत्यकारित्वं घटते, नान्यथा।

ननु प्रपञ्चं प्रति ब्रह्मणोऽप्यस्त्येवाऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वम्, तत्कोऽयं भवतां नवः पन्थाः? उच्यते– यथाकथञ्चित् प्रपञ्चजनकत्व-भासकत्वादिस्वीकारेऽपि ब्रह्मणो यदि नास्ति विलक्षणकर्तृत्वलक्षणस्वातन्त्र्यस्वीकारस्तर्हि स सम्बन्धः शब्दमात्रं स्पृशति, नार्थे विश्राम्यतीति। शब्दानुशासनेऽपि 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' इति सूत्रे क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितत्वमेव कर्तृस्वरूपं प्रत्यपादि दीक्षितैः। तच्च स्वातन्त्र्यमुपादानान्तरनिरपेक्षक्रियानिर्वाहकत्वरूपमस्मिन्मते व्याख्यायते।

ननु ब्रह्मणोऽप्यभिन्ननिमित्तोपादानत्वमस्तीत्यैक्यमेव मतद्वये पर्यवसितमिति कथनीयमिति चेन्न, कर्तृत्वस्य तत्राऽस्वीकारात्। अत्र च कर्तृत्वस्यैव तदुत्कर्षतत्स्वरूपनिर्वाहकत्वादित्यस्ति भेदः। यथोपश्लोकितो भगवान् केनापि–

'निरूपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥'

पद्येऽस्मिन् लौकिकचित्रकारतो योऽयं भगवतो व्यतिरेकोऽलङ्कारपदवीमधिशयानः कविना निरूपयितुमारब्धः, स तस्य तादृशविलक्षणकर्तृत्वलक्षणस्वातन्त्र्यभूमिकाधारक एवेति विदाङ्कुर्वन्तु सन्तः। तच्च स्वातन्त्र्यं स्पन्दात्मकमेव।

तदेतत् स्पन्दात्मकं पारमेश्वरं वैभवं परमेश्वरस्वरूपाभिन्नमेव। न च धर्मसम्पर्ककालुष्यप्रसङ्ग उद्भावनीयोऽत्र धीमद्भिः। तथा हि सेतुबन्धव्याख्याने श्रीभास्कररायदीक्षितचरणाः प्राहुः–परशिवाख्यं परब्रह्म स्वभावादनन्तशक्तिकम्। तदुक्तं ज्ञानवासिष्ठे–'सर्वशक्तिपरं ब्रह्म नित्यमाऽऽपूर्णमव्ययम्' इति। 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतिभिः शक्तिशक्तिमतोरभेदोपचाराच्च न ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वभङ्गः। संक्षेपशारीरकेऽपि–'चिच्छक्तिः परमेश्वरस्य विमला चैतन्यमेवोच्यते' इति च।

इयं हि स्पन्दरूपिणी चिच्छक्तिर्निखिलं विश्वमभिव्याप्य प्रसरत्येव। तथा हि श्रुतिः– 'स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' इति। स भूमा परस्पन्दप्रसरस्वभावो भूमिं प्रमेयकक्षां स्वरूपेणापूर्य ततोऽप्यग्रे प्रसरत्येवेति श्रुतेरस्यास्तात्पर्यं प्रतीयते।

मार्कण्डेयपुराणेऽपि–'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्' इति परस्याः स्पन्दात्मिकायाश्चिच्छक्तेः क्त्वाप्रत्ययेन जगद्व्याप्त्यनन्तरमपि परसत्तारूपेण स्थितिरस्त्येवेति सूच्यते।

एवं परसत्ताऽपि स्पन्दात्मिकैव प्रतीयते। ततश्च स्पन्दरूपेण परापररूपं द्विविधमपि ब्रह्मस्वरूपं कुक्षीकृतं भवतीति विज्ञेयम्। यथोपनिषदि–

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥ इति।

श्रीईश्वरप्रत्यभिज्ञायामपि–

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाऽविशेषिणी।
सैषा सारतया चोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥ इति।

अत्रैतदालोचनीयम्– वेदान्तिनां मते परस्य चिद्रूपस्य ब्रह्मणः शक्तिर्मायाख्या, सा च जडा। सैव जगतः परिणाम्युपादानम्। परं ब्रह्म तु विवर्तोपादानम्। अत एव जगतोऽपि मायिकत्वाज्जडत्वं मिथ्यात्वं च। अद्वैतश्रुतयस्तु पारमार्थिकव्यतिरेकैवेत्येवंपराः।

आगमविदां पक्षे तु–'परब्रह्मनिष्ठा या चिच्छक्तिरौपनिषदानामपि सम्मता सैवानन्तरूपत्वात् 'माया' इत्युच्यते। 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते', 'माया च अविद्या स्वयमेव भवति' इत्यादिश्रुतेः। तद्विलास एव प्रपञ्चः, अत एव च चिद्रूपः– 'चिद्विलासः प्रपञ्चोऽयम्' इति ज्ञानवासिष्ठात्। अत एव च सत्योऽपि। सर्वं ब्रह्मेति समानाधिकरण्यस्यात्यन्ताऽभेद एव स्वारस्यात्। न चाद्वैतश्रुतिविरोधः, विरोधाऽऽपादकस्यैकस्य मिथ्यात्वाङ्गीकारादिति श्रीभास्कररायीयसेतुबन्धव्याख्यानप्रदर्शितदिशा चैतन्याद्वयवादब्रह्माद्वयवादयोर्मूलत एव भेदः प्रवर्तते। अत एवैतन्मते स्वीक्रियमाणाऽपि 'माया' न तथा

बन्धहेतुः, स्वातन्त्र्यकल्पिततत्वात्। तदुक्तमभियुक्तैः–

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्॥

इति। एवं स्पन्दात्मकमेव स्वीक्रियमाणं ब्रह्मस्वरूपं हृदयङ्गमतामुपयाति। अन्यथाभावे तु–

अथास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत्॥

इत्युक्तनीत्या परब्रह्मणोऽपि घटादिवज्जडत्वापत्तिरपरिहरणीया समापतेत्।

अपरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपस्य परमेश्वरस्य चितिसारतया श्रीशिवसूत्रेष्वपि व्यापकमर्थमुद्भावयितुं 'चैतन्यमात्मा' इति भावप्रधानो निर्देशो व्यधायि।

एवं सर्वव्यापकमहोदधिकल्पस्य परमशिवस्य चिद्रसतरङ्गपरम्परारूपिण्याः स्पन्दात्मिकायाः परस्याः शक्तेर्व्याप्तिसङ्कोचक्रमेण चितिः, चेतनः, चेत्यम्, चित्तमिति व्यपदेशाः प्रादुर्भवन्ति। अयमपि सङ्कोचविकासक्रमः स्पन्दात्मेति न विस्मरणीयम्। सूत्रे तु सर्वस्यापि संग्रहाय 'चैतन्यमात्मा' इति निर्देशः। एतत्तत्त्वप्रतिपादनेच्छयैव श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्या अपि दक्षिणामूर्तिस्तवे–

बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ्निर्विकल्पं पुन-
र्माया कल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्।
मायायीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

इति स्तुतिरूपेण शक्तिस्पन्दस्य माहात्म्यमुपवर्णयन्ति। मायापदेनात्रापि स्वातन्त्र्यरूपिणी मायाशक्तिरभिप्रेता। तथा च प्रत्यभिज्ञाहृदये–'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' इति।

अस्याश्च स्पन्दात्मिकायाश्चिच्छक्तेः प्राथमिक उन्मेषः प्राणरूपेण सम्पद्यते। तदुक्तम्–'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' इति। दक्षिणामूर्तिस्तवेऽपि–

बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तः स्फुरन्तं सदा।

स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

इत्थमाचार्या अमुमेवार्थं सङ्केतयन्ति।

प्राणोन्मेष एव च मातृकोन्मेषः, सैव च शब्दशास्त्रपर्यन्तभूमिरिति विषयान्तरत्वान्नेह प्रतन्यते। श्रुतिरपि तथा—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इत्यादि।

एतन्मतनिष्कर्षः श्रीमद्भट्टवामदेवशब्दैरयमुपस्थाप्यते— 'इह खलु निखिलजगदात्मा सर्वोत्तीर्णश्च सर्वमयश्च विकल्पाऽसङ्कुचितसंवित्प्रकाशरूपोऽनवच्छिन्नचिदानन्दविश्रान्तः प्रसरदविरलविचित्रपञ्चवाहवाहिनीमहोदधिर्निरतिशयस्वातन्त्र्यसीम्नि प्रगल्भमानः सर्वशक्तिखचित एक एवास्ति संविदात्मा महेश्वरः। तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः, स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिः, तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः, आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः, सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिरिति। इत्थं सर्वशक्तियोगेऽप्याभिर्मुख्याभिः शक्तिभिरुपचर्यते' इति।

अत्रेदं प्रष्टव्यम्— परशिवाख्यस्य ब्रह्मणो निरवधिकशक्तियोगेऽप्येकयैव स्पन्दापरपर्यायचिच्छक्त्या कथं सृष्ट्याद्यशेषघटनापटुत्वमिति?

तत्रेदमुक्तम्—परमतत्त्वं हि वस्तुत एकमेव, तस्य द्वावंशौ प्रकाशविमर्शाख्यौ स्तः। विमर्श एव हि स्पन्दः शक्तिर्वा कथ्यते। यावन्न विमर्शस्तावत् सन्नपि प्रकाशस्तिरोहितप्रायो भवति। विमर्शादेव प्रकाशस्य स्वरूपोपलब्धिः।

तदुक्तम्—

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।'

इति। विमर्शाख्यस्पन्दाविनाभूत एव हि भगवान् परं ब्रह्मेति सिद्धान्तः। न च द्वैतविशिष्टाद्वैतादिशङ्काकलङ्कावकाशोऽत्र करणीयः, तादृगननुभवात्। यदुक्तं श्रीईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिन्याम्—'विमर्शो हि सर्वंसह आत्मानमपि परीकरोति, परमप्यात्मीकरोति, द्वयमप्येकीकुरुते, उभयमपि न्यग्भावयति' इति। एतदभिप्रेत्यैव वचनमेतत् स्मर्यते—

'शिवः शक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः' इति।

संविदोऽनवच्छिन्नतया व्यवहारभूमिकायामवच्छेदभासे जायमानेऽपि मूलरूपमखण्डमनवच्छिन्नमेव तिष्ठतीत्युदाहरणद्वारा प्राहुः–

कुम्भकारस्य या संविच्चक्रदण्डादियोजने।
शिव एव हि सा यस्मात्संविदः का विशिष्टता।।' इति।

एवमस्याः स्वरूपमुपदर्श्य प्रधानतः सृष्टिक्रमे समुपयुज्यमानानां स्पन्दशक्तीनामवतारक्रमो निरूप्यते। यथा श्रीमालिनीविजये–

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते।।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते।।
एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः।
ज्ञात्वा तदैव तद्वस्तु कुर्वन्त्यत्र क्रियोच्यते।।
एवमेषा निरूपापि पुनर्भेदैरनन्तताम्।
अर्थोपाधिवशाद् याति चिन्तामणिरिवेश्वरी।। इति।

एवं क्रमशः परमेशादुल्लसन्त्यस्तिस्त्र इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एव विश्ववैचित्र्यप्रसरहेतव इत्यवसेयम्। पर्यन्ते पुनः क्रियाशक्तेरेव विलासः स्फुरतीति वाच्यवृत्त्याऽपि स्पन्दशब्दव्यवहारः समीचीनतामालम्बते।

एवं प्राचीनपद्धतिप्रदर्शनेन सहैवाऽऽधुनिकीप्रवृत्तिरपि दिङ्मात्रेणोपदर्श्यते-

वैज्ञानिकाः साम्प्रतं दृश्यस्य जगतः स्थूलं सद्रूपं विभजन्तो यं सिद्धान्तमधिजग्मुः, सोऽप्येतादृशो भातीव। विश्वमेतत्सर्वं परमाणुभिर्घटितं वर्तते। परमाणूनां पृथक्करणमपि शक्यते विधातुम्। परमाणुश्च प्रत्येकं सौरमण्डलेन तुल्यो भवति, प्रतिपरमाणु च ऋणधनात्मिके विद्युच्छक्ती सन्ततं प्रवहतः। ते च परमाणुषु विद्यमानाः सूक्ष्माणवः सन्ति, ये क्रमशः 'एलेक्ट्रोन', 'प्रोट्रोन,' 'न्यूट्रोन'–शब्दैरभिधीयन्ते।

'नाइल्स बोहर'नामकेन विदुषा प्रथममेतत् सिद्धान्तितं यत्–परमाणुं सुमेरुतयाऽङ्गीकृत्य तमभितः 'एलेक्ट्रोन'संज्ञकास्तेजोमया अणवः सन्ततं

स्फुरन्ति। तदीयस्फुरणेनोद्भवन्ती व्यापिका शक्तिरखिलमपि ब्रह्माण्डं व्याप्य विराजत इति।

एवमेव सुप्रसिद्धेन 'आइन्स्टाइन'महोदयेनाप्युद्घोषितमासीदेतद्यत्– पिण्डं शक्तिश्चोभयमप्येकमेव वस्तु। पिण्डस्य शक्तिमयत्वात्, स्थिरस्य पिण्डविशेषस्य कल्पनैवानुचिता। दृग्दृश्ययोः, देशकालयोः सर्वापि कल्पनातीव स्थूला प्रतीयते, सर्वस्यापि जगतो गतिरूपस्पन्दमयत्वात्। ते ते च विद्युदादिस्पन्दाः सूक्ष्मभावतारतम्यवशात् संवेद्या असंवेद्याश्चावभासन्त इति।

अयं चिच्छक्तेः स्पन्दमहासागरो वैज्ञानिकपरिभाषायां विद्युच्चुम्बकीय-वर्णावलीति (इलेक्ट्रो मैगनेटिक स्पेक्ट्रम) पदेन निगद्यते।

विद्युच्चुम्बकीयवर्णावलीयं सततं मण्डलाकारं स्पन्दमानैव भवति। प्रतिनिमेषं ३०,००० सहस्रमण्डलान्यारभ्याऽसंख्यमण्डलावधिकोऽस्याः स्पन्दनक्रमः। इदमेव सृष्टेर्बीजम्, इयमेव महती चरमा च शक्तिर्ब्रह्म व वैज्ञानिकानां मते।

यत्किमपि भवतु, तत्त्वान्वेषणे क्रियमाणे बुद्धिसंवादो भवतीति नैव चित्रमेतत्। प्राचीनसिद्धान्तेन सहैतद्विचारणीयतामर्हत्येव। प्राचीनाः परमर्षयस्तु साक्षात्कृततत्त्वार्थसार्था भगवद्रूपसमावेशान्मूलतत्त्वमध्यक्षयन्ति स्म। ततश्च सोऽयं स्पन्दसिद्धान्तोऽपि सुतरां गभीरतरः केवलमेकदेशेन किञ्चिद् व्याख्यातो विदुषां परितोषाय। ततश्च सङ्गच्छते वचनमेतत्–

'शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वरः'। इति शिवम्।

■

श्रीविद्याङ्घ्रिगीतविवरणम्
(ध्वन्यालोकः)

आमुखं किञ्चित्

[श्रीमतामात्मविद्याराधनानुरागिणां विदुषां विशेषतः प्रमोदाय श्रीविद्याङ्घ्रिगीतं नाम स्तोत्रमेतत् श्रीअम्बानन्दनाथगुरुवरवदनारविन्दतः सम्भूतां ध्वन्यालोकसंज्ञया स्वविवृत्या सहकृतं प्राकाश्यमुपनीयते। अत्र परम्परैकलभ्या विषयाः संक्षेपेण निबद्धाः साधकानां विदुषाञ्च नूनं नवमार्गप्रदर्शनं विधास्यतीति मे विश्वासः। सम्प्रदायस्य भक्तितत्त्वस्य च सूक्ष्मेक्षिका मन्ये भवेदत्र सुलभा ध्वन्यालोकव्याख्याने च बहूनामागमानां सहयोगः प्रदर्शितः। तदेतस्य परिशीलनेन सुकृतिनो विद्वांसः सफलयन्तु मे परिश्रमम्। इति निवेदयते–]

निरवग्रहकारुण्यपीयूषरसवर्षिणी।
साऽम्बानन्दमयीश्रीर्नः पायादायासतः सदा।।१।।
अशेषवाङ्मयोल्लासमूलकन्दलरूपिणे।
गुरवे श्रीगणेशाय प्रणती रचयामहे।।२।।
आदिनाथहृदम्भोजमरन्दः करुणार्णवैः।
श्रीमदम्बानन्दनाथचरणैः श्रीस्तवात्मना।।३।।
प्रकाशितो मुमुक्षूणां कल्याणाध्वविहारिणाम्।
सकलोपास्तिसाफल्यमङ्गलोत्सवपूर्तये।।४।
श्रीमतो देशिकेन्द्रस्य गभीरे वाङ्मयाम्बुधौ।
प्रवृत्तानां गतिर्नूनमस्माकं तत्पदाम्बुजे।।५।।

अथ पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणाः सद्गुरुपरदेवतैक्यानुसन्धानलब्धनिर्मलबोधाः शिष्यजनेषु नैसर्गिककरुणावशंवदाः सांसिद्धिकज्ञानभासुराः परमशिवाभिन्ना अस्मद् गुरवः श्रीमदम्बानन्दनाथपादाः सकलागमसारभूतं सद्गुरुदेवतातत्त्वभाविश्चिकीर्षवः श्रीविद्याङ्घ्रिगीतस्तवव्याजेन मुमुक्षूननुगृह्णन्तः सद्गुरु-

स्मरणरूपमङ्गलमारभन्ते- सद्गुरुतत्त्वाधिदैवमसीति।

सद्गुरुतत्त्वाधिदैवमसि शिवशक्त्यात्मचिते त्वं श्रीललिते!।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्त्य कृपोज्ज्वलिते॥ ध्रुव.॥
सन्त्यज्यान्यार्चायतनं ते क्रियते येन गुरुवपुषि यजनम्।
मत्त्वा श्रीचक्रार्चकाद्वरम् अरमनुगृह्णासि तं प्रियजनम्॥
निर्व्याजानुग्रहमुख्यतमस्वभावशक्तेरभिव्यञ्जनम्।
तेऽस्ति वस्तुतत्त्वशक्तिधृतितो गुरुशब्देऽतः साक्षाद्ब्रजनम्॥
इत्थं गुरुपदीयसर्वस्वे सम्यगाविरसि सतताऽस्खलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्त्य कृपोज्ज्वलिते॥१॥

शिवशक्त्यात्मचिते श्रीललिते, त्वं सद्गुरुतत्त्वाधिदैवमसि। किञ्च हे कृपोज्ज्वलिते, अविनाभावसम्बन्धतः गुरुपदमावृत्य भासि। इत्यन्वयः। ध्रुवपदमिदं प्रतिश्लोकमन्वेति।

शिवशक्तिसामरस्यभावापन्ने परचैतन्यरूपिणि, श्रीललिताम्ब, त्वं सद्गुरुतत्त्वस्याधिष्ठातृदैवतमसि। किञ्च हे कृपोज्ज्वलिते! कृपया उज्ज्वलिता, तत्संबुद्धिः। अत्र कृपा हि भक्तहृदयहारिणी भक्त्यावेशरूपा ग्राह्या। तथा च गुरुरूपिणी त्वं तथाविधालौकिककारुण्यानुभावेन संसारासक्तस्यापि भक्तस्य हृदयमात्माभिमुखमाकर्षसीति महती तेऽनिर्वाच्या कृपा स्वभक्तजनेष्विति भावः। तादृश्या कृपया उज्ज्वलिता सततं देदीप्यमाना त्वमविनाभावसम्बन्धतः चन्द्रचन्द्रिकावदवियुतसिद्धसम्बन्धेन गुरुपदं गुरुतत्त्वमावृत्य व्याप्य असि भासि शिष्यरूपाणां भक्तानां हृदि प्रकाशसे इत्यर्थः। कृपास्वरूपे कृपयैव शरणागतिद्वारा स्वकीयतीव्रतमशक्तिपातेन पराम्बाऽभेदप्रथोदेतीत्येव श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्याणां तात्पर्यम् आधुनिकानां वेदान्तिनां चाद्वैतज्ञानविपर्यासादेव तदनभिज्ञत्वम्। इत्थं परदेवतायाः कृपया सञ्जातभक्तिर्भक्तः प्राग्भवानुभूतसंस्कारप्रेरणया पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मकपञ्चमहाभूतेषु प्रथमं काष्ठपाषाणधातुमयीः पर्थिवमूर्तीः परिकल्प्य तासु प्राणप्रतिष्ठादिमन्त्रमहिम्ना परचैतन्यं विभाव्य ताः समर्चयति। ततो महासमुद्रे गङ्गादिपुण्यनदीषु अग्नौ सूर्यचन्द्रमण्डलयोस्तेजोमयायतने, श्वासप्रश्वासरूपेण वायवीये अधिष्ठाने च पराम्बां पूजयति। इत्थं जडे वस्तुनि पराम्बां

यियक्षोः पृथ्वीजलात्मके द्वे तत्त्वे एव अधिष्ठानत्वेन लब्धुं शक्ये। तेजोवाय्वाकाशात्मकः परदेवता विग्रहस्तु न दृश्ये जगति सुस्थिरो भवितुमर्हति। आकाशात्मकेऽधिष्ठाने केवलं नामोच्चारणमन्त्रजपात्मिकैवोपासना तत्र सुशका। प्राणप्रतिष्ठादिसंस्कारस्य स्वयंकृतत्वात्पार्थिवादिविग्रहेषु प्रतीयमानं परचैतन्यं स्वानुभवसंभूतमिति साहङ्कृतां स्थितिं द्रढयति। एवमपि परदेवतानुसन्धानसम्भूतानुकम्पा भक्तं तथाविधपार्थिवादिविग्रहोपासनात्परावर्त्य वेदशास्त्रपुराणागमैर्घण्टाघोषेणोपदिष्टे सर्वोत्कृष्टे परदेवतायाः सचेतनाधिष्ठानरूपे गुरुवपुषि परदेवतां यष्टुं प्रवर्तयति। अयं तावद्विशिष्टः शक्तिपातलक्षणः प्रसाद इति शक्यं वक्तुम्। अमुमेवार्थं मनसि निधाय श्रीमदम्बानन्दनाथश्रीपादाः स्तोत्रमारभन्ते – सन्त्यज्यान्यार्चायतनमिति।

हे सततास्खलिते, अम्ब! अन्यार्चायतनं सन्त्यज्य ते यजनं येन गुरुवपुषि क्रियते, तं प्रियजनं श्रीचक्रार्चकाद्वरं मत्वा, त्वम् अरमनुगृह्णासि। ते निर्व्याजानुग्रहमुख्यतमस्वभावशक्तेर्वस्तुतत्त्वशक्तिधृतितो गुरुशब्दे अभिव्यञ्जनमस्ति। अतो गुरुशब्दे ते साक्षाद्व्रजनमस्ति। इत्थं त्वं गुरुपदीयसर्वस्वे सम्यगाविरसि, इत्यन्वयः। हे सततास्खलिते, त्रिकालाबाधितसर्वानुस्यूतसच्चिदानन्दलक्षणस्वरूपे! स्खालित्यं हि क्वाचित्की कादाचित्की च प्रतीतिः। सा च त्रिकालजागरूके परदेवतास्वरूपे न घटत इति सततास्खलिता परदेवतेत्युक्तम्। यद्वा, गुरुवपुषीत्यस्यापीदं विशेषणं भवितुमर्हति। तस्य योजनाऽनुपदमेव दर्शयिष्यते। अन्यार्चायतनं जातावेकवचनम्। मूर्तिश्रीचक्रबाणलिङ्गादीनि पुराणागमोक्तानि पूजायतनानीत्यर्थः। सन्त्यज्य विहाय। परित्यागकारणं पूर्वमुक्तमेव। ते तव परदेवतायाः। यजनं पूजनम्। गुरुवपुषि आज्ञासंक्रमणमहिम्ना स्वयमाविर्भूतपरदेवताप्रथामये करुणावरुणागारे गुरुशरीरे क्रियते विधीयते। येन तं तथाविधं प्रियजनं सातिशयप्रीतिपात्रं भक्तम्। यद्यपि महाकारुण्यरूपिण्याः पराम्बायाः पुत्ररूपेषु भक्तेषु मातुरिव सततं प्रेमैवास्ते तथापि मातुर्मनोगतमभिप्रायमनुसन्धाय तदनुसारं प्रवर्तमानः पुत्रो यथा मातुः प्रियतमो भवति, तथैव प्रकृतेऽपि जडान्यर्चायतनानि परित्यज्य चेतने गुरुवपुःस्वरूपेऽधिष्ठाने पराम्बां यियक्षुर्भक्तस्तस्याः प्रियतमो भवतीति तात्पर्यम्। तं तथाविधं भक्तं श्रीचक्रार्चकाद्वरं श्रेष्ठं स्वप्रियजनं मत्वा त्वम् अरं शीघ्रं

तमनुगृह्णासि तव स्वानुग्रहशक्तिं प्रकटीकरोषि। एतादृशं यजनमष्टमूर्तियजनं भवति। गुरुशरीरेऽष्टमूर्तीनां सत्त्वाद् अभेदोत्पादकमिदं यजनं इत्यभेदयजनञ्च कथ्यते। 'आत्मा तस्याष्टमीमूर्तिः', 'दीक्षितो ह्यष्टमीमूर्तिरि'त्याद्युक्तेः। श्रीमच्छङ्करभगवत्पादैरपि 'जगत्त्रातुं शम्भोर्जयति करुणा काचिदरुणा' इत्यत्र सौन्दर्यलहरीस्तोत्रेऽयमेवार्थस्तद्विदाह्लादहेतुः सूचितः। तथा हि शम्भोः सकलमङ्गलैकमूलकारुण्यामृतसिन्धोः परशिवात्मनः श्रीगुरोः करुणैव स्वमहिम्नाऽरुणाकृतिः सती निरवग्रहानुग्रहपरा सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति। अनया दृशा करुणाया अपि विशेष्यत्वमप्यनाहार्यं वास्तविकमेव। श्रीभास्कररायभारतीश्रीचरणैरपि 'अव्याजकरुणामूर्ति'रीति नामव्याख्यानावसरे सोऽयमर्थः प्रसाधितः। तथा च अव्याजा अनौपधिकीया करुणा सैव मूर्तिः स्वरूपं यस्याः 'जयति करुणा काचिदरुणा' इत्यभियुक्तोक्तेरिति। एवं नित्याहृदयेऽपि–'तामिच्छाविग्रहां देवीं गुरुरूपां विभावयेत्' इत्युक्तम्। अत्रापि स्वेच्छात्मिकायाः सर्वतः स्वतन्त्रायाः परसंविदोऽशेषपदार्थरूपत्वे सिद्धे सत्यपि विभावनाऽपरपर्यायोपास्तिकाले गुरुरूपत्वमेवेति सर्वोत्कृष्टा श्रीगुरुरूपोपासनैवेति प्रतिपाद्यते। अयं भावः– 'इच्छाशक्तिरुमाकुमारी' इति शिवसूत्रप्रतिपादितदृशा परमस्वतन्त्रायाः स्वभित्तिमध्ये स्वेच्छातूलिकयैव विश्वचित्रलेखनलीलापरायाः परायाः यद्यपि श्रीगुरोराज्ञया तत्तत्पार्थिवादिभूतपञ्चकात्मकेष्वधिष्ठानेषु भक्तैरविरतमाराधनं क्रियते, तथापि तदाविर्भावभूमौ करुणावरुणागारे श्रीगुरुनाथविग्रहे वितन्यमानं समाराधनं तस्यानिरवधिसन्तोषाय कल्पत इति। प्रकृतमनुसरामः। ते तव। निर्व्याजानुग्रहमुख्यतमस्वभावशक्तेर्निरुपाधिकरुणारूपप्रधानतमस्वभावोन्मेषस्य। वस्तुतत्त्वशक्तिधृतितः वास्तविकशक्तिधारणया, न तु काल्पनिक्या भावनया। गुरुशब्दे गुरुपदेऽभिव्यञ्जनं आविर्भावोऽस्ति। अतो गुरुशब्दे ते साक्षाद्व्रजनमस्तीत्यन्वययोजना। हे ललिताम्ब, निर्व्याजकरुणैकप्रधानस्वरूपा त्वं सकलस्यापि प्रमेयत्वेन प्रतीयमानस्य वस्तुजातस्य एकाश्रयभूते गुरुरूप एवाविर्भवसि। अत एव हेतोर्गुरुशब्दे गुरुरित्यक्षरद्वयात्मके पदे, तदविनाभूते सकलवस्तुजातशक्तिपरिस्पन्दाश्रयत्वरूपे तदर्थे च ते, साक्षात्, न तु परम्परया, व्रजनमस्ति, परचैतन्यसंघट्टरूपेण, महाकारुण्यमयत्वेन च स्थितिरस्ति। गत्यर्थकधातुश्चैतन्यमयत्वद्योतनाय। उक्तञ्च–

गुकारः सदिति प्रोक्तो रुकारो ज्ञानवाचकः।
ब्रह्मज्ञानैकरूपत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।।

इति। श्रीपराम्बाया लीलास्वीकृतानि सन्ति यद्यपि भूयांसि रूपाणि, किं बहुना विश्वरूपेण साऽऽविर्भूतैवाऽऽस्ते, तथापि निरुपाधिकरुणात्मकमेव तद्रूपं मुख्यतमम्, तदेवात्र स्तोत्रेऽपि स्तोतुमुपक्रान्तं वर्तते। तच्च रूपं कुत्राविर्भवति, किञ्च तदधिष्ठानमिति जिज्ञासायामेवाह– गुरुशब्द एव तस्य स्वरूपस्य प्रकटास्थितिरस्तीति। श्रीभासुरानन्दनाथश्रीचरणैरुपदिष्टया दिशाप्ययमेवार्थः सिध्यति। तथा च–

'धृत्यूर्वीशाष्टेन्द्रदिगाशाहिर्युगत्रिप्रोक्ताभिः पुंहेतिभिरम्बाभिरभिन्नः।
आवृत्यैवं षण्णवतेर्यः शिखरात्मा तं सन्मार्गं मत्तरमयूरं गुरुमीडे।।'

इति नाथनवरत्नमालिकोक्तदिशा वस्तुतत्त्वानां शक्तयोऽधिष्ठात्र्यो देवताः श्रीचक्रस्थाः शक्तयस्तासां धृतितो धारणादपि श्रीगुरुरूपिण्येव महाकारुण्यरूपायाः परदेवतायाः प्रथा भवतीति। अथवा–

'गुरुरेव पराशक्ति सा विमर्शमयी मता।
अवकाशप्रदानेन सैव यायादुपायताम्।।'

'श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः', 'गुरुमूलाः क्रियाः सर्वाः' इत्यादिवचनैः सकलप्रपञ्चमूलतयाऽधिगतस्य गुरोरेवाशेषोपास्तिरूपत्वेन करुणैकस्वभावशाली श्रीनाथो बीजाङ्कुरन्यायेन सम्प्रदायरक्षणार्थं स्वस्वरूपमाविर्भावयति। अतो गुरुशब्द एव सर्वात्मना परदेवतायाः साक्षाद्व्रजनम्, अस्तीति शेषः। किञ्च करणक्रियादिरूपस्य कारकग्रामस्य कर्तर्येव विश्रान्तेः 'स्वतन्त्रः कर्ता' इत्याचार्यैरुच्यते, तद्वदिहापि सकलोपास्तिविलासनिकेतनतया प्रतीतस्य श्रीगुरोरेव प्रधानत्वम्, जगदम्बायाश्च तदेव प्रधानतमं करुणामयं स्वरूपञ्चेति भावः। अत एव प्राञ्चोऽप्याहुः– 'देशिकरूपेण दर्शिताभ्युदयाम्' इति। अयमेवार्थो भङ्ग्यन्तरेण संवित्प्रकाशे–

'यदिदं दृश्यते किञ्चिद्दर्शनात्तन्न भिद्यते।
दर्शनं द्रष्टृतो नान्यद् द्रष्टैव हि ततो जगत्।।'

इत्युक्तः। अत एव गुरुशब्दे ते साक्षाद्व्रजनं सर्वात्मनावस्थानं ज्ञानं चास्तीत्यर्थो ग्राह्यः। धातूनामनेकार्थत्वात्। तदेतत्सर्वमभिसन्धायोपसंहारे वाक्यमेतदाहुः श्रीनाथचरणाः–इत्थं त्वं गुरुपदीयसर्वस्वे सम्यगाविरसीति। गुरुपदसम्बन्धि

यत् सर्वस्वम्, गुरुपादुकामन्त्रगुरुनामगुरुचरणादि, तत्र सम्यक् पूर्णतया, आविरसि प्रकटैवासि, न तु प्रकटीभवसि। अथवा हे गुरुपदीयसर्वस्वे पराम्ब, इत्थं श्रीगुरुवपुषि त्वं सम्यगाविरसि इति वाऽन्वयः। गाथाच्छन्दः। शेषं गाथा इति प्रोक्ता इत्युक्तेः गाथाच्छन्दसि अक्षरसंख्याया नियमो नाऽऽवश्यक इति वृत्तरत्नाकरे स्पष्टम्।। १।।

इत्थं प्रथमगाथया श्रीगुरुमहिमानं तद्वपुष्येव परदेवतायजनस्य माहात्म्यं हेतुञ्च सोपपत्ति प्रतिपाद्य अनधिगतैतादृशगहनागमरहस्यगुरुमुखागमानामपि भक्तानामुद्दिधीर्षया परमकारुणिकाः श्रीनाथचरणास्तथाविधभक्तोद्धारप्रकार-प्रदर्शनमुखेन द्वितीयां गाथामारभन्ते– एवमिति।

एवमजानन् योऽकामोऽर्चति गुरुभावेन क्ष्मादिविग्रहम्।
तत्कृतितुष्टा करोष्याशु तं वृतगुरुकुलदीक्षाद्यनुग्रहम्।।
भजति साधिदैवमवेत्य गुरुं त्यक्त्वाऽपीन्द्रियमनोनिग्रहम्।
भुक्तिमुक्तिशिवधामैश्वर्यं युगपदनुभवति स निरवग्रहम्।।
सोऽसि त्वं तद्रूपावेत्थं वेदकस्त्वया भेदे गिलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्त्य कृपोज्ज्वलिते।।२।।

एवम् अजानन् अकामः यो गुरुभावेन क्ष्मादिविग्रहम् अर्चति तत्कृतितुष्टा (त्वं) तम् आशु वृतगुरुकुलदीक्षाद्यनुग्रहं करोषि। (यः) इन्द्रियमनोनिग्रहं त्यक्त्वाऽपि गुरुं साधिदैवम् अवेत्य भजति सः युगपत् निरवग्रहं भुक्तिमुक्तिशिवधामैश्वर्यम् अनुभवति। त्वं तद्रूपा असि सः (त्वद्रूपोऽस्ति) वा (इति) त्वया भेदे गिलिते सति को वेद इत्यन्वयः।

एवमजानन् शास्त्रज्ञानसत्सङ्गादिवैधुर्यवशात् पूर्वगाथोक्तं गभीरमागमप्रमेयमर्थम् अविदन् अपि अकामः लौकिकैषणारहितः, तस्यैवाधिकृतत्वात्। यद्वा अं शिवं कामयते तादृशः। प्राग्भवीयसंस्कारमहिम्ना शिवतत्त्वजिज्ञासात्मकशक्तिपातसम्पन्नो यः, गुरुभावेन गुरुरूपभावनापरः सन क्ष्मादिविग्रहं पञ्चमहाभूतान्यतमशरीरम् अर्चति पूजनादिना सेवते। अथवा क्ष्मादिविग्रहे पृथिव्यादिसकलप्रत्यक्षविषयप्रमेयजाते गुरुरूपं भावयति, सर्वत्र गुरुरूपिण्याः परदेवताया एव व्याप्तिं पश्यन् तदनुग्रहं सन्ततं कामयते पार्थिवादिमूर्तीश्च तद्भावनाभावितः समर्चति, तत्कृतितुष्टा तस्य तादृश्या

कृत्या निष्कामोपासनया दृढतरया श्रद्धया च तुष्टा प्रसन्ना (त्वं)। तदुक्तं कुलार्णवे–

'अनधीतोऽप्यशास्त्रज्ञो गुरुभक्तो दृढव्रतः।
कुलपूजारतो यस्तु समे प्रियतमो मतः।।'

इति। आशु सद्य एव, न तु भूयसा विलम्बेन। न वा कायक्लेशकरोपवासादितपोभिः, किन्तु निर्व्याजकरुणामहिम्नैव। वृतगुरुकुलदीक्षाद्यनुग्रहं करोषि। वृतो लब्धो गुरुकुलदीक्षादिरूपोऽनुग्रहः परदेवताप्रसादो येन तं तथाविधं करोषि विधत्से। अयं भावः– 'आचार्यवान् पुरुषो वेद', 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इत्यादिवचनैर्गुरूपसत्तिमन्तरा ज्ञानकणिकालाभोऽपि न भवतीति श्रुत्याद्यशेषशास्त्रराद्धान्तः। एवं प्रथमं यदा प्राग्भवसंस्कारादिमहिम्नाऽङ्कुरितपरदेवताभक्तिरपि पुरुषः केवलं परदेवतानुग्रहाभिलाषरूपया निष्कामया भावनया तदीयाः पार्थिवाद्या मूर्तीः सम्पूजयति तदा तमधिकारिणमवेक्ष्य परदेवतैव सत्सम्प्रदायप्रवर्तकेन स्वकीयाऽपरविग्रहेण श्रीगुरुणा तं संयुनक्ति दीक्षादिसंस्काररूपैरनुग्रहैस्तं स्वकीयं च करोति। आदिपदेन रहस्यतरदीक्षाविशेषा ध्वन्यन्ते। अकाम इत्युक्त्या सकामस्यैकलव्यादेर्यथा पार्थिवगुरुमूर्तिपूजनात् केवलमैहिकधनुर्वेदप्राप्तिरुदभून्न तथाऽत्रेति भावः। अकामत्वादेवात्र परिच्छेदराहित्यं प्राप्तव्यानामर्थानाम्। किं बहुना,

'दीयते शिवसद्भावः क्षीयते पाशसंचयः।
दीक्षेति परमेशस्य मोचिका शक्तिरुच्यते।।
सा गुरुक्रियया व्यक्ता शिष्यस्याऽऽमोचयेदणून्।'

इति सौभाग्यचन्द्रोदयोद्धृतवचनम्, इत्युक्तरूपदीक्षाख्यानुग्रहलाभोऽप्यकामत्वादेव। उक्तं च सूत्रकारैरपि–'आत्मलाभान्नपरं विद्यते' इति। किञ्च 'वृतगुरुकुलदीक्षाद्यनुग्रहं तं करोषि' इत्यन्वययोजनया विशेषणस्योपसर्जनत्वाद् विशेष्ये तदीयसकलमहिमभाजनत्वोक्त्या कश्चन सौभाग्यभूमा प्रतीयते। एवं यः सद्गुरुकुलदीक्षाद्यशेषसौभाग्यशाली भक्तः, इन्द्रियमनोनिग्रहं त्यक्त्वाऽपि, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मसाधनीभूतानि, मनश्च सङ्कल्पाधिकारि, तेषां निग्रहं बलात्क्रियमाणमवरोधं सन्त्यज्यापि, गुरुं साधिदैवम् अवेत्य भजति, देवतात्मानं श्रीगुरुनाथमेव निश्चित्य भजते सः युगपत् निरवग्रहं भुक्तिमुक्तिशिवधामैश्वर्य-

मनुभवति। सः भक्त एकस्मिन्नेव काले निरवच्छेदं प्रपाणकरसन्यायेन एकरसीभावापन्नं शिवधामैश्वर्यलाभम्, भुक्तिर्भोगः मुक्तिरपवर्गः तयोरेकरसीभावात्माशिवधामैश्वर्यलाभः, तमनुभवति। अत्र तैत्तिरीयश्रुतिः–'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा विपश्चिता' इति। इदमत्र तात्पर्यम्– देशिककटाक्षपातरूपपरदेवतामहाप्रसादप्रासादमधिरूढो यो भक्तस्तस्य स्वरसवाहीनि समनस्कानीन्द्रियाणि स्वेच्छाप्रसर एव सन्त्यज्य श्रीगुरुपरदेवतामेव सर्वभावेनोपासते। असौ कृतकृत्यतया अन्यत्रादृष्टाश्रुतचरं भुक्तिमुक्तिसमरसीभावात्मकं जीवन्मुक्तिलक्षणं शिवभावमुपभुङ्क्ते इति। अत्र चैवंविधे लोकोत्तरे महालाभे श्रीपराम्बायाः प्रसाद एव हेतुर्नान्यत्। अत एव श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानकलिकास्तोत्रे–

'तथाऽन्ये मनः सेन्द्रियं सञ्चरच्चाप्यसंयम्य तन्मार्गके जागरूकाः।
स्वसंवित्सुधाऽऽदर्शदेहे स्फुरन्तं महायोगिनाथाः प्रपश्यन्ति सर्वम्।।'

इति गौर्यम्बया शिवा स्तूयते। किञ्च गुरुपरदेवतैक्यानुसन्धानमहोपास्तिप्रवृत्तस्यैव सच्छास्त्रतत्त्वराशिरहमहमिकया पुरः स्फुरतीति। गुह्योपनिषद्युक्तम्–

'यस्य देव्यां पराभक्तिर्यथा देव्यां तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

इति। अत एव श्रीज्ञानदेवश्रीचरणैरपि–

'गुरुरित्याख्यया लोके साक्षाद्विद्या हि शाङ्करी।
जयत्याज्ञा नमस्तस्यै दयार्द्रायै निरन्तरम्।।'

इति श्लोकेन शाङ्करी शिवस्वरूपप्रभामयी विद्यागुरुरूपेणैवाविर्भूता सती सकलशक्तिचक्रैकनायिका महानुग्रहक्षमा आज्ञारूपेण सर्वोत्कर्षरूपं जयमनुभवतीत्युक्तम्। तस्मात् स्वनतिविषयीकरणे दयार्द्रत्वरूपमेव तदीयं रूपमिति समासेन परमार्थः कल्याणकांक्षिणां करुणया प्रकटीकृतः। अत्र रहस्यार्थश्च कश्चिदुन्मीलितस्तद्विदामाह्लादकारी परमकारुणिकैः श्रीनाथचरणैः। तथा हि प्राञ्चोप्याचार्याः प्राहुः–

'तेन त्यक्तक्रियाऽऽयासो यत्र तत्र यथा तथा।
विचरेन्न गतेन स्युस्तृप्ताः करणदेवताः।।
यस्मिन् भावे यदा येन व्रजेदक्षेण यन्मनः।
सर्वस्तस्यैव तेनेत्थमाहृतः परमो रसः।।'

इत्यादि। श्रीगुरुनाथदेवतार्चनबद्धपरिकराणां केषाञ्चिदेव धन्यजनुषां पराम्बाकृपाकटाक्षमहिम्ना सोऽयमर्थः परिस्फुरतीत्यलमत्रास्माकं विवरणसाहसेन। किञ्च 'उपायैर्न शिवो भाति भान्त्यमी तत्प्रसादतः' इति श्रीतन्त्रवटधानिकोक्तदिशा परमकारुणिकश्रीपरदेवतात्मा श्रीनाथ एव निजस्वरूपभजनरसजुषां भक्तिमतामनुग्रहाय मानुषस्वरूपमादाय दीक्षाक्षपितकल्मषाणां तेषां सर्वमपि सेन्द्रियमनोव्यापारं स्वात्मसात्कृत्य शिवभाववैभवं तेभ्यः प्रयच्छतीत्यहो वदान्यतासरणिः। भक्तस्य परिमितप्रमातृविगलनादहङ्काररराहित्यम्, तत एव च गङ्गासागरसङ्गमवत्तस्यापि तद्भावापत्तिर्भवतीति भावः। अत एवानन्दलहरीस्तवेऽपि-

'अयःस्पर्शे लग्नं सपदि लभते हेमपदवीं
यथा रथ्यापाथः शुचि भवति गङ्गौघमिलितम्।
तथा तत्तत्पापैरतिमलिनमन्तर्मम यदि
त्वयि प्रेम्णा सक्तं कथमिव न जायेत विमलम्॥'

इति भङ्ग्यन्तरेण परदेवतानुग्रहप्रकारो वर्णितः। सुन्दरीतापिनीयोपनिषदि च,

'यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थवाचकाः।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थवाचकाः॥'

इति श्रूयते। एवं यथा पर्यायेणोच्यमानोऽपि घटादिर्वस्तुतो न भिद्यते, तथैव गुरुमन्त्रदेवतानां नाममात्रप्रवृत्तो भेदो न पारमार्थिक इति भावः। तत्रापि श्रीगुरोरेव मूलकारणत्वात्प्राधान्यम्। उपक्रमोपसंहारयोस्तत्रैव विश्रान्तेः। एवंविधोपासनासम्पन्नस्य धन्यजन्मनोऽवस्थामेव श्रीनाथचरणा आहुः- त्वं तद्रूपाऽसि, अथवा स त्वद्रूपोऽस्ति त्वद्विभूतिरूपो वा? इत्थं त्वया भेदे गिलिते सति को वेद, इति। त्वं परदेवतैव तद्रूपा स भक्त एव रूपं यस्यास्तादृशी असि, स भक्तः त्वमेव रूपं यस्य तथाविधोऽस्ति वा, इति त्वया स्वयमनुग्रहपरया भेदे भेदज्ञाने गिलिते निरवशेषीकृते सति कस्त्वत्तोऽन्यो वेद ज्ञातुं क्षमेत। नान्यः कोऽपीति यावत्। सोऽयमचिन्त्यो भेदाभेदवाद इति बहिर्मुखैर्व्यवह्रियते। वस्तुतस्तु परदेवताकरुणाकटाक्षपातमहिमा सोऽयमिति सर्वैराचार्यैरुपदिश्यते। तदुपायत्वेन च पूर्वार्धे निष्कामभावनया श्रीगुरुरूपोपास्तिरुपदिष्टा। उपायोपेययोर्न पार्यन्तिकी भेदावस्था, तथापि व्यवहारार्थं उपास्तिप्रवृत्त्यर्थं च तत्कल्पना क्रियते। एतदभिप्रायेणैव श्रीगुरोः सर्वात्मकत्वेऽपि शिवसूत्रेषु 'गुरुरुपायः' इत्युक्तम्। एवञ्च श्रीगुर्वभेदभावनयोपासनापराणां

नराणां भोगमोक्षसमरसीभावलक्षणः पारमैश्वर्यलाभो भवतीति किमप्यनुत्तरं तत्त्वमाविष्कृतं श्रीचरणैः। प्रसिद्धा चेयमुक्तिः 'श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव' इति। एतदेव सर्वमभिसन्धाय श्रीशङ्करभगवत्पादैरपि–

'जगज्जालमेतत् त्वयैवाम्ब सृष्टं
त्वमेकैव यासीन्द्रियैरर्थजालम्।
त्वमेकैव कर्त्री त्वमेकैव भोक्त्री
न मे पुण्यपापे न मे मोक्षबन्धौ॥'

इति निरतिशयनैश्चिन्त्यलक्षणा स्वस्वरूपविश्रान्तिरुद्घोषिता।

'या भोगदायिनी देवी जीवन्मुक्तिप्रदा न सा।
मोक्षदा तु न भोगाय ललिता तूभयप्रदा॥'

इति ललितापरिशिष्टतन्त्रे पठ्यते। एवंविधभोगमोक्षसमरसभावात्मकपारमैश्वर्यसम्पन्नैः श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादैरपि–'अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः। घटकुम्भवदेकार्था' इत्याद्युक्तिभिरयमर्थः प्रसाधित इत्यलमधिकेन॥ २ ॥

पूर्वगाथाभ्यां श्रीगुरुपरदेवतयोः पार्यन्तिकपरमाभेदप्रथां प्रदर्श्य इदानीं स्वात्ममात्रविश्रान्तिलक्षणं परमसुखं रसयन्त्याः परदेवताया वास्तविकीं स्थितिं प्रकटीचिकीर्षवः श्रीनाथचरणास्तृतीयां गाथामारभन्ते– नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावमिति।

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावं रूपं ते वास्तवमनामयम्।
शुद्धधीमदणुदृशाऽस्ति तु युगपदखिलज्ञप्तिकृपाशक्तिमयम्॥
निरक्षमखिलाक्षगुणाभासं निर्धूतमनोधीदिक्समयम्।
प्रेरयत्यपि स्वस्मर्तृहृदि श्रुतितन्त्रागमकुलविदामयम्॥
इत्थं ध्यातुमशक्तांस्त्रातुं सगुणसदृशकरुणाकृतिकलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्त्य कृपोज्ज्वलिते॥३॥

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावं वास्तवं अनामयं ते रूपम् अस्ति। शुद्धधीमदणुदृशां तु युगपत् अखिलकृपाशक्तिमयं (रूपमस्ति)। निरक्षम् अखिलाक्षगुणाभासं निरस्तमानसधीदिक्समयम् अपि स्वस्मर्तृहृदि श्रुतितन्त्रागमकुलविदाम् अयं

प्रेरयति। इत्थं ध्यातुम् अशक्तान् त्रातुं, सगुणसदृशकरुणाकृतिकलिते भासीति ध्रुवपदेनान्वयः।

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावं नित्यशुद्धो नित्यबुद्धो नित्यमुक्तो भावोऽवस्थितिर्यस्य तथाविधमिति नित्यपदस्य प्रत्येकमन्वयः। वास्तवं पारमार्थिकं यत्किञ्चित् सम्बन्धरहितम्। अनामयम् अहंममत्ववृत्तिरूपजन्ममरणफलकदुःखसम्भिन्नसुखरूपामयरहितं ते तव परदेवताया रूपं वास्तविकी स्थितिर्न तु दृगिन्द्रियमात्रग्राह्यो रूपात्मको विषयः। अस्ति विद्यते। त्रिकालाबाध्यसत्तास्पदं पराहन्तामयं वास्तविकं तवावस्थानमितिभावः। न चैतावता श्रुत्युक्तः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्' इति प्रथितः सद्वाद एवायमिति मन्तव्यम्, किन्तु ततोऽप्यतिविप्रकृष्य पराहन्तामयी सेयं माहेश्वरी चितिः। श्रीमद्भागवते त्वेतदभिप्रायेणैव–

'स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्निषेधशेषो जयतादशेषः॥'

इत्युक्तम्। तथाविधा परदेवतायाः पारमार्थिकी स्थितिरिति भावः। नित्यशुद्धत्वं कालत्रयेऽपि मालिन्याभावात्। 'अस्पर्शश्च महाञ्शुचि'रीति श्रुतेः। 'अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः' इति स्मृतेश्च। नित्यबुद्धत्वं चिद्रूपत्वात्। नित्यमुक्तत्वं मोक्षरूपत्वम्। अत एव 'नित्यमुक्ता'नामव्याख्यायां श्रीभास्कररायचरणाः 'नित्यं मुक्ता यस्या भक्ताः सा, नित्यं यथा तथा मुक्ता वा। नित्यं मुञ्चति मुच्यते वा। नित्यमुक्तस्य भावस्तत्ता वा। मोक्षरूपेत्यर्थः, इत्याहुः। बन्धस्पर्शसम्भावनारहितेति यावत्। एवंविधं देवतास्वरूपमुद्दिश्यैव रहस्यनामसाहस्रे नित्यशुद्धानित्यबुद्धाप्रभृतीनि नामानि वाग्देवताभिरुपात्तानि। किञ्च 'विश्ववैचित्र्यचित्रस्य समभित्तितलोपमा' इति श्रीप्रत्यभिज्ञाप्रोक्तसरण्याऽशेषविश्ववैचित्र्यालेख्यपरम्पराया आधारभावमश्नुवाना भित्तितलकल्पा सा माहेश्वरी संविद् विद्योतते इति भावः। एवं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावाऽपि परदेवता यदि यत्किञ्चित् सम्बन्धव्यापाराद्युन्मुखी न स्यात्, तर्हि कुतः सोऽयमुपास्योपासकभावः सम्भवेदित्याह, तु किं तु, तथाविधं निर्विकाराखण्डवृत्तिरूपमपि ते रूपं (अवस्थानं) शुद्धधीमदणुदृशा प्राक्तनसंस्कारमहिम्ना शुभस्मृतिप्रापकलक्षणेन शुद्धधीवैभवयुक्ताः ये अणवो जीवास्तेषां दृशा दृष्ट्या इत्यर्थः। युगपद् एककालावच्छिन्नमखिलज्ञप्तिकृपाशक्तिमयम् (ते रूपम्)

अस्ति। सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वनिर्व्याजकरुणामयत्वादि धर्मसंवलितं जागर्ति। यद्यपि भगवच्छक्तिपातविधुरैर्वेदान्तवादिभिः प्रायः परमेश्वरस्य सच्चिदानन्दलक्षणं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावमेव रूपमुद्घोष्यते, करुणामयं तस्य वास्तविकं स्वरूपं न क्वापि प्रकटीकृतम्, तथापि 'अर्हन्निदं दयसे विश्वमब्भुवम्', 'न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति', 'कारुण्यरूपिणीं', 'सहृदयाम्', 'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्', 'भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्', 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः', 'स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु', 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इत्यादि श्रुतिवाक्यैः; 'जयति करुणा काचिदरुणा' इति श्रीमच्छङ्करभवत्पादानुभवेन,

> 'चिद्रूपमानन्दमयं च वेदाः शैवं वपुः शाश्वतमामनन्ति।
> दयामयं तेऽथ विदुर्न जातु दृष्टं तदत्रैव कदम्बमूले।।'

इति श्रीमन्नीलकण्ठदीक्षितानुभूतं च महाकारुण्यात्मकं परमेश्वरस्वरूपं कल्याणपथाध्वन्यैरभ्युपेतव्यम्।

अयं भावः– अखण्डप्रकाशात्मकपराहन्तामयमपि श्रीपरदेवताया रूपं प्राक्तनसंस्कारादिशोधितान्तःकरणो भक्तो निष्कामत्वापरपर्यायशुद्धस्मृतिमात्राभिलाषी सन् अखिलज्ञानमयम् अखिलकरुणाश्रयञ्चानुभवतीति। न चैतावता भक्तस्य अध्यासमहिम्ना परदेवतायाः सर्वज्ञत्वादिधर्मसम्पत्तिरुद्भवतीत्याशङ्कनीयम्। तस्याः स्वातन्त्र्यात् परनियोगाऽनपेक्षणाच्च; किन्तु स्वरूपाविनाभूतमहाकारुण्यस्यैवायं विलासः। ततः स एवाचार्यपदवाच्यो भवति। एतदेवाग्रे स्फुटीकरिष्यते नाथचरणैः–'नाणोरध्यासतोऽस्ति साऽद्धा तव तु नियत्या हि प्रत्यक्षया' इत्यत्र। 'त्वामेव गुरुमुपास्ते तस्मिन् स्वाज्ञासंक्रमणतया फलिते' इत्यत्र च। धीशोधनायैव भगवती सावित्री प्रथमं प्रादुरासीत्। तत एव द्विजानां प्रथमं तदुपासनमावश्यकमास्ते। श्रीदेवीभागवतेऽपि 'सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्यां च धीमहि। बुद्धिं या नः प्रचोदयात्।।' इति। परचिच्छक्तिः प्रथमं धीशोधनायैव प्रार्थ्यते। श्वेताश्वतरोपनिषदि–

> 'यो देवानां प्रभव उद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः।
> हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो देवः शुभया बुद्ध्या संयुनक्तु।।'

इति धीशोधनप्रार्थना दृश्यते। ननु भक्तस्य भेदप्रथायां द्वैतवादप्रसङ्ग इति चेन्नैवम्। शुभधीप्रार्थकत्वमपि रहस्यार्थविमर्शधिया प्राथमिकः शक्तिपात एव।

तञ्च परदेवतैव कुरुते। ततस्तादृशधीमान् भक्तः सर्वज्ञत्वादिगुणमयं करुणावरुणागारं परदेवतापादपाथोरुहयुगलं सेवते। तथा च–

'स्वस्यैव स्फुरणं मुख्यं विश्वस्मिन्नधिरोप्यते।
ननु नौकाधिरूढस्य चलती वापगातटम्।।'

इति न्यायेन। सोऽयं परदेवताया एव स्वेच्छविलसितव्यापारः। यावद्भक्तस्यापि भेदप्रथाऽस्ति, तावदेव युगपद् ज्ञानकृपाशक्तिमयं परदैवतं विद्योतते। ततः परं पूर्णाभेदप्रथायां तु साधारणप्रमातृदृष्ट्या अयं भक्त एव तथाविधसमसमय एव समुल्लसितज्ञानकृपाशक्तिमयो महाम्भोधिरिव प्रतिभाति। एनमेवार्थं विशदयितुं भङ्ग्यन्तरेणाहुः– निरक्षम् अखिलाक्षगुणाभासं निरस्तमानसधीदिक्समयम् इति। निरक्षं निरिन्द्रियमपि सत् यत् अखिलानामक्षगुणानामिन्द्रियव्यापाराणाम् आभासो व्यक्तिर्येन तादृग्वर्तते। भगवता चोक्तम्– 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' इति। निरस्तमानसधीदिक्समयं मनोधीदिक्कालाद्यतिक्रान्तम्। तथाविधमपि यत्ते स्वरूपं स्वस्मर्तृहृदि स्वस्मर्तॄणां गुरुदेवतैक्यानुसन्धानोपास्तिप्रवृत्तानां हृदि बोधभूमौ श्रुतितन्त्रागमकुलविदाम् अयं प्रेरयति। श्रुतयो वेदास्तदङ्गोपाङ्गभूताः सर्वाविद्याश्च तन्त्राणि विविधानि शैववैष्णवगाणपत्यादिभेदात्, अथवा बाह्यक्रियाकलापविवेचनमात्रप्रवृत्तानि शास्त्राणि। आगमाश्च सकलरहस्यार्थसमुद्रायमाणाः सर्वेषां शास्त्राणां हृदयभूताः। उक्तं चाचार्याभिनवगुप्तपादैः–

'यं प्राप्य सर्वागमसिन्धुसंघः पूर्णत्वमभ्येति कृतार्थताञ्च।
तं नौम्यहं शाम्भवतत्त्वचिन्तारत्नौघसारं परमागमाब्धिम्।।'

इति। वस्तुतस्तन्त्रागमयोर्न पारमार्थिको भेदः, किन्तु पर्यन्ते त्वेकरूपतैव। एतेषां सर्वेषां ये कुलविदः आचार्यास्तेषाम् अयं तत्कृतमयं दीक्षाविधिरूपं शुभतमं संस्कारं प्रेरयति समुद्भावयति। 'अयः शुभावहो विधि'रित्यमरः। कुलविदामयमिति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। कुलाचार्यद्वारा परदेवतैवानुग्रहं करोतीति तात्पर्यार्थः। उक्तं चागमे–'कुलाचार्यमधिष्ठाय देवो दीक्षयिता स्वयम्' इति। ननु आगमतन्त्रस्थकुलाचारविषये बहुषु स्थलेषु शिष्टैरपि आगमास्तन्त्राणि च न धर्मविषयाणीत्येवंरूपा निन्दा कृता दृश्यते। अतस्तत्कुलविदामयं शुभावहो विधिरिति कथमुक्तं भवति। न च शिष्टाकोपाधिकरणन्यायात् तन्त्राणां धर्मशास्त्रबहिर्भावापत्तिरिति वाच्यम्। धर्मो हि द्विविधः–

प्रवृत्तिपरो निवृत्तिपरश्चेति। तत्र त्रैगुण्यधर्मपरानुद्दिश्य 'यद्वै किञ्चित् मनुरवदत् तद्भेषजम्' इति श्रुत्या सूचितम्। निस्त्रैगुण्यधर्मविषये 'अध्यवोचदधि वक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्', 'भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि' इत्यादि श्रुतिभिः शिव एव लोकप्रसिद्धसामान्यज्ञानापेक्षयाऽधिकं वक्तुं योग्यो वक्ता दिव्यमार्गस्य। तस्मात् कुलविदाचार्यप्रवर्तितोऽयमेव निस्त्रैगुण्यपथाध्वन्यानामारादुपकारकः इति स्पष्टम्। एवं तथाविधं निरञ्जनत्वादिलक्षणमपि परं महोनिष्कामभक्तितत्पराणां गुरुभावभावितात्मनां शुभात्मनामुद्दिधीर्षया तान् सकलशास्त्रकुलागमरहस्यवेदिना श्रीगुरुणा सह संयोज्य कुलदीक्षया स्वात्मरूपान् कुरुत इति पद्यार्थसंक्षेपः। कुलशब्दस्यानेकार्थत्वेऽपि परमशिवादिस्वगुरुपर्यन्तवंशविस्तृतिरूपोऽर्थ एवात्र ग्राह्यः। इत्थं ध्यातुम्, अनेन प्रकारेण परदेवतायाः रूपविवेचने, अशक्तान् असमर्थान् भक्तिमतो जनान्, त्रातुं समुद्धर्तुम्। तथाविधभक्तजनानुजिघृक्षयेत्यर्थः। सगुणसदृशकरुणाकृतिकलिते हे श्रीललिते! अविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य भासि इत्यन्वयः। आचार्यभगवत्पादैरप्यत एव 'जगत्त्रातुं शम्भोर्जयति करुणा काचिदरुणा' इत्युक्तम्। श्रुतिरपि—

'नमामि त्वां महादेवीं महाभयविनाशिनीम्।
महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम्।।'

इति सगुणानां नीलपीतश्वेतारुणादि तत्तद्गुणमयाकृतिसदृशी या करुणामयी आकृतिः धनुर्बाणपाशाङ्कुशाढ्या मूर्तिस्तया कलिते तथाविधमूर्त्याऽभिव्यक्ते हे श्रीललिते! गुरुपदमावृत्य त्वं भासीति शेषः। ननु नीलपीतादिगुणमयतत्तदीश्वराकृतिसहस्रतः कस्तावद्भेदः श्रीदेव्या इति चेदुक्तम्—'करुणाकृतिकलिते' इति। इदं हि करुणामयमेव रूपम्, न तु गुणविशेषकृतम्। अत एव ध्यानपद्येषु तत्र तत्र 'करुणातरङ्गिताक्षी', 'सदयापाङ्गविभ्रमाम्' इत्यादि पठ्यते। अन्यच्च, सगुणसदृशकरुणाकृतिकलिते इत्यत्र सदृशपदोपादानेन चैवं ध्वन्यते। सादृश्यं नाम तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमिति प्रामाणिकाः समामनन्ति। तदनुसारं करुणाकृतेः सगुणसदृशत्वेऽपि न तद्रूपतेत्यर्थनिष्पत्तिर्भवति। नीलपीतादिमूर्त्यन्तरवत्परदेवताया अरुणवर्णवत्त्वेऽपि, पाशाङ्कुशाद्यायुधधारकत्वेऽपि न सामान्यत्वम्; किन्तु विशेषतैव विद्यते। एतदभिप्रेत्य श्रीशङ्करभगवत्पादैः—

'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमभिसन्धाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रः पशुपतिः।

पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटनात्
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्।।'

इत्यत्र श्रीपरदेवतोपास्तेः सर्वोत्तरत्वमुद्घोषितम्। अत एव अनुत्तराम्नाय एव श्रीपरदेवतोपास्तिः श्रीस्वच्छन्दभैरवभट्टारकेण प्रकाशिता। श्रीपरशुरामकल्पसूत्रारम्भेऽपि इत्थमेव सर्वेषामाम्नायानामन्ते श्रीभैरव्यै भगवान् भैरवः परदेवतोपास्तिं कथयामासेति दृश्यते इति।

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादैर्ब्रह्मसूत्रभाष्ये 'स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्' इत्युक्तम्। अत्र इच्छावशादित्यनेन परमेश्वरस्वातन्त्र्यं ध्वनितम्। मायामयमित्यनेन च कारुण्यपूर्णत्वमाभासमानाकृतित्वं च ध्वनितम्। साधकानुग्रहार्थम् इत्यनेन तस्यानुग्रहैकात्मकः स्वभावो ध्वनितः।। ३।।

एवं गाथात्रयेण गुरुपरदेवतयोर्वास्तवं रूपमभेदस्थितिमनुकम्पासम्पत्तिं च प्रतिपाद्य, इदानीं ध्यानोक्तस्वरूपां परदेवतां तदीयध्यानमहिमानं च विवर्णयिषवः श्रीनाथचरणाश्चतुर्थीं गाथामारभन्ते– अशेषभुवनोर्ध्वगे इति।

अशेषभुवनोर्ध्वगे सुधाब्धौ मणिस्थले सुगन्धजितमलये।
नानावृक्षमहोद्यानादिकपद्माटव्यवहितत्ववलये ।।
चिन्तामणिसदने श्रीचक्रे पञ्चब्रह्मात्म(मञ्च)पीठनिलये।
धृतपाशाङ्कुशसुमशरेक्षुधनुरनङ्गशिवयोरैक्यं कलये।।
धृतपाशाङ्कुशसुमशरेक्षुधनुरात्मशक्तिवपुररुणं कलये।
धृतपाशाङ्कुशसुमशरेक्षुधनुरादिगुरुमहः परमं कलये।।
धृतपाशाङ्कुशसुमशरेक्षुधनुरनादिसद्गुरुदैवं कलये।
इति ध्यातुरन्तर्विशसितमामणिमाद्यखिलशक्तिघृणिवलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्त्य कृपोज्ज्वलिते।।४।।

अशेषभुवनोर्ध्वगे सुधाब्धौ मणिस्थले सुगन्धजितमलये नानावृक्षमहोद्यानादिकपद्माटव्यवहितत्ववलये चिन्तामणिसदने श्रीचक्रे पञ्चब्रह्मात्ममञ्चनिलये धृतपाशाङ्कुशसुमशरेक्षुधनुः अनङ्गशिवयोरैक्यं कलये। इति ध्यातुः अन्तः अणिमाद्यखिलशक्तिघृणिवलिते हे श्रीललिते! (त्वं) विशसितमाम् इत्यन्वयः।

अशेषाणां भुवनानामूर्ध्वगः ऊर्ध्वस्थस्तस्मिन्। एवमेव त्रिपुरारहस्ये माहात्म्यखण्डेऽपि वर्णितमस्ति। एवमेव चन्द्रज्ञानागमेऽपि। तत्र तावत् त्रिपुरायाः परदेवतायाः श्रीपुरं त्रिषु स्थानेषु श्रूयते, एकं सुमेरोः शृङ्गं ललितास्तवरत्ने वर्ण्यमानम्, द्वितीयं विद्यारत्नभाष्ये क्षीरसमुद्रमध्येऽप्येकं श्रीपुरमस्तीत्युच्यते, तृतीयं प्रकृतं रुद्रयामले त्वेवं वर्णितम्–

> 'अनेककोटिब्रह्माण्डकोटीनां बहिरूर्ध्वतः।
> सहस्रकोटिविस्तीर्णसुधासिन्धोस्तु मध्यगे।।
> रत्नद्वीपे जगद्द्वीपे शतकोटिप्रविस्तरे।
> पञ्चविंशतितत्त्वात्मपञ्चविंशतिवप्रकैः ।।
> त्रिलक्षयोजनोत्तुङ्गैः श्रीविद्यायाः पुरं शुभम्।'

इत्यादिना। तदेवंविधे सकलोत्तुङ्गे सुधाब्धौ सुधासमुद्रे। श्रुतिरप्याह–'अमृतेनावृतां पुरी'मिति। शक्तिमहिम्नस्तवे भगवता दुर्वाससाऽपि 'ब्रह्माण्डाब्जमहासने जननि ते मूर्तिं भजे चिन्मयी'मित्युक्त्या विश्वोत्तीर्णमेव परदेवतासनं व्यवर्णि। आगमेष्वपि विश्वोत्तीर्णो विश्वमयश्च इत्यनेन परदेवताया द्विविधमपि रूपं प्रकटितम्। श्रुतिरपि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि'त्यादिनाऽमुमेवार्थं समर्थयांश्चक्रे। परदेवतायाः सर्वोत्तरत्वादेव सर्वलोकोर्ध्वगमासनमिति तात्पर्यम्। तस्मिन् सुधासमुद्रे मणिस्थले, रत्नमयं द्वीपमस्ति तत्र। नानावृक्षमहोद्यानाद्यन्तर्भूमिसमन्विताः। पञ्चविंशतिप्राकारा धातुमयमणिमयादिक्रमेण सन्ति। तदेव वलयम् आवरणमावेष्टनं वा चिन्तामणिभवनस्य। तस्यावरणस्य विशेषणमिदं सुगन्धजितमलय इति। परिमलपराजितमलयस्थल इत्यर्थः। मलयस्य सकलसौरभाश्रयत्वेन उपमानतया ग्रहणम्, न पुनश्चन्दनवृक्षमात्रस्य। एतेन मलयस्थलसौरभोपमर्दकतयाऽचिन्त्याऽनुपमपरिमलपरिपूरितत्वमेषां प्राकाराणामवगम्यते। अथवा मणिस्थले इत्यस्याप्येतद्विशेषणं भवितुमर्हति। नानावृक्षमहोद्यानादारभ्य पद्माटवीपर्यन्तम् अवहितत्वं सव्यवधानत्वमेव वलयम् आवेष्टनं प्राकारपरम्परेत्यर्थः। प्राकाराणां व्यवधायकधर्मान्वितत्वात्। तस्मिन् वलये। नानावृक्षमहोद्यानसन्तानवाटिका-कल्पवाटिकाप्रभृतीनि प्राकारान्तःस्थलानि ब्रह्माण्डपुराणे, त्रिपुरारहस्ये, रुद्रयामले, भैरवयामलादिषु ग्रन्थेषु स्फुटानीति तेषां प्रातिस्विकं नात्र गणनं क्रियते। तत्र सकलप्राकारोत्तरं पद्माटवी वर्तते। तदुक्तं रुद्रयामले 'त्रिलक्षयोजनायाम–

महापद्मवनावृत'मिति। ललितास्तवरत्नेऽपि–

'मणिसदनसालयोरधिमध्यं दशतालभूमिरुहदीर्घैः।
पर्णैः पयोदवर्णैर्युक्तां काण्डैश्च योजनोत्तुङ्गैः॥
मिलितैस्तालीपञ्चकमानैर्मिलिता च केसरकदम्बैः।
सन्ततगलितमरन्दस्रोतोनिर्यन्मिलिन्दसन्दोहाम्॥
पाटीरपवनबालकधाटीनिर्यत्परागपिञ्जरिताम्।
पद्माटवीं भजामः परिमलकल्लोलपक्ष्मलोपान्ताम्॥'

इति पद्माटवी वर्णिता। किञ्च ब्रह्मरन्ध्रस्थितं सहस्रदलकमलमपि महापद्मवनमुच्यते, पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यात्। उक्तं स्वच्छन्दतन्त्रे–'महापद्मवनं चेदं समानं तस्य चोपरी'त्यादि। तन्मध्ये श्रीपरदेवताया वाससदनं चिन्तामणिमयं भवनं राजते। तत्परिमाणस्वरूपाद्युक्तं ललितास्तवरत्ने–

'योजनयुगलाभोगा तत्क्रोशपरिणाह्यैव भित्त्या च।
चिन्तामणिगृहभूमिर्जीयादाम्नायमयचतुर्द्वारा॥'

गौडपादीयसूत्रभाष्ये सर्वेषां चिन्तितार्थप्रदमन्त्राणां निर्माणस्थानं तदेवेति, तस्य चिन्तामणिगृहत्वमुक्तम्। तत्र चिन्तामणिसदने श्रीचक्राकारे महति पीठे बैन्दवासने पञ्चब्रह्मात्मको महामञ्चो विराजते। श्रीचक्रं च शिवशक्तिसामरस्यात्मकमेव। उक्तं च–

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥'

इति। तत्र श्रीचक्रराजे भूपुरादिमध्यबिन्द्वन्तनवावरणानि सन्ति। तत्तदावरणदेवतास्तन्मन्त्रोद्धारपूजनादिप्रकारश्च बहुविधागमग्रन्थेषु स्फुटतरोऽपि श्रीगुरुमुखैकवेद्य एव जागर्ति। तत्र मध्यगते बिन्दुपीठे मूलदेवतायाः श्रीदेव्या मणिमयं महासिंहासनं विद्योतते, यस्य चतुष्पादभूता ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वराः सदाशिवश्चोपरितनफलकभूतस्तिष्ठति। तदुपरि हंसतूलशयनम्। अनाश्रितमहेशश्चोपधानभूतो यत्राऽऽस्ते स एष पञ्चब्रह्मात्मको महामञ्च इत्युच्यते। अत उक्तं श्रीचक्रे पञ्चब्रह्मात्ममञ्चनिलये इति। तथाविधो मञ्च एव निलयो वासस्थानं तस्मिन्। हंसतूलशयनोपरि कौसुम्भास्तरणे। धृतपाशाङ्कुशसुमशरेक्षुधनुः धृतानि चतुर्भिर्बाहुभिः पाशाङ्कुशसुमशरेक्षुधनूंषि येन तत्। ऐक्यम् इत्येतस्य विशेषत्वाद् विशेषणस्य तच्चिह्नत्वम्। अनङ्गशिवयोः कामेश्वरीकामेश्वरयोरैक्यं सामरस्यम्,

कलये भावये प्रणमामीति शेषः। उभयसामरस्यमेव परदेवता भवति। अत एव काश्मीरिकेण श्रीविद्याचक्रवर्तिना 'साहित्यं शिवयोः प्रोहयतु वः सौहित्यमव्याहतम्' इत्यवोचि। मञ्चस्वरूपमुक्तं बहुरूपाष्टकतन्त्रे भैरवयामलतन्त्रे च–

'तत्र चिन्तामणिमयं देव्या मन्दिरमुत्तमम्।
शिवात्मके महामञ्चे महेशानोपबर्हणे।।
अतिरम्यतले तत्र कशिपुश्च सदाशिवः।
भृतकाश्च चतुष्पादा महेन्द्रश्च पतद्ग्रहः।।
तत्रास्ते परमेशानी महात्रिपुरसुन्दरी।।'

इति। एतद्विवृण्वन्तः श्रीभास्कररायचरणाश्च 'भृतकाः भृत्याः द्रुहिणहरिरुद्रेश्वराः' इत्यर्थः। आग्नेयादीशानान्तविदिक्षु ब्रह्मादय उपर्यधः स्तम्भरूपा मध्ये पुरुषरूपा अपि श्रीध्यानाच्छक्तिभावं प्राप्ता मीलिताक्षा निश्चला इत्यादिकं पुराणादवगन्तव्यमित्याहुः। रहस्यार्थदृशा च–

'मेरुमन्त्रात्मकं चक्रं श्रीत्विषस्तत्र देवताः।
कामेश्वरः प्रकाशात्मा श्रीविमर्शस्तदङ्गगः।।
इत्येतद्वासनारूपमभेदं च परस्परम्।
ज्ञात्वा श्रीगुरुवक्त्राब्जात् कृता पूजा महाफला।।''

इत्युक्तरूपवासनामयं रूपमस्तीत्युच्यते। श्रीदेशिकेन्द्रकरुणाकटाक्षसम्पन्नैरेव कैश्चित् तत्सम्यगनुभूयते इत्यत्रालं विवरणेन। भावनोपनिषत्प्रभृतिषु श्रुतिशिरोभागेषु सोऽयमर्थः सम्यक्प्रपञ्चितोऽस्ति, तद्व्याख्यायां श्रीभास्कररायचरणैरपि सर्वं साधु विवृतमेवास्तीत्यलमत्र विस्तरेण। श्रीपरदेवताया अरुणवर्णत्वमपि विमर्शरूपम्। भावनोपनिषद्यपि–'लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः' इत्युक्तत्वात्। स च विमर्शोऽभेदानुसन्धानरूपोऽपि गुरुमुखैकवेद्य एव। अत एव च श्रीपरदेवतायाः सगुणदेवताकृतितो भेदः श्रीमन्नाथचरणैः 'सगुणसदृशकरुणाकृतिकलिते' (श्लो. ३) इत्यत्र स्फुटीकृतः। आयुधान्यपि तत्त्वतो इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिरूपाणि। तदुक्तमुत्तरचतुःशतीशास्त्रे–'इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।' सकामनिष्कामोपासकभेदेन आयुधध्याने विशेषो वर्णितः आनन्दसागरस्तवे, यथा–

'पाशं सृणिं च करयोस्तव भावयन्तः
संस्तम्भयन्ति वशयन्ति च सर्वलोकान्।
चापं शरं च सकृदम्ब तव स्मरन्तो
भूपालतां दधति भोगपथावतीर्णाः।।
पाशाङ्कुशौ तव करे परिचिन्त्य राग-
द्वेषौ जयन्ति परमार्थविदस्तु धन्याः।
एकत्र चापमितरत्र शरं च मत्वा
व्यावर्तयन्ति हृदयं विषयान्धकूपात्।।'

इति। त्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे श्रीविद्यागीतायां स्वयमम्बया सर्वोऽयमर्थः समुपदिष्टः। तथा हि–

'ब्रह्माण्डानामनेकानां बहिरुर्ध्वे सुधाम्बुधौ।
मणिद्वीपे नीपवने चिन्तामणिसुमन्दिरे।।
पञ्चब्रह्ममये मञ्चे रूपं त्रैपुरसुन्दरम्।
अनादिमिथुनं ह्येतदपराख्यमृषीश्वराः।।'

इति। ननु ध्यानादेर्द्वैतोपासना कोटिनिविष्टत्वादल्पफलमिति भ्रमं वारयितुं तत्रैव–

'तच्चापि सफलं ज्ञेयं नियत्या नियतं यतः।
अपरं चापि विविधं तत्र मुख्यं तदेव हि।।'

इति च। एवं भावनोपनिषत्सहस्रनामप्रभृतिष्वपि–'क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी दधदुज्ज्वलम्' इति।

'रागस्वरूपपाशाढ्या क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला।
मनोरूपेक्षुकोदण्डा पञ्चतन्मात्रसायका।।'

इति विवृतमेवास्ते। तत्र पाशो वैद्रुमः, अङ्कुशः पद्मरागमयः। नित्योत्सवे-पुण्ड्रेक्षुमयं धनुः, बाणः पौष्पाः पञ्च। तत्र विशेष उक्तः कादिमते–

'बाणास्तु त्रिविधाः प्रोक्ताः स्थूलसूक्ष्मपरत्वतः।
स्थूलाः पुष्पमयाः सूक्ष्मा मन्त्रात्मानः समीरिताः।।
पराश्च वासनायां तु प्रोक्ताः स्थूलान् शृणु प्रिये।
कमलं कैरवं रक्तं कह्लारेन्दीवरे तथा।।
सहकारकमित्युक्तं पुष्पपञ्चकमीश्वरि।।'

इति। त्रिपुराहस्ये च–'नीलोत्पलमशोकं च चूतं न नवमल्लिका। कमलं चेति बाणाः स्यु'रित्युक्तम्। ज्ञानार्णवेऽप्यन्यथा तद्रूपवर्णनम्–

'क्षोभणं द्रावणं देवि तथाऽऽकर्षणसंज्ञकम्।
वश्योन्मादौ क्रमेणैव नामानि परमेश्वरि।।'

इति दृश्यते। आयुधधारणक्रमश्च यथासम्प्रदायमवगन्तव्य इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या। प्रस्तुतं तावत्। एवंविधां शिवशक्तिसमरसीभावरूपां श्रीपरदेवतां ध्यानोक्तरूपां सम्यग्वर्णयित्वा, साभिप्रायं कानिचित् पाठान्तराण्यप्याहुः श्रीदेशिकेन्द्रचरणाः– आत्मशक्तिवपुररुणं कलये इति। एतद् धनुर्बाणपाशाङ्कुशधरमात्मशक्तेरेव रूपमिति भावः। तदुक्तं श्रीदेव्यथर्वशीर्षश्रुतौ–'एषाऽऽत्मशक्तिः, एषा विश्वमोहिनी पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरा, एषा श्रीमहाविद्या, य एवं वेद स शोकं तरति' इति। आगमेष्वपि श्रूयते–

'स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा।
लौहित्यं तद्विमर्शः स्यादुपास्तिरिति भावना।।'

इति। एवं आत्मशक्तिसंस्फुरणं कलये इति। स्वात्मशक्तिस्फुरणात्मकमेवैतत् पराम्बाया रूपम्। तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्–

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालातिरेकिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।'

इति। एवम् आदिगुरुमहः परमं कलये इति। प्राथमिकगुरुशक्त्यात्मकशाम्भवमिथुनरूपिणी श्रीपरदेवतैवेति भावः। श्रीपादुकोदये च–

'स्वातन्त्र्यरूपा सा काचिच्चिच्छक्तिः परमेष्ठिनः।
तन्मयो भगवान् देवो गुरुर्गुरुमयी च सा।।'

इति तत्स्वरूपमुन्मीलितम्। एवं अनादिसद्गुरुदैवं कलये इति। अनादिसद्गुरोः परमशिवभट्टारकस्य दैवम् उपास्यदैवतम्, रूपकविधया दैवं सौभाग्यमिति वा श्रीपरदेवतैवास्तीति शेषः। तदुक्तं श्रीभगवत्पादैरपि–'पुरस्तादास्तान्नः पुरमथितुराहोपुरुषिका' इति। ऐक्यं कलये इत्यत्रापि तादात्म्यं भावयन्नहमपि तदनुप्रविशामीति तात्पर्यार्थः। अत एव मातृकाचक्रविवेकादौ 'मन्त्रोत्करस्य जननीं मनसा विशामः' इति तादात्म्यभावनयैव मङ्गलाचरणं दृश्यते। एवंविधं ध्यानमहिमानमाहुः श्रीपादाः– इति ध्यातुरन्तः अणिमाद्यखिलशक्तिघृणिवलिते

(हे श्रीललिते) (त्वं) विशसितमामिति। इति एवं ध्यातुर्ध्यायतो भक्तस्य अन्तः हृदि तत्स्वरूपे इत्यर्थः। अणिमाद्या अणिमाप्रमुखा अखिलाः शक्तय एव घृणयो रश्मयस्तैर्वलिते परिवारिते। हे श्रीललिते (त्वं) विशसितमां सर्वात्मना विशसि स्वात्मरूपं तं करोषीति भावः। तादात्म्यसम्पत्त्या तस्मिन्नपि भक्ते अणिमादिशक्तिस्फुरणं जायते इत्यर्थः। एवं ध्यातुरात्मतादात्म्यदायिनी इतरेभ्योऽपि तत्प्रत्ययदायिनी श्रीपरदेवतेति भावः। तदुक्तं श्रीवामकेश्वरतन्त्रे-

'मनसा संस्मरत्यस्या यदि नामापि साधकः।
तदैव मातृकाचक्रे विदितो भवति प्रिये।।
यदैव जपते विद्यां महात्रिपुरसुन्दरीम्।
तदैव मातृचक्राज्ञा संक्रामत्यस्य विग्रहे।।'

इति। आज्ञासंक्रमणं नाम यद्गुरोः कृत्यं तत् स्वयं मातर एव कुर्वन्तीति सेतुबन्धे श्रीभास्कररायचरणैर्विवृतम्।। ४।।

एवं ध्यानोक्तरूपां श्रीपरदेवतां विमृश्य परमकरुणामय्यास्तस्या जगदुद्धारव्यग्रत्वमनया गाथया सप्रपञ्चमाहुर्नाथचरणाः– स्वाभाविकेति।

स्वाभाविकसत्यसङ्कल्पतः सर्वाणुततेरनुजिघृक्षया।
विशेषतमयैव ते स्थापिता त्वदचिन्त्यमहिमशक्तिरक्षया।
मन्त्रयन्त्रतन्त्ररूपादिषु स्फुटा दृश्यते तदनुशिक्षया।
मन्त्रयन्त्रतन्त्ररूपादिषु स्फुटा दृश्यते सदनुशिक्षया।।
मन्त्रयन्त्रतन्त्ररूपादिषु स्फुटा दृश्यते गुरोर्दीक्षया।
नाणोरध्यासतोऽस्ति साऽद्धा तव तु नियत्या हि प्रत्यक्षया।।
प्रमात्रनध्यस्ता स्वतन्त्रतो हृदि स्फुरसि निजयशो धवलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्त्य कृपोज्ज्वलिते।।५।।

स्वाभाविकसत्यसङ्कल्पतः सर्वाणुततेः विशेषतमयैवानुजिघृक्षया अक्षया त्वदचिन्त्यमहिमशक्तिस्ते स्थापिताऽस्ति। या, तदनु शिक्षया मन्त्रयन्त्रतन्त्रादिषु स्फुटा दृश्यते। साऽणोरध्यासतो नास्ति, तु (किन्तु) सा हि प्रत्यक्षया तव नियत्या (एव) अद्धा (अस्तीति) अतः प्रमात्रनध्यस्ता निजयशोधवलिते हृदि स्वतन्त्रतः स्फुरसीत्यन्वयः। अथवा निजयशोधवलिते हृदि प्रमात्रनध्यस्ता (इति) स्वतन्त्रतः स्फुरसीत्यन्वयः।

सृष्टिर्द्विविधा–अपरा परा च। तत्र प्रवृत्तिपरानुद्दिश्य मायिकैर्ब्रह्मविष्णुरुद्रादिभिर्मायायाः शासनाधिकारे निर्मिता अपरा। निवृत्तिपरानुद्दिश्य स्वयं परदेवतया स्वशासनाधिकारे र्निर्मिता परा। अपरा सृष्टिस्तु प्रायो बहुभिः सर्वत्रैव वर्ण्यत एव। परासृष्टिरन्यत्र वर्णितचरा मायिकसंस्कारमहिम्ना तिरोहितदृष्टीनामविमर्शस्वभावानां जीवानामगोचरप्रायैव। ये पुनर्भगवच्छक्तिपातवशात् प्रोन्मुखीभूतास्तान् स्वच्छात्रपदयोग्यान् सम्बोधयितुं श्रीनाथचरणाः प्राहुः–स्वाभाविकेति। अनाश्रितेश्वरस्य यदैश्वर्यं सत्यसङ्कल्पत्वं च तत्सर्वं सावग्रहमेव। तस्मादेवेति पञ्चम्यर्थे तसिल्। सर्वेषामणूनां जीवानां ततेः समुदायस्य। जीवजातमात्रस्येत्यर्थः। विशेषतमयैव सविशेषयैव अनुजिघृक्षया अनुग्रहीतुमिच्छया। अत एवोच्यते श्रुत्याऽपि 'महाकारुण्यरूपिणी'मिति। अक्षया क्षयरहितत्वादेव लोकोत्तरया, त्रिकालाबाध्यसत्तास्पदलक्षणया च त्वदचिन्त्यमहिमशक्तिः तवाप्रतर्क्यमाहात्म्यशक्तिस्ते स्थापिताऽस्ति। त्वयैव स्थापिताऽस्तीति यावत्। 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति, स्वे महिम्नीति होवाच' इति श्रुत्यादिप्रतिपादितदृशा परब्रह्मशक्तेः स्वमहिम्नि प्रतिष्ठानं श्रूयते। अत एव भावनोपनिषदुक्ते भावनार्चनक्रमे महिम्न आसनस्थानीयत्वमुपकल्पितं श्रीभासुरानन्दनाथचरणैः। एवं महाकारुण्यरूपिण्या परदेवतया सर्वेषामपि आकीटमाकैटभारिजीवानामुद्दिधीर्षया स्वीयाऽलौकिकी माहात्म्यशक्तिर्विश्वस्मिन् स्वसङ्कल्पबलादेव प्रकटीकृतेति वाक्यार्थः। यद्यपि 'अंशो नानाव्यपदेशात्', 'ममैवांशो जीवलोके' इत्याद्युक्तदिशा सर्वजडचेतनात्मकस्य दृश्यादृश्यसकलपदार्थसमूहस्य भगवत्स्वरूपतो नातिरिक्तत्वं तथापि तदिच्छयैव प्रवर्तमानस्यातिविस्तृतस्यास्य ब्रह्माण्डविस्तारस्य पुनरुद्दिधीर्षया स एव परमशिवः करुणापन्नः सन् क्रमशः स्वरूपप्रत्यायकं स्वमाहात्म्यम् उपनिबद्धवान्। अत एव–

> 'शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्येन्दुसम्भवैः।
> मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते।।'

इत्यादीन्यागमवचनानि अधिकारिभेदेन क्रमेण वा परदेवतोपास्तेः सर्वोत्तरत्वमाचक्षते। एवं श्रीशिवदृष्टिशास्त्रेऽपि संसारविजृम्भणं परमेशितुरित्थं व्यावर्णि–

> 'यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः।
> क्रीडन् करोति पादातधर्मांस्तद्धर्मधर्मतः।।
> तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा।।'

इति। विशेषतमयैवेतिपदोपादानं च कुलवर्त्मपरमेश्वरहृदयात्मकमपि जगदुद्धरणाय परदेवता सद्गुरुक्रमद्वारा प्रकटयतीति कारुण्यातिशयध्वननाय। साऽत्र महिमशक्तिः कथं कुत्र वा विस्फुरतीत्याकांक्षायामुक्तम्, (या) त्वदनुशिक्षया त्वदनुशासनेन सद्गुरुशक्तिपातमहिम्ना। सदनुशिक्षयेति पाठे, सतामुपासकानां गुरुरूपाणामनुशिक्षयेत्यर्थः। गुरोर्दीक्षयेति पाठे सद्गुरुकर्तृकया शक्तिपातस्वरूपया पाशोच्छेदज्ञानोत्पादविधायिन्या दीक्षया संस्कारेण। षष्ठ्यर्थः कर्तृत्वम्। मन्त्रयन्त्रतन्त्ररूपादिषु स्फुटा दृश्यते। मन्त्रा अनन्ता अपि सप्तकोटिसंख्याका नवकोटिसंख्या वा कादिप्रमुखा वा। यन्त्राणि चक्रराजप्रमुखाणि। तन्त्राण्यनेकानि। तेषु बहून्येकैकपुरुषार्थफलकान्येव। श्रीविद्याप्रतिपादकतन्त्रेषु स्वतन्त्रतन्त्रं ध्वनिमर्यादया श्रीशङ्करभगवत्पादैरिदमित्यनेन निर्दिष्टं सौन्दर्यलहर्यात्मकमेव, परशुरामकल्पसूत्रादि वा। रूपाणि, 'एषाऽऽत्मशक्तिः पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरा' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादितानि। आदिपेदन नामविशेषस्तोत्रविशेषादीनि। तन्त्रं क्रियाकलापः प्रातःस्मरणादिसकलाह्निकरूपः। स च सम्प्रदायभेदाद्बहुविधः। तत्र जामदग्न्यकल्पसूत्रप्रतिपादित एव श्रेयान् परमावश्यकश्च। तन्त्रान्तरेषु विस्तरेण वर्ण्यमानोऽपि नात्यन्तमावश्यकः, करणे त्वभ्युदय एव। क्वचिदावश्यकानि चक्रराजप्रतिष्ठादिविधानानि तन्त्रान्तरेभ्योऽपि ग्राह्याणि। 'अनुक्तमन्यतो ग्राह्यम्' इत्युक्तेः। तत्रापि येषां सूत्रैरेकवाक्यता गुणोपसंहारन्यायेन तान्येव ग्राह्याणि, यथा वामकेश्वरादितन्त्राणीति प्रतीयते। इत्यलमप्रस्तुतेन। मन्त्रयन्त्रतन्त्राणामपि क्रमेण त्रीणि रूपाणि स्थूलसूक्ष्मपराख्याणि। तेषु पूर्वपूर्वसिद्धिमतामुत्तरोत्तरेष्वधिकार इति वक्तव्यम्। स्थूलं ध्यानोक्तं रूपम्, सूक्ष्मं च मन्त्रवर्णमयम्, परं तु वासनारूपम्। मन्त्राणामिव चक्राणामपि तथा 'मेरुमन्त्रात्मकं चक्रम्' इत्याद्युक्तरीत्योपलम्भात्। मन्त्रयन्त्रतन्त्रादिषु तव कृपयैव माहात्म्यशक्तिरवगम्यते। गुरुदीक्षाक्षपिततिमिराणां चक्षुष्मतामेव साऽधिगम्येत्यर्थः। तदुक्तम्– 'चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति नेतरेऽतद्विदो जनाः' इति। स्फुटा दृश्यते इत्युक्तेरयमभिप्रायः। यत्पराम्बायाः स्वरूपनिरूपणपरेष्वप्यशेषवेदादिशास्त्रेषु सत्स्वपि आगमपथेनैव संचरणे स्फुटाप्रतिपत्तिः। एतदभिप्रेत्य भगवता परशुरामेण 'वेश्या इव वेदादिविद्याः प्रकटाः सर्वेषु दर्शनेषु गुप्तेयं विद्या' इत्युपनिबद्धम्। श्रीमता महेश्वरानन्दनाथेनाप्यवाचि–

'अवच्छिन्नं प्रत्यक्षमवच्छिन्नं तन्मुखं चानुमानम्।
आगमदीपालोकस्तस्य प्रकाशयति किमपि माहात्म्यम्।।'

एवं स्वात्मदेवतामाहात्म्यप्रकटने किमप्यागमस्यैव वैशिष्ट्यं जागर्ति श्रुत्यादिशास्त्रान्तरापेक्षया। यद्यपि,

'ममैवाज्ञा पराशक्तिर्वेदसंज्ञा पुरातनी।
ऋग्यजुःसामरूपेण सर्गादौ संप्रवर्तते।।'

इति कौर्मोक्तदिशा पराशक्तेराज्ञारूपेणैव वेदानां सर्वतो महीयमानत्वं मुखस्थानीयत्वं च विद्यते, तथापि तेषां बाहुल्येन त्रैगुण्यविषयप्रतिपादनपरत्वाच्चरितार्थत्वम्। अत एव 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुने'ति भगवदुक्तिश्च सङ्गच्छते। ननूपनिषत्काण्डस्य स्वरसत एवागमे प्रसारणं विलोक्यते 'ब्रह्मकाण्डशेषत्वेन च यामलादितन्त्राणां प्रवृत्ति'रिति भास्कररायचरणैश्च सेतुबन्धे समर्थितत्वेन सारतस्तावदित्थं प्रतीयते—'वेदो ह्यागमभागः स्याच्छब्दराशिस्तथागमः' इति त्रिपुरारहस्योक्तदिशा प्रत्यक्षमनुभवेन च व्याप्यव्यापकभावविवेके वेदभाग आगमव्याप्य इत्येव प्रतिभाति, महाविषयत्वात्। अत एवाभिनवगुप्तपादचरणैः—'आगमस्त्वनवच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वरविमर्शपरमार्थः' इत्युदीरितम्। एवं गुरुरूपिण्या देवतायाः सत्यसङ्कल्पादेव मन्त्रादिषु तदुपासनारूपेषु तन्माहात्म्यातिशयोऽनुभूयत इति तात्पर्यार्थः। सा त्वदीयमाहात्म्यातिशयप्रतिपत्तिः, अणोः प्रमातृविशेषस्य अध्यासतो भावनामात्रबलान्नास्तीति शेषः। तु (किन्तु) सा हि प्रत्यक्षया तव नियत्यैव। सत्यसङ्कल्पबलादेव। अद्धा निश्चयेन वर्तते इति भावः। अतः (त्वं) प्रमात्रनध्यस्ता प्रमातृविशेषाऽपरतन्त्रा सती निजयशोधवलिते स्वस्वरूपविमर्शशुद्धे हृदि हृदयाकाशे स्फुरसि शक्तिपातस्वातन्त्र्येण वास्तविकं स्वरूपमाविर्भावयसीत्यर्थः। प्रत्यभिज्ञापयसीति यावत्। अथवा हे निजयशोधवलिते स्वमाहात्म्यप्रतिष्ठिते, गुरुपदमावृत्य भासीति ध्रुवपदेन वाऽन्वयः। किञ्च—

'शास्त्रदृष्टिर्गुरोर्वाक्यं तृतीयः स्वात्मनिश्चयः।
अन्तर्गतं तमश्छेत्तुं शाब्दो बोधो न हि क्षमः।।'

इत्युक्तदृशा एतत्त्रितयपरिशोधितान्तःकरणानां सद्य एव स्वरूपसम्पत्प्राप्तिर्भवतीति वाऽर्थः। तथापि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण मूलभूतकरुणापरिस्पन्दसारोऽयमनुग्रहोत्सव इति सिद्धान्तः। अत एव प्रमात्रनध्य-

स्तोतिपदोपादानम्। एतत्सर्वमभिप्रेत्यैव श्रीस्तोत्रावल्यामुक्तम्–

'प्रार्थनाभूमिकातीतविचित्रफलदायकः ।
जयत्यपूर्ववृत्तान्तः शिवः सङ्कल्पपादपः।।' इति।। ५।।

एवं पूर्वगाथया परदेवताया जगदुद्धारतत्परत्वं प्रतिपाद्य, सम्प्रति उपासकभेदेन फलभेदं वास्तविकमनुत्तरमुपास्योपासकभावरहस्यं च प्रकटीचिकीर्षवः श्रीदेशिकेन्द्रचरणाः षष्ठीं गाथामुपनिबध्नन्ति– सकलभुवनेति।

सकलभुवनसम्राज्ञीति धिया देवैरभिचिन्त्यसेऽनुक्षणम्।
दासभावतः फलमपि तेषां मितजगदधिकृतिभोगलक्षणम्॥
मीनाक्षि! त्वयि मातृभावतः क्रियते नित्यं येन वीक्षणम्।
मीनजनन्याः शिशुपोषणमिव कुरुषे स्मृत्या तस्य रक्षणम्॥
त्वामेव गुरुमुपास्ते तस्मिन् स्वाज्ञासंक्रमणतया फलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्त्य कृपोज्ज्वलिते॥६॥

हे अम्ब! (त्वं) सकलभुवनसम्राज्ञीति धिया देवैः अनुक्षणमभिचिन्त्यसे (एवं) दासभावतस्तेषां दासत्वमपि मितजगदधिकृतिभोगलक्षणमेव पर्यवस्यति। हे मीनाक्षि! येन त्वयि मातृभावतो नित्यं वीक्षणं क्रियते, मीनजनन्याः शिशुपोषणमिव स्मृत्या तस्य रक्षणं कुरुषे। (यः) त्वामेव गुरुमुपास्ते तस्मिन् स्वाज्ञासंक्रमणतया फलिते, हे श्रीललिते, भासीत्यन्वयः।

हे अम्ब! महाराज्ञि त्वं सकलभुवनानाम्। भुवनानि चतुर्दश। अथवा चतुर्विंशत्यधिकद्विशतसंख्यानि, 'चतुर्विंशत्युत्तरं यद्भुवनानां शतद्वयम्' इति शैवागमे। तेषामूर्ध्वाधोभावेन स्थितानां सम्राज्ञी केवला नियन्त्री इति शक्तिचक्रैकनायिकेति वा धिया, एवंविधया भावनया, देवैः क्रीडाविजिगीषादिशीलैः सुरैः अनुक्षणं क्षणे क्षणे अभिचिन्त्यसे अभितश्चिन्त्यसे। सम्राज्ञ्याः सावरणदेवताकायास्तवानिशमर्चादिरूपमुपासनं ते स्वसम्राज्ञीति धिया विदधति, दासभावतः। 'अहं दासः प्रभुर्भवान्' इत्याकारिकया भावनया उपासते तेषां देवानां फलमपि–उपास्तेः फलमपि–मितजगतां परिमिततत्तल्लोकानाम्। अधिकृतिरधिकारः भोगश्च तावेव लक्षणे यस्य तादृशं पर्यवस्यतीतिशेषः। जलाकाशतेजःप्रभृतिषु भूतपिण्डेष्वधिकारं भजन्तस्त एव इन्द्राद्या इति भावः। हे मीनाक्षि! मीनस्य स्त्रीजातीयस्य अक्षिणीव शिशुपोषणसमर्थे अक्षिणी यस्यास्तत्सम्बुद्धौ हे मीनाक्षि! अथवा मीनवच्चपले अक्षिणी यस्यास्तत्सम्बुद्धि-

स्तथा। 'मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि' इति महाकविप्रयोगात्कटाक्षसाम्यमपि। येन पुनः धन्यजनुषा त्वयि त्वद्विषये मातृभावतो जननीति भावनया नित्यं सर्वत्रोपासनादौ वीक्षणमवलोकनं विमर्शनं क्रियते। मीनजनन्याः शिशुपोषणमिव, मीनजननीकर्तृकं शिशुपोषणमिव त्वमपि स्मृत्यैव तस्य रक्षणं सार्वकालिकं कल्याणं कुरुषे। मीनजननी समुद्रादौ दूरे स्थितापि स्मृतिमात्रेण ध्यानमात्रेण यत्र कुत्रापि वर्तमानानां स्वशिशूनामुदरपोषणं कुरुते, इति प्रसिद्धिः। एवं मातृभावेन परदेवतोपासनं विदधतां परदेवतैव सकलमैहिकमामुष्मिकं च भारं निर्वहतीति निरतिशयकल्याणमेदुरोऽयं पन्थाः। अत एव रहस्यसहस्रानाम्नां प्रारम्भे वाग्देवताभिः सर्वप्राथम्येन श्रीमातेति नाम परिगृहीतम्। तत्स्तोत्रफलश्रुतौ च 'मुख्यं श्रीमातृनामेति न जानन्ति विमोहिताः' इत्युद्घुष्यते। यथा च शक्तिरहस्ये–

'श्रीमातेति महामन्त्रो यस्य जिह्वादले वसेत्।
स एव मूर्तिमान् वेदस्तद्वचः श्रुतिसम्मतम्।।'

'ऋचो यजूंषि सामानि सा हि श्रीरमृता सताम्' इति श्रुतेर्वेदमयी श्रीस्तस्या निर्मात्री श्रीमातेति नामरहस्यार्थः। यः पुनस्त्वामेव गुरुमुपास्ते तस्मिन् साधकोत्तमे स्वस्याज्ञासंक्रमणतया स्वाज्ञाशक्तिसंक्रमणव्यापारेण फलिते प्रकटीभूतमाहात्म्ये, हे श्रीललिते, गुरुपदमावृत्य भासीति ध्रुवपदेनान्वयः। इदं च आज्ञासंक्रमणरूपं गुरुकृत्यं परदेवतैव कुरुते। तदुक्तमागमे–'कुलाचार्यमधिष्ठाय देवो दीक्षयिता शिवः' इति। आज्ञासंक्रमणं च किञ्चिदुन्मीलितं महेश्वरानन्दनाथचरणैः–'यतः कटाक्षो नाम गुरोरनुग्राह्यं प्रत्यनुवेशयितुमिष्टा स्वहृदयसंविन्मयी शाम्भव्याद्यशेषदीक्षानुस्यूता दृक्शक्तिरित्याख्यायते। यदाहुः–

'सा च सर्वाध्वसम्पूर्णमात्रसंविदभेदिना।
गुरुणाऽनुग्रहधिया शिष्ये यदवलोकनम्।।'

इति। अत्र क्रमेणागमोक्ताः समयि–पुत्रक–साधक–आचार्यरूपा उपासकभेदाश्च नाथचरणैः प्रकटीकृताः। देवाः समयिनः, द्वितीये पुत्रकाः। तृतीयः साधकः, तस्यैव गुरुकृपाबलादाचार्यपदवीप्ररोहश्च भवतीति। एताश्चतस्रोऽवस्थाः। पठ्यते च शान्तिस्तवादौ 'आचार्यसामयिकसाधकपुत्रकाश्च' इत्यादि। स्वाज्ञासंक्रमणतया फलिते इत्यस्य आज्ञाशक्तिरूपिण्येव परदेवता प्रादुर्भवतीति तात्पर्यम्। अत

एव श्रीज्ञानेश्वरचरणानामुक्तिः—'जयत्याज्ञा नमस्तस्यै दयार्द्रायै निरन्तरम्' इति।। ६।।

अधुना महाकाशवपुषः परदेवतायाः स्वरूपं विवृण्वन्त एवानुग्रहोन्मेषं दर्शयन्तो देशिकेन्द्रचरणाः सप्तमीं गाथामवतारयन्ति— भुवीति।

भुवि गूढतया स्थितः सुगन्धोऽप्रकटोऽकृत्वा योगसाधनम्।
योगक्लेशैरपि दुःसाध्यं तवाव्यक्तरूपसुखशोधनम्।।
विविधहैमभूषाकृतिभेदेऽप्यभिदाकृतिनाऽऽस्ते हेमधनम्।
तद्वदनुग्रहशक्तिनिविष्टाऽऽकृतिमन्त्रादिषु तवोद्बोधनम्।।
सुमाकृतौ सौगन्ध्यमिव सगुणसदृशाकृतिनिजसुखपरिमलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्त्य कृपोज्ज्वलिते।।७।।

गूढतया भुवि स्थितः सुगन्धः योगसाधनमकृत्वा (यथा) अप्रकटः (तथा) योगक्लेशैरपि तव अव्यक्तरूपसुखशोधनं दुःसाध्यं (वर्तते) हेमधनं विविधहैमभूषाकृतिभेदेऽपि (यथा) अभिदाकृतिनाऽऽस्ते, तद्वदनुग्रहशक्तिनिविष्टाऽऽकृतिमन्त्रादिषु तव उद्बोधनमस्ति। सुमाकृतौ सौगन्ध्यमिव सगुणसदृशाकृतिनिजसुखपरिमलिते हे श्रीललिते! भासीति सम्बन्धः। इत्यन्वयः।

गूढतया अव्यक्ततया भुवि स्थितः पृथ्वीगर्भवर्तीसुगन्धः परिमलो योगसाधनं अकृत्वा पृथ्वीतत्त्वधारणां गन्धधारणां वा अकृत्वा यथा अप्रकटः अप्रकाश एवाऽवतिष्ठते तथा योगक्लेशैरपि नानाविधैर्ध्यानधारणादिरूपैरुपायसहस्रैरपि तव परदेवताया अव्यक्तरूपस्य अव्यक्तावस्थायाः, न तु चक्षुर्मात्रग्राह्यस्य गुणस्य। सुखशोधनम् आनन्दान्वेषणं दुःसाध्यं सर्वथाऽप्रमेयं वर्तत इतिशेषः। अव्यक्तरूपशोधनं च अभेदान्वेषणमेव। तच्च परस्परविरुद्धं भवति। उक्तं च भगवद्गीतास्वपि—'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' इति। अत एव त्रिपुरारहस्येऽपि 'परं यत् त्वद्रूपं कथमिह भवेदम्ब! सुलभम्' इत्युक्तम्। तदेवं वैधर्म्येण प्रतिपाद्य पुनरत्रार्थे प्रसिद्धं दृष्टार्थमाहुः। हेमधनं सुवर्णराशिरूपं द्रव्यं विविधहैमविवर्तभूषाकृतिभेदेऽपि कटककुण्डलादिबहुविधरूपप्रभेदापन्नमपि (यथा) हेमत्वेन अभिदाकृतिना आस्ते, मौलिकमभेदं न परित्यजति। मूलत एकरूपमेव हेमकटककुण्डलादिरूपानाकृतिविशेषान् प्रतिपद्यते, तद्वत् तथैव अनुग्रहशक्तिनिविष्टा अनुग्रहशक्तिव्यञ्जिका या आकृतयो ध्यानविशेषा मन्त्रादयश्च तेषु तव परदेवताया उद्बोधनं स्फुरणम् अस्ति जागर्तीति यावत्।

मायिकेषु पदार्थेषु सर्वत्र मायैव प्रतीयते, इह पुनराकृत्यादिस्फुरणाधाराणामनुग्रहशक्त्याऽनुप्राणितत्वान्न मायिकत्वम्, किन्तु मायिकसदृशत्वम्। अयमेव 'अनध्यस्तविवर्तवाद' इति सम्प्रदायविदां प्रसिद्धिः। एवञ्च तवोद्बोधनमित्यत्र तव अनुग्रहरूपिण्याः प्रत्यभिज्ञानमित्येवार्थः। एतच्च त्रिपुरारहस्येऽपि 'त्वं हि कारणरूपाऽसि सदसद्वस्तुसन्ततेः' इत्यारभ्य–

'त्वयि प्रतीयमानं च त्वं सत्यं सर्ववस्तुषु।
मृत्तिकेव घटादीनां भूषणानां च काञ्चनम्।।
नान्यत्त्वत्तो लेशतोऽपि जगदेतद्भवेत्क्वचित्।
नामाकृतिक्रियाहीना संविन्मात्रैकरूपिणी।।
अनुग्रहाय लोकानां रूपं नाम क्रियाऽपि ते।।'

इत्यादिभिः पद्यैरयमर्थः प्रपञ्चितः। अथ पूर्वोक्तमेवार्थं संयोजयन्तः श्रीपादाः प्राहुः– सुमाकृतौ सौगन्ध्यमिव, पुष्पे परिमल इव सगुणसदृश्या आकृत्या, तादृशा कृत्याविष्करणेन समुद्भवता निजसुखेन स्वविमर्शानन्देन परिमलिते परिपूरिते, हे श्रीललिते, भासीत्यन्वयः।

अयं भावः – पृथ्व्यां स्थितः सुगन्धो गन्धधारणामकृत्वा न सुलभः। यदि धराभिमानिनी देवता प्रसन्ना भूत्वा पुष्पादिकमुत्पाद्य तद्द्वारा स्वगुणं स्वसौरभं ददाति, तर्ह्येवासौ प्राप्यते। एवमेव त्वमात्मीयसुखं प्रकटयितुं सगुणसदृशाकृतिं बिभर्षि तदेतत्त्वत्कृपाफलमेव। सगुणसदृशेत्यत्र सदृशपदेन गुणमयाकृतिभ्यः पार्थक्यं सूचितं भवतीति विमृष्टपूर्वोऽयमर्थः। सर्वतो व्यापिकाया अपि विमर्शशक्तेरनुग्रहसरणौ किञ्चिद्वैशिष्ट्यं जागर्त्येव। एतदभिप्रायेण श्रीक्रमसिद्धौ पठ्यते–

'दोहे व्याप्तं गवि क्षीरं स्तनाभ्यां प्रसृतं यथा।
सर्वगा व्यापिनी सूक्ष्मा एकस्मिन् प्रसृता शिवा।।' इति।। ७।।

अधुना श्रीपरदेवताया अनुग्रहस्य मुख्यं फल प्रतिपादयितुमष्टमीं गाथामुपनिबध्नन्तः श्रीगुरुचरणाः स्तुवन्ति– अव्यक्ततयेति।

अव्यक्ततया सर्वतः स्थिता मुदाऽऽविश्य भक्तदेहालये।
तस्याक्षविषयभोगैः स्वार्चां स्वीकृत्यान्तर्व्योम केलये।।
सद्विमर्शसंस्फूर्त्या विहरसि युगपदघमृतिजनुरुत्कीलये।
अस्ति समृत्यूपसेचनमहं ममत्वं त्वया क्लृप्तं वलये।।

इत्थमनुग्रहसृष्टि(शक्ति)मभक्ते न भासयसि जगति कालदलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते॥८॥

अव्यक्ततया सर्वतः स्थिता (अपि) मुदा भक्तदेहालये आविश्य तस्य अक्षविषयभोगैः स्वार्चां स्वीकृत्य (ततः) अन्तर्व्योम (च) केलये (स्वीकृत्य) सद्विमर्शसंस्फूर्त्या विहरसि (रमसे) (अथ) तस्य युगपद् अघमृतिजनुरुत्कीलये, वलये त्वया क्लृप्तं (तस्य) अहं ममत्वं समृत्यूपसेचनमत्सि। इत्थमनुग्रहसृष्टि (शक्तिं) जगति कालदलिते अभक्ते न भासयति। इत्यन्वयः।

अव्यक्ततया अनभिव्यक्तरूपेण सर्वतः स्थिता जडचेतनाद्यात्मके विश्वप्रपञ्चे वर्तमाना वस्तुतः सर्वत्र चैतन्यरूपेणैव विश्वं व्याप्यावस्थिता। 'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्' इति मार्कण्डेयपुराणात्। 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुरि'ति शक्तिसूत्राच्च। तत्तु चैतन्यं सर्वत्राभिव्यक्तं सदपि विशेषानुग्रहं विना प्रमात्रा सार्वात्म्येन न प्रत्यभिज्ञायते। एतावानेव विशेषः। किञ्च–

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालातिरेकिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥'

इति श्रीप्रत्यभिज्ञोक्तया दिशा महास्फुरत्तारूपेण प्रपञ्चमशेषं कवलीकृत्य विजृम्भमाणा सर्वतो व्याप्ताऽपि भगवती पराम्बा मुदा, गुरुचरणाराधनादिभिरुपायैरनुग्रहोन्मुखी सती, भक्तदेहालये, भक्तस्य पूर्वोक्तस्य गुर्वाराधनतदादिष्टाचरणादिसुकृतिशीलस्य भक्तस्य, देहालये पाञ्चभौतिकशरीरात्मके मन्दिरे। आविश्य देहालये प्रविश्येति यावत्, शक्तिपातमहिम्ना तच्छरीरं स्वमन्दिरीकृत्येति भावः। अत एव भावनोपनिषदि श्रूयते 'देहो नवरत्नद्वीपः' इति। तस्य अक्षविषयाणामिन्द्रियगुणानां चक्षुरादिभिर्ग्राह्याणां रूपादीनां गन्धादीनां चेत्यर्थः। स्वात्मीकारैस्तृप्तिफलकैः, स्वार्चां स्ववरिवस्यामिव स्वीकृत्य। कृपया भक्तदेहमाविश्य स्वयमेव तदिन्द्रियविषयग्रहणेन स्वपूजनं विहितं मनुते इति भावः। तदुक्तम्–

'इन्द्रियद्वारसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्मदेवताः।
स्वभावेन समाराध्या ज्ञातुः सोऽयं महामखः॥'

इति। श्रीसौभाग्यहृदयस्तोत्रेऽपि–

'नेत्रादिजालकोपान्ते हृत्पद्मासनलीलया।
वारं वारं त्वया देवि रूपादि मधु सेव्यते।।
संविद्देव्यः समाक्रम्य विषयानमृतासवम्।
योगिनां प्रेषयन्त्वार्थे त्वत्पूजार्थं हि सर्वदा।।'

इत्यत्रायमर्थः साधुविमृष्टः। ततो भक्तस्य अन्तर्व्योम दहराकाशं केलये क्रीडार्थं स्वीकृत्येतिपदस्योभयत्र देहलीदीपकन्यायेन योजनम्। सा च क्रीडा किंरूपेत्याहुः, सद्विमर्शसंस्फूर्त्या विहरसि सुविमर्शकल्लोलदोलारोहणानन्दं विस्तार्य चिरं विहरसीति यावत्। किञ्च–

'वेद्योपरागविभवेन विमोह्यमानं
लोहान्तरव्यतिकरादिव व्यक्तकार्ष्ण्यम्।
ज्वालावलीभिरभितप्य विमर्शवह्निः
स्वच्छं हिरण्यमिव मे हृदयं विधत्ते।।'

इति श्रीसंविदुल्लाससरण्या विमर्शरूपेण सर्वतो हिरण्यमयमिव हृदयमुद्योतयन्ती हे पराम्ब, त्वं विहरसीति भावः। अथ तादृशविहारस्यानुषङ्गिकं फलमुपपादयन्त आहुः, युगपत् सहैव एकतन्त्रेणैव, अघमृतिजनुषामुत्कीलये उत्कीलनार्थम्, अघजन्ममृत्युबन्धनशृङ्खलाविस्रंसनार्थम्, वलये परिमिते देहादौ त्वया क्लृप्तं त्वयैव विरचितम् अहं ममत्वम्, अहन्ताबुद्धिं सुतदारद्रव्यादिषु ममत्वमतिं च समृत्यूपसेचनमत्सि। मृत्युमुपसेचनीकृत्य व्यञ्जनीकृत्य आचमनीकृत्य वा, अत्सि भक्षयसि निःशेषं ग्रासीकरोषीति भावः। मृत्योरधिष्ठात्रीं देवतामप्युपसेचनं कृत्वाऽहं ममत्वं कवलयसीति यावत्। उक्तं च रहस्यसहस्रनामसु– 'जन्ममृत्युजरातप्तजनविश्रान्तिदायिनी'ति। अत एव शङ्करभगवत्पादैरपि शारीरकभाष्ये अत्राधिकरणे–

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।

इति कठवल्लीश्रुतिरुद्धृता। तत्र अग्निजीवपरमात्मनां त्रयाणामत्तृत्वं पूर्वपक्षीकृत्य चराचरग्रहणपदोपादानात् 'प्रकरणाच्च' इतिद्वितीयसूत्रबलात् 'क इत्या वेद यत्र सः' इत्यादिना दुर्विज्ञेयत्वादि ज्ञानाच्च हेतोः परमात्मन एव तादृशमत्तृत्वं व्यवस्थापितम्। तदित्थं पूर्वोक्तरूपामनुग्रहसृष्टिम् अनुग्रहसर्गम् अनुग्रहशक्तिप्रभावमिति यावत्। जगति संसृतौ कालदलिते कालशासनाधीने अभक्ते

मुमुक्षुत्वमनापन्ने गुरुचरणमनाश्रिते च जीवे। तद्विषये तन्मतिपथ इति यावत्। न भासयसि नाविष्करोषि न प्रत्यभिज्ञापयसीति यावत्। तीव्रतममुमुक्षापरिगृहीतस्य कुलाचार्यमुपसन्नस्यैव अयमर्थः स्फुटो नेतरेषामिति भावः। उक्तं हि- 'कर्णात्कर्णोपदेशेन संप्राप्तमवनीतले' इति। एतदन्यथाभावे तु-

'अन्यथा तस्य हिंसन्ति निजाः करणदेवताः।
येन स्वशङ्कासङ्कोचाद्वारयेदात्मनः स्थितिम्।।'

इत्याचार्याभिनवगुप्तपादवचनसरण्या महद्वैकल्यमित्यलमत्र वैदग्ध्योन्मीलनप्रयासेन।

'श्रीगुरुः प्रापयत्येव न पद्ममपि पद्मताम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सेव्यः श्रीगुरुभास्करः।।'

इत्युक्तदिशा कल्याणाध्वा विजृम्भत इत्यलम्।। ८।।

इदानीं सृष्टिद्वैविध्यप्रदर्शनव्याजेनानुग्रहसृष्टेरुत्तमत्वमभिव्यङ्क्तुं श्रीमन्नाथचरणा अनवमीं नवमीं गाथामुद्योतयन्ति- व्यक्तविशेषेति।

व्यक्तविशेषानुग्रहशक्त्याऽऽविष्टाकृतिः सृष्टिरभिरचिता।
निरहङ्कृतिसर्वज्ञशक्तिकरुणास्वभावया त्वयैवोचिता॥
स्वात्मशक्तिविस्मृतेः समुदिता त्वमिदमहंममवृत्तिरनु(णु)चिता।
प्राणिकर्मसापेक्षफलाऽन्या सृष्टिस्त्वद्विमुखाणुपरिचिता॥
साऽनुशास्यते त्वच्छासितया जगति मायया स्वनियतिचलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते॥९॥

निरहङ्कृतिसर्वज्ञशक्तिकरुणास्वभावया त्वयैव व्यक्तविशेषानुग्रहशक्त्याऽऽविष्टाकृतिः सृष्टिः उचिता अभिरचिता (अस्ति)। स्वात्मशक्तिविस्मृतेः समुदिता त्वमिदमहंममवृत्तिः अणुचिता (अनुचिता), प्राणिकर्मसापेक्षफला, त्वद्विमुखाणुपरिचिता अन्या सृष्टिः (अस्ति)। त्वच्छासितया मायया स्वनियतिचलिते जगति साऽनुशास्यते किल। इत्यन्वयः।

निरहङ्कृते परिच्छिन्नाहङ्कारशून्यस्य देहाद्यहङ्कारपरिमुक्तस्य परप्रमातुः पूर्णाहन्ताप्रथामयस्य भगवतः सर्वज्ञस्य परमशिवस्य 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्', 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्', 'यस्य ज्ञानमयं तपः' इत्यादिश्रुतिभिरुद्घोषितमहिम्नः परमेश्वरस्य इति यावत्। शक्तिः शक्नोत्यनया स्वरूपावगमे

इति व्युत्पत्त्या तद्विमर्शरूपिणी सा चासौ करुणास्वभावा कारुण्यसंवलिता, तया निरन्तरानुग्रहपरायणया त्वयैव कर्त्र्या व्यक्तया विशेषानुग्रहशक्त्या आविष्टा अनुप्रविष्टा आकृतिः स्वरूपं यस्यास्तादृशी। अनुग्रहशक्त्याऽनुप्राणितेति भावः। सृष्टिरौपासनिकी उचिता अतिसुभगा अभिरचिता विद्योतत इति शेषः। एवमुपासनासृष्टेर्न मायिकत्वमिति पूर्वगाथासु विमृष्टमपि सृष्टिद्वितयतुलनार्थं पुनरिहोपन्यासि। किञ्च अनाश्रमिणामप्यनुग्रहार्हतामुपदर्शयद्भिराचार्यशङ्करभगवत्पादैर्विधुराधिकरणभाष्ये 'अपि च स्मर्यते' इति सूत्रे संवर्तस्य महर्षेः त्रिपुराम्बानुग्रहजन्यमाप्तकामत्वं प्रथयद्भिरग्रे 'विशेषानुग्रहश्च' इति द्वितीयसूत्रे उपासनासृष्टेर्विशिष्टानुग्रहप्राणनं प्रमाणीकृतम्। विशेषपदग्रहणस्यान्यथाऽनुपपत्तेः। एवञ्च मन्त्रयन्त्रतन्त्रादिरूपिणी तव सृष्टिः अनुग्रहसृष्टिरेवेति भावः। स्वात्मशक्तिविस्मृतेः स्वचैतन्यरूपिण्याः परस्याः संविच्छक्तेर्व्यामोहेन विस्मरणात् समुदिता निर्मिता त्वं इदं अहं मम इति बहुविधसम्बन्धजातव्याकुलीकृता वृत्तिर्व्यापारविशेषरूपा अणुषु प्राणिषु चिता सर्वत्र व्याप्ता अथवा पूर्वसृष्टितोऽनुचिता। वैपरीत्याद्धेतोरिति शेषः। प्राणिनां कर्माणि सुकृतदुष्कृतरूपाणि तत्सापेक्षाणि फलानि स्वर्गनरकादिरूपाणि यस्यां सा। त्वद्विमुखैरात्मशक्तिपराङ्मुखैरणुभिः प्रतिक्षणं परिचिता तेषां परिचयवती। अन्या द्वितीया सृष्टिरस्तीति शेषः। स्वात्मशक्तिविस्मृतिहेतुना जीवदशाऽऽपादिका सृष्टिर्भवतीति भावः। जीवस्य स्वातन्त्र्यलेशस्य अनुचितोपयोगेन स्वात्मशक्तिविस्मृतिर्भवति। ततोऽहंममवृत्त्यात्मिका कालशासनाधीना सृष्टिर्भवतीति यावत्। अत एवाहुः- त्वच्छासितया त्वदाज्ञप्तया मायया एतन्नाम्न्या मोहन्या शक्त्या स्वनियतिचलिते मायायाः स्वकीयनियत्या नियमनेन चलिते प्रवर्तमाने जगति प्रपञ्चे सा द्वितीया सृष्टिरनुशास्यते किल, संचाल्यते इति भावः। मायाशक्तिः परमेश्वरस्यावरणभूतैवास्ते येन तदनुग्रहरहितानामणूनां मोहनी उच्यते। उक्तं च श्रीपरमार्थसंग्रहे-

'परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्॥'

इति। एवञ्च सद्गुरुमुपसन्नानामेवानुग्रहसृष्टौ प्रवेशो नेतरेषामिति स्थितम्। श्रीमत्स्तोत्रावल्यामपि सृष्टिद्वैविध्यमित्थमुन्मील्यते-

‘अस्मिन्नेव जगत्यन्तर्भवद् भक्तिमतामपि।
हर्षप्रकाशबहलमन्यदेव जगत् स्थितम्।।’

इति। तथा च–

फलं क्रियाणामथवा विधीनां पर्यन्ततस्त्वन्मयतैव देव।
फलेप्सवो ये पुनरत्र तेषां मूढास्थितिः स्यादनवस्थयैव।।

इत्यभिनवगुप्तपादा आहुः।। ९।।

अथ परसंविद्रूपिण्याः पराम्बायाः त्रैगुण्यविषयतो वैशिष्ट्यं विवरीतुकामा नाथचरणा दशमीं गाथामिमामुपन्यस्यन्तः स्तुवन्ति– स्वभावधर्ममिति।

स्वभावधर्मं शक्तिं प्राहुर्ह्यस्वाभाविकधर्ममपि गुणम्।
लुप्तस्वाभाविकं हि सगुणं व्यक्तस्वाभाविकं निर्गुणम्।।
साहङ्कृतिसावग्रहशक्ति स्फुरितं यद्यत्तत् त्रिगुणम्।
निरहङ्कृतिनिरवग्रहशक्तिस्फुरद्वास्तवं साक्षादगुणम्।।
अलङ्कृतौ स्वर्णमिवाऽद्धा त्वमसि सगुणसदृशवपुरुन्मीलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते।।१०।।

स्वभावधर्मं शक्तिं (इति) प्राहुः, हि अस्वाभाविकधर्मम् अपि गुणं (प्राहुः), ततः लुप्तस्वाभाविकं सगुणं हि। व्यक्तस्वाभाविकं च (हि) निर्गुणं (भवति)। साहङ्कृतिसावग्रहशक्तिस्फुरितं यद्यत्तत्त्रिगुणं निरहङ्कृतिनिरवग्रहशक्तिस्फुरत् वास्तवं साक्षादगुणं च (भवति)। ततश्च सगुणसदृशवपुरुन्मीलिते हे श्रीललिते! अलङ्कृतौ स्वर्णमिव अद्धा त्वमसि। इत्यन्वयः।

स्वभावधर्मं स्वसमवेतधर्मं शक्तिमिति संज्ञया प्राहुः। अभियुक्ता इति शेषः। चन्द्रस्य ज्योत्स्नेव सूर्यस्य प्रकाश इव अग्नेरुष्णतेव स्वभावधर्मः शक्तिरित्यर्थः। अवियुतसिद्धः सम्बन्धविशेष इत्यर्थः। यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके–

‘अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी।
कौलिकी सा पराशक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः।।’

इति। हि भेदेनावधार्यम् अस्वाभाविकधर्मम् स्वरूपासंश्लिष्टम् उपाधिवशादेव संसर्गास्पदं संयोगमात्रग्राह्यम् अपि पदार्थं गुणमिति संज्ञया प्राहुरिति शेषः। यथा नीलादिरिव घटस्य। पार्थिवपरमाण्वारब्धस्य घटादेर्हि नीलादिरूपो गुणः सर्वोऽप्यागन्तुक एव। ततश्च लुप्तस्वाभाविकम् औपाधिकमेव वस्तु सगुणमित्युच्यतामिति। हीति निश्चये। एवमेव पारिशेष्याद् व्यक्तस्वाभाविकं

प्रकटीकृतनिरुपाधिस्वरूपं हि निर्गुणं भवतीति सिद्धमेतत्। एवञ्च साहङ्कृतिः परिच्छिन्नाहङ्कारमयी सावग्रहा सप्रतिबन्धा नियमितप्रसरा च या शक्तिस्तया स्फुरितं यद् यत्तत्तत्त्रिगुणं वर्तते इति शेषः। अयं भावः–सांख्यादिमतानुयायिनां सत्वरजस्तमोमिश्रणस्वभावा प्रकृतिरिति नाम शक्तिर्विश्ववैचित्र्यप्रसवभूमिरित्यभिमतम्। तच्च विचार्यमाणं न रामणीयकमुपस्थापयति। तथा हि तन्मते उदासीनस्य चरमतत्त्वात्मनः पुरुषस्याधीना प्रकृतिर्नाम शक्तिर्विकाराविकारोभयावस्थाशालिनी, सैव विश्वविजृम्भणनिदानं भवति। अत्रेत्थं प्रतिविधीयते–प्रथमतः उदासीनस्य प्रेरकत्वं न घटते। उदासीनस्यैव चरमतत्त्वरूपत्वे जगतो मृत्पिण्डप्रायताप्रसक्तिः। अत्राप्याग्रहश्चेत् पुरुषस्य प्रेरकत्वे तदौदासीन्यमपि नाममात्रसिद्धम्। उद्यमस्य सूक्ष्मतया तस्मिन्नप्यभ्युपेयत्वात्। 'उद्यमो भैरवः' इति शिवसूत्रस्थित्या पारमेश्वरस्वातन्त्र्यस्य अन्ततः स्वीकाराद् अयमेव पक्षो हृदयङ्गमो भवेदिति। इत्यलमप्रस्तुतप्रसङ्गेन। एवञ्च तादृशपरिच्छिन्नाहङ्कारमय्या सप्रतिबन्धया च शक्त्या स्फुरितमुद्बुद्धं घटपटादिवस्तुजातं त्रिगुणं गुणत्रयविभागापन्नं पर्यन्ततो विनश्वरं जायते। गुणानामुपाधिमात्रालम्बनत्वेन स्वालम्बनविच्छेदे तेषां विच्छेदस्यापि सिद्धप्रायत्वादिति भावः। निरहङ्कृतिः परिच्छिन्नाहङ्कारशून्या, अत एव च निरवग्रहा निष्प्रतिबन्धा च या शक्तिः परमेश्वरस्वभावात्मिका परप्रमातृतारूपिणी तया स्फुरत् तदीयस्फुरणानुप्राणितं तदेव वास्तवं वस्तुतत्त्वम्। साक्षादगुणम् अस्वाभाविकधर्मरहितम्, सर्वथा निर्गुणपदाभिधेयं च भवतीति भावः।

परमेश्वरो यदा स्वकीयान् सर्वज्ञत्वादिस्वाभाविकधर्मान् समाच्छाद्य अस्वाभाविकधर्मान् प्रकटयति, यथा रामावतारे रामस्य दशरथपुत्रोऽहं क्षत्रियोऽहम् इत्यादयो धर्मा अस्वाभाविकाः, तान् यदा तथात्वेनाभिनयति तदानीमेव सगुण इत्युच्यते। तथा च अस्वाभाविकधर्मवत्त्वमेव सगुणमिति निष्पन्नम्। आगन्तुकगुणस्पर्शलेशशून्या वस्तुस्वभावात्मिका पारमेश्वरी संविद् यत्रोपजीवकलयाऽवस्थिता तद्वस्तुतो निर्गुणमेवेत्यौपासनिकव्यापाराणामपि सिद्धं गुणत्रयोल्लङ्घित्वम्। अत एव भगवदुक्तिः–'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इति। अत एव च 'नमः प्रमातृवपुषे शिवचैतन्यसिन्धवे' इत्युच्यते। निरहङ्कारत्वादेवाशेषविश्वक्रोडीकरणसामर्थ्यमपि संविच्छक्तेरुज्जृम्भते। सा च पर्यन्ततो पूर्णाहन्तामय्येव। उक्तं च श्रीविज्ञानेन्दुकौमुद्याम्–

'सर्वव्यापकताभूमिर्ज्ञत्वकर्तृत्वसम्मता ।
निजाभासचमत्कारमयी शिवदशा स्मृता।।'

इति। ततश्च सगुणसदृशेन आपाततः सगुणस्वरूपमनुहरमाणेनापि वस्तुतो नैर्गुण्यमूलभूतेन वपुषा ध्यानादिगम्येन उन्मीलिते, शिवयोगिनां हृदये स्फुरिते, हे श्रीललिते! अलङ्कृतौ कटककुण्डलकेयूराद्यलङ्कारसमूहे सर्वत्रानुस्यूतमेकप्रतीतिवेद्यं स्वर्णमिव कनकमिव अद्धा निश्चयेन त्वमसि। त्वमेव विद्योतसे इति यावत्। एवञ्च सगुणनिर्गुणोभयावस्थास्वपि तवैव सर्वत्र निरवच्छिन्नस्फुरणं जागर्तीति भावः। उपासकबुद्धिवैशद्याय केवलमेष भेदोपन्यास इति शेषः। एतदभिप्रायेणैव पठ्यते श्रीपरमार्थसारे—

'रसफाणितशर्करिका गुडखण्डाद्या यथेक्षुरस एव।
तद्वदवस्थाभेदाः सर्वे परमात्मनः शम्भोः।।'

इति। 'घृतरीतिघनीभूतसच्चिदानन्दविग्रहम्' इति च स्मर्यते। एवञ्च अध्यस्तविवर्तः सगुणाराधनम्, अनध्यस्तविवर्तः स्वभावाराधनम्, अयमेव परिणामोपासनावादः।।१०।।

अधुना षडध्ववृत्तान्तमुद्भेदयन्तः कारणपुरुषाणामपि परदेवतोपास्तिं प्रथयन्तः श्रीचरणाः पराम्बाया निरुत्तरमवस्थानमभिमुखीकुर्वन्तः प्राहुः— विधिहरीति।

विधिहरिरुद्रेश्वरसदाशिवानाश्रितेश्वरा जगदधिष्ठिताः।
मायाधिकृतौ सृष्टिस्थितिहृतितिरोध्यनुग्रहमुक्तिनिष्ठिताः॥
तैर्ज्ञातेयं साखिलाधिपा षडध्वसृष्टिः कालरिष्टिता।
निर्विण्णैरथ परमपदाप्त्यै त्वमात्मशक्तिश्चिरमनुष्ठिता॥
दृश्यसेऽधुनापि त्वया विना किं शाश्वतमिह कालकवलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते॥११॥

जगदधिष्ठिताः विधिहरिरुद्रेश्वरसदाशिवानाश्रितेश्वराः मायाधिकृतौ सृष्टिस्थितिहृतितिरोध्यनुग्रहमुक्तिनिष्ठिताः (विद्यन्ते)। तैरियं साखिलाधिपा कालरिष्टिता षडध्वसृष्टिः ज्ञाता। अथ निर्विण्णैः परमपदाप्त्यै आत्मशक्तिस्त्वं चिरमनुष्ठिताऽधुनापि दृश्यसे। हि, कालकवलिते इह त्वया विना किं शाश्वतमस्ति? इत्यन्वयः।

जगति अधिष्ठिताः प्रपञ्चे स्वामित्वेन प्रसिद्धिभाजः। जगत्पदं प्रपञ्चसामान्यग्राहकम्, न तु भूलोकादिमात्रस्थपरम्। अर्थात् तच्छ्रुतिस्मृतिपुराणेषु जगन्नियाम-

कत्वेन बहुधा वर्ण्यमानाः। विधिर्ब्रह्मा हरिर्विष्णुः रुद्रः शिवः एते त्रयः प्रसिद्धाः। अन्ये चाप्रसिद्धा अपि ईश्वरः सदाशिवः अनाश्रितेश्वरः इति त्रयश्चान्ये इति षडपि पुरुषाः। एते च श्रीपराम्बाया मञ्चकस्य अङ्गभूतास्तत्र आग्नेयाद्यैशानान्तं चत्वारः पादभूता ब्रह्मविष्णुरुद्रईशाख्याः। सदाशिवः फलकभूतः। अनाश्रितेश्वरशिवश्चोपबर्हणभूत इत्यलमधिकेन। त एते षडपि मायाधिकृतौ परमशिवस्य मायाख्यमोहनशक्तेरधिकारे सृष्टिस्थितिहृतितिरोध्यनुग्रहमुक्तिनिष्ठिताः सन्ति। किञ्च श्रीभास्करारायचरणैरपि सृष्टिकर्त्री ब्रह्मरूपेत्यादिनाम्नां व्याख्यानोपक्रमे वशीकृतमायावच्छिन्नस्येश्वरस्य कृत्यभेदेन नानात्वम् (पाञ्चविध्यम्) आह इत्युक्तम्। तत्र सृष्टिर्जगन्निर्माणं रजोगुणप्रधानस्य ब्रह्मणः कृत्यम्। स्थितिर्गोपनापरपर्याया सत्वगुणप्रधानस्य विष्णोः कृत्यम्। हृतिः संहारः परमाण्वादिसावशेषो ध्वंसो तमोगुणप्रधानस्य रुद्रस्य कृत्यम्। तिरोधिः तिरोधानम् आच्छादनं निरवशेषो ध्वंसः घनतरशुद्धसत्त्वप्रधानस्येश्वरस्य कृत्यम्। अनुग्रहो निरवशेषध्वंसमापन्नस्य जगतः सृष्ट्यादौ पुनः परमाण्वादिरूपतापत्तिः विरलतरशुद्धसत्त्वप्रधानसदाशिवस्य कृत्यम्। मायामधिकृत्य वर्तमानस्य श्रीस्वच्छन्दभैरवनाथप्रथमशिष्यस्य स्वरूपास्थितस्य कैवल्यहेतुभूतज्ञानवतः जगदुद्धाराधिकारभोगकाले स्वरूपव्युत्थितस्य कैवल्यवर्जदेवता सालोक्यसामीप्यसारूप्यसायुज्याख्यमुक्तिप्रदानाधिकृतस्य भगवतः श्रीमदनाश्रितेश्वरस्य कृत्यपञ्चकातीतमुक्तिप्रदाधिकारिता जागर्ति। अत एव सर्वप्रथमभूमिकारूप एव भगवाननाश्रितेश्वरः। स च शिवत्वाभिमानी। उक्तं च श्रीपर्यन्तपञ्चाशिकायाम्–

'चित्स्वाभाव्यादसौ देवः स्वात्मना विमृशन् प्रभुः।
अनाश्रितादिभूम्यन्ता भूमिकाः प्रतिपद्यते।।'

इति। एवमेतत्तत्तत्कृत्यं प्रवर्तयन्तो जाग्रति। तैरियं ब्रह्मादि-अनाश्रितेशान्तैः साखिलाधिपा अखिलाधिपसहिता तत्तदधिष्ठातृदेवतावर्गसहिता कालरिष्टिता कालदलिता षडध्वसृष्टिः षडध्ववितातिः ज्ञाता सम्यगवगता। अनुसन्धानबलादिति यावत्। ते षडध्वानः समासतः संख्यायन्ते। वर्णाः पदानि मन्त्राः कलास्तत्त्वानि भुवनानि इति षड्विधता। तत्र वर्णाः पञ्चाशल्लोकप्रसिद्धाः। बिन्दुविसर्गयुक्तानि वा स्वरव्यञ्जनपदानि। मन्त्राश्च तन्त्रभेदेन बहवः श्रीक्रमे मुख्याः पञ्चदश्यादयः। कलाः निवृत्त्यादयः पञ्च। तत्त्वानि षट्त्रिंशत्

प्रसिद्धान्येव। भुवनानि च कालाग्निरुद्रादीनि अनाश्रितान्तानि इति चतुर्विंशत्यधिकशतद्वयम्। एतच्चाध्वचक्रं निवृत्त्यादिभिः पञ्चकलाभिः क्रोडीक्रियन्ते इति महेश्वरानन्दचरणैरुच्यते। एतद्विस्तरः स्वच्छन्दतन्त्रस्य दशमपटले द्रष्टव्यः। तत्र प्रकाशविमर्शात्मनोः शिवशक्त्योर्धर्मधर्मिभावेन प्रत्येकं त्रयस्त्रयोंऽशाः प्रवर्तन्ते। तथा च श्रीविरूपाक्षपञ्चाशिकायाम्–

'यस्य विमर्शस्य कणः पदमन्त्रार्णात्मकः शब्दः।
पुरतत्त्वकलात्मार्थो धर्मिण इत्थं प्रकाशस्य।।'

इति। अनयोरंशयोः स्वाभिधानाभिधेयकः सम्बन्धः। एवञ्च षड्विधोऽप्यध्वप्रभेदो मायाधिकृतावेव विद्यते। अत एव रहस्यसहस्रनामसु 'षडध्वातीतरूपिणी' इति नामग्रहणेन पराम्बायास्तदुत्तीर्णता प्रकटीकृता। एवं श्रीत्रिपुरारहस्येऽपि देशकालौ व्याप्य स्थिता षडध्वविततिरुपवर्णिता प्रकटीकृता च। शिवतत्त्वव्याप्त्युपायमार्गत्वेन 'अध्व'शब्दव्यपदेश्यता। षडध्वानो वस्तुतो बन्धनरूपाः। तत्र षडध्वस्वपि शिवव्याप्तिमनुभवतः षडध्वशुद्धिर्भवति। यथा आदर्शप्रतिबिम्बस्य भ्रमत्वेऽपि आदर्शस्य वस्तुस्वरूपं न हीयते। तदुक्तम्–

'शिवताव्यक्तिमार्गत्वात् पदमन्त्रकलादयः।
अध्वान इति कथ्यन्ते ते सर्वे बन्धना अपि।।'

इति महास्वच्छन्दसारे अमुद्रिते। एवं श्रीस्वच्छन्देऽपि–

'मुक्तानां शिवताव्यक्तिकारणं विश्वमेव हि।
शिवताव्यक्तिमार्गत्वात्ते सर्वेऽपि कलादयः।
अध्वशब्देन कथ्यन्ते ते सर्वे बन्धना अपि।।'

इत्युक्तम्। एवं ब्रह्मादिभिः पूर्वैर्ब्रह्मविद्याप्रवर्तकैराचार्यैरुपासनाक्रमेण कालाक्रान्ततया अपार्यन्तिकः षडध्वप्रपञ्चः समुल्लंघितः। अथ निर्विण्णैः सञ्जातनिर्वेदैः, लोकोत्तरार्थगृध्नुताविष्टैः परमपदाप्त्यै परमपदम् अनुत्तरं रूपं तदवाप्त्यै अथवा परं श्रेष्ठं यद् अपदं परमशिवस्वरूपं तल्लाभाय। आत्मशक्तिस्त्वम् अज्ञाननिवर्तनपूर्वकमात्मोद्बोधिकाशक्तिः संप्रसादकारिणीशक्तिः, त्वं श्रीललिताम्बिकास्वरूपिणी चिरं चिरकालम् अनादिकालमारभ्येत्यर्थः। अनुष्ठिता उपासिता सेविता। सेव्यमानेति वा अधुनाऽपि दृश्यसे, अद्यापि ब्रह्मादिभिर्मञ्चकपादव्याजेन निरन्तरमाराधिता दृश्यस एवेति भावः। श्रुतिरप्याह– 'एषात्मशक्तिः पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरा' इत्यादि। हि यतः कालकवलिते कालग्रस्ते

इह प्रपञ्चे त्वया आत्मशक्त्या विना त्वां विहाय किमपरं शाश्वतं नित्यसत्ताकमस्ति। न किञ्चिदपीति शेषः। अत एव बह्वृचोपनिषत्सु श्रूयते–'यदस्ति सन्मात्रं यदस्ति चिन्मात्रं तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी' इत्यादि। एवं षडध्वपरिचिन्तनानन्तरमेव भक्तियोग्योऽधिकारी जायते इत्यपि ध्वन्यते। उक्तं श्रीविज्ञानभैरवे–

'भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत्क्रमशोऽखिलम्।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः।।'

इति। किञ्च शारीरकमीमांसायां श्रीशङ्करभगवत्पादैः 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' इति सूत्रव्याख्यानप्रसङ्गे ब्रह्मविद्याविदामपि परमर्षीणामधिकारानुसारं लोकोपदेशसम्प्रदायकर्तृत्वादि अवश्यकर्तव्यतया निर्धार्यते। न च तावतैवात्मलाभतृप्तेभ्योऽपरेभ्यो महर्षिभ्यस्तेषां न्यूनत्वमाशङ्कनीयम्। अधिकारभेदमात्रेण न्यूनत्वासिद्धेः। अधिकारनिवृत्तौ च ते स्वरूपं प्रविशन्तीत्युक्तम्। अधिकारनिवृत्तिपर्यन्तं तेषां जीवन्मुक्तवत् स्थितिः। नित्यमुक्तत्वहेतुब्रह्मतत्त्वविदां तेषां नास्त्येव स्वप्नेऽपि कर्मबन्धनाशङ्का। अधिकारस्य च परब्रह्मस्वरूपिसद्गुरुक्रमद्वारा प्राप्तत्वादवश्यानुष्ठेयता विद्यते, इत्यादि प्रतिपादितम्। तावतापि च आधिकारिकपुरुषाणामेतेषां ब्रह्मविष्ण्वादीनां परशक्तितादात्म्यमपि निर्बाधमेव। केवलमुपासनाक्रमप्रदिदर्शयिषया षडध्वक्रमोपन्यास इत्यलं विस्तरेण।

इह इदमपि श्रीगुरुमुखागतमवधेयम्। आदिगुरुतत्त्वमेव परंज्योतीरूपं सशक्तिकत्वादेव मिथुनं सत् तदुल्लसितान्यमिथुनत्रयरूपेण श्रीगुरुपादुकामन्त्रादौ समष्टिरूपेण चिन्त्यते। तथा च 'आदिशक्तिपरमशिवाम्बासहितश्रीआदिनाथपरमशिवानन्दनाथादिस्वगुरुपर्यन्तं श्रीपादुकां पूजयामि' इति तदादिस्वगुरुपर्यन्तानां सर्वेषां सम्प्रदायगुरूणामेष समष्टिमन्त्रः स्मारकः। तद्गतमिथुनचतुष्टयं यथा। आदि आदि इति ज्योतीरूपं सर्वोर्ध्वं प्रथममिथुनम्। एतदेव शक्तिसहितो नाथ इति। सर्वागमशास्त्रोपदेष्टृमिथुनं द्वितीयम्। तदेव परमशिवासहितः परमशिव इत्युपास्तिकृन्मिथुनं पराशम्भुनाथरूपम्। एवं तदेव कामेश्वरकामेश्वरीरूपम् अम्बा चाऽऽनन्दनाथश्चेति संज्ञाद्वयं भूषयत् तत्प्रथमशिष्यादनाश्रितेश्वरादारभ्य स्वगुरुपर्यन्तं ताभ्यामेव संज्ञाभ्यां सम्प्रदायसरण्या प्रथितं शिष्याननुगृह्णद्विद्योते इति। 'श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः' इत्येतद् भावनोपनिषद्गतं प्रथमसूत्रं तस्यायमेवाभिधेयविषय इत्यनेन सोपपत्तिकं विवृतं

स्यादिति स्पष्टम्, इत्यलमत्र विस्तरेण।

'षडध्वसोपानपरम्परोर्ध्वं स्थिताऽसि मातर्जगतो हिताय।
क्रमस्तवाद्यैः परिदर्शितोऽभून्महेश्वराद्यैर्गुरुभिः समस्तैः॥'

इत्यत्र संग्रहश्लोकः॥११॥

अथ सर्वाम्नायमहासारायमाणकुलसिद्धान्ततत्त्वं परमानुग्रहेण प्रकटीचिकीर्षवः श्रीनाथचरणा द्वादशीं गाथामवतारयन्ति– क्षेत्रपभैरव इति।

क्षेत्रपभैरवगणभृदर्कगुहहरिशिवदुर्गाऽर्चादिदर्शनम्।
लभतेऽभ्यर्च्याऽरमकामोऽद्धा सद्गुरुकुलदीक्षणस्पर्शनम्॥
पीठपञ्चवाहमूर्तिप्रकाशानन्दक्रमवृन्दमर्शनम्।
सगुरुपङ्क्तिसृष्टिस्थितिसंहृत्यनाख्यभासां श्रीनिदर्शनम्॥
वेत्त्येवं स महार्थमिव त्रिकमहात्रैपुरेङ्गमनाकलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते॥१२॥

(श्रीमान् साधकः) क्षेत्रपभैरवगणभृत् अर्कगुहहरिशिवदुर्गार्चादिदर्शनम् अकामः (सन्) अरम् अभ्यर्च्य अद्धा सद्गुरुदीक्षणस्पर्शनं लभते। किञ्च हे अनाकलिते श्रीललिते! सः पीठपञ्चवाहमूर्तिप्रकाशानन्दक्रमवृन्दमर्शनं सगुरुपङ्क्तिसृष्टिस्थितिसंहृत्यनाख्यभासां श्रीनिदर्शनम् (च) एवं महार्थमिव त्रिकमहात्रैपुरेङ्गं वेत्ति। इत्यन्वयः।

प्रथमम् अनेकजन्मार्जितानन्तपुण्यबलात् श्रुतिस्मृत्युदीरितसदाचारपरायणतया अपगताशेषत्रिविधकल्मषस्पर्शः श्रीमान् साधकः स्वप्रवृत्त्यनुसारेण क्षेत्रपभैरवगणभृद् अर्कगुहहरिशिवदुर्गादिदेवतानाम् अर्चादिरूपं पूजनप्रमुखं दर्शनं सिद्धान्तम् उपासनाप्रकारमिति यावत्। अकामः निष्कामभावनया प्रवर्तमानः सन्। अथवा अं कामयते परशिवसिद्धान्तमनुसरतीति व्युत्पत्त्याऽपि अकाम इति पदं व्याख्यायते, अकामत्वादेव तादृशानुत्तरसिद्धान्तप्रवेशात्। तथाविधः सन् अरमत्यर्थमभ्यर्च्य सम्पूज्य परिशील्य वा संसेव्य चिरमिति शेषः। अद्धा साक्षादेव, सद्गुरुकुलदीक्षणस्पर्शनं लभते। सद्गुरोः सत्सम्प्रदायाचार्यात् कुलगुरोः कुलदीक्षणस्पर्शनं कौलिकीं दीक्षां लभते प्राप्नोतीति। अत एवोक्तं 'निष्कामं भजतां देवमखिलाभीष्टसिद्धयः' इति।

'शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्येन्दुसम्भवैः।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते।'

'पुराकृततपोदानयज्ञतीर्थजपव्रतैः।'
'मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य धर्मिणो गुरुसेविनः।
अतिगुप्तस्य भक्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते।'

इति च। गणभृत् शास्तापि वीरभद्रो वा। तत्रापि क्षेत्रपालाद्युपासनेष्वपि हरिशिवदुर्गार्चादीति पाठक्रमेण काचिदानुपूर्वी प्रतीयते। तत्र हरिपदोत्तरमुपासनाक्रमोऽप्यूह्यः। प्रथमं तत्तद्देवतोपासनं ततः शिवोपास्तौ प्रवेशः। ततः शक्त्युपासनालाभः। तत्रापि दुर्गाद्युपासनम्, ततः कुलवर्त्मनि प्रवेशः। एतदभिप्रायेणैव रहस्यसहस्रनाम्नामुत्तरपीठिकायाम्—

'लौकिकाद्वचनान्मुख्यं विष्णुनामानुकीर्तनम्।
विष्णुनामसहस्राच्च शिवनामैकमुत्तमम्।।
शिवनामसहस्राच्च देव्या नामैकमुत्तमम्।'

इत्यादिक्रमो दर्शितः। अत एव न तत्रापि विधेयस्तावकतयाऽर्थवादत्वकल्पना किन्तु साक्षाद्विधिरूपत्वमेव। 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इति कोशबलाद् गुरुदायं लभते इति महाधनवद् बहुमूल्यत्वगोप्यत्वेऽपि व्यज्येते। किञ्च हे अनाकलिते, स्वरूपप्रतिष्ठितिपर्यन्तं शिवबुद्धिरूपेण अज्ञाते, श्रीललिते! सः तथाविधः गुरुकटाक्षक्षपितमलजालः संविदुद्योतसमुद्भासितसकलवृत्तिः साधकः पीठं शिवशक्तिसामरस्योद्भवं स्वदेहात्मकम्, तच्च प्रमातृप्रमाणपञ्चविधप्रमेयाभिन्नम्। तत्र दिङ्मात्रं यथा—

'आकट्योराकन्धरमादोष्णोरा च नाभिसीमान्तम्।
षट्कोणं यच्छरीरं संवित्पीठं त्रिकोणसाम्यं तत्।।'

इत्युक्तदिशा प्रथमं शरीरभट्टारकस्य पीठत्वेन प्रतिपत्तिः। तत्र पञ्चवाहाः परमेश्वरस्य स्फुरणधाराः। व्योमवामेश्वरीखेचरीदिक्चरीभूचरीति नामतः पञ्चैव ज्ञेयाः। एता एव संज्ञाभेदेन चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्याः शक्तयः। एवं पञ्चधावहतः परमेश्वरस्य मूर्तिप्रकाशानन्दचक्रेषु प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूपैस्त्रिविधा उपासना सम्पद्यते। तत्र दिङ्मात्रेण विवरणं यथा। मूर्तिचक्रं फालनेत्रे आग्नेये निमेषोन्मेषस्वातन्त्र्यशक्तिः सप्तदशकलावती। दश कलाः सप्त जिह्वाः इति सप्तदश। प्रकाशचक्रे द्वादशकलावती दक्षिणनेत्रे मार्तण्डरूपा शक्तिः। आनन्दचक्रे षोडशकलावती वामनेत्रे सोमरूपा शक्तिः। एभिश्चक्रैस्त्रित्वविशिष्टं सर्वमपि तादात्म्येनानुप्रविष्टमस्ति। अत एव

श्रुतिः–'तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशारम्' इति। एवं स्थूलं पीठं सूक्ष्मरूपेण वृन्दचक्रात्मकम्। पररूपेण पञ्चवाहक्रमस्य तु सर्वत्र तादात्म्यमिति क्रमः। वृन्दचक्रं च समासतो दर्श्यते। यथा। ज्ञानसिद्धाः षोडश। मन्त्रसिद्धाश्चतुर्विंशतिः। मेलापसिद्धा द्वादश। शाक्तसिद्धा अष्टौ। शाम्भवसिद्धाश्चतस्रः। एतत्समष्ट्यात्मकं पञ्चधा प्रभिन्नं चतुःषष्टिसंख्याकं वृन्दचक्रम्। तत्र श्रीकालसङ्कर्षिण्यपरपर्याया रुद्ररौद्रेश्वरी पञ्चषष्टितमी सर्वानुवृत्तेति न पृथग्गण्यते। वृन्दचक्रस्यापि–

'धाममुद्रा वर्णकला संविद्भावस्वभावतः।
पातोऽनिकेतदृष्ट्या च वृन्दचक्रं प्रकाशितम्।''

इत्युक्तरूपो भूयान् भेदः। एतेषां मर्शनं परामर्शः। तमिति शेषः। एतेषामुपरि वरिवसनीया श्रीगुरुपङ्क्तिः। सा च पूर्णस्वातन्त्र्यसंवित्स्वभावा। सा च तत्तत्सम्प्रदायभेदात्तथा तथा प्रथते। तत्तद्वृत्त्या तावत् स्वात्माविभिन्नानुत्तरस्वभावः तादृशरूपात्मा विमर्श एव श्रीगुरुनाथ इत्युच्यते। यथा श्रीमहानयप्रकाशे–

'वस्तुतस्त्वस्वरोल्लासप्रथनोच्छूनतात्मकः।
यो विभाति महानादस्तमजं देशिकं श्रये।।'

इति। अत एव श्रीगुरुपादुकाया एव सवार्थगर्भीकरणपरत्वमुद्घोष्यते।

'वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः।
तथा कुलार्णवज्ञानं पादुकायां प्रतिष्ठितम्।।'

इत्युक्तत्वात्। एवं स्वात्मरूपपरमशिवभट्टारकाविभिन्नश्रीदेशिकनाथस्य स्वातन्त्र्यसंविच्छक्तिविजृम्भणस्वभावः कृत्यपञ्चकमेव सृष्टिस्थितिसंहारानाख्याभासात्मकः विद्योतते। एतासामेव शक्तीनां क्रियाज्ञानेच्छोद्योगप्रतिभाख्याः पर्याया भवन्ति। एवं प्रकारान्तरेण 'धाममुद्रा' इति व्याख्यानावसरे पातक्रमनिरूपणप्रसङ्गे वृन्दचक्रसृष्ट्यादिक्रमयोस्तादात्म्यमित्याम्नातं श्रीक्रमसद्भावे–

'ज्ञानं सृष्टिं विजानीयात् स्थितिर्मन्त्रः प्रकीर्तितः।
शरीरं तु महाकालमेलापं परमं विदुः।।
अनाख्यं शक्तिरूपं तु भासाख्यं शम्भुरूपकम्।
पञ्चप्रकारमेतद्धि विज्ञेयं तत्त्वदर्शिभिः।।'

इति। सृष्ट्यादिष्वपि प्रत्येकं तदितरशक्तिसामरस्येन केवलमुद्रेकप्राधान्यात्

'प्राधान्येनैव व्यापदेशा भवन्ति' इति न्यायात्तथा तथा व्यपदेशः। तदुक्तं श्रीशिवदृष्टौ–

'यदेकतरनिर्माणे कार्यं जातु न जायते।
तस्मात्सर्वपदार्थानां सामरस्यं व्यवस्थितम्।।

इति। तत्र भासा नाम पञ्चमी शक्तिः खलु सृष्ट्यादिकृत्याक्रान्तविश्ववैचित्र्य-व्यवहारगर्भिणी सर्वोत्तीर्णा सर्वानुग्राहिणी च पारमेश्वरी चिच्छक्तिरेव। सृष्ट्यादिना परस्पराव्यतिरेकादेव चक्ररूपता 'क्रमकेलि'प्रभृतिषु ग्रन्थेषु निरूपिता। सृष्टिसृष्टिः सृष्टिस्थितिः इत्यादिप्रकारेण द्वादशेन्द्रियतत्समष्ट्यात्मना च त्रयोदशरूपता सम्पद्यते। उक्तं च महानयप्रकाशे–

'आसां द्विषट्कदेवीनां वमनग्रासतत्पराम्।
देवीं त्रयोदशीं वन्दे तादात्म्यप्रतिपत्तये।।'

इति। आसां च मन्त्रोद्धारस्वरूपध्यानादिक्रमः सम्प्रदायलभ्य एव। एवञ्च पीठपञ्चवाहमूर्तिप्रकाशानन्दक्रमवृन्दमर्शनं परामर्शं सगुरुपङ्क्ति गुरुपङ्क्तिसहितं गुरुपङ्क्तिप्रधानमिति यावत्। तच्छक्तीनां सृष्टिस्थितिसंहृत्यनाख्यभासां श्रीनिदर्शनं शृणाति हिनस्ति स्वरूपातिरिक्तं इति श्रीः परदेवता तस्याः निदर्शनं परमाद्वैतसिद्धान्तम् एवं महार्थमिव 'सर्वोपायपरिक्षीणास्ते महार्थार्थिनः किल' इति निर्दिष्टरीत्या लोकोत्तरार्थगृध्नुताऽऽविष्टैकलभ्यं महान्तं सिद्धान्तं सः गुरुकटाक्षविद्धः साधकोत्तमो यथा वेत्ति एवमेतत्सम्बद्धमेव त्रिकमहात्रैपुरेङ्गमपि वेत्ति। इङ्गं कुलसिद्धान्तमिति यावत्। त्रिकं परा–परापरा–अपराशक्तीनां तादात्म्यसिद्धान्तं वेत्ति इत्यन्वयः। यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके–

'परा चन्द्रसमप्रख्या रक्ता देवी परापरा।
अपरा सा परा काली भीषणा चण्डयोगिनी।'

इति। ताश्च श्रीक्रमे महालक्ष्मीः (नाम लिङ्गं चेत्याद्युक्तरूपा) अपरा, भुवनेश्वरी परापरा, श्रीः परा इति क्रमः। शैवक्रमे मनोन्मनी अपरा, अम्बिका परापरा, महाचैदम्बरीविद्या परा इति। एतासां परम्परतादात्म्यं च पूर्वोक्तरीत्या क्वचिदपि न व्याहन्यते। उक्तं च अभिनवगुप्तपादाचार्यचरणैः–

'पराऽपरा परापरमरीचिमध्यवर्तिनः।
न मे भिदाऽभिदा भिदाभिदासु कश्चिदाग्रहः।।'

इति। एवं त्रिकात्पूर्ववर्ती सिद्धान्तोऽशेषसिद्धान्तसामरस्यभूः त्रैपुरदर्शनमित्युच्यते,

यः श्रीमद्दक्षिणामूर्ति–श्रीदत्तात्रेय–श्रीपरशुरामभट्टारकप्रभृतिसकलश्रीदेशिकेन्द्रमुखाम्बुजनिवासपरम्परया प्रसर्पति। तदुक्तमभियुक्तैः–

'त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरकत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम॥'

इति। अत एव भगवता श्रीपरशुरामेण कल्पसूत्रारम्भे 'पञ्चभिर्मुखैः पञ्चाम्नायान् परमार्थसारभूतान् प्रणिनाय तत्रायं सिद्धान्तः' इति सूचयता सर्वसिद्धान्तसारभूतत्वं त्रैपुरदर्शनस्योपदर्शितम्। एवं त्रिकसिद्धान्तं त्रैपुरमहासिद्धान्तं च वेत्तीत्यन्वयः। गुरुक्रमेण वेदनमेव श्रेयसे नान्यथेति सिद्धान्तः। सिद्धान्तश्रवणस्यापि दीक्षाविध्यन्तःपातित्वात् सर्वशक्तिस्वरूपः सर्वशक्तिसमष्ट्यात्मकस्वरूपश्च महात्रैपुरसिद्धान्त इति॥१२॥

इतः परं श्रीपराम्बां विविधनामग्रहणैस्तुष्टूषवस्तत्तन्नामप्रसङ्गेन निरतिशयं विश्वं व्यश्नुवानं महिमानं च दिध्वनयिषवः श्रीमन्नाथचरणास्त्रयोदशीं गाथामुपनिबध्नन्ति– ॐमनोरिति।

ॐमनोरुमाऽधिदेव्यादिमाब्रह्मयोनिरागमादिजनने ।
गायत्री शुभधीस्मृतिदात्री गातरिवाऽणौ श्रितगुरुमनने॥
असुस्थापने प्राणशक्तिरखिलजगच्चैतन्यसंविदनने।
पूर्वदक्षपश्चिमवामोर्ध्वहृदधराम्नायेश्याख्याध्वनने ॥
ऊर्मिणि भोगिनि कुब्जि कालि सुन्दरि परेशि कुण्डलिन्यतुलिते।
भास्यविनासम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते॥१३॥

अनतिक्लिष्टतया नेहान्वयः पृथक् दर्श्यते। ॐ इति सकलाम्नायमूलम्। 'ॐकार एवेदं सर्वम्', 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव' इति श्रुत्यादिप्रसिद्धस्य परब्रह्मावबोधकस्य प्रणवात्मनो मनोर्महामन्त्रस्य आदिमा आदिलक्ष्मीः परचितिः उमा एव अधिदेवी अधिष्ठात्री देवतेति। 'तस्य वाचकः प्रणवः' इत्यनेन वाच्यवाचकभावकल्पनाया वाच्यभूता उमैवेति तात्पर्यार्थः। अक्षरतोऽप्यधिगम्यते, तस्यैव संप्रसारणे उमा इतिरूपं भवति। ततश्च उमारूपेणैव प्रणवात्मनः परब्रह्मणः कर्तृत्वं स्फुरतीति निष्पन्नम्। 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्' इति श्रुतेश्च। तथा च– ॐ इति व्यक्तध्वनेरुत्पादिका ॐ शक्तिः। उं इत्यस्य गुणः ॐ इति भवति। उक्तं च लैङ्गे भगवतीं प्रति परशिवेनैव–

‘अकारोकारमकारा मदीये प्रणवे स्थिताः।
उकारं च मकारं च अकारं च क्रमेरितम्।।
त्वदीयं प्रणवं विद्धि त्रिमात्रं प्लुतमुत्तमम्।।’

इति। अत एव महावासिष्ठेऽप्युक्तम्–‘ॐकारसारशक्तित्वादुमेति परिकीर्तिता’ इति। अस्य पदस्य देवीप्रणव इति रहस्यविदां संज्ञेत्याहुः सौभाग्यभास्करे श्रीभास्करायदेशिकेन्द्रचरणाः। अन्योऽप्येतद्विस्तरस्तत्रैव, नेहाधिकं प्रतन्यते। नामनिरुक्तिरपि ‘उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम’ इति कालिदासीया श्रुतिः स्मृतिमूलैव। एतत्सर्वाभिप्रायेणैव बह्वृचश्रुतिराह–ओं ओं वाचि प्रतिष्ठा सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक्चितिरिति। आगमादिजनने साङ्गोपाङ्गवेदतन्त्राद्यशेषश्रुतिसमुत्पत्तौ ब्रह्मयोनिः ब्रह्मणो बृंहणस्वभावस्य विश्वव्यापकस्य परमात्मनो योनिरुत्पत्तिभूः। तथा च श्रुतिः–‘कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्’ इति। बादरायणसूत्रं च–‘योनिश्च हि गीयते’ इति। श्रितगुरुमनने अणौ, गातरि अणौ वा। शुभधीशुभस्मृत्योर्दात्री गायत्री त्वमेवेति शेषः। एवं वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पो ज्ञेयः। सर्वज्ञगुरुमुपसन्नाय स्वशाखोक्तमार्गेण निगमाध्यायिने वाजनाय शुभबुद्धिशुभस्मृत्योर्दायिनी। गायत्रीरूपाऽसीति शेषः। त्रिपुरतापन्युपनिषदि वरिवस्यारहस्यादौ च गायत्र्या सह श्रीविद्याया अभेदः श्रीभास्कररायचरणैरुपदर्शितः। गायत्रीकल्पे ‘गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्री तेन कथ्यते’ इत्युक्तम्। अत एवान्यत्राप्युक्तम्–

‘सर्वे शाक्ता द्विजाः प्रोक्ता न शैवा न च वैष्णवाः।
आदिदेवीमुपासन्ते गायत्रीं वेदमातरम्।।

इति। अखिलजगतां चैतन्यसंविदश्चिच्छक्तेः अनने प्राणने समुज्जीवने इति यावत्। असुस्थापने प्राणप्रतिष्ठाविधौ। असुस्थापन इति प्राणप्रतिष्ठाशब्दपर्याय इति न पुनरुक्तेः शङ्काया अवसरः। प्राणशक्तिर्नाम देवता। अत एव श्रुतिः ‘प्राणस्य प्राणः’ इति। तस्या ध्यानं यथा–

‘रक्ताम्भोधिस्थपोतोल्लसदरुणसरोजाधिरूढाकाराब्जैः
पाशं कोदण्डमिक्षूद्भवमलिगुणमप्यङ्कुशं पञ्चबाणान्।
बिभ्राणाऽसृक्कपालं त्रिणयनलसिता पीनवक्षोरुहाढ्या
देवी बालार्कवर्णा भवतु सुखकरी प्राणशक्तिः परा नः।।’

इति। अथ तत्तदाम्नायभेदेनाधिष्ठातृशक्तिरूपिणीं पराम्बां वर्णयन्तः प्राहुः। पूर्वदक्षिणपश्चिमवामोर्ध्वहृदधरेति सप्ताम्नाया इति भावः। पूर्वदक्षेति। वामशब्द उदङ्वाचकः। यथाक्रमं दिगाख्यया चत्वारः। ऊर्ध्वः हृदि अधरश्चैतेषामधिष्ठात्रि हे श्रीललिते! मूलाधारे अधराम्नायोऽपि द्विविधः। आख्याध्वनने नाम्ना कीर्तने। तावद् यथाक्रमं हे ऊर्मिणि, भोगिनि, कुब्जि, कालि, सुन्दरि, परेशि, कुण्डलिनि, इति प्रत्येकं सम्बुद्धिः। एवं हे अतुलिते केनापि तुलयितुमनर्हे। तुलयितुमशक्ये वा। श्रीललिते गुरुपदमावृत्य भासि इति ध्रुवपदेनैवान्वयः।। १३।।

अथ अतिरहस्यभूतां शब्दस्वरूपिणीमपि (ध्वन्यात्मिकामपि) ब्रह्मविद्याप्रबोधसमर्थां परदेवतामस्मासु नैसर्गिककरुणावर्षिणः श्रीदेशिकनाथचरणाः प्रकटयन्तः प्राहुः– पठितेति।

पठिताऽन्तिकेऽन्तकाले जन्तोर्यस्य समयिनाऽपि तं पामरम्।
महामोहवशमपि निरस्य याऽह्णत्तस्य सर्वाणुतामरम्।।
युगपद्गमयति पृथ्व्यादिशिवातिगं नित्यरूपमजरामरम्।
साऽर्णतनुर्ब्रह्मविद्या जयसि निगृह्य कालबलमुड्डामरम्।।
महोऽन्यदित्थं भाति वृतभुवनमालिनीमनुमुखार्णावलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते।।१४।।

यस्य जन्तोरन्तकाले समयिनाऽपि अन्तिके पठिता (सती) तस्य सर्वाणुताम् अरं निरस्य याऽह्णत्। किञ्च महामोहवशमपि पामरं तं युगपत् पृथ्व्यादिशिवातिगम् अजरामरं नित्यरूपं गमयति। एवम् उड्डामरं कालबलं निगृह्य सा अर्णतनुः ब्रह्मविद्या जयसि। इत्थम् अन्यद् वृतभुवनमालिनीमनुमुखार्णावलिते महो भाति। इत्यन्वयः।

यस्य जन्तोः कस्यापि प्राणिमात्रस्य। जन्तुपदेन नरदेहमात्राधिकार इति नाग्रह इति भावः। एतेनाधिकारिविशेषविभागो निरस्तः। अन्तकाले प्राणोत्क्रमणसमये स्वभावादेव शरीरे रोगादिना जर्जरीभूते प्राणेषु चोत्क्रममाणेषु अन्तकाले पदेनैवं समुचितः समयः सूचितः। समयिनाऽपि कुलक्रमप्राथमिकसंस्कारवताऽपि। अपिना वक्तृविशेषपारतन्त्र्यं नास्तीति सूच्यते। वस्तुस्वभावस्यैव तथा माहात्म्यात्। किन्तु उपदेष्टुः समयसंस्कारस्त्वावश्यक एव। अन्यथा तस्योच्चारणानधिकारात्। तेन समयिनापि अन्तिके निकटे। कर्णकुहरनिकटे

इति यावत्। प्राणोत्क्रमणवेलायां श्रोत्रादीनां शब्दाग्रहणेऽपि संस्कारनिर्वर्तनस्यैव कर्तव्यत्वान्नानुपपत्तिः। अत एवैतद्विद्याफलश्रुतौ पठ्यते– ‘गलिताक्षोऽपि बुध्यते’ इति। पठिता सती यावल्लयदर्शनमभ्यासे नोदीरिता सती। तस्य जन्तुविशेषस्य सर्वाणुतां सर्वात्मना प्रसृतमपि जीवभावम् अरम् अत्यर्थं निरस्य दूरीकृत्य याऽहृणत् हरतीति यावत्। आचूलमूलं स्यूतमिव स्थितं जीवभावं दूरीकुरुते तिरयति च। न तु निक्षेपवत्क्वचित् स्थापयतीति भावः। महामोहवशं महान् अनादिप्रवाहदैर्घ्यानुस्यूतो यो मोहो विषयानुरागस्तस्य वशं वशभूतमपि पामरं सामान्यजीवं तं युगपत् सहसैव स्वनिष्ठलोकोत्तरानुभावबलेनैव, पृथ्व्यादिशिवातिगं पृथ्व्यादिशिवान्तो यस्तत्त्वसन्दोहः षट्त्रिंशत्संख्याकस्तमतीत्य गच्छतीति तथाविधं विश्वोत्तीर्णम् अजरामरं जरामरणादिकल्मषस्पर्शशून्यमत एव नित्यरूपं शिवरूपमित्यर्थः। अनुत्तरामवस्थामिति यावत्। गमयति प्रापयति लम्भयतीति शेषः। एवं ‘न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते’, ‘ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति’ इति श्रुत्युक्तदिशा प्राणोत्क्रमणापक्रमणरहितं केवलं ब्रह्मभावमेवाभ्येतीति पर्यवसितोऽर्थः। एवम् उड्डामरं भीषणतरं ब्रह्माद्यैरपि दुर्लङ्घ्यं कालबलं कालक्रमं निगृह्य अवधूय सा आगमप्रसिद्धा अर्णतनुरक्षरात्मिका ब्रह्मविद्या इति सङ्केतिता। जयसि सर्वोत्कर्षेण वर्तसे। सकलदुर्लभकालातिक्रमेणादेव ‘जयसी’त्युक्तम्। जयत्यर्थेन नमस्कार आक्षिप्यते इत्यालङ्कारिकमर्यादया तां प्रत्यस्मि प्रणत इत्यपि व्यज्यते च। इत्थम् अन्यत् प्रसिद्धस्वरूपातिरिक्ता वृत्ता अङ्गीकृता भुवनमालिनीमनुमुखा भुवनमालिनीमन्त्रप्रमुखा अर्णावलयो मातृकापरम्पराः यस्मिंस्तत्। दीक्षादेवीत्यपरनाम्न्या भुवनमालिन्या मन्त्रार्णावलिमहः, ब्रह्मविद्याप्रबोधनसमर्थं जयद्रथयामले समुल्लसति। ब्रह्मविद्यामनुश्च मुकुटाद्यागमेषु विदितः। मुखपदेन नरकार्णवतारिणीचण्डिकामन्त्रादयो ग्राह्या इति गुरुमुखैकवेद्या एव सर्वे। तत् तथाविधं ते महः तेजः भाति विराजते इति शेषः। एवंविधदीक्षासंस्कारवतो वपुषि ग्रीवाभङ्गाद्यभावरूपं वैशिष्ट्यं प्रत्यक्षानुभवसिद्धमित्यलं विस्तरेण।। १४।।

अथ पुनरपि विविधरूपिणीं पराम्बां स्तुवन्तः श्रीमन्नाथचरणाः पञ्चदशीं गाथामवतारयन्ति– ग्रासीकृतेति।

ग्रासीकृतकालमृत्युशमनाऽसि कालसङ्कर्षिणी निगदिता।
मन्त्रशक्तिधारणान्मालिनी मन्त्रनिर्मितेर्मातृकोदिता।।

पराऽसि सर्वन्यूनपूरणात् श्रयितुराश्रयात् श्रीरतिमुदिता।
महासम्पदादिगुरुसन्ततेः कुलपारम्पर्यसम्पादिता।।
पाशोच्छेत्री दीक्षाऽसि स्वस्मर्तरि कर्मपाशशृङ्खलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते।।१५।।

अन्वयो नात्र पृथगुपदर्श्यते। कालो नाम संवत्सरादिरूपः जीवनावधिविशेषरूपो वा। मृत्युश्च देहप्राणयोर्वियोगकर्ता। एतावुभावपि देवताविशेषावेव। तयोरुभयोरप्यधिष्ठाता शमनो यमराजः। 'शमनो यमराड् यमः' इत्यमरः। अविशेषेण ग्रासीकृताः कवलीकृताः कालमृत्युशमना यया सा। भुवनव्यापकमप्येतेषां शासनमुल्लंघ्य स्वातन्त्र्येण स्फुरन्तीत्यर्थः। अत एव कालसङ्कर्षिणी इति नाम्ना निगदिताऽसि। गुरुपरम्परयैवाराध्यसे इत्यर्थः। अस्यां गाथायां प्रायो निरुक्तिसहकृतान्येव नामानि सन्तीत्याकलनीयम्। यदुक्तमभियुक्तैः—

'ग्रस्तक्रमाक्रमा कालदेहरूपा महेश्वरी।
कालसङ्कर्षिणी सेयं क्रुद्धा घोरोग्रनायिका।
त्रिविधं त्रिपथं त्रिस्थं सर्वकालं प्रकर्षति।
सर्वभावैकभावात्मा भावांश्चैव च चर्व्यते।।
यत्रेन्द्रिये विश्वमये विश्वाकारैकरूपिणी।
भैरवेण सहा पानं त्रैलोक्यक्षतजासवम्।।
ब्रह्माण्डखण्डे तत्रैव सा संविद्रसयत्यलम्।'

इत्यादि। सेयं भगवती मूकमहाकविनैव स्तूयते—

'कनकमणिकलितभूषां कालायसकलहशीलकान्तिकलाम्।
कामाक्षि शीलये त्वां कपालशूलाऽभिरामकरकमलाम्।।'

इति। एवं मन्त्रशक्तेर्मन्त्रमहिम्नो धारणान्मालिनीति निगदिताऽसि इत्यनुषङ्गः। मालावत्त्वान्मालिनी। एकपञ्चाशन्मातृकाभिमानिनी देवता। सा च पर्यन्ततोऽनुत्तरहकाराभ्यां बिन्दुभट्टारकेण च सह प्रत्याहारक्रमात् सर्वसंवित्समावेशलक्षणा अहमिति परामर्शरूपिणी। अत एव श्रीशिवसूत्रेषु 'महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः', 'मातृकाचक्रसंबोधः' इति चोपदिश्यते। एवञ्च मन्त्रनिर्मितेरशेषमन्त्रनिर्माणकर्तृत्वात् 'मातृका' इति। उदिता उक्ताऽसीति शेषः। 'मननत्राणधर्माणो मन्त्राः' इत्याम्नायोक्त्या विवृतस्वरूपाः मन्त्राः। तेषां प्रसवभूर्मातृकेति कथ्यते।

किं बहुना, सर्वमेव विश्वं तयैवोत्पाद्यते। तदुक्तं: वैय्याकरणैः–

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।'

इति। श्रीत्रीशिकाशास्त्रे च–

'सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानां च यशस्विनि।
इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा।।'

इति। अनयोर्मालिनीमातृकयोरवस्थाविशेषकृत एव भेदः। मालिनी शक्तिरूपा, मातृका शक्तिमद्रूपा पच्चाशद्वर्णरूपिणी त्रिकागमे 'ळ'वर्ज्या, श्रीक्रमे तु एकपञ्चाशद्वर्णमयीति। एवं सर्वन्यूनपूरणाद् अशेषविश्वपूरणात् 'पॄ पूरणे' इति धातोः परा इत्युक्ताऽसीति यावत्। अयं भावः–विश्वमयविश्वोत्तीर्णोभयावस्थाशालित्वात्परा इति सार्थकं नामेति भावः। अत एवोक्तं श्रीमहेश्वरानन्दचरणैः श्रीपरास्तोत्रे–

'पृथ्वी पूर्वमितो वनं तरुरतस्तत्रापि शाखा ततः
पत्रं तत्र च पुष्पमत्र च फलं माधुर्यमस्मादिति।
एकस्मादपि तारतम्यपदवीमुत्कर्षणीं पश्यतो
विश्वस्मादपि कापि सिध्यति परे! त्वामेव तां ब्रूमहे।।'

इति। श्रयितुः स्वाश्रयणकर्तुराश्रयात् स्वात्मार्पणव्यापाराद् अतिमुदिताऽतितरां प्रहृष्टा सती श्रीरित्युच्यसे इति शेषः। श्रुतिरपि–'सा हि श्रीरमृता सताम्।' आश्रीयते श्रेयस्कामुकैरिति श्रीरिति यास्कोक्तमर्यादया निरूक्तिरपि संघटते। तदुक्तं तत्रैव– अप्यक्षरसामान्यान्निर्ब्रूयादिति। आदिगुरोः परमशिवभट्टारकस्य सन्ततिर्वंशः। वंशोऽन्ववायः सन्तानमिति कोशः। तस्य कुलपारम्पर्येण संपादिता सुरक्षिता गूढतया पालिता महासम्पत् महाशेवधिः। अत एवोक्तमागमे– 'कर्णात्कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतलमि'ति। महासम्पदिति शुद्धं रूपकम्। सन्ततिपारम्पर्ययोर्ग्रहणे साङ्गं रूपकं वा। असीति शेषः। ध्रुवपदगतसम्बोधनानुगुण्येन मध्यमपुरुषप्रयोगस्यैवाभिप्रेतत्वात्। एवं कर्मपाशशृङ्खलिते आणवादिमलत्रयस्यैव बन्धकत्वात् पाशपदवाच्यता। एवं कर्मपदमुपलक्षकम्। तेन द्वयोरन्ययोरपि ग्रहणम्। एव पाशत्रयात्मकशृङ्खलाबद्धे स्वस्मर्तरि स्वाश्रिते गुरुमाश्रिते पुरुषे इति शेषः। पाशोच्छेत्री पाशच्छेदकारिणी दीक्षाऽसीति यावत्। उक्तं च–'दीयते शिवसद्भावः क्षीयते पापसञ्चयः।' एवं

दानक्षपणलक्षणगुर्वायत्तसंविदनुग्रहरूपाऽसीति शेषः। किञ्च दीक्षापदेन भुवनमालिनीदीक्षादेवीस्वरूपमपि परामृश्यते इत्यूह्यमिति।। १५।।

अथ भूयोऽपि परदेवतां विविधाऽभिधानग्रहणैर्विमृशन्तः श्रीचरणाः षोडशीं गाथामभिदधते– स्वस्मर्तृहृदयेति।

स्वस्मर्तृहृदयकलनात्काली दुःखाब्धेस्तारणाद्धि तारा।
स्वशिरश्छेदनतोऽपि छिन्नका नतावनरताऽनुग्रहधारा।
भयविध्वंसे त्वमसि भैरवि त्वं बगला स्तम्भनाधिकारा।
और्वशीवशीकृतिकलाऽसि मातङ्गी भुवना हि शान्तिसारा॥
शत्रुमारणे धूमावत्यसि धात्री रमा भक्तिकन्दलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते॥१६॥

अत्रापि नान्वयः पृथगुल्लिख्यते। स्वस्मर्तृणां भक्तानां हृदयस्य कलनात् स्वाभिमुख्यसम्पादनात् 'काली' इति नामिकाऽसीति यावत्। अयं हि स्वाभिमुख्यसम्पादनरूपः परमानुग्रहः श्रीगुरुरूपिण्याः परम्बायाः शक्तिपात एव। तदुक्तम्–

'दीक्षेति परमेशस्था मोचिका शक्तिरुच्यते।
सा गुरुक्रियया व्यक्ता शिष्यस्याऽऽमोचयेदणून्।।'

इति। अत एव श्रुतिराह–'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इत्यादि। अत एव श्रीशङ्करभवत्पादानामुक्तिः–'साऽलीकरोतु मम काली मनः स्वपदनालीकसेवनविधौ' इति। आदिमहाविद्यारूपिणीति च तात्पर्यम्। दुःखाब्धेर्दुःखसागरस्य तारणादुल्लङ्घनात् स्वभक्तानामिति शेषः। सागरोपमं निरवधिदुःखमपि क्षणादेव दूरीकुर्वाणा 'तारा' इति प्रथिताऽसि इति यावत्। द्वितीयमहाविद्यारूपिणीति चाभिप्रायान्तरम्। लघुस्तवे च 'तरन्ति विपदस्तारां च तोयप्लवे' इति। हीति निश्चये। नतानां प्रणमतां स्वभक्तानामवने रक्षणे रता। अत एवानुग्रहस्य धारा। अनुग्रहस्याविच्छिन्नवृष्टिस्वरूपिणी। स्वस्य शिरसो मूर्ध्नश्छेदनतश्छेदात्। अपिशब्दश्चार्थे। स्वशिरश्छेदनतश्चेति यावत्। छिन्नका छिन्नमस्तका'। मूर्ध्नि कः। कं शिरोऽम्बुनोरिति कोशात्। प्रचण्डचण्डिकेत्यपराऽभिधा भगवती। नतावनरताऽनुग्रहधारेत्यनेन स्वमूर्धच्छेदादतीववात्सल्यमुत्प्रेक्षते, शक्तिसङ्गमे तारासूक्ते–

'जननी तस्य वै धन्या पिता तस्य महेश्वरः।
दाता कालीसमो लोके वेदे तारासमो मतः।।
राज्ये श्रीसुन्दरीतुल्योऽनुग्रहे छिन्नमस्तका।
निग्रहे बगलातुल्यो मातङ्गी और्वशी तथा।।
सर्ववाञ्छामयी सिद्धिस्तस्य हस्तगता भवेत्।
भुवनासदृशः शान्तौ क्रोधे धूमावती मता।
क्रीडायां बालिकातुल्यो वाञ्छायां सुमुखी समः।
धात्रित्वे कमला साक्षात् सत्ये श्रीकालिका यथा।।'

इत्यादि। अथवा कं ब्रह्मेति श्रुतेश्छिन्नं परिच्छिन्नं कं ब्रह्म यया सा ब्रह्मविद्या इति वाऽर्थः। त्वमसीति शेषः। त्वं भक्तानां भयविध्वंसे भैरव्यसि। भैरवीति नाम्ना विश्रुतासीति यावत्। उक्तं हि लघुस्तवे–'भूतप्रेतपिशाचजृम्भकभये स्मृत्वा महाभैरवी'मिति। भरणरमणवमनकर्ता भैरवः परशिवस्तस्य शक्तिर्भैरवी। अथवा भीजनितो रवो भीरवस्तं श्रुत्वैव तस्मिन्नेव क्षणे आविर्भूतो भैरवः करुणामूर्तिस्तस्य शक्तिर्भैरवी। करुणामयी। अत एवोक्तमभियुक्तैः–'भैरवीमाश्रितोऽहम्। गुरुचरणरतोऽहं भैरवोऽहं शिवोऽह'मिति। श्रुतिरपि–'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसी'ति। स्तम्भनाधिकारा रिपुवाङ्मनःस्तम्भकारिणीति त्वं बगलेति। विश्रुतासीति यावत्। और्वशीकृतिर्नृत्यादिकला वशीकृतिर्वशीकरणं च। तयोः कलासम्पादिका स्वभक्तानामिति शेषः। एवं कृतिशब्दो द्विरन्वेति। तथाविधा सती मातङ्गी श्यामलाम्बा पराभिधानाऽसीति यावत्। एवं शान्तिरेव सारः सर्वस्वं यस्याः सा। शमप्रधानेति यावत्। भक्तानामशेषतापप्रशमयित्री। त्वं भुवना भुवनेश्वर्यम्बाऽसीति। हीति निश्चये। एकाक्षरे बीजे त्रयाणां भुवनानां समावेशाद्भुवना वा। अत एव दक्षिणामूर्तिसंहितायाम् 'एकाक्षरेऽपि देवेशि सन्त्यत्र भुवनानि तु' इत्यादिना तत्स्वरूपमुपदर्शितम्। एवं शत्रूणां मारणे विशसने मारणकर्मणामधिष्ठात्री 'धूमावती'त्यभिगीयसे। एवं भक्तिकन्दलिते अंकुरितभक्तिशालिनि साधके। तद्विषये इति यावत्। धात्री धारणकर्त्रीं पालनकर्त्रीं पालिकेति यावत्। रमा लक्ष्मीर्विद्योतसे। धनधान्यादिभिस्तत्पालिका भगवती रमेत्युच्यसे। रमते विश्वस्मिन् स्वमहिमसमुद्भूतेनैश्वर्येण इति रमा। तदुक्तं चण्डीसप्तशत्याम्–'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' इति। भास्यविनेति

ध्रुवपदेन पर्यन्तेऽन्वयः।। १६।।

अथ पुनरपि कतिपयस्वरूपभेदस्तवनप्रसङ्गेन पराम्बामनुसन्दधानाः श्रीदेशिकनाथचरणाः सप्तदशीं गाथामूचुः— दुर्गमेति।

दुर्गमकार्यसाधिका दुर्गा प्रत्यङ्गिराऽभिचारनिरसने।
आकृष्टौ मधुमती विजयसे मोहिनी स्वविमुखाणुभासने।।
आत्तश्रीकुलदीक्षस्याली श्यामा वार्ताल्यरित्रासने।
विघ्नोच्चाटे गणेशाकृतिर्बालाऽङ्गत्वेनाद्युपासने।।
इत्थमकामसकामस्वार्चकहेतोर्बहुविधवपुःशबलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते।।१७।।

अत्रापि न पृथगन्वयप्रदर्शनापेक्षा। दुर्गमं सामाद्युपायैरप्यसाध्यं यत्कार्यं तस्य साधिका सफलीकरणदक्षिणा दुर्गा भगवतीत्युच्यसे। अत एवेयं दुर्गापदनिरुक्तिर्देवीपुराणे—

'सुबलादिभये दुर्गे तारिता रिपुसङ्कटे।
देवाः शक्रादयो येन तेन दुर्गा प्रकीर्तिता।।'

इति। दुर्गमाख्यदैत्यवधादपि दुर्गापदाभिधेया। अभिचारनिरसने शत्रुकृतदुष्प्रयोगदूरीकरणे प्रत्यङ्गिरा। आथर्वणशाखायां प्रसिद्धा। अत एव रहस्यसहस्रनाम्नामुत्तरपीठिकायाम्—

'यो वाऽभिचारं कुरुते नामसाहस्रपाठके।
निवर्त्य तत्क्रियां हन्यात्तं वै प्रत्यङ्गिरा स्वयम्।।'

इत्युक्तम्। एतद्व्याख्याने च—'प्रत्यङ्गिराऽऽथर्वणभद्रकालीदेवता। आथर्वणवेदमन्त्रकाण्डे शौनकशाखायां द्वात्रिंशदृचः। पिप्पलादशाखायां त्वष्टाचत्वारिंशदृचस्तदीया आम्नायन्ते। तत्प्रयोगाश्च नारदतन्त्रे प्रसिद्धाः' इत्याहुः श्रीभास्कररायदेशिकचरणाः। आकृष्टौ आकर्षणकर्मणि 'मधुमती' नाम देवता विजयसे सर्वोत्कर्षेण वर्तसे। सर्वप्रधानाऽऽकर्षणकर्मस्वित्यर्थः। तन्त्रेष्वेतस्या ध्यानं यथा—

'अहिलतादलनीलसरोजयुक्करयुगां मणिकाञ्चनपीठगाम्।
अमरनागवधूगणसेवितां मधुमतीमखिलार्थकरीं भजे।।'

इति। शक्तिसङ्गमतन्त्रे कालीखण्डे चतुर्दशपटले—

'गौराङ्गीं शरदिन्दुसुन्दरमुखीं पीतांशुकां पीवरां
प्रोत्तुङ्गस्तनमण्डलप्रविलसज्जाम्बूनदैकावलिम्।

श्वेतोत्तुङ्गतुरङ्गगां त्रिनयनां पीताङ्गरागस्रजां
ध्यायेत्पायसलालसां मधुमतीं दौर्भ्यां दधानां सृणिम्।।'

इति। स्वविमुखानां स्वोपासनापराङ्मुखानां जीवानां भासने बोधभूमौ मोहिनीरूपेण, वर्तसे इति शेषः। तदुक्तम्–'अज्ञानतिमिरान्धानां सर्वेषां मोहिनी स्मृता' इति। अथवा मोहयतीति मोहिनी इति व्युत्पत्त्या मोहिनीति नाम। तदुक्तं लघुनारदीयपुराणे–

'यस्मादिदं जगत्सर्वं त्वया सुन्दरि मोहितम्।
मोहिनीत्येव ते नाम स्वगुणोत्थं भविष्यति।।'

इति। अथवा अमृतमन्थनावसरे यद्विष्णुना श्रीविद्योपासनया गृहीतं रूप तद्रूपिणी वा। यदुक्तं ब्रह्माण्डपुराणे–

'द्वितीयमुदभूद्रूपं प्रवृत्तेऽमृतमन्थने।
सर्वसंमोहजनकमवाङ्मनसगोचरम्।।
यद्दर्शनादभूदीशः सर्वज्ञोऽपि विमोहितः।'

इति। आत्ता गृहीता सद्गुरुतो लब्धा श्रीकुलस्य दीक्षासंस्कारविशेषो येन तस्य आली सखी। वयस्येव सदुपदेशकर्त्री पालिका चेति यावत्। एवंविधा श्यामा श्यामलाम्बास्वरूपिणी। अत एव श्यामोपासकनियमे कल्पसूत्रं 'गिरा कालीति न वदेत्' इति। वाचा कालीति पदं नोच्चारयेत्। तत्र मम आली सहायः कः इति न व्याकुलीभवेदिति श्रीगुरुमुखागतोऽर्थः। एवं पूर्वं स्वातन्त्र्येण श्यामोपास्तौ 'और्वशीवशीकृतिकलाऽसि' इत्युक्तम्। इह पुनः श्रीक्रमाङ्गत्वेनोपास्तिरुपदिष्टेति विशेषः। अरित्रासने शत्रुनिवारणे वार्ताली, श्रीपराम्बायाः शक्तिसेनानायिका। दण्डनाथास्वरूपिणी विद्योतसे इति यावत्। तदुक्तं वाराहीस्तोत्रेऽपि–

'क्षुभितमनसः क्षुद्रस्यैकाकिनोऽपि कुतो भयम्।
सकृदपि मुखे मातस्त्वन्नाम सन्निहितं यदि।।'

इति। विघ्नानाम् उपासनाप्रत्यूहानामुच्चाटे समुच्चाटने दूरीकरणे गणेशाकृतिर्महागणपतिस्वरूपिणी। यदुपासनया विघ्नाः स्वयमेव व्याकुलीभूय पलायन्ते इति उच्चाटपदेन सूचितम्। किञ्च शक्तिसेनायामसुरैर्निक्षिप्तस्य विघ्नयन्त्रस्य विदलनं श्रीकटाक्षसमुद्भूतेन महागणपतिना विहितमिति ब्रह्माण्डपुराणीया कथाऽत्रानुसन्धेया। अत एव रहस्यसहस्रनामसु पठ्यते–'महागणेशनिर्भिन्न-

विघ्नयन्त्रप्रहर्षिता' इति। अङ्गत्वेन श्रीक्रमाङ्गत्वेन आदिउपासने प्रथमोपासनायां बालात्रिपुरसुन्दरीस्वरूपिणी। श्रीक्रमं प्रविविक्षोः प्रथमं बालोपासनमवश्यविहितमिति भावः। बालायाः श्रीकुमारीरूपिण्याः श्रीललिताम्बया सह पार्यन्तिकाऽभेदाच्च। कुमारीरूपेणैव परदेवतायाः प्राथमिक उल्लासः। अत एव शिवसूत्रे 'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी'ति। इत्थं बहुभिः पूर्ववर्णितैः प्रकारैः अकामाः सकामाश्च ये स्वार्चकाः स्वोपासकास्तेषां हेतोः कारणात् तदर्थमिति यावत्। बहुविधैः वपुर्भिः शबलिते किर्मीरिते। बहुविधाकृतिधारिणि, तदुक्तमेव– 'अनुग्रहाय लोकानां रूपं नाम क्रियाऽपि ते' इति। हे श्रीललिते! गुरुपदमावृत्य भासीत्यन्वयः।। १७।।

अथोपसंहारगाथामवतारयन्ति श्रीमन्नाथचरणाः– चतुःपञ्चेति।

चतुःपञ्चषट्सहस्रवक्त्रैर्गातुमशक्यं तव महिमानम्।
कथमपहासायैवाऽन्यस्य न तव नुतिरचनं वृथाभिमानम्॥
भवति वस्तुतस्तव स्वरूपं त्यक्ताकृतिमातृमेयमानम्।
वेत्ति कः कथं निरस्तभेदमुल्लङ्घ्य तवाज्ञासीमानम्॥
जल्पति राघुः स्थिरोऽन्तरुदितं प्रेमपञ्जरे तेऽनर्गलिते।
भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते॥१८॥

चतुःपञ्चषट्सहस्रवक्त्रैरिति चतुर्वक्त्रादिषु प्रत्येकं वक्त्रपदान्वयः। तेन च यथाक्रमं विरिञ्चिशिवस्कन्दशेषा लक्ष्यन्ते। तैरपि गातुं उपश्लोकयितुं अशक्यम्, साकल्येन स्तोतुमशक्यं तव महिमानं तव महाप्रभावं गातुं स्तोतुमिति गातुंपदस्य द्विरावृत्त्याऽन्वयः। अन्यस्य सामान्यजनस्य वृथाभिमानं यथा स्यात्तथा तव नुतिरचनं तव स्तोत्रनिर्माणं कथमपहासायैव न। अपि त्वपहासायैव भवेदिति शेषः। तदुक्तमाचार्यश्रीशङ्करभगवत्पादैः–' कवीन्द्राः कल्पन्ते कथमपि विरिञ्चिप्रभृतयः' इति। अत्रार्थे हेतुमेवाहुः। तव स्वरूपमवस्थानं वस्तुतः परमार्थतो हि त्यक्ताकृतिमातृमेयमानं भवति। आकृतिः स्वरूपम्। मातृमेयमानानि, प्रमातृप्रमेयप्रमाणानि। तद्विरहितमेव वास्तवं परदेवताया अवस्थानमिति भावः। इत्थं हि स्तोत्रप्रसङ्गः कथमनुप्राप्त इत्याशङ्कायामुत्तरमाहुः। तत्ते निरस्तभेदम् अखण्डाद्वयप्रथामयं स्वरूपं तवाज्ञासीमानं उल्लङ्घ्य त्वत्करुणाकणमनुपलभ्य कः कोऽपि वा कथं वेत्ति, न कथमपीति यावत्। तदुक्तं श्रीमातृकास्तोत्रे–

'अद्यापि यस्या जानन्ति न मनागपि देवताः।
केयं कस्मात् क्व केनेति सरूपारूपभावनाम्।।'

इति। श्रीनीलकण्ठदीक्षितेन्द्रैरप्युक्तम्–

'सर्वानुग्राहिणीशक्तिः शम्भोरनतिरेकिणी।
तामप्रपद्य तत्तत्त्वं न शब्दैरवधार्यते।।'

इति। एतावता च यदेतदष्टादशगाथात्मकं सकलाम्नायसारायमाणं महास्तोत्रम्, तदपि तदीयकरुणावेशवैवश्यादेव निर्गतमिति ध्वन्यते। तेन च पावित्र्यातिशयो महाविमर्शमाहात्म्याद् ध्वनितः। अत एव न मया बुद्धिपुरःसरमेतद्विरचितम्, किन्तु तदीयकरुणयैव निष्पन्नमिति स्वावस्थाविशेषमाहुः। स्थिरो राघुः। 'रघुनाथ' इति लौकिकं नाम। ते अनर्गलिते अर्गलारहिते निर्बन्धे प्रेमपञ्जरे भक्तिशलाकाभाजने अन्तरुदितं स्वयमन्तःस्फूर्तिसमुद्गतं जल्पति भाषते गायतीति। राघुः शुक इति महाराष्ट्रलोकभाषानुसारेण। स च मुक्तद्वारे पञ्जरे स्थिरीभूय केनाप्यशिक्षितो गायतीति व्यतिरेकातिशयः। अत एवाभियुक्तैरुच्यते–

'भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
तयैव तु विहीनानां किमन्यदपयाचितम्।।'

इति। अन्यच्च स्थिरः सन् अन्तरुदितं राघुर्जल्पति इति उत्तमपुरुषप्रयोगार्हत्वेऽपि प्रथमपुरुषप्रयोगः स्वस्य ताटस्थ्यातिशयध्वननाय। तेन च कश्चिदनुत्तरः सर्वानुग्रहक्षमोऽवस्थाविशेषोऽपि व्यज्यते। तदुक्तमभियुक्तैः–

'स्तब्धदृष्टिबहिरर्थसंश्रयं निर्विकल्पमपि यत्तवासनम्।
मुक्तपञ्जरशुकानुकारि तद्भैरवं वपुरुदारमाहर।।'

इति। तादृशावस्थाविशेषाऽऽविष्टाः शिवयोगीन्द्राः श्रीमन्नाथचरणाः शिष्यानुजिघृक्षयैव स्तोत्रमेतदवतारयामासुरित्यवधेयम्। एवञ्च 'सर्वतः शिवमये हृदि स्फुटे सर्वतः शिवमयं विभाव्यते' इत्युक्तनयेन परमशिवसमुल्लासात्मकमिदमधीयानानां सर्वं शिवमेति सर्वं शिवम्। प्राग्वद्ध्रुवपदमिहाप्यन्वेति।

भास्यविनाभावसम्बन्धतो गुरुपदमावृत्य कृपोज्ज्वलिते।
सद्गुरुतत्त्वाधिदैवमसि शिवशक्त्यात्मचिते त्वं श्रीललिते।। १८।।

इत्येतद्गुरुनाथ सार्द्रकरुणापात्रीकृतेनामुना
व्याख्यातं सकलागमाम्बुधिमहारत्नायमाणं महः।

चित्रं नात्र कलाकलापमहितादिन्दो रसस्यन्दिनो
रश्मिस्पर्शमवाप्य हन्त सुवते पाषाणखण्डा रसम्।।१।।
श्रीमन्नाथपदारविन्दभजनोल्लासाय यातैरितः
श्रीमत्तातवरैः सहाऽऽगममहं मुम्बापुरीं श्रीमतीम्।
तत्र श्रीचरणैः स्तुतिः करुणया सन्दर्शिते यं मुहु-
र्व्याख्यातास्वविचारवीचिनिचयो लोकोत्तरो वर्णितः।।२।।
श्रीमद्भास्कररायसद्गुरुमुखैराद्यैर्गभीराशयैः
संदृब्धं सकलागमाम्बुधिमहासंमन्थनोत्थं तु यत्।
तत्त्वं किञ्चिदनुत्तरं तदिह मन्नाथाननाम्भोरुहाऽऽ-
वासाऽऽसादितसौरभं विजयते सर्वार्थसारात्मकम्।।३।।
तत्र श्रीचरणैरसीमकरुणैः श्रीशम्भुनाथात्मभिः
माधुर्यामृतवर्षिणा स्ववचसाऽऽज्ञप्तं महेशाम्भवे।
वत्स त्वं विवृतिं विधेहि विमलां साहाय्यकेनाचिरात्
ता तस्यापि विशेषशास्त्रविदुषस्तत्त्वार्थसंग्राहिणीम्।।४।।
मौलौ माल्यमिवाऽथ शासनमिदं कृत्वा गुरोः पादुका
कारुण्यामृतसेचनात्सरसया बुद्ध्या निबद्धो मया।
'ध्वन्यालोक' इतिश्रुतो गुरुमुखात्सोऽयं चिरं द्योतताम्
अन्तर्ध्वान्तनिवारणाय निपुणः सत्सम्प्रदायोन्मुखः।।५।।
श्रीमदम्बानन्दनाथकरुणावीक्षणोदयात्।
अम्बुजेशानन्दनाथो व्याख्यामेतामपूरयत्।।६।।

।। इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणधुरीणसर्वतन्त्रस्वतन्त्रसत्सम्प्रदाय-
मर्यादाधुरन्धरश्रीमदम्बानन्दनाथचरणानुचरणसमासादितशुभमतिना
श्रीकमलानन्दनाथतनयेन श्रीअम्बुजेशानन्दनाथेन व्याख्यातः
श्रीविद्याङ्घ्रिगीतविवरणध्वन्यालोकः परिपूर्णतामगमत्।।
।।श्रीगुरुचरणारविन्दार्पिता विजयतां कृतिरियं
खिस्ते-बटुकनाथशास्त्रिणः।।

■

आनन्दसागरस्तव-व्याख्या

(आदित एकादशश्लोकपर्यन्तम्)

जयत्यमन्दकारुण्यकल्लोलितदृगञ्चला ।
साऽम्बाऽऽनन्दमयी विश्वव्यवहारविहारिणी।।
क्व वाणी नीलकण्ठस्य क्व मे वाचां समुद्यमः।
व्याचिख्यासुरथाऽप्यस्मि श्रीगुरोः प्रेरणावशात्।।

अथ तत्रभवान् कविकुलसार्वभौमः श्रीमीनाक्षीकरुणाकटाक्षसमेधमानमहिमा करतलामलकीकृतनिगमागमरहस्यो निःशेषपुरुषार्थप्राप्तिपरितुष्टोऽपि नीलकण्ठनामा देशिकाग्रणीः शिष्यशिक्षार्थमनुषङ्गतो स्तवपाठकानामभिमतार्थपूर्तये च जगन्मातुरिदमनुपमं स्तोत्रमुपक्रममाणः पद्यतो निबध्नाति—विज्ञापनार्हेत्यादिना।

विज्ञापनार्हविरलावसराऽनवाप्त्या
मन्दोद्यमे मयि दवीयसि विश्वमातुः।
अव्याजभूतकरुणापवनापविद्धा-
न्यन्तः स्मराम्यहमपाङ्गतरङ्गितानि।।१।।

सांसारिकेषु दैनन्दिनेषु कर्मसु प्रसक्तस्य पुरुषस्य प्रायशो न भवत्यवसरः कदापि अनन्यवृत्त्या श्रीचरणयोर्विज्ञापनां विधातुमिति सर्वजनानुभवसिद्धम्। तदनुसारमेव कविराह— विज्ञापनार्हः सर्वथा निर्विकारचित्तवृत्तिरूपो विरलो दुर्लभप्रायो योऽवसरस्तस्याऽनवाप्त्या अप्राप्त्या शनैः शनैरुत्साहापचयाद् विश्वमातुः विश्वेषां जगतां 'चतुर्विंशत्युत्तरं यद् भुवनानां शतद्वयम्' इत्यागमोक्त्या प्रसिद्धानां भुवनानां मातुः प्रसवित्र्याः अथवा 'माङ्' माने इत्यस्माद्धातोः 'माता' इति पुल्लिङ्गान्तं पदं वा विश्वं माति परिच्छिनत्ति षडध्वादिरूपेण तस्य। न च लिङ्गभेदादसङ्गतिरिति वाच्यम्। कामेश्वरकामेश्वर्योरभेदस्य शास्त्रसिद्धत्वेन कामेश्वररूपेण ग्रहणम्। तस्या दवीयसि सुतरां दूरस्थे भूमण्डलैकदेशस्थे 'स्थूलदूरयुव' इत्यादिना ईयसुन्प्रत्ययः। किञ्च

जगन्मातुर्नित्यनिलयस्य 'अनेककोटिब्रह्माण्डकोटीनां बहिरूर्ध्वतः' इत्यादिशास्त्रोक्तदिशा श्रीनगरस्य सकलब्रह्माण्डोर्ध्ववर्तितया तत्र विज्ञापना प्रापणं सुदुष्करमित्याकलय्य मयि स्तोतरि मन्दोद्यमे शिथिलीभूतव्यवसाये सतीत्यध्याहार्यम्। एवंविध भक्तमनोऽवसादमन्तरङ्गमपि नित्यसान्निध्यात् सद्यः संविदन्ती परदेवता स्मृतिरूपेण तन्मानसे प्रादुरासीदिति भङ्ग्यन्तरेणाऽऽह। स्मृतिश्च पूर्वानुभूतवस्तुस्मरणम्। कवेरस्य नैकजन्मान्तरसिद्धं परदेवतोपासकत्वमिति सहजसिद्धा तदीया स्मृतिरपि। एवं मन्दोद्यमे मयि सहसैव परदेवताकृपावशादेव तस्या अपाङ्गतरङ्गितानि अन्तःस्मरामीति सम्बन्धः। पुनः कीदृशान्यपाङ्गतरङ्गितानि इत्याह– अव्याजभूतकरुणापवनापविद्धानि। अव्याजा निर्व्याजा अहैतुकी या भूतेषु समस्तेषु करुणा सैव पवनो वातः प्रेरकत्वात्, तेन अपविद्धानि उद्धूतानि बलादिव प्रेर्यमाणानि। "अव्याजकरुणामूर्तिरज्ञानध्वान्तदीपिका' इति रहस्यनामसु पठ्यते। 'जगत्त्रातुं शम्भोर्जयति करुणा काचिदरुणा' इति भगत्पादोक्तिश्च। जगदुद्धिधीर्षा हि स्वभावो जगन्मातुर्न किमपि कारणमपेक्षते। स्मृतिमात्रेण सा समुद्धरति भक्तान्। यथोक्तं कूर्मपुराणे–

ये मनागपि शर्वाणीं स्मरन्ति शरणार्थिनः।
दुस्तराऽपारसंसारसागरे न पतन्ति ते॥

एतञ्च तादृशकरुणाकिर्मीरितकटाक्षस्मरणादेव विज्ञापनायमुत्साहोऽपि सञ्जात इति भावः।

कविनाऽनेन चण्डीरहस्ये प्रथमपद्ये सोऽयमर्थः प्रतिपादित एव। यथा–

प्राज्ञाऽनभिज्ञसुलभां परिपूर्णशक्ति-
मव्याजभूतकरुणापरिणामरूपाम्।
अम्बां मनागपि मनस्यवलम्बमाना
धीरा न बिभ्यति कथञ्चिदितोऽमुतो वा॥

करुणायां पवनारोपाद्रूपकालङ्कारः। तरङ्गितानि इति कटाक्षाणां तरङ्गवदाचरणाद्भक्तानुग्रहे त्वरातिशयो ध्वन्यते। जगन्मातुर्विषये कविनिष्ठो भक्तिरूपो भाव एव सर्वत्र प्रधानमिति तस्य भावध्वनेः प्रबन्धप्रतिपाद्यत्वमवसेयम्। अथवा 'सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे' इत्युक्तलक्षणाया भक्तेरेव रसत्वात् स

एवाऽत्र प्रबन्धप्रतिपाद्यत्वेन स्वीकर्तव्यः। 'रसो वै सः, रसं ह्येव लब्ध्वाऽऽनन्दीभवतीति' औपनिषदः पक्षोऽप्यत्र सिद्धान्तित एव।

किञ्च अपाङ्गशब्देन कामो ध्वन्यते, शिवेन भस्मीकृतोऽपि मन्मथः परमेश्वरीमाराध्य जगद्विजये प्रभुरासीदिति ब्रह्माण्डपुराणादिषु प्रसिद्धमेव। अत एवाऽपाङ्गो यया विश्वविजये सामर्थ्यमापादितस्तस्या भक्ताभीष्टसम्पादने को नाम विलम्ब इत्यपि ध्वन्यते। सर्वत्र 'वसन्ततिलकावृत्तम्'। 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः' इत्युक्तेः।। १।।

अथ विज्ञापनाविषयमेव प्रस्तोतुकामः कविराह—आवेद्यतामिति द्वितीयश्लोकेन।

आवेद्यताममविदितं किमथाप्यनुक्तं
वक्तव्यमान्तररुजोपशमाय नालम्।
इत्यर्थ्यसे किमपि तच्छ्रवणे निधातुं
मातः प्रसीद मलयध्वजपाण्ड्यकन्ये।। २।।

कालत्रयाऽबाधितसत्तायाः परमेश्वर्याः किं नामाऽविदितम्। अत उच्यते 'आवेद्यता'मिति कृपापूर्वकं जगन्मातुरनुज्ञां लब्ध्वाऽपि विदितवेदितव्यायाः किं कथं वा निवेदनीयमिति पर्याकुलः कविरभूत। अत एवोक्तम्—अविदितं किम्? सर्वसाक्षिण्याः किं मम चेतसि स्थितमिति जानानाया अपि किं पिष्टपेषणन्यायेन कथनम्? 'चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्' इति मार्कण्डेयपुराणोक्तेः सर्वव्यापकत्वात्। 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' इति शक्तिसूत्राच्च। वित्तिरूपायास्तस्याः सर्वत्रैव वेद्यवेदकोभयव्यापकत्वेन स्थितिः सर्वशास्त्रागमसिद्धैव। तर्हि किमर्थं विज्ञापनायां प्रवृत्तिरिति शङ्कां परिजिहीर्षुराह—'अथापि अनुक्तं वक्तव्यम् आन्तररुजोपशमाय अलं न भवति'। मनसि वर्तमानाया अनुभूत्या यावत् प्रकाशनं न क्रियते तावत् मानसिकी पीडा न निवर्तत इति मानवस्वभावोऽयम्। तत्रापि श्रोता समर्थः सर्वदुःखापनोदक्षमश्च लभ्यते यदा तदा नूनं प्रबलैव वक्तव्यप्रवृत्तिर्भवति। उक्तञ्च महाकविभिः—'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते' इति, 'स्वजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति' इति च। इति हेतोः हे मलयध्वजपाण्ड्यकन्ये! मलयध्वजाख्यपाण्ड्यभूपाल-

कन्यारूपेण गृहीतावतारे! सैषा कथा कविनाऽनेन 'शिवलीलार्णवाख्ये' काव्ये समुपबृंहिता, तत्रैव द्रष्टव्या। किमपि तन्मम वक्तव्यं श्रवणे निधातुम् अर्थ्यसे हे मातः प्रसीद। तत्तादृशं मदीयमान्तरव्यथारूपं वक्तव्यं श्रवणे निधातुं निःशेषरूपेण धारयितुं न तु यदृच्छया स्पृष्टाऽस्पृष्टिकया श्रोतुं प्रार्थ्यसे। किञ्च त्वं माताऽसीत्यधिकारवशादिव त्वामनुनयामि प्रसादं कुरु। भगवत्याः सहस्रनामसु प्रथमं नाम 'श्रीमाता' इत्येव प्रसिद्धम्। विवृतञ्च श्रीभास्कररायचरणैः–'लोके हि दुःखदशायां मातुः स्मरणं प्रसिद्धम्'। इयं तु विश्वजननी तापत्रयहरणसमर्था तत एव स्तोतव्येति।

किञ्च भक्तजनप्रार्थनां कर्णे ताटङ्कादिभूषणवद् सानुरागं धारयति जननीति ध्वन्यते।

'न शम्भोस्तन्मूलं जननि तव ताटङ्कमहिमा' इत्यादौ भगवत्पादैरपि सोऽयमभिप्रायः सङ्केतितः। किञ्च भक्तशिखामणेः कवेरस्य सर्वथोपास्यदेवतयाऽभेदरूपेण स्थितौ सिद्धायामपि उपास्योपासकभावदशायां भेदः स्वीकर्त्तव्यः। यथोक्तमाचार्यचरणैः–

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥ इति।

भक्तनिवेदनस्य कर्णे निधानान्मौक्तिकादिवत् कर्णाभरणत्वं व्यज्यते। आभरणञ्च सर्वदैव धार्यमिति सर्वदैव भक्तप्रार्थनामपि धारयन्ती जगन्माता विभातीति द्योत्यते। 'मलयध्वजपाण्ड्यकन्ये' इति विशेष्यस्य राजकन्याया महाकुलप्रसूतायाः स्वाभाविकं वदान्यत्वं भवतीत्यभिप्रायगर्भतया परिकराङ्कुरालङ्कारोऽपि॥ २॥

जगन्मातुरेव विज्ञापनीयत्वौचित्यं प्रतिपादयन्नाह–आक्रन्दितमिति।

आक्रन्दितं रुदितमाहतमानने वा
कस्यार्द्रमस्तु हृदयं किमतः फलं वा।
यस्या मनो द्रवति या जगतां स्वतन्त्रा
तस्यास्तवाम्ब पुरतः कथयामि खेदम्॥ ३॥

आक्रन्दो रोदनादिपूर्वकः स्वदुःखनिवेदनव्यापारः, रुदितं रोदनम् आवेशातिशयाद् आनने आहतमाहननं ताडनमिति यावत्। एते सर्वे व्यापाराः

पर्याकुलचितस्य सम्भवन्ति। यदहमनया रीत्या कस्याऽपि पुरतः स्वदुःखमावेदये तेन कस्य सामान्यस्य भूमिपालादेः हृदयं मनः कथमार्द्रमस्तु? 'परदुःखेषु शीतलः' इति लोकप्रसिद्ध्या सर्वोऽपि न सहसा दयते। यदि नाम कश्चिद्दयालुः स्यादपि अतः किं वा फलम्? न किमपीति शेषः। 'राजा तुष्टो ग्राममेकं ददाति' इति परिमितमेव तत्फलामित्याशयः। 'याच्ञाऽमोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा' इति न्यायेन महानेव जनः प्रार्थनीय इत्याह– यस्या मनो द्रवति यस्याश्चेतः सर्वदा भक्तेषु करुणामसृणमेव भवति। या च जगतां समस्तलोकानां स्वतन्त्रा। जगतामिति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। सकलभुवनानां सृष्टिस्थिति- संहृत्यनुग्रहनिग्रहाख्ये पञ्चविधेऽपि व्यापारे स्वतन्त्रा स्वायत्ता। हे अम्ब ! तस्यास्तव पुरतः खेदं कथयामि। 'अरुणां करुणातरङ्गिताक्षी'मिति ध्यानपद्ये सदोदितमेव कारुण्यमुक्तम्। 'महाकारुण्यरूपिणी' इत्युपनिषत्। स्वातन्त्र्यञ्च निग्रहानुग्रहलक्षणम्। अत एव सर्वविधवरप्रदानसामर्थ्यं प्रतीयते। परमशिवस्य विमर्शाख्या शक्तिरेव स्वतन्त्रा शक्तिरित्युच्यते। चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यशक्ति- पञ्चकं यद्यपि शिवस्य शास्त्रेषु पठ्यते तदपि मूलभूतया स्वातन्त्र्यशक्त्यैव कवलीकृतमिति सिद्धान्तः। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' इति कथनात् तां विना परमेश्वरस्य कर्तृत्वाऽयोगात्। एवञ्च तादृश्याः परमस्वतन्त्रायास्तव पुरतः खेदनिवेदने फललाभो नियतं सिद्ध एवेति ध्वन्यते। यस्यास्तस्या इति हेतुहेतुमद्भावेन कथनात्कवेः कथनं मतिभावं व्यनक्ति।। ३।।

इदानीमेव पुनर्विज्ञापनायाः को हेतुः कालान्तरेऽपि शक्यमिदं कृत्यमित्यभिप्रायं विशदयन्नाह–पर्याकुले इति।

पर्याकुले मनसि वाचि परिस्खलन्त्या-
मानवर्तगर्त इव चक्षुषि घूर्णमाने।
कस्तेऽभिधास्यति शिवे मम तामवस्थां
काले दयस्व कथयामि तवाधुनैव।। ४।।

हे शिवे! मङ्गलैकरूपे! मम मनसि विचारसञ्चारमूढे वाचि च परिस्खलन्त्यां रोगाद्युपद्रवादवरुद्धप्रायायां चक्षुषि च घूर्णमाने क्वचिदपि वीक्षितुमक्षमे एवं वाङ्मनश्चक्षूरूपाणामिन्द्रियाणां स्वकार्यकरणसामर्थ्ये

विलुप्तप्राये मुमूर्षुदशायामापन्नायां मम तामवस्थामन्यः कस्तेऽभिधास्यति, न हि स्वसंवेद्यं दुःखमन्यः कश्चिद्वक्तुमर्हति। अतः काले सम्प्रत्येव दयस्व दयां कुरु यद्वक्तव्यं तत्सर्वमधुनैव कथयामीति सम्बन्धः।

अतीताऽनागतयोः कालयोः प्रत्यक्षीकर्तुमशक्यत्वाद् वर्तमान एव कालः सर्वदा बुद्धिमता समुपयुज्यते। एवञ्च सम्प्रत्येव त्वदनुग्रहवशादेव स्मरणे सञ्जाते यन्निवेदनीयं तत्सर्वं वक्तव्यमेव। किञ्च यस्मिन् समये देवतायाः स्मरणं जायते स एव कालः सर्वोत्तमः। यदुक्तमभियुक्तैः–

भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य जायते यादृशी मतिः।
सा शक्तिः शाङ्करी ज्ञेया भावयेत्तां ततः शिवः।।

ततश्च सम्प्रत्येव निवेदनमौचित्यं पुष्णाति। अयमेवाशयः केनाऽपि कविना यथा–

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्तः
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते।।

एवञ्च यस्मिन् समये जगन्मातुः स्मरणं जायते, स एव कालः सर्वोत्तमो यतस्तदीयप्रेरणयैव तादृशी बुद्धिरुदेति। अथवा 'काले' मृत्युकाले दयस्व स्वयमागत्य मामुद्धरेति प्रार्थना। शक्तिरहस्ये जगन्मात्रा तथैव प्रतिश्रुतं भक्तेभ्यः। अधुना तु कथयामि केवलं निवेदयामीति सम्बन्धः। एतेन ग्रासीकृतकालमृत्युरूपा कालसङ्कर्षिणी त्वमेवेति सूचितं कविना। इयञ्च भगवती स्तुता महाकविना मूकेन यथा–

कनकमणिकलितभूषां कालायसकलहशीलकान्तिकलाम्।
कामाक्षि! शीलये त्वां कपालशूलाभिरामकरकमलाम्।। इति।।४।।

इदानीं भक्तिमार्गमहिमानमुद्धारयितुं कविरुपश्लोकयति– भक्तिं करोत्विति।

भक्तिं करोतु नितरां सुरजातिमात्रे
ग्रामीणजन्तुरिव पौरजनेषु लोकः।
अन्यत्र देवि भवदीयपदारविन्दा-
दाकृष्यमाणमपि मे हृदयं न याति।। ५।।

लोकः प्राकृतो जनः सुरजातिमात्रे देवशब्दसामान्याभिधेये वर्गे नितरां बाहुल्येन भक्तिं श्रद्धामाराधनां वा करोतु। कामचारे लोट्। कथमिवेत्याह–पौरजनेषु ग्रामीणजन्तुरिव पौरजनानां वैभववेषव्यवहारादिकं दृष्ट्वा तदीयप्रभावाद् अभिभूत इव ग्रामीणो यः कोऽपि जनस्तत्र जनस्तत्र भक्तिरूपमादरातिशयं समम्भ्रमं भावातिशयं वा गाहते। अदृष्टनागरचरित्रः प्रायो ग्रामीणजनस्तद्दर्शने विस्मयादिवशान्महतीमादरबुद्धिं करोतीति साहजिकम्। नैतद् विचित्रम्। एवमेव जगन्मातुर्माहात्म्यातिशयमजानानः क्वापि देवविशेषे श्रद्धाबन्धं विधत्तां नाम। हे देवि! क्रीडाविहारविजिगीषाद्यनेकार्थकोऽयं धातुः। हे सर्वत्र देवनशीले सर्वत्रैव स्फुरत्तारूपेण भासमाने इत्यर्थः।

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।

इति प्रत्यभिज्ञाशास्त्रोक्तरीत्या सर्वव्यापिके! इति यावत्। मे मम हृदयं मनः भवदीयपदारविन्दादन्यत्र आकृष्यमाणमपि न याति। सांसारिकव्यापारव्यामोहेन यदा कदा वा काम्यकर्मलिप्सया देवतान्तरविषये लोकवचनैरीषद्विचलितमपि न याति न गच्छति। इत्येतावता कविना स्वस्मिन् परदेवताया अनुग्रहविशेषः सूचितः। सांसारिकविषमपरिस्थितिपतितो हि जनः सुहृदादीनां वचनैर्देवतान्तराराधनसन्नद्धो जायते परं यस्मिन् जगन्मातुः कृपातिशयात्तादृशी दृढा मतिरस्ति स तथाविधेऽपि समये न मार्गान्तरं प्रविशतीति तात्पयम्। तदुक्तम्–

काम्यकर्मप्रसक्तानां तावन्मात्रा हि सिद्धयः।
निष्कामं भजतां देवमखिलाभीष्टसिद्धयः।। इति।

"श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव' इति च। सत्यपि कारणे कार्याभावरूपो विशेषोक्तिरलङ्कारः।। ५।।

भक्तिमहिम्ना भक्तानामुत्कर्षविशेषं दिदर्शयिषुः कविराह–अङ्गीकुरु इति।

अङ्गीकुरु त्वमवधीरय वा वयं तु
दासास्तवेति वचसैव जयेम लोकान्।
एतावतैव सुकारो ननु विश्वमात-
रुद्दण्डदण्डधरकिङ्करमौलिभङ्गः।। ६।।

हे मातः! त्वमस्मान् शरणागतान् अङ्गीकुरु स्वजनत्वेन स्वीकुरु वा अथवा अवधीरय तिरस्कुरु वयं तु 'तव दासाः स्मः' इत्युक्त्यैव लोकान् अपरान् परिपन्थिनो जयेम विजयेम विजेतुं समर्थाः स्म इति यावत्। हे विश्वमातः। एतावतैव त्वदीयसम्बन्धकीर्तनमात्रेण उद्दण्डानां समुद्यतदण्डानां दण्डधरस्य यमस्य किङ्कराणां मौलिभङ्गः मस्तकताडनं सुकरः सुखेन कर्त्तुं शक्यः। त्वन्नामस्मरणमात्रेण यमकिङ्कराः पराङ्मुखाः स्युः। तदुक्तं शास्त्रेषु–

मनसा संस्मरत्यस्या यदि नामापि साधकः।
तदैव मातृकाचक्रे विदितो भवति प्रिये।।

इति शिवेनोक्तम्। जगन्मातुर्नामस्मरणमात्रे कृते सर्वेषु योगिनीमण्डलेषु 'सोऽयमस्मदीयो रक्षणीय' इत्याकारिका मातुराज्ञा प्रवर्तते। अथवा मातृकाचक्रे सर्वशास्त्रेषु ज्ञानवान् वा भवतीति भावः। एतेन नामस्मरणमात्रेण यमपराभवस्य शक्यत्वात्किमुत मन्त्रजपादेः फलमिति तात्पर्यं व्यज्यते। यदुक्तमभियुक्तैः–

पातय वा पाताले स्थापय वा सकललोकसाम्राज्ये।
मातस्तव पदयुगलं नाऽहं मुञ्चामि नैव मुञ्चामि।। इति ।। ६।।

इदानीं जगन्मातुः कृपाया महिमानमेव प्रतिपादयितुं प्रतियोगिविधाय वेदान्तादिविचारपथं विवेचयन्नाह– वेदान्तवाक्यजनितमिति।

वेदान्तवाक्यजनितं विमलं विचारै–
रासाद्य बोधमनुचिन्तनतोऽपरोक्षम्।
मुक्तिं व्रजन्ति मनुजा इति सूक्तिमाद्या–
मालम्ब्य कस्तरितुमर्हति शैलकन्ये।। ७।।

वेदान्तानामुपनिषदां वाक्यैः 'अहं ब्रह्मास्मि' प्रभृतिभिरन्यैर्वा जनितमुत्पन्नम् अनुचिन्तनतो मननादिभिर्विमलं विचारैर्बोधमपरोक्षं स्वानुभवात्मकमासाद्य मनुजा अध्येतारो मुक्तिं भवबन्धमोक्षं व्रजन्ति प्राप्नुवन्ति इति आद्यां शास्त्रोपदिष्टां सूक्तिं परिपाटीमालम्ब्य हे शैलकन्ये! कस्तरितुमर्हति को नाम भवार्णवमुत्तर्तुं प्रभवति न कोऽपीति का क्वा व्यज्यते। न हि वेदान्तवाक्यघोषमात्रेण तदुदितनिदिध्यासनादिमार्गेण वा भवाम्भोधिलङ्घनं सुकरम्। महतामपि सुदुष्करमेतदिति यावत्। यावद्भवत्याः कृपाकटाक्षपातो न जायते तावद् वस्तुतः प्रशमोदयो न भवतीत्यभिप्रायः। तदुक्तं केनापि–

'कलौ वेदान्तिनः सर्वे फाल्गुने बालका इव'। इति।
'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्ताऽऽसक्तचेतसाम्'।। इति च ।। ७।।

साकल्येन शास्त्रग्रहणस्य दुष्करत्वमुपपादयन्नाह– एकैकेति।

एकैकवेदविषयाः कति नाम शाखा–
स्तासां शिरांसि कति नाम पृथग्विधानि।
अर्थावबोधविधुरोऽक्षरलाभ एव
केषां नृणां कतिभिरस्तु शरीरबन्धैः।। ८।।

एकैकवेदविषयाः शाखाः कति नाम सन्ति, 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' इत्यादिश्रवणात् शाखानामानन्त्यं प्रतीयते तासां वेदशाखानां शिरांसि उपनिषद्रूपाणि पृथग्विधानि परम्परभिन्ननानाविद्योपदेशनपराणि कति नाम असंख्यान्येवेति भावः। अर्थग्रहणं तु दूरापास्तं तासां शब्दग्रहणमपि मानुषे एकस्मिन् जन्मन्यसम्भाव्यमेव। अत एवोक्तम्– अर्थावबोधविधुरः अर्थावबोधशून्यः अक्षरलाभः शब्दमात्रवाचनमपि केषां दीर्घजीविनामपि कतिभिः अनन्तसंख्याकैः शरीरबन्धैः शरीरग्रहणैः अस्तु भवेत्। एवञ्च 'यथा खरश्चन्दनभारवाही' इति न्यायेन शब्दज्ञानमात्रेऽपि न गतिः, न च तदपि सम्भवति। अर्थज्ञस्यैव प्रशंसाश्रवणात् 'योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा' इति। इत्युभयमपि त्वत्कृपां विना व्यर्थमेवेत्यभिप्रायः।। ८।।

निगमानां निष्कृष्टं तात्पर्यमवगन्तुमपि साधारणा जना न प्रभवेयुरित्यभिप्रायेणाऽऽह– न्याया इति।

न्यायाः परस्परविभिन्नादिशः सहस्र–
मुच्चावचानि च भवन्त्युपबुंहणानि।
एवं स्थिते गिरिसुते निगमोपलानां
तात्पर्यसारमवधारयितुं क्षमः कः।। ९।।

न्यायाः मीमांसाशास्त्रीया प्रसिद्धान्यायाः परस्परं विभिन्ना दिक् तात्पर्यदृष्टिर्येषां ते तादृशाः 'न ह्येकत्र प्रवृत्तो न्यायः स्थलान्तरेऽपि समुपयोज्य' इति शक्यम्। तेषां न्यायानामुपबृंहणानि उपोद्बलकानि प्रसङ्गवाक्यान्यपि सहस्रश उच्चावचानि सम्भवन्ति। 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति न गृह्णाति' इत्यादौ भेददर्शनात् 'श्रुतिलिङ्गप्रकरणादीनां बाध्यबाधकभावेन तात्पर्यभेदस्य

दर्शनात्। उपक्रमोपसंहारादिविमर्शस्य बहुतरसन्देहापाकरणसाध्यत्वात्। एवं स्थिते बाध्यबाधकभाव-अङ्गाङ्गिभावप्रभृतिगहनतरविचारगम्यतया मन्दधीदुर्बोधतया च हे गिरिसुते! भगवति! निगमा एव उपलाः पाषाणाः पर्यन्ततः यत्किञ्चिद्रसवत्ताशून्यत्वात्। तात्पर्यसारं तात्पर्यनिष्कर्षमवधारयितुम् इदमित्थमिति कः क्षमः समर्थः, न कोऽपि समर्थ इति यावत्।

कर्मकाण्डीयन्यायानां केवलं क्रियाविषयत्वात्तदवगमेऽपि को नाम स्वान्तःसुखावहो लाभः! न तावता भवत्या अनुकम्पा लभ्येति तात्पर्यम्।। ९।।

अथ यदि शास्त्राभ्यासैकमतीनामाग्रहस्तर्हि तदभ्युपगमेऽपि दोषान्तरमाशङ्कते– अस्त्वक्षरग्रहविधिरिति।

अस्त्वक्षरग्रहविधिर्जनुषां सहस्रै-
रापाततो भवतु वापि ततोऽर्थबोधः।
दुर्वादिकल्पितविकल्पतरङ्गसान्द्रा-
न्दुष्पूर्वपक्षजलधीन्कथमुत्तरेयुः।। १०।।

अक्षरग्रहविधिः शास्त्राणामक्षरमात्रवाचनसन्नाहो जनुषां सहस्रैरस्तु नानाजन्मपरम्पराभिः साध्यतां नाम। कामचारे लोट्। आपातत उपर्युपरि ततः अक्षरग्रहणाद् अर्थबोधोऽभिप्रायज्ञानमपि सम्पद्यताम्। 'शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' इति न्यायात्। यथाकथञ्चित् शब्दार्थज्ञानमात्रेण साधारणतयाऽर्थावगमो भवतु नाम। नैतावता परितुष्टिः। ततश्च शास्त्रविचारावसरे दुर्वादिभिराग्रहशीलैर्वावदूकैः कल्पिता ये विकल्पाः नानाविधाः तर्काः प्रायेणाऽऽक्षेपविधया क्रियमाणास्त एव तरङ्गाः कल्लोला व्याघातजनकत्व-साम्यात्!। तैः सान्द्रान् व्याकुलान् पूरितान् वा दुष्टा ये पूर्वपक्षाश्चार्वाकादिकल्पिता अनात्मवादादिरूपा त एव जलधयो विस्तृतत्वाद् दुर्लङ्घ्यत्वाच्च, तान् कथमुत्तरेयुः कथमुल्लङ्घयेयुः। 'त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः' इत्यादिरीत्या इति तैरुद्घुष्यत एव। नास्तिकपक्षाणामपि नानाविधत्वात्तदपाकरणं विना शास्त्रतात्पर्यग्रहणस्याऽसम्भवात्तत्रैवाऽऽयुःक्षपणं स्यात्। न च पर्यन्ततः शास्त्रग्रहणं सम्भवेदिति तात्पर्यम्।। १०।।

नन्वेवं विपन्नानामस्माकं शास्त्रग्रहणमपि वृथाकल्पं स्यादिति चिन्तामपि सुकरतरेणोपायेन निराकर्तुमभिधत्ते– ब्रह्मेतीति।

ब्रह्मेति शक्तिरिति बन्धविमोचनीति
मायामयीति मदनान्तकवल्लभेति।
सप्ताष्टशब्दपरिवर्तनमात्र एव
सामर्थ्यमावहति शास्त्रपरिश्रमोऽयम्॥ ११॥

नाऽस्माकं शास्त्रपरिश्रमो भवति विफलः, यद्यस्माभिर्जगन्मातुः कतिपयनामानुस्मरणमपि क्रियेत।

ब्रह्मेति सर्वव्यापकत्वाद् बृहत्तरत्वाद् बृंहणस्वभावत्वाद् ब्रह्मपदवाच्यैव भवति जगन्माता। तथा च श्रुतिः—'तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा व आयुः कीर्तिं प्रजां ददुः' इति। शक्तिरिति शक्नोत्यनया सृष्ट्यादिकर्मसु परमेश्वर इति शक्तिः, अथवा शब्दार्थयोः सम्बन्धरूपा वृत्तिविशेषाकारा सकललौकिकशास्त्रीयव्यवहारनिर्वाहकत्वात् शक्तिः। बन्धो मायाप्रसूतो मलस्तस्मानमोचयति गुरुदीक्षयेति यावत्।

सा शक्तिराणवैः शाक्तैः शाम्भवैश्च त्रिधोदितैः।
उपायैः शिवमाभास्य स्वसृष्टैर्मोचयत्यणून्॥

इत्युक्तदिशा बन्धविमोचिनीदीक्षारूपा। माया जगद्वैचित्र्यं तन्निर्माणक्षमा तत्स्वरूपा वा। अथवा मायेति करुणाया नाम तत्स्वरूपा वा। 'माया दम्भे कृपायाञ्च' इति कोषात्। मदनस्यान्तको नाशकः शिवस्तस्यापि वल्लभा प्रेयसी परमाराध्या वा। एतेन शिवेन दग्धस्य मदनस्य पुनरुज्जीवनं भगवत्यैव कृतमिति ब्रह्माण्डपुराण-त्रिपुरारहस्यादौ सूचिता कथा स्मर्यते। निःशेषितास्यापि सर्वसामर्थ्यलाभो भगवत्याः कृपायाः फलमिति भावः। यदुक्तमाचार्यचरणैः—

तथाप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते कामपि कृपा-
मपाङ्गात्ते लब्ध्वा जगदिदमनङ्गो विजयते॥

एवंविधानां सप्ताष्टशब्दानामुपलक्षणमेतत्। कतिपयनाम्नां परिवर्तनं जिह्वया गुणनं, पुनःपुनरुच्चारणं, तावन्मात्रे कृतेऽपि सोऽयं सकलोऽपि शास्त्रपरिश्रमः नानाविधशास्त्राभ्याससन्नाहः सामर्थ्यमावहति। सकलपुरुषार्थप्रदानरूपं सामर्थ्यमाविर्भावयति। तव भक्तिं विना केवलशास्त्रपरिश्रमस्तु काकदन्तपरीक्षाकल्पो निस्सार एवेति तात्पर्यम्। यथोक्तं वायुपुराणे—

अरण्ये प्रान्तरे वाऽपि जले वाऽपि स्थलेऽपि वा।
व्याघ्रकुम्भीरचौरेभ्यो भयस्थाने विशेषतः॥

स्वपंस्तिष्ठन् व्रजन् मार्गे प्रजपन् भोजने रतः।
कीर्तयेत् सततं देवीं स वै मुच्येत बन्धनात्।।

नामस्मरणमात्रेण मातृकाचक्रसम्बोधो भवतीत्युक्तं वामकेश्वरतन्त्रे–

मनसा संस्मरत्यस्या यदि नामाऽपि साधकः।
तदैव मातृकाचक्रे विदितो भवति प्रिये।। इति।

मातृकाचक्रे विदितो भवति, सर्वशास्त्रार्थवेत्ता भवति, अथवा मातृका मातरो योगिन्यस्तासां चक्रे समवाये सोऽयं स्वकीयः परिरक्षणीय इत्यनुकम्पाभाजनं जायत इत्यभिप्रायः। इत्ययमर्थः षष्ठश्लोकेऽपि निर्णीतः।।११।।

■

श्रीभास्कररायदीक्षितानां दार्शनिकी दृष्टिः

भारतीये परम्परानुगामिनिशास्त्रपरिशीलनपरायणे पण्डितसमाजे तन्त्रशास्त्रीयगूढार्थान्वेषणप्रवणे च जिज्ञासुव्रजे सुपरिचितं नामधेयं प्रातःस्मरणीयानां श्रीभास्कररायभारतीदीक्षितचरणानाम्।

प्रायः प्राचुर्येण धारणा साधारणानां विदुषामप्येवमेवाऽऽसीद् यत् तन्त्रं नाम मारण-मोहन-वशीकरणाद्युपायबोधकः कश्चिदवहेलनीयः सम्प्रदायोऽस्तीति। परमितः कतिपयवर्षेभ्यो विशेषतश्च पाश्चात्येषु विद्वत्सु तन्त्रशास्त्रीयगाम्भीर्यं समाकृष्टेषु तद्विवेचनपरेषु पौरस्तेयेष्वपि विचारयत्सु शास्त्रीयस्वरूपाध्ययनं शनैः शनैरभिवृद्धिप्रथमारोहति। तत्र सर जान वुडरफ-महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथकविराज- डॉ. के. सी. पाण्डेय प्रभृतीनां विदुषां विशिष्टमवदानं जागर्तीति स्वीकरणीयमेव। ता काश्मीराचार्या महामाहेश्वरा अभिनवगुप्तपादप्रभृतयः स्वतःप्रामाण्यं शिवागमानां मन्वानास्तथैव व्याचक्षते। एवमेव श्रीकण्ठशिवाचार्यादयोऽपि।

श्रीभास्कररायदीक्षितास्तु भगवत्पादशङ्कराचार्याऽविच्छिन्नशिष्यपरम्परान्तर्भूता वेदमूलकत्वेनैव तन्त्रप्रामाण्यं व्यवस्थापयन्ति। तदेतन्निरूपितं नित्याषोडशिकार्णवव्याख्याने सेतुबन्धे। यथा—"श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्याश्च गौणीं भक्तिं सेतिकर्तव्यताकां निरूपयितुमैदंपर्येण सुन्दरीतापनीपञ्चकं भावनोपनिषत्-कौलोपनिषत्-गुह्योपनिषन्महोपनिषच्चेत्यादयो वेदशिरोभागाः प्रवृत्ताः। वेदे च पूर्वकाण्डस्य शेषभूततयाऽऽश्वलायनादिकल्पसूत्राणां मन्वादिस्मृतीनाञ्च प्रवृत्तिवदुपनिषत्काण्डशेषत्वेन परशुरामादिकल्पसूत्राणां यामलादितन्त्राणाञ्च प्रवृत्तिः। पुराणानां तु काण्डद्वयं प्रत्यपि शेषत्वेन प्रवृत्तिः। ततश्च स्मृतितन्त्रपुराणानां वेदमूलकत्वेनैव प्रामाण्यम्।" इति।।

यानि वेदांशविरुद्धानि तन्त्राणि श्रीभास्कररायैरुच्यन्ते—"ये च प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धास्तत्तदेकदेशास्तेषां विरोधाधिकरणन्यायेन यावन्मूलश्रुतिदर्शनमननुष्ठान-

लक्षणमप्रामाण्यम्। यानि तु सर्वांशेनाऽपि वेदविरुद्धान्येव कानिचित्तन्त्राणि पाशुपतविशेषपाञ्चरात्रविशेषादीनि तानि नेदृशीं भूमिकामारूढस्य। अपि तु श्रौतस्मार्तकर्माधिकारिण एव केनचित् पापेन ततच्युतौ तेष्वधिकारः। अत एव–

पाञ्चरात्रं भागवतं तथा वैखानसाऽभिधम्।
वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान्॥

इत्यादिना कतिपयानामेव परिगणनमुपपद्यते। तेन–

श्रुतिभ्रष्टः श्रुतिप्रोक्तप्रायश्चित्ते भयं गतः।
क्रमेण श्रुतिसिद्ध्यर्थं मनुष्यस्तन्त्रमाश्रयेत्॥

इत्यत्र तन्त्रसामान्यपरं तादृशविशेषपरम्। पत्युरसामञ्जस्यादित्यधिकरणमपि तादृशतन्त्रपरमेव। यानि तु रामकृष्णनृसिंहरुद्रपरशिवसुन्दर्याद्युपासनाबोधकान्यगस्त्यादितन्त्राणि तन्मूलभूतानां रामतापन्याद्युपनिषदां प्रत्यक्षत्वादेव तेषां नाऽप्रामाण्यशङ्काकलङ्काऽवकाशः।” इति। एतावता न सर्वेषां पाशुपतानां पाञ्चरात्राणां वेदबाह्यत्वं किन्तु तद्विशेषाणामेवेति निर्णयः स्फुट एव। उपासनायामधिकारिणः कीदृशाः के वा भवन्तीत्याशयं विशदयितुं त्रिपुरामहोपनिषद्व्याख्याने तैरेव निरूपितं यथा–“अधिकारिणस्तु देहातिरिक्त आत्मा परलोकयातयातक्षमोऽस्तीति विश्वासशीला एवाऽऽमुष्मिकफलक्रियासु यथाऽधिक्रियन्ते, तथा तेष्वपि देवतानामस्मदादिभिरदृश्यमानानामपि अभिमतफलदानक्षमा शक्तिः काचिदस्तीति विश्वासशीला एव रामकृष्णाद्युपास्तौ अधिक्रियन्ते। ईदृशजनाभिप्रायेणैव देवतानां विग्रहादिकं समर्थितं बादरायणादिभिः।” इति।

इत्थं देवतोपासकानां भूमिकां निर्दिश्य ये तु संस्कारवशादास्तिका अपि कर्मकाण्डैकरुचयस्तद्विषयेऽपि तत्रैव निर्दिष्टो निर्णयः। यथा–

“येषां तु देवतासद्भावे जन्मान्तरकर्मवशादनाश्वास आस्तिकता च, ते पूर्वकाण्डोक्तकर्मस्वेवाऽधिकारिणो न देवतोपासनायाम्। तादृशजनाभिप्रायेणैव देवतानां विग्रहादिपञ्चकनिरासेन कर्मप्राधान्यवादः समर्थितो जैमिन्यादिभिः।”

इत्थमधिकारिभेदाद् भूमिकाभेदः सम्भवतीति स्फुटीभवत्येव। अग्रे च तैरेवं निरूप्यते–“उपासनाशास्त्रे तु देवताप्राधान्यवाद एव, न कर्मणः प्राधान्यम्। क्रियाप्राधान्याभावादेव देवतारूपसिद्धवस्तुबोधका वेदान्ता इति वाचोयुक्तिः।”

इति। किञ्च देवतातत्त्वनिर्णये उपनिषदादिवत् पुराणानामपि सविशेषं प्रामाण्यं तैरङ्गीक्रियते। श्रुतिषु तावदर्थवादः प्रवर्तते, न पुराणेष्वपीति सप्रमाणं व्यवस्थापितं गणेशसहस्रनाम 'खद्योत' व्याख्यायाम्। यथा–"पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः" इत्यादिबृहन्नारदीयादिवचनेनार्थवादशून्यपुराणानामर्थवादजटिलं कर्मकाण्डमपेक्ष्य तत्त्वनिर्णये प्रबलत्वात्।

श्रुतिस्मृती हि नेत्रे द्वे पुराणं हृदयं मतम्।
श्रुतिस्मृतिभ्यां हीनोऽन्धः काणः स्यादेकया विना।।
पुराणहीनाद्धृच्छून्यात् काणान्धावपि तौ वरौ।।

इत्यादिवचनैर्देवतातत्त्वनिर्णये कर्मकाण्डमपेक्ष्य पुराणानामेवाऽऽधिक्यस्य भक्तिमीमांसातन्त्रे समर्थितत्वात्।" इति।

देवतायाः स्वरूपञ्च कीदृशमिति निरूपितं सेतुबन्धे–"उपास्यायाः परमेश्वर्यास्त्रीणि रूपाणि, उपास्तियोग्यानि–स्थूलं, सूक्ष्मं, परञ्चेति। तत्राऽऽद्यं करचरणाद्यवयवशीलं मन्त्रसिद्धिमतां चक्षुरिन्द्रियपाणीन्द्रिय- योर्योग्यम्–

'तत पद्मनिभां देवीं बालार्ककिरणारुणाम्।।'

इत्यादिना वक्ष्यमाणम्। द्वितीयं मन्त्रात्मकं पुण्यवतां श्रवणेन्द्रियवागिन्द्रिययोर्योग्यम्। 'श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपङ्कजा' इत्यादिना रहस्यनामसूक्तम्, सर्वमन्त्रमूलभूतमातृकासरस्वत्याद्यात्मकञ्च। तृतीयं वासनात्मकं पुण्यवतां मनसो योग्यं, 'चैतन्यमात्मनो रूपम्' इत्यादिना वक्ष्यमाणम्। एतत् त्रितयाऽतीतं तु वाङ्मनसातीतं मुक्तैरहन्तयाऽनुभूयमानमखण्डं रूपम्।" इति।

त्रिपुरोपनिषद्भाष्ये–'तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणी' इत्यादिमन्त्रव्याख्यानावसरे 'त्रिपुरा'पदप्रवत्तिनिमित्तं मार्गत्रयप्रापकत्वादिति व्याख्यातं तैरेव। तथा हि– "मुक्तिस्तावत् पञ्चविधा– सालोक्यमेकं, सामीप्यसारूप्यसायुज्यत्रितयं, कैवल्यञ्चेति। तासु आद्यन्ते प्रत्येकं द्वौ मार्गौ, मध्यमत्रयमेको मार्गः। तथा च तैत्तिरीयाश्रुतौ 'य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वा' इत्याद्यारभ्य 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानम्' इत्यन्तो मन्त्रभागः। अस्य चायं भावः–ऊर्ध्वरेतसां स्वाश्रमोक्तकर्मानुष्ठानवतां चन्द्रलोकप्राप्तिः सालोक्यरूपा, प्रतीकोपासनया स्व-स्वामिभावेनोपासनयाऽहंग्रहोपासनया सामीप्यादित्रयरूपाऽऽदित्यप्राप्तिः, निर्गुणोपास्तिरूपब्रह्मज्ञानवतां तु कैवल्यरूपब्रह्मपदप्राप्तिरिति। एतन्मार्गत्रितयमेव उपबृंहितं विष्णुपुराणे

तृतीयेंऽशे–

उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्च दक्षिणम्।
पितृयाणः स वै पन्था वैश्वानरपथाद् बहिः॥

इत्यादिना–‘विवेकज्ञानदृष्टं च तद्विष्णोः परमं पदम्’ इत्यन्तेन। मार्गत्रैविध्याद् गन्तव्याः पुर्योऽपि तिस्रः। ईदृशपुरत्रयप्रापकत्वात् परदेवता ‘त्रिपुरा’ इत्युच्यते।

आत्मबुद्ध्या प्रतीकेन मातृबुद्ध्याऽप्यहंधिया।
कर्मणाऽपि भजन् मर्त्यः कैवल्यं पदमश्नुते॥

इत्यनेन पञ्चविधात्म–त्रिविधभजनेनाऽपि त्रैपुरप्राप्तेरुक्तत्वात्। तस्मात्सैव तिस्रः पुरः त्रिपुरा। त्रयः पन्थानो यस्याः सा। इति।

नित्याषोडशिकार्णवस्य चतुर्थविश्रामे सेतुबन्धे श्रीदेव्याः शिवं प्रति एकैकाक्षरसाधनमहाज्ञानप्रभावादिप्रश्ने शिवस्योत्तरमिदम्–

शृणु देवि महाज्ञानं सर्वज्ञानोत्तमं परम्।
येनाऽनुष्ठितमात्रेण भवाब्धौ न निमज्जति॥

एतद् व्याख्यानमित्थं विक्रयते–“सर्वेषां परिणामानां ज्ञानान्यपेक्ष्योत्तमं परिणामिविषयकं महाज्ञानम्। परं परतत्त्वविषयकं शृणु। येन ज्ञानेन अनुष्ठितमात्रेण उदितमात्रेण। तादृशज्ञानस्य सहकार्यन्तराऽनपेक्षणात्।”

अग्रिमः श्लोकश्च–

त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका॥

अस्य व्याख्या–“सर्वस्य जगतः प्रलयकालस्यावधिपर्यन्तं हि विनष्टप्राणिनां कर्माणि सूक्ष्मरूपेणाऽन्तर्निगीर्य एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म तिष्ठति। तत्परिपाकवैचित्र्यवशादेव हि सिसृक्षादिरूपा ब्रह्मशक्तिः पूर्वमव्यक्ततया स्थिताऽपि तदा व्यक्तीभवति। सेयमेव त्रिपुराख्या परमा शक्तिः सृष्टेराद्या प्रथमा कारणभूतेति यावत्। ततोऽप्याद्यं यद्यपि परं ब्रह्माऽस्ति, तथापि तत्प्रलयप्रथमक्षणमारभ्य तच्चरमक्षणपर्यन्तं विद्यमानमपि न सृष्टिक्षममासीत्। इयं तु सिसृक्षादिरूपा शक्तिः स्वयं व्यक्ता सत्युत्तरोत्तरं सृष्टिं व्यधादित्याशयेनास्या एवाऽऽद्यत्वेन व्यपदेशः कृतः। इयं शक्तिरिच्छारूपाऽपि निर्विषयकचिन्मात्रभवत्वात्तद्रूपाऽपि भवति। इयमेव हि ज्ञेयज्ञात्रादित्रिपुटीकल्पनक्षमेत्यत उक्तम्–ज्ञानादित इति। ज्ञान–ज्ञातृ–ज्ञेयरूपत्रिपुटीत इत्यर्थः। अत एव त्रिभ्यः

पुरेति व्युत्पत्तिध्वननाय त्रिपुरापदेन विशेष्यनिर्देशः। 'ज्ञाना' इति भिन्नं पदं त्रिपुराया विशेषणम्। ज्ञानरूपेति तदर्थः।..........सेयं शक्तिः वक्ष्यमाणसूक्ष्मत्रैलोक्यस्थूलत्रैलोक्ययोरुत्पत्तौ मातृका माता तज्जनिकेति यावत्। केचित्तु त्रैलोक्यं विद्याकूटत्रयं तदुत्पादिका मातृका स्थूलसूक्ष्मभेदेन वैखरीमध्यमादिभेदेन द्विविधा ज्ञानादितो हकाररूपशिवाज्जातेत्यर्थ इत्याहुः।'' इति।

एवं शक्तिस्वरूपं प्रतिपाद्य प्रलयकालेऽनुपलभ्यमानयोस्तादृशत्रैलोक्ययोरपि मयूराण्डरसन्यायेन शक्तौ सत्तामङ्गीकुर्वन्तो जगतः शक्तिपरिणामरूपतां सिद्धान्तयन्ति भास्कररायदीक्षिताः। तत्रायं पूर्वपक्षः समुदेति—निखिलं विश्वं कवलयन्ती शक्तिरपि सूक्ष्माकारेण परशिव एव निलीयते एवं परशिवस्यैव सशक्तिकजगत्कारणता स्वीकर्तव्या। तथा च तेनैवोपपत्तौ किमन्तर्गतगड्डुभूतशक्तिकल्पनयेति, 'तद्धेतोरेव तदस्तु किं तेनेति' न्यायावतारात्।

तत्रोत्तरं मूलकारेणैव दीयते, तथा हि— 'तस्यां परिणतायां तु न कश्चित्पर इष्यते' इत्यत्र व्याचक्षते—''तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तक आवश्यकत्वव्यञ्जकश्च। शक्तिपरिणामकल्पनस्याऽऽवश्यकत्वेन तत एवोपपत्तेः प्रत्युत परशिवकल्पनमेव व्यर्थत्वान्नेष्यत इत्यर्थः। अयं भावः—औपनिषदानां पक्षस्तु परस्य चिद्रूपस्य ब्रह्मणः शक्तिर्मायाख्या। सा च जडैव। सैव च जगतः परिणाम्युपादानम्। परं ब्रह्म तु विवर्तोपादानम्। अत एव जगतोऽपि मायिकत्वाज्जडत्वं मिथ्यात्वञ्च। अद्वैतश्रुतयस्तु पारमार्थिकव्यक्तिरेकैवेत्येवंपराः। सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यं तु बाधायामित्यादिः। तान्त्रिकाणां पक्षस्तु— परचिन्निष्ठा या चिच्छक्तिरौपनिषदानामपि सम्मता सैव अनन्तरूपत्वान्मायेत्युच्यते। 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते', 'माया च अविद्या च स्वयमेव भवति' इत्यादिश्रुतेः। तत्परिणाम एव प्रपञ्चः। अत एव च चिद्रूपः। 'चिद्विलासः प्रपञ्चोऽयम्' इति ज्ञानवासिष्ठात्। अत एव च सत्योऽपि। सर्वं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यस्य अत्यन्ताऽभेद एव स्वारस्यात्। न च अद्वैतश्रुतिविरोधः। विरोधापादकस्य एकस्य भेदस्यैव मिथ्यात्वाऽङ्गीकारात्।'' इति।

अयमेव सिद्धान्तो वरिवस्यारहस्यव्याख्याने भङ्ग्यन्तरेण निरूपितो यथा— "अत्रेयं तान्त्रिकप्रक्रिया— 'इच्छामि', 'जानामि' इत्यादि उत्तमपुरुषान्तर्भासमानं स्फुरणान्वयि ज्ञानमेव प्रकाशाभिधं ब्रह्म। तच्च सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्व-

सर्वकर्तृत्व-पूर्णत्व-व्यापकत्वादिशक्तिसंवलितम्। तस्य च आनन्दरूपांश एव स्फुरणं परा, अहन्ता, विमर्शः, परा ललिता भट्टारिका, त्रिपुरसुन्दरी इत्यादिपदैर्व्यवह्रियते। उक्तञ्च विरूपाक्षपञ्चाशिकायां विश्वशरीरस्कन्धे—

ईश्वरता कर्तृत्वं स्वतन्त्रता चित्स्वरूपता चेति।
एतेऽहन्तायाः किल पर्यायाः सद्भिरुच्यन्ते॥

इति। पराहन्तामन्तरेणेदन्ताया असंस्फुरणादहमिदमोः ससम्बन्धिकत्वादिदंपदगम्यस्य दृश्यस्याऽहन्तारूपशक्त्या तद्विशिष्टब्रह्मणा वा जन्यत्वम्। तच्च दृश्यं तत्परिणाम एव। 'तस्यां परिणतायान्तु न कश्चित्पर इष्यते' इति वामकेश्वरतन्त्रात्। 'वाचारम्भणं विकारः' इत्यादिश्रुतीनां तत्रैव स्वारस्याच्च। .... 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' इत्यत्रापि द्वैतशब्देन भेदस्यैव मिथ्यात्वमुच्यते, न पुनर्भेदवतः; तथात्वे तु प्रतियोगितासम्बन्धेन जगत इव अनुयोगितासम्बन्धेन ब्रह्मणोऽपि भेदवत्त्वस्य सत्त्वात् सदसद्भ्यामभावो निरूप्यते इति न्यायसिद्धत्वाविशेषान्मिथ्यात्वापत्तेः। ततश्च श्रुतेरपि परिणामवाद एव सम्मतः सिद्ध्यति। भगवता व्यासेनापि 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यस्मिन्नधिकरण एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञां मृदघटनखनिकृन्तनादिदृष्टान्तं 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्यभिध्योपदेशादिकं च अनुसन्दधानेन परिणामवाद एवाभिप्रेतः, कण्ठरवेणोक्तश्च— 'आत्मकृतेः परिणामात्' इति सूत्रे। भाष्यकारैरपि तत्र विवर्तवादानुसारेण व्याचक्षाणैरपि सौन्दर्यलहर्यां 'मनस्त्वं व्योम त्वम्' इति श्लोके 'त्वयि परिणतायां नहि परम्' इति स्वाभिमतः परिणामवाद एव स्फुटीकृतः।" इति। एवमयं परिणामवादसिद्धान्तः श्रीभास्कररायैस्तत्र तत्र व्याख्यानावसरे प्रतिष्ठापितो निर्दोषतया स्वप्रक्रियामनुबध्नाति। शक्तिकारणतावादेऽपि शिवस्य स्वीकारो वर्तते परं शक्तिविशिष्टस्यैव तस्योपलब्धिरिति लाघवात् शक्तेरेव प्राधान्यम्। नित्याषोडशिकार्णवस्य चतुर्थविश्रामे श्रीभास्कररायोपदर्शिता तान्त्रिकी सृष्टिप्रक्रियाऽपि सूक्ष्मतमा विवेचनार्हा यथा—

"धौतोऽतिश्वेतः सुसूक्ष्मतमो महार्हो महापट इव निर्गुणः परशिवः। तस्यैव अतिश्वेतेनाऽन्नरसेन सर्वांशे लेपेन घनताऽऽपादने स एव घटित इत्युच्यते। तत्तुल्यः शक्तियुक्त उच्यते। तत्रैव करिष्यमाणचित्रानुगुण्येन सूक्ष्माकारेण

लाञ्छनाल्लाञ्छितो भवति। तत्तुल्यः सूक्ष्मसृष्टिविशिष्टः परशिवः सूत्रात्मेत्युच्यते। ततो विविधरञ्जनेन योगाद्रञ्जितः पटो विराट्पुरुषो भवति। अत्र परशिवाख्यं परब्रह्म स्वभावादनन्तशक्तिकम्। तदुक्तं ज्ञानवासिष्ठे–'सर्वशक्तिपरं ब्रह्म नित्यमापूर्णमव्ययम्' इत्यादि। तद्गतशक्तिकदम्बसमष्टिरेव त्रिपुरसुन्दरी। 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्विगूढा'मित्यादिश्रुतिभिः शक्तिशक्तिमतोरभेदाच्च न ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वभङ्गः। तदुक्तं श्रीपद्मपादाचार्यैः– आनन्दो विषयाऽनुभवो नित्यत्वञ्चेति सन्ति धर्माः। अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्त इति। अत एव तादृशशक्तिविशिष्टमेव परं ब्रह्मेति तान्त्रिकसिद्धान्तः। तेन शक्तेरपि ब्रह्मकोटावेव निवेशः। संक्षेपशारीरकेऽपि– 'चिच्छक्तिः परमेश्वरस्य विमला चैतन्यमेवोच्यते' इति।

ततश्च शुद्धपटस्येव लाञ्छनाद्यसम्भवात्सान्द्रत्वापादिकाया अन्नरसस्थानीयायाः शक्तेरेव सृष्टिजनकत्वम्। परशिवस्य सान्निध्यमात्रेणैव कारणत्वं यत्तु कारणतावच्छेदकतायाः पर्याय एव। ततश्च शिवनिष्ठा शक्तिरेव सृष्ट्यात्मना परिणमते'' इति।

शङ्करभगवत्पादाचार्यैः सौन्दर्यलहर्यादौ सूत्रितः–

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

इत्यादिरूपः सिद्धान्तः श्रीभास्कररायदीक्षितैर्न्यायमीमांसादिसिद्धान्तपद्धत्या विविच्य प्रतिष्ठापित इत्यत्र न सन्देहः। न च ब्रह्मसूत्रभाष्यादौ विवर्तवाददृष्ट्या विचारादिदमनुपपन्नमिति वाच्यम्, भूमिकाभेदादधिकारिभेदाच्च व्याख्याभेदस्य सुवचत्वात्। दक्षिणामूर्तिस्तवेऽपि तथा दर्शनाच्च। श्रीशङ्कराचार्याणामशेषवैदिकसिद्धान्तप्रवर्तकत्वेन षडाम्नायसमुद्धारकत्वेन च महती कार्यपरम्परा समवर्तत। परं तैरपि स्वपीठेषु सर्वत्र श्रीचक्र–श्रीविद्ययोरुपास्तिरेव प्राधान्येन प्रवर्तिता या सम्प्रत्यपि जागर्ति। आचार्यपादानां स्वल्पवर्षात्मके जीवने यदवशिष्टं कार्यजातं तत् परवर्तिभिस्तदंशभूतैर्महापुरुषैरनुष्ठितमिति साम्प्रदायिका मन्यन्ते। तत्र शिवोपासनाविषये श्रीमदप्पय्यदीक्षितेन्द्रैः शक्त्युपासनायाश्च विषये श्रीभास्कररायदीक्षितेन्द्रैः सविस्तरं सिद्धान्तभूताः प्रबन्धा व्यरच्यन्त। श्रीभास्कररायचरणानां सम्प्रदायो विशेषतो दक्षिणापथे प्रवर्धमान आसीत्।

तच्छिष्येण जगन्नाथशुक्लेन निबद्धो 'नित्योत्सवः' सर्वैराद्रियते। लेखेऽस्मिन् केचन मूलभूतास्तेषां सिद्धान्ताः सूत्रायमाणा उल्लिखिताः, येन विदुषां विशेषतो दृष्टिरावर्जिता स्यात्। परमेकं प्रमोदस्थानं यत् सम्प्रति 'तञ्जौर'समीपवर्तिनि 'भास्करपुर'ग्रामे श्रीमत्परमपूज्यपादकाञ्चीशङ्कराचार्य-श्रीचन्द्रशेखरेन्द्रसरस्वतीप्रेरणया भक्तैः 'श्रीभास्करेश्वर'-शिवलिङ्गस्य कुम्भाभिषेकमन्दिरनिर्माणादिकं विहितया तत्रैव च श्रीभास्कररायग्रन्थानां सङ्ग्रहसम्पादनव्यवस्था विद्वद्विचाराद्यवसरोत्साहश्च प्रवर्तयितुमिष्यते। इति।

■

आगमशास्त्रीयः पूजाक्रमः

भारतीयविद्यापरम्परासु शब्दब्रह्मराशिर्भगवान् वेदः, माहेश्वरपरामर्शात्मक आगमश्च परमोपेयतया परम्परया विद्वद्भिस्तपस्विभिः समुपास्येते इति न तिरोहितं शास्त्रचक्षुषां श्रद्धाशुद्धानां सुधियाम्। तत्र तावत् 'आचार्यवान् पुरुषो वेद', 'आचार्यदेवो भव' इत्याद्युपनिषदामनुशासनम्। 'गुरुमूलाः क्रियाः सर्वाः' इत्यागमानां निर्देश इत्युभयथा गुरूपसदनपुरस्सरमेवोपास्तिक्षेत्रे प्रवेशः साधकानामनुमन्यते शास्त्रकारैः। नानाजन्मभिर्विविधाधरोत्तरोपासनापरिशुद्धचेतसामेव श्रीब्रह्मविद्याराधनविधौ चेतः प्रवृत्तिरुपजायते। यदुक्तम्–

शैववैष्णवदौगार्कगाणपत्यादिकैः क्रमात्।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते।। इति।

उपासनाशास्त्रे देवताप्राधान्यवादो न तु कर्मणः प्राधान्यम्। क्रियाप्राधान्याभावादेव देवतारूपसिद्धवस्तुबोधका वेदान्ता इति वाचो युक्तिः। देवतायाश्च त्रीणि रूपाणि स्थूलं सूक्ष्मं परञ्चेति। तत्राऽऽद्यं तत्तद् ध्यानश्लोकोक्तं, द्वितीयं तत्तन्मूलमन्त्रात्मकं, तृतीयन्तु वासनात्मकं परमित्यभिधीयते। त्रिपुरोपनिषद्व्याख्याने सेतुबन्धटीकायाञ्च श्रीभास्कररायचरणैर्वैशद्येन तदेतन्निरूपितम्।

श्रीसेतुबन्धव्याख्यायामष्टमे विश्रामे पूजासङ्केतव्याख्यायामिदमुच्यते–

पूजासङ्केतमधुना कथयामि तवाऽनघे।
यस्य प्रबोधमात्रेण जीवन्मुक्तः प्रमोदते।।

इति मूलश्लोकविषये टीकायामुच्यते– "सङ्केतज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तश्चेत्तादृशविभावनपूर्वकं चक्रपूजनेन तथात्वं (जीवन्मुक्तत्वं) कैमुतिकन्यायेनैव सिद्ध्यति"। एतेन विमर्शस्य प्राधान्यं सूचितम्।

स्वभावतः सिद्धा पूजा तावत् त्रिविधा–परा, अपरा, परापरा चेति। यदुक्तम्–

तव नित्योदिता पूजा त्रिभिर्भेदैर्व्यवस्थिता।
परा चाऽप्यपरा गौरि तृतीया च परापरा।।

या नित्यपूजा साधकस्याऽवश्यकर्तव्यत्वेन प्रथमं निर्दिष्टा सैव त्रिविधा, न तु काम्या नैमित्तिकी चेति नित्यशब्देन व्यावृतिः। तत्र पूजात्रयस्य निष्कृष्टं लक्षणत्रयं तत्रैव निर्दिष्टं यथा– द्वैतसामान्याभावे परा, अद्वैतभावसामान्याभावे त्वपरा, द्वैतविलयाभ्यासदशायां परापरा चेति। ताश्च क्रमेण मूल एव लक्ष्यन्ते, यथा–

प्रथमाऽद्वैतभावस्था सर्वप्रचरगोचरा।
द्वितीया चक्रपूजा च सदा निष्पाद्यते मया।।
एवं ज्ञानमये देवि तृतीया स्वप्रथामयी।
उत्तमा सा परा ज्ञेया विधानं शृणु साम्प्रतम्।।

प्रचराणि प्रकर्षेण चरणशीलानि इन्द्रियाणि विषयग्रहणाय सर्वदाऽभिमुखीभवन्ति। अयं भावः–सर्वेन्द्रियजन्येषु ज्ञानेषु ये विषयास्तेषु सच्चिदानन्दांशस्याऽनुगतस्य भानम्, न त्वनुगतयोर्नामरूपयोः। इदमेव 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इति योगसूत्रप्रसिद्धं ज्ञानम्। अत एव अद्वैतभावस्था द्वैतसामान्याभावशाली योऽन्तःकरणवृत्तिविशेषस्तन्निष्ठा सा प्रथमा परा पूजेति कथ्यते। सर्वत्र बाह्ये आभ्यन्तरे वा प्रदेशे सकलाधिष्ठानभूतस्य चैतन्यस्य अभिव्यक्तिरस्यां दशायाम्। तदुक्तम्–

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽऽभ्यन्तरे प्रिये।
तत्र तत्राऽक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते प्रभोः।।

अत एव शिवसूत्रेषु 'चैतन्यमात्मा' इत्युक्त्या द्वितीया चक्रपूजा भूगृहादिबिन्द्वन्तपूजा या वर्णिता, सा मया प्रत्यहं क्रियत इति परशिवस्योक्तिः। एतेन शिववचनेनैतल्लभ्यते यत्परपूजाधिकारिणाऽपि नित्यमुक्तेन मया द्वितीयाऽपरा पूजा सम्प्रदायसंरक्षणाय 'सदा निष्पाद्यते' नियमेनाऽनुष्ठीयते इति। एतेन केवलमानसकर्मणो निषेधोऽपि सूचितः। मुक्तानां परपूजारहस्यविदामपि बाह्यकर्मविलोपे प्रत्यवायापत्तिरिति तत्परिहाराय जीवन्मुक्तैरपि तथैवाऽऽचरणीयमिति सिद्धान्तः। आपत्कालादौ शास्त्रनिर्दिष्टस्तथा सङ्कोचो न दुष्यति।

परापरायाः पूजायाः स्वरूपं तु ज्ञानमये चिदेकस्वभावे ब्रह्मणि स्वस्याऽऽत्मनः प्रथाऽभेदेन प्रस्फुरणम्, अर्थाद् उभयाऽभेदाभ्यासः। तल्लक्षणमुक्तं

प्राचीनैः–

प्रकाशैकघने धाम्नि विकल्पान् प्रसवादिकान्।
निक्षिपाम्यर्चनद्वारा वह्नाविव घृताहुतीः॥

एतेन परापूजैवोत्तमा, परापरा तु मध्यमा, अपरा त्वधमेति।

वस्तुतोऽयं न पूजाभेदः, किन्तु साधकानामधिकारानुसारमवस्थाभेदात्क्रियमाणस्य विधेरवस्थाभेदा एवैते भवन्ति। अपरायामपि पूजायां परपूजाऽनुषङ्गो वर्तत एव।

गुरुस्वरूपानुसन्धानमेव परपूजाशरीरमिति प्राचीनैरपि पठ्यते, यथा–

स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवात्मनो गुरोः॥
स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो यः प्रसीदति पदार्थमस्तके।
तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं प्राप्य मोदमुपयाति भावुकः॥

सहस्रदलकमलाख्ये महापद्मवने तदन्तःस्थकर्णिकमध्यभागस्थे वाग्भवबीजाकारे पीठे प्रकाशविमर्शात्मकशिवशक्तिसामरस्यमयीं स्वनाथात्मिकामकुलामृतकुण्डलिनीस्वरूपिणीं गुरुपादुकां परमामृतवर्षिणीमनुसन्दधानः साधकस्तत्प्रसादमासाद्य निर्विकल्पस्वात्मामात्रविश्रान्तिसुखमनुभवतीति परपूजादिक्।

एवंविधायाः परपूजाया उत्तरमेव ग्रन्थे–

इन्द्रियप्रीणनैर्द्रव्यैर्विहितस्वात्मपूजनः।
न्यासान्निर्वर्तयेद्देहे षोढान्यासपुरस्सरम्॥

इत्युक्त्या, 'नाऽदेवो देवमर्चयेत्', 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' इत्याद्युक्तरीत्या च परपूजावासितान्तःकरणस्यैवाऽपरपूजायां प्रवृत्तिरिति शास्त्रकाराशयः प्रतीयते। एवं पूजात्रयस्य वस्तुतः परस्परसापेक्षत्वं न पुनः पार्थक्यं कल्पनीयम्।

इयमेव पूजास्वरूपस्य वासना पञ्चमपटलान्ते निरूपिता, यथा–

करणेन्द्रियचक्रस्थां देवीं संवित्स्वरूपिणीम्।
विश्वाहंकृतिपुष्पैस्तु पूजयेत् सर्वसिद्धये॥

करणानामिन्द्रियाणां ज्ञानकर्मात्मकभेदभिन्नानां चक्रं समूह एव श्लेषवशात् चक्रपदवाच्यम्। तन्मध्यस्थां देवीं क्रीडाविजिगीषाप्रकाशमानत्वादिधर्मशालिनीं संवित्स्वरूपिणीं निर्विषयज्ञानरूपां त्रिपुरसुन्दरीं जाग्रदाद्यवस्थात्रयसाक्षिणीं

सर्वसिद्धये सर्वात्मत्वलाभाय तल्लाभद्वारा समस्ततन्त्रोक्तफलसिद्धये पूजयेत्। पुष्पैरित्युपलक्षणं सर्वेषामुपचाराणाम्। उपचाराश्च विश्वाहङ्कृतिरूपाः। विश्वस्मिन् षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मके सर्वत्राऽहंभावो ब्रह्मैवाऽहमित्याकारिका सार्वदिकी पराहन्ताभावनेति यावत्। अयमेवार्थः संक्षिप्य निरूपितः प्राचीनैरन्यत्र यथा–

ज्ञाता स्वात्मा भवेद् ज्ञानमर्घ्यं ज्ञेयं बहिः स्थितम्।
श्रीचक्रं पूजनं तेषामेकीकरणमीरितम्॥

महार्थमञ्जरीकारेणाऽपि पूजास्वरूपमन्यथा समुन्मीलितं तदपि तात्पर्यतः पूर्वसिद्धान्तान्न भिद्यते। तथा हि तदीया कारिका–

निजबलनिभालनमेव वरिवस्या सा च दुर्लभा लोके।
सुलभानि विश्वपतेरासवताम्बूलगन्धपुष्पाणि॥

श्रीचिद्गगनचन्द्रिकायां चार–राव–चरु–मुद्राप्रकारैः पूजासम्पत्तिरुक्ता। तत्र चारः समयाचारः, रावो विमर्शः, चरुः पूजोपयोगी द्रव्यविशेषः, मुद्रा करचरणादिसन्निवेशविशेषः, एभिश्चतुर्भिः प्रकारैः पूजा निष्पद्यत इत्युक्तम्। तत्रापि रावो विमर्श एव प्रधानम्, सर्वस्यापि तत्रैव समावेशात्। तस्मात् स्वस्वरूपपरामर्श एव परमा पूजेति तात्पर्यम्।

निजबलनिभालनशब्दार्थस्तु– स्वहृदयस्फुरत्तारूपः परमेश्वर एव देवता। तत्र यन्निजं स्वात्मतादात्म्यानुप्रविष्टं बलं विश्वविक्षोभसहिष्णुत्वलक्षणं विम्रष्टृत्वं तत्पर्यालोचनमेव वरिवस्या। तच्च 'बल'शब्देन शास्त्रेषु व्यपदिश्यते। यथा श्रीस्पन्दे–'अपि त्वात्मबलं मन्त्राः' इति। श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदये–'बललाभे विश्वमात्मसात्करोति' इति। श्रुतिश्च–'न वा ओजीयो रूद्र त्वदस्ति'।

सा च पूजा केषाञ्चन महायोगिनामेव कर्तव्यभूमिर्न साधारणानाम्। अत एव निःश्रेणिकारोहणन्यायेन क्रमिकः पूजाविधिः साधकानामुपदिष्टः शास्त्रकारैः। विमर्शस्तु सर्वानुस्यूतस्तं विना सर्वस्य कर्मणो निर्वीर्यत्वमेव स्यात्। विमर्श एव भक्तेः पार्यन्तिकं रूपमिति प्रतिभाति। तस्यैव धाराधिरोहक्रमेण प्रकर्षे पर्यवसन्ने परमपूजाफलावाप्तिः। यथोक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैः–

एष यागविधिः कोऽपि कस्यापि हृदि वर्तते।
यस्य प्रसीदेच्चिच्चक्रं द्रागपश्चिमजन्मनः॥

इति संक्षेपतः परामृष्टं पूजास्वरूपम्।

■

आगमविषये केचिद्विचाराः

आगमेषु श्रीविद्यागमः प्रधानः। वेदमाता त्रिपदागायत्री च श्रीविद्याया अंशभूता। तेन गायत्रीप्रतिपाद्याया ब्रह्मविद्यायाः श्रीविद्यापञ्चदश्यामेव पूर्णत्वम्। एवं द्वयोरप्येकप्रस्थानान्तर्गतत्वमेव। श्रीविद्योपासनाया गायत्र्युपास्तिरेव प्रथमभूमिकेति स्थितिः। अतश्च श्रीविद्योपासकस्य गायत्र्याराधनं श्रीविद्याराधनाद् भवत्येव। तस्मात् श्रीविद्योपास्तेर्गायत्र्या सह सम्बन्धः कथं हीयते? एवं वेदमातुर्गायत्र्या प्रसादादेव दीक्षया श्रीविद्याराधनरूपतदुत्तरभूमिकोदयाद् गायत्र्युपासनाद्वारा अध्येतव्यस्य वेदस्य श्रीविद्याराधनविधौ सेवनीयस्यागमशास्त्रस्य च कथं परस्परभिन्नत्वम्। तस्माद्वेदगतरहस्यविधैव श्रीविद्या। अत एव वरिवस्यारहस्ये उक्तम्– **"व्यवहरति न तु प्रकटं यां विद्यां वेदपुरुषोऽपि"** इति चतुष्पदागायत्र्या आवृत्तित्रयं श्रीविद्याकूटत्रयसकृत्पठनतुल्यमिति। त्रिपुरातापिन्याऽपि सूचितम्, यतस्तत्र चतुष्पदाया गायत्र्या मन्त्रं त्रिवारमुल्लिख्य श्रीविद्यापञ्चदशीकूटत्रयोद्धारः प्रतिपादितः। तस्मादागमस्य निगमविरुद्धत्वकल्पना तत्त्वतः सर्वथैवायुक्तेति।

श्रीविद्या तु श्रुतिप्रतिपादिता। तर्हि कथमसौ श्रुत्यनधिकारिणो त्रैवर्णिकेतरायोपदिश्यत इति चेत्। गन्धर्वतन्त्रे श्रीविद्यागायत्रीं प्रकृत्योक्तम्– **"नारी शूद्रोऽथवा व्रात्यो यां ज्ञात्वा ब्राह्मणो भवेत्।"** तत्रोक्तश्रीविद्यागायत्रीमन्त्रस्तु कामराजविद्यायाः प्रथमद्वितीयतृतीयकूटेषु प्रतिकूटसहोच्चरितः **"त्रिपुरसुन्दरि विद्महे कामेश्वरि धीमहि। तन्नः क्लिन्ने प्रचोदयाद्"** इति पादत्रयात्मक उद्धृतः। एतन्मन्त्रोपदेशादनुपनीतानां व्रात्यानां शूद्राणां स्त्रीणां चापि ब्राह्मणत्वापादनोक्त्या श्रुत्युक्तश्रीविद्याराधने अधिकारः सम्पद्यते। सिंहसिद्धान्ते तुरीयविद्याप्रकरणे एतद्विषयकनिर्णयो विस्तरेण कृतः। स तत्र द्रष्टव्यः।

दीक्षा च न बुद्ध्यादिसंस्कारः, अपि त्वात्मसंस्कार एव। दीक्षया जीवात्मनो ब्राह्मण्यापादनं भवति। तेन त्रैवर्णिकतदन्यस्त्रीपुरुषेषु यः कञ्चिज्जीवात्मा आगमोक्तेन विधिना दीक्षितो भवेत्, तदा तस्य आगमदृष्ट्या ब्राह्मणत्वं सम्पद्यते। एतदाशयेनैव सूत्रे श्रीविद्याक्रमारम्भे **"मुहूर्ते ब्रह्मणो ब्राह्मणो मुक्तस्वापः"** इत्याद्युक्तम्। तत्र ब्राह्मणशब्दो न केवलं ब्राह्मणजातिवाचको भवितुमर्हति। ब्रह्माधीते ब्रह्मवेद वा इति व्युत्पत्त्या वर्णजातिहीनानुपनीतद्विजजातिस्त्रीशूद्रव्रात्यादिष्वन्यतमोऽपि दीक्षासंस्कारदग्धपशुपाशजालः परमकारुणिकेन गुरुणा श्रीविद्योपासनाधिकारेऽनुगृहीतो यः कश्चन जीवोऽत्र ब्राह्मणपदवाच्यः। जात्यादिरूपपशुपाशस्यापि समयाचारकथनावसरे **'घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा कुलजातिशीलानां क्रमेण अवसादनम्'** इति सूत्रेण क्रमादवसादनावश्यकत्वविधानात्तत्रत्यब्राह्मणपदस्य ब्राह्मणजातिमात्रे सङ्कोचस्यानौचित्यं सुवचम्। तस्माद्ये केचनोपासकम्मन्याः जात्यादिपशुपाशजुष्टाः पशवः त्रैपुरोपनिषदाद्युक्तपरिस्रुतादिभिरर्चने ब्राह्मणेतराणामेवाधिकारो न ब्राह्मणानामिति जल्पन्ति। तन्मन्दशङ्कामपनेतुमेव सूत्रे ब्राह्मणपदयोजनम्। तथा चोक्तं डामरे-

पञ्चमीं षोडशीं चैव तथा सर्वाङ्गसुन्दरीम्।
चाण्डालेभ्योऽपि गृह्णीयाद्यदि भाग्येन लभ्यते।। इति।

एतेन चाण्डालोऽपि स्वयं श्रीविद्योपासक इतरेभ्यः स्वशिष्यभूतेभ्यो पञ्चमीषोडशीसर्वाङ्गसुन्दरीत्यादिविद्यादानसमर्थश्चास्ते इत्युक्तं भवति। अत्र पञ्चमीपदं श्रीविद्यापरमेव। यथा-

आदी कामेश्वरी ज्ञेया द्वितीया भगमालिनी।
वज्रेश्वरी तृतीयाऽथ तुर्या त्रिपुरसुन्दरी।।

श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्याः पञ्चमी या पराकला।
सा चैव पञ्चमी शक्तिः परब्रह्मस्वरूपिणी।।

भोगेन लभते मुक्तिं यदि जानाति पञ्चमीम्।

इति गन्धर्वतन्त्रवचनात्। एवं दीक्षितो ब्राह्मणस्तदितरो वा यः कश्चन

जीवात्मा स एव जातिवर्णादिभेदप्रथामयमायीयपाशमुक्तः श्रीविद्याराधनेऽनुगृहीतः सूत्रे ब्राह्मणपदेन व्यवहृत इत्यवधार्यम्।

गुरुशिष्यव्यवहारे गुरुणा स्वशिष्यत्वेनानुगृहीत एव शिष्यस्तच्छिष्यत्वं स्वात्मनोऽभिमन्येत नान्यः। नैवं सर्वानुग्राहके परमेश्वरे भवितुमर्हति। तस्य सर्वगुरुत्वं हि तत्सङ्कल्पादेव सिद्धम्। **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"** इति भगवद्गीतावचनात्। **"यो यथा मां भावयति फलं मत्प्राप्नुयात्तथा"** इति श्रीविद्यागीतावचनाच्च। शिष्यत्वेन प्रपन्नानामादिगुर्वाश्रयः [श्रीविद्या] सर्वानुग्राहकेण परमेश्वरेण स्वयमेव प्रतिज्ञातः। तस्माल्लब्ध-बाह्यपारम्पर्यगुरुणापि भक्तेन आदिगुर्वाश्रयणं पूर्ववत्तथा शिष्यत्वेन तत्प्रपदने न कापि विप्रतिपत्तिः। वस्तुतस्तु— **"मनुष्यचर्मणाबद्धः शिव एव गुरुर्मतः", "गुरुहृदयनिविष्टः शङ्करोऽनुगृहीता"** इत्यादिवचनैरादिशिवस्यैव सर्वेषां शिष्यभूतानां गुरुत्वम्। तेन शिष्यभावेन प्रपन्नानां ज्ञानदानसमर्थगुरुलाभेऽपि आदिगुरोः शिवस्य प्रसाद एव तत्र निदानम्।

गुरुरूपं तु त्रिविधम्। तत्र दीक्षादिना शिष्यानुग्राहिका स्वगुरुमूर्तिस्तत्स्थूलं रूपम्। श्रीविद्यादिमन्त्रमयं सूक्ष्मं रूपम्। सर्वव्यापकतया स्वान्तर्बहिःस्थितं पररूपमिति। **"सुन्दरः सुमुखः स्वस्थः"** इत्यारभ्य गुरुलक्षणनिर्वचनेषु **"गुरुत्वं हितवेदिता"** इति मुख्यं लक्षणमुक्तम्। तेन शिष्यहितकरणौत्सुक्यमेव श्रीगुरोः स्वाभाविकं लक्षणम्। तदेतत् त्रिविधरूपेण गुरुणा सततं क्रियत इति शिष्येणाऽनन्यतया स्वगुरुसेवानिरतेन भाव्यम्।

पूजनोपयोगिद्रव्याणां शोधनविषये— **"न चाऽसंशोधितं वस्तु किञ्चिदप्युपकल्पयेत्"** इति वचनात्पूजनाङ्गत्वेन स्वस्वकल्पोक्त-द्रव्यशुद्धिप्रकारो यथायथमुपासकैर्विधेयः। तदकरणे शिवाज्ञाभङ्गजदोषात् प्रत्यवायापतेः। आदिमविषये **"मन्त्रसंस्कारसंशुद्धं तदेवामृतमुच्यते"** इति वचनाच्छ्रीचक्रे कल्पसूत्रोक्तचतुर्नवत्यादिमन्त्रसंस्कारेण तत् शोधयेत्। शुक्रादिशापमोचनप्रकारस्य तत्रानुक्तत्वात् तस्य सूत्राशयविरुद्धत्वाच्च न तदपेक्षा। ततश्च सूत्रक्रमेण हेतुकलशस्थापनं विहितम्। आदिमसंस्कारस्तु विशेषार्घ्यविधानेन यथोक्तक्रमेण पर्याप्त इत्यध्यवसेयम्। चतुर्नवत्यादिमन्त्रसंस्कारोऽपि केवलं

श्रीक्रम एव सूत्रेणोक्तः। तद्गतान्यदेवताक्रमे तु यावदुक्तसंस्कारकरणेनैव पर्याप्तता इति स्थितिः।

अत्रोच्यते–द्रव्यं तु स्वरूपतः शुद्धमेव सर्वस्य शिवमयत्वाद् द्रव्यस्यापि स्वरूपतः शिवमयत्वमिति। तन्त्रालोकेऽभिहितं यथा–

मद्यस्नाने साधकेन्द्रो मुमुक्षुः केवली भवेत्।
यतः शिवमयं मद्यं सर्वे मन्त्राः शिवोद्भवाः॥

शिवशक्त्योर्न भेदोऽस्ति शक्त्युत्थास्तु मरीचयः।
तासामानन्दजनकं मद्यं शिवमयं ततः॥

(१५.७३-७४)

अत्रेदं विचार्यम्– इदंतया प्रतीयमानं द्रव्यमात्रं यद्यपि स्वरूपतः शिवमयत्वात् शुद्धमेव, तथापि यागपूजादि–तद्विनियोगकर्तृसाधकगतभेदबुद्ध्यात्मिकायामशुद्धौ सत्यां विना विध्युक्तसंस्कारं साधकस्तत्पूजादौ न विनियोजयेत्। अतो वस्तुतो द्रव्यगतशुद्धिसंस्कारस्य साधकगताशुद्धिपरिहार एव द्रव्यसंस्कार इति तात्पर्यमिति तद्विधिरहस्यम्। बहिःस्थितशुद्धवस्तुस्पर्शनेऽपि अशुद्धसाधकस्यायोग्यत्वनियमात्। यथा च गङ्गाम्भः स्वयं शुद्धमपि तत्स्पर्शयोग्यतापादनाय अस्नातस्तन्न स्पृशेदित्यादिविधिचोदना। यस्तु स्वान्तर्बहिरवस्थितं सर्वमपि भावजातं निर्विकल्पतयाऽभेदबुद्ध्यैव पश्येत्तस्य कृते द्रव्यशुद्ध्यादिविधीनां नास्ति प्रयोजनमिति वक्तुं शक्यम्।

तस्य तु स्वात्मशुद्ध्या सर्वदा यत्किञ्चिद् द्रव्यस्य पूजादिविनियोगे क्रमेणाऽक्रमेण वा परिग्रहो न कदापि दूष्येत्। तन्त्रालोके शुद्धाशुद्धिनिर्णयप्रकरणे एतद्वितत्य विवेचितमिति तत्र द्रष्टव्यम्। एवं साधकस्याऽपूर्णतैव द्रव्यशोधनहेतुः। तत्पूर्णतायां सर्वत्र शिवभावनारूढया तु–

पूर्णाभिषिक्तनिकटे चक्राचक्रं न चिन्तयेत्।
तद्धस्तस्पर्शमात्रेण ह्यासवममृतं भवेत्॥

इति श्रीशक्त्यागमतन्त्रवचनात्। एवंविधपूर्णसाधकविषये तेन तत्तद्द्रव्यपरिग्रह एव तत्तद्द्रव्यशोधनसंस्कार इति।

वस्तुतस्तु पूजार्हद्रव्याणां शुद्धाशुद्धी न द्रव्यनिष्ठे। सर्वस्य वस्तुजातस्य शिवमयत्वेन स्वरूपतः सदाशुद्धत्वात्। तेनागमे शिवेनोक्तद्रव्यशुद्धिसंस्कारस्य उपासकात्मसंस्कार एव तात्पर्यम्। न चासंशोधितं वस्तु किञ्चिदप्युपकल्पयेदित्युपर्युक्तवचनेन संशोधनस्य तत्तद्वस्तूपकल्पकोपासककर्तृकताविधानात्। उपासनाशास्त्रोदितक्रियाजातं च कर्तारमुपासकमेव संस्करोतीति सर्वसाधारणोऽयं नियमः। तस्मादद्वैतनिष्ठोपासकेनाऽपि स्वस्वतन्त्रोक्ततत्तद्द्रव्यशोधनविधिर्द्रव्यनिष्ठाऽशुद्धिशङ्कामपहाय शास्त्रप्रवर्तकशिवाज्ञापालनबुद्ध्या तस्य स्वात्मसंस्काराधायकत्वं यथावदनुसन्धायैव निर्वर्तनीयः।

आदिमविषये **“आत्मा कृतो द्रवीभूतो भैरवेण भवच्छिदा”** इत्यादिना परिस्रुद्रूपी भैरव एवेत्युक्तम्। तथा चाणवादिमलपाशमोचनीति–

आणवादिमलपाशमोचनीमात्मवैभवसुखप्रबोधिनीम्।
गद्यपद्यमयवाग्विलासिनीं मद्यमध्ये परमेश्वरी भजे॥

इति। परिस्रुत्स्वरूपमागमेषूक्तम्। भेदबुद्ध्यैव अहंममत्वभासनमेव पशुपाशदशा भवपदेनोच्यते। द्रवीभूतात्मा भवच्छिद्भैरव एव पशुपाशच्छेत्ता। तत्सहाया तदभिन्ना भैरव्यपि परिस्रुदात्मकद्रव्ये तदभिन्नत्वेनावस्थितेति विभावनया साधकैस्तत्सेवने भैरवस्य पशुपाशच्छेदनसामर्थ्यानुसन्धानपरैर्भाव्यम्।

“आदिमस्य स्वयं सेवनमागमदृष्ट्या दोषदं त्याज्यम्” इति सूत्रम्। तत्रागमदृष्ट्येति पदमुभयत्रान्वेतीति मन्तव्यम्। तेनागमदृष्ट्या आदिमसेवनं कार्यम्। आदिमस्य स्वयंसेवनम् आगमदृष्ट्या दोषदमादिमसेवनं त्याज्यमित्यर्थः। अत्र केचिदनभिज्ञाः **“विप्राः क्षोणिभुजो विशस्तदितरे क्षीराज्यमध्वासवैः”** इत्येतद्वचनस्यागमदृष्ट्या आदिमप्रकारपरत्वमज्ञात्वा क्षीरादिपदानां लौकिकार्थपरत्वमेव व्याचक्षते। तत्तेषामज्ञानविलसितमेव यतः,

क्षीरं वृक्षसमुद्भूतमाज्यं वल्कलसम्भवम्।
मधुपुष्पोद्भवं ज्ञेयमासवं तण्डुलोद्भवम्॥

इत्यादिना आगमे आदिमस्यैव क्षीरादिसंज्ञया विप्रादिग्रहणयोग्याः सात्त्विकराजसतामसादिप्रकारा उक्ताः। तान् ज्ञात्वा तत्सेवनमेव सूत्रकृता

विहितम्। तदेवान्यत्र सूत्रकृता सूचितम् "**आमोदिनो लघुनो वार्क्षस्य**" इत्यादि "**यथादेशसिद्धस्य वा तस्य परिग्रहः**" इत्यन्तेन विहितनिषिद्धद्रव्यविषयकचर्चायाम्।

श्रुतावागमे च क्वचित्कानिचिद्द्रव्याणि विहितानि, कानिचिन्निषिद्धानि। तथा चैकस्मिन्विधौ यदद्रव्यं निषिद्धं तदेवान्यस्मिन्विहितमित्यपि दृश्यते यथा सुराग्रहः। त्रयीधर्माधिकारिविषये सामान्यत्वेन तन्निषेधः। सौत्रामण्यां कुलाचारे च तद्विधानमिति। ततश्च विशिष्टाधिकारिकर्तृके कर्मणि यस्य द्रव्यस्य विधानं सङ्ग्च्छते, तस्यान्यत्र निषेधेऽपि नात्यन्तिकनिषेधकल्पना युक्ता। यदि च शास्त्रेण सुरा सर्वथैव निषिद्धतयोक्ता स्यात्तर्हि हालाहलस्य इव सर्वघातकत्वाद्धेतोः सर्वत्र निषेध एवोपलभ्येत। तस्माद् हालाहलस्य निषेधः, तस्य सर्वथैव घातकत्वात्। सुराया अपि निषेधः, तस्या अनधिकारिविषय एवं घातकत्वादिति पर्यवस्यति।

पात्रस्थापनविषये कल्पसूत्रोक्तसामान्यविशेषार्घ्यादिपात्रासादनविधौ अन्यतन्त्रस्थविशेषविध्यङ्गसंग्रहेण विस्तरे कर्तव्ये सति सूत्राशयाऽविरुद्धांशग्रहणमेव विधीयते। तत्रान्यतन्त्रोक्तहेतुकलशस्थापनं शापोद्धारादितद्विधिश्चाद्वैतप्रधानोपासनाप्रवर्तकसूत्रकारस्याशयविरुद्धत्वान्न सङ्ग्राह्यः।

शास्त्रसिद्धवस्तुनि शापादीनामनवकाशात्तद्गुरुशक्त्यात्मपात्रादिभिन्नपात्रस्थापनमपि न सूत्राशयसङ्गतम्। तदुक्तक्रमस्य यागत्वेन तद्धविःशेषाधिकारे सर्वेषां सामयिकानामधिकाराद्भेदभावनया भिन्न–भिन्नपात्रविनियोगतत्त्वतो विरुध्यते। अतः सर्वस्य हविःशेषस्य ज्येष्ठतदितरसामयिकादिभ्यः शक्तिभ्यश्च यथाधिकारतः पात्रनिवेदनं यागाङ्गभावनया अविभागेनैव सूत्रपद्धतौ विधेयम्। यथा देवतातर्पणम् आवरणपूजादिकं यागाङ्गं तथैव हविःशेषस्वीकारोऽपि यागाङ्गमेव। द्वैताद्वैतमिश्रोपासनाप्रधानतन्त्रोक्तविविधनैमित्तिकपूजाक्रमो महायागक्रमो रहोयागक्रमश्चापि प्रासङ्गिकत्वेन कर्तव्ये सति कल्पसूत्रानुयायिनामपि ऐच्छिकोऽयं विधिः अकरणेन। "**पञ्चपर्वसु विशेषार्चा**" इति सूत्राशयानुगमात्। विविधाः शेषा नाम अर्चाङ्गानि तैर्युक्ता अर्चा विशेषार्चा। यावच्छक्यानि यावदैच्छिकानि वा विधेयानीति सूत्रार्थः पर्यवस्यति। सूत्रे

अविस्तृततया प्रतिपादनात्। तदानीं यान्यावश्यकत्वेन स्थापनीयानि तत्तत्क्रमोचितभिन्नभिन्नविशेषपात्राणि तानि तु सूत्रक्रमोक्तविशेषार्घ्यस्थापनविधिनैव स्थापयेत्। तत् स्थापने सूत्राशयविरुद्धविधिभागसंग्रहस्तद्विधौ न कार्यः। आदिमस्य शापोद्धारादिविधिस्तु न केवलं कल्पसूत्र एवानुक्तः। योगिनीहृदय-ज्ञानार्णव-वामकेश्वर-दत्तात्रेयसंहिता-वामदेवसंहितादावपि न तद्विधानमस्ति। कल्पसूत्रवदेतान्यपि सर्वाणि तन्त्राणि प्राधान्येनाद्वैतोपासनापराणि स्वयं पूर्णान्येव। पूर्णतन्त्रलक्षणं तु– यत्र तन्त्रे क्रियादीक्षाप्रकारः। प्रातरादिसपर्यान्तमाह्निकनित्यकृत्यं नैमित्तिकं काम्यं चोपदिश्यते। यथा ज्ञानार्णवदक्षिणामूर्तिसंहितादौ तत्पूर्णतन्त्रमेव। यत्र त्वेतदपूर्णमेवोच्यते तत्रेत्तरतन्त्रोक्तस्य स्वतन्त्राविरोधिनो यावदावश्यकं यावदिच्छं वा ग्रहणमिति सौभाग्यचन्द्रोदये निर्णयः। एवं कल्पसूत्रोक्तदीक्षापि क्रियादीक्षैवेत्यपि तत्रैव श्रीमद्भास्कररायैर्निर्णीतम्। तस्मात्पूर्णतन्त्रात्मककल्पसूत्रानुक्तादिमशापोद्धारादिविधेस्तद्विरुद्धसंग्रहो न कदापि कर्तुमुचितः। **"अन्यस्मादविरुद्धांशं यदि शक्तः समाचरेदि"**ति त्रिपुरारहस्यचर्याखण्डवचनात्। कल्पसूत्रे श्रीक्रमे न्यासप्रकरणे **"षोढाचक्रे न्यस्यान्यस्य वा"** इत्युक्तम्। तत्र षोढापदेन षोढासंज्ञकाः सर्वेऽपि न्यासाश्चक्रपदेन सर्वेऽपि चक्रसंज्ञका न्यासाश्च ग्राह्याः। जातावेकवचनमिति न्यायात्। तेन लघुषोढा-महाषोढा-शक्तिषोढा-मालिन्यादिषोढाप्रभृतयः षोढान्यासाः। पञ्चवाहक्रमन्यासो मूर्तिचक्र-प्रकाशचक्र-आनन्दचक्र-शाम्भवचक्र-श्रीचक्रन्यासाः श्रीमद्भास्कररायश्रीपद्धत्युक्तसौभाग्यादिद्वादशन्यासाश्च ग्राह्याः। महार्थचक्रन्यासोऽपि अविरुद्धत्वाद् ग्राह्य एव। अन्येषामविरुद्धांशं यदि शक्तः समाचरेदिति वचनात्।

श्रीविद्योपासना च मानसक्रियाविशेषरूपा। सा च परानुरक्तिरूपभक्तिपूर्विकेति। स्वोपास्यदेवताविषयकोऽनुराग एवोपासनेति केचित्। तन्न। भक्तिमानुपासीतेत्यादिविधौ भक्तेरुपासनातो भेदेन निर्देशेन स्पष्टं द्वैविध्यप्रतिपादनात्। तस्मादनुरागमूलिका शास्त्रोक्तविहितक्रियैवोपासनमिति प्रपञ्चितं सेतुबन्धे तेनोपास्यदेवतार्चनमपि तद्विषयकानुरागमूलकक्रियारूपम्। तत्क्रियायामर्चकस्य द्वैतद्वैताद्वैतप्राधान्यमनुसृत्य भूमिकाभेदेन प्रकटरहस्यबाह्यान्तरभेदः सुवचः। तत्र अनुरागसान्द्रहृदयस्य भक्तस्य स्वदेहाद्भिन्नतया

बाह्यस्थे क्वचित्पीठे मूर्तौ वाऽधिष्ठितायै स्वोपास्यदेवतायै स्वमानसाह्लाद-विहितपदार्थार्पणं बाह्यपूजा। स्वोपास्यदेवतायाः स्वान्तर्बाह्यव्याप्तिज्ञानदार्ढ्येन स्वदेहस्थायै चापि तस्यै तथाविधोपचारसमर्पणबुद्ध्या तत्तदुपचाराणां स्वात्मीकाररूपा पूजा च बाह्यपूजायाः परिपूर्णावस्थेति स्थितिः।

देहो देवालयः प्रोक्तो जीव एव महेश्वरः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन योजयेत्॥

तत्र सोऽहंभावो न भावना किन्तु केवलं वस्तुस्थितिचिन्तनं क्रियैवेति। अहंशब्दस्यैव वस्तुतः शिवशक्त्यात्मकसामरस्यघटितत्वानुसन्धानात्। एवंविधा पूजा रहस्यतरा। तथोक्तम्–

"ये ये भावाह्लादिन इह दृष्टाः सुभगसुन्दराकृतयः।
तेषामनुभवकाले स्वस्थितिपरिपोषणं सतामर्चा॥" इति।

"इन्द्रियप्रीणनैर्द्रव्यैर्विहितस्वात्मपूजनः" इति।

"पूजा च स्वात्मभावेन देशिकेन्द्रविमर्शनम्" इति–

न क्वापि गत्वा हित्वा वा न किञ्चिदिदमेव ये।
भवे त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः॥ इति।

आत्मस्थां देवतां त्यक्त्वा बहिर्देवं विचिन्वते।
करस्थं कौस्तुभं त्यक्त्वा काचं गृह्णाति मूढधीः॥
(इति गान्धर्वतन्त्रवचनम्)

पश्य मोहस्य माहात्म्यं स्वहृदिस्थेऽपि शङ्करे।
लिङ्गस्थण्डिलवह्न्यप्सु वीक्षयन्ति यथा शिवम्॥ इति॥

हृदयगुहागेहगतं सर्वज्ञं सर्वगं परित्यज्य।
प्रणमति मितमतिरिरत् शिवाशयाश्मादिमश्लाघ्यम्॥

परमनिरावरणात्मनि रूपे यो दृढतरः परामर्शः।
पूजनमेतद्द्वितीयं प्रभुणा निरणायि यद्यपि प्रकृतम्॥ इति।

न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनः परमात्मनः।
भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम्॥ इति।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ इति।

तत्रोपहृतं तेनैवोपहारीकृतं स्वात्मीकृतं प्रयतात्मनः शुद्धात्मनः भक्ताद् इति।

उज्झित्वात्मसमाधानं ये ध्यायन्त्यन्यदेवताः।
भिक्षन्ते भूरिवित्तास्ते भिक्षित्वापि बुभुक्षिताः॥ इति।

बहिर्लिङ्गस्य लिङ्गत्वमनेनाधिष्ठितं यतः।
अतः प्रपूजयेदेव परमाद्वैतमाश्रितः।
सर्वमन्यत्परित्यज्य चित्तमत्र निवेशयेत्॥

मृद्धातुशैलरत्नादिभवं लिङ्गं न पूजयेत्।
अर्चयेच्चिन्मयं लिङ्गं यत्र लीनं चराचरम्॥ इति च।

एतादृशानि वचनानि तादृशोपासकधौरेयेण क्रियमाणरहस्यचर्यात्मकपूजनपराणि। एवञ्च सुन्दरस्वच्छमानसाह्लादिपदार्थानां विनियोगविधौ अर्चकस्य सोपास्यदेवताविषये स्वाभेदेनानुसन्धानमेव पूजनम्। परन्त्वेतादृशसर्वात्मकपरमेश्वरार्चनविधौ तदितराऽसुन्दरास्वच्छामानसाह्लादिपदार्थादौ न तदवस्थानमिति भ्रमनिराकरणार्थमेवंविधसर्वेश्वरपूजायां तेषामपि विनियोग उक्तो रहस्यशास्त्रे यथा–

यद्द्रव्यं लोकविद्विष्टं यच्च शास्त्रबहिष्कृतम्।
यज्जुगुप्स्यं च निन्द्यं च वीरैराहार्यमेव तत्।
अशुद्धं नास्ति तत्किञ्चित्सर्वं यत्र व्यवस्थितम्।
यत्तेन रहितं किञ्चिदशुद्धं तेन जायते॥ इति।

तथा च–

द्रव्यैश्च लोकविद्विष्टैः शास्त्रार्थाच्च बहिष्कृतैः।
विजुगुप्स्यैश्च निन्द्यैश्च पूजनीयस्त्वयं क्रमः॥ इति।

धीकर्माक्षगतां देवीं निषिद्धैरेव तर्पयेत्॥ इति च।

इत्यादिना अवसरप्राप्ततथाविधनानाप्रकारकपदार्थभोगावसरेऽपि परमेश्वरव्याप्तिस्मरणपूर्वकं तद्भोगादेवार्चानिष्पत्तिफललाभ इत्यप्यनुसन्धेयम्।

उपासनाङ्गभूतासु शरीरवाङ्मनोव्यापारनिर्वर्तनीयासु पूजादिनिखिलक्रियासु स्वोपास्याया अनुग्राहकपरमेश्वरशक्तेः स्वान्तर्बाह्यतया व्याप्त्यनुसन्धाननिष्ठैवोपासनेति शास्त्ररहस्यम्। स्वानुग्राहिकायाः परमेश्वरशक्तेः सत्त्वरजस्तमोमयत्रिगुणात्मकभावजातेन सम्भेदाभासनेऽपि न कदापि स्वरूपलोपः। तेन तत्तदभावेऽप्यन्तर्बहिस्तदनुस्यूतत्वमिति वस्तुस्थित्यनुसन्धानमेवार्चकस्य तद्भेदसारापरापूजा।

लोपामुद्राविद्या–कामराजविद्येतिसंज्ञकयोर्विद्ययोरेव नानाविधश्रीविद्याप्रभेदे मुख्यत्वं बहुश उपवर्णितम्। तथा च–

हादिकाद्योर्महामन्वोर्मन्त्रराजाधिराजयोः।
महाकामेश्वरं राजराजेश्वरमनामयम्॥

राजराजेश्वरीं देवीं कामाक्षीं भुवनेश्वरीम्।
कामेश्वराङ्कनिलयामपि शश्वत्प्रकल्पयेत्॥

इति दत्तात्रेयसंहितायां चतुर्विंशाध्याये निरूपितम्। हादिविद्यायाः कामेश्वरपरत्वं कादिविद्यायाः कामेश्वरीपरत्वं चाप्युक्तम्। तेन हादिविद्याया एव शिवादिविद्यासंज्ञया सूत्रे रश्मिमालामन्त्रे उद्धारः सङ्गच्छते। ततश्च सूत्रमते स एव कामेश्वरमन्त्र इत्युक्तं भवति। तथा च तत्रैव–

हादिकादिमहामन्त्रयुक्तयोः षोडशार्णयोः।
महतः परमेशानि मन्त्रं राजाधिराजयोः॥

अर्थतत्त्वत्रयमिदं स्त्रीपुंप्रकृतिरूपभृत्।

आद्यं सर्वोत्तमं भद्रे यष्टव्यं शास्त्रवर्त्मना।
संस्थाप्यैवं भगवतीं भगवन्तं परावुभौ॥

इति। तथा च तत्रैव–

हादिकादिमहामन्त्रगर्भाच्छ्रीषोडशाक्षरात् ।
यष्ट्वा सिद्धिमवाप्नोति कृत्स्नसंसिद्धिभागिनीम्॥

इति वचनैर्हादिकादिविद्यागर्भितषोडश्योरपि क्रमेण कामेश्वरषोडशीत्वं श्रीविद्याषोडशीत्वमप्युक्तं भवति। कादिविद्यामन्त्रस्तु कामेश्वरकामेश्वर्योरुभयोरपि वाचकः।

कत्रयं हद्वयं द्वयं चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः।
शक्त्यक्षराणि शेषाणि ह्रींकार उभयात्मकः॥

एवं विभागमज्ञात्वा ये विद्याजपशालिनः।
न तेषां सिद्धिदा विद्या कल्पकोटिशतैरपि॥

इति त्रिशतीस्तोत्राध्यायवचनात्। त्रिशतीस्तोत्रस्य कादिविद्यामयत्वाच्च। न तथा हादिविद्याया उभयवाचकत्वं कण्ठरवेणोक्तम्। तेन कादिपञ्चदश्यां कत्रय-हद्वयवाच्यकामेश्वरस्य शेषाक्षरवाच्यायाः कामेश्वर्याः ह्रींकारवाच्याया उभयैक्यमय्याः **"शिवशक्त्यैक्यरूपिणी"** इति रहस्यनामसाहस्रस्तुतायाः श्रीललिताम्बिकायाश्च स्पष्टज्ञानार्थं श्रीचक्रपूजापद्धतौ श्रीमहाभट्टारककामेश्वरसहितश्रीमहाभट्टारिकाकामेश्वरीललितेत्यादिना ऊहः कृतः। नैवेद्यान्तर्गततर्पणविधौ कादिपञ्चदश्येव योजिता। इतरोपचारसमर्पणादौ च कादिहाद्योरुभयोरपि संग्रहः कृतः। तेन तत्तदुपचारसमर्पणं कामेश्वरकामेश्वर्योरुभयोरपि भवतीत्यनुसन्धेयम्। उक्तदत्तात्रेयसंहितावचनेन कामेश्वरस्यापि मूर्तरूपस्य देव्या सह पूजनमुक्तम्। तत्र च **"संस्थाप्यैवं भगवतीं भगवन्तं परावुभौ"** इति विधानात्। कल्पसूत्रस्याप्ययमेवाशयः। यन्मूर्तरूपकामेश्वरसहितायाः कामेश्वर्याः पूजनं कर्तव्यमिति। अन्यथा तत्रोक्तकामेश्वराङ्कपर्यङ्कोपवेशनोपचारासङ्गतिरापतेत्। पर्यङ्को गात्रिकाबन्ध इति कोशात्। कामेश्वरबद्धमाङ्गल्यसूत्रशोभितकन्धरेत्यादिगात्रिकाबन्धस्य अमूर्तकामेश्वरकल्पने असम्भवाच्च।

"शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते" इत्यत्र कामेश्वर्या विना कामेश्वरस्य नाम धाम न विद्यत इत्युक्तम्। तेन कामेश्वरीसहितस्य च तस्य नामधामादिसर्वं विद्यते इत्येव तद्वचनस्यार्थः। तथा चोक्तम्–

"परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
शक्तस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत्॥" इति।

"शक्तिं विना न पूजाया ग्रहणं सम्भवेत् क्वचित्।"इति च।

"शिवं विना चित्कलायां न कलात्वं क्वचिद्भवेत्"इति च शक्तिसङ्गमतन्त्रेऽप्युक्तम्। एवं श्रीचक्रे च स्तुतः कामेश्वरकामेश्वर्योः पूजनम्। न कामेश्वररहितायाः कामेश्वर्याः, नापि कामेश्वरस्य कामेश्वर्या रहितस्य।

यस्तु सम्पूजयेच्छक्तिं शिवं नैव प्रपूजयेत्।
स महापातकी रोगी मात्रिको दुर्गतः पदम्॥

इति केवलं शक्तिपूजाया अपि निषेधस्मरणात्। वस्तुतस्तु श्रीचक्रपूजायां द्वयोः सममेवार्पणयोग्या नैवेद्याद्युपचारा द्वयोरेवार्पिता इति भावनया अर्पणीयाः। स्त्रीरूपं प्रकृत्य विधेया उपचारास्तु कामेश्वरीमूर्तावेवेति। एवं स्थिते आयुधपूजने कामेश्वरायुधानां स्वतन्त्वतया पूजनं कल्पसूत्रादावुक्तम्। तत्तु गत्यन्तराभावादिति सेतुबन्धाख्ये वामकेश्वरभाष्ये निरूपितम्। तत्रावरणे तु कामेश्वर्याः कामेश्वरस्य चायुधानि भिन्नतया स्थितानीति तेषां पृथक् पूजनमावश्यकम्। अत एव तत्संगृहीतम्। इतरोपचारादीनां कामेश्वरेण सहैव कामेश्वर्याः परिग्रहः क्रियते इत्यनुसन्धानस्यावश्यकत्वम्। पुंरूपधृक्कामेश्वरस्य तदङ्कगतायाः कामेश्वर्याश्च श्रीचक्रमध्यगतबिन्दुचक्रेऽवस्थानं ध्यात्वेव पूजानिर्वृत्तिरुक्ता **"मदङ्कोपाश्रयां देवीं त्वामेव परिभावयेत्"** इति वचनात्। अतः कामेश्वरस्य मूर्तरूपाभावपक्षो न वास्तवः। कामेश्वरमूर्तेः आयुधपूजां विहाय नान्योपचारविधिरुक्तः, एतावतैव श्रीचक्रे मूर्तरूपकामेश्वरपूजनाभावस्तु न युक्तः कल्पयितुम्। मूर्तकामेश्वरपूजनस्य स्वगुरूक्तपद्धतावनुक्तत्वात्तदायुधपूजनमात्रमर्चनादौ अनुष्ठितवतो यद्यपि न किञ्चिद्धीयेत, तथापि वस्तुस्थितिज्ञानस्यावश्यकत्वं न कोऽपि

निवारयितुमुत्सहते। तस्माद्भक्तेन कामेश्वरीमूर्तौ वर्णितान् उपचारान् स्वस्मिन्नेवार्पितान् मन्यमानः कामेश्वरः कामेश्वरीपूजनसमकालमेवोपासकैरर्चितस्तर्पितश्च तुष्टो भवतीत्यनुसन्धेयम्।

आगमा निगमवत् स्वतन्त्राः। एककर्तृकत्वात् निगमागमरूपमेकमेव शास्त्रम्। निगमागमयोर्द्वयोरप्येक एव परमेश्वरः प्रणेता। तथैव **"शास्त्रयोनित्वात्"** इति व्याससूत्रे प्रपञ्चितत्वात्। पुर्यष्टकप्रमातृभिन्नपरमपुरुषप्रणीतत्वादेव तयोर्द्वयोरप्यपौरुषेयत्वम्। सामान्यपुरुषप्रणीतत्वं हि पौरुषेयत्वं रागाज्ञानादिदोषास्पृष्टनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावपरमपुरुषप्रणीतत्त्वमपौरुषेयत्वम्। "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इति श्रुत्या पूर्णत्वात्पुरुषः इत्युपपत्त्या निगमागमरूपशास्त्रयोनिरलौकिकः पुरुषः। 'पुरि शेते' इत्युपपत्त्या परिच्छिन्नप्रमात्रपेक्षया परमपुरुष इति स एवाभिधीयते। सत्यकामः सत्यसङ्कल्प इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टस्वाभाविकगुणवतः परमेश्वरस्य सदा स्फुरद्रूपं यच्छास्त्रं तस्य तत्प्रवर्तकत्वात्। तदन्यस्य कस्यापि तत्प्रणेतृत्वेनालाभात् तत्प्रणेतृत्वं तस्मिन्नुपचर्यते। सङ्केतपूर्वकप्रणयनक्रियावत्त्वं प्रणेतृशब्दार्थः, तदर्थेन तु नास्य शास्त्रप्रणेतृत्वम्। तथा सति तत्क्रियाया हेतुभूतं किमपि कर्मजन्यं फलं तस्यासीद् इत्यापतेत्। 'अहमिदं करोमि' इत्याकारकसङ्केतपूर्वककर्मणस्तस्मिन्नप्रवृत्तेः निरहङ्कारत्वात्। तस्मात् शास्त्रं परमेश्वराभिन्नत्वेन तस्मिन् वर्तमानं स्फुरद्रूपं तद्वन्नित्यमेव। अत एवोक्तमागमशास्त्रं प्रकृत्य **"शिवादि ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः।"** परमशिवस्यानादित्वेन कोऽपि विवादस्तथैव तदभिन्नत्वेन तस्मिन्स्फुरद्रूपेण वर्तमानस्य शास्त्रस्याप्यनादित्वमिति मन्तव्यम्। तथा चोक्तमभियुक्तैः, यथा-

अनादिः प्रवृत्तोऽयं घोरः संसारसागरः।
शिवोऽपि च तथानादिः संसारान्मोचकः स्मृतः॥

तस्माद्यथा शिवोऽनादिस्तथैव शास्त्रभूतं संसारमोचकं तज्ज्ञानमप्यकर्तृकं सत्तद्वदनाद्येव। निगमागमयोरेकशास्त्रत्वादागमेषु श्रुत्यनुवादः श्रुतिष्वागमानुवादश्च बहुल उपलभ्यते।

आगमेषु शैवागमाः श्रीविद्यागमाश्च प्रधानाः। शैवागमे शिव- रौद्र-भैरवभेदेन त्रैविध्यम्। तत्र शिवागमाः कामिकादिदशद्वैतोपासनाप्रधानाः। रौद्रागमाः सुप्रभेदाद्यष्टादशद्वैताद्वैतमिश्रोपासनाप्रधानाः। भैरवागमाश्चतुःषष्टिसंख्याका अद्वैतप्रधानाः। आगमेषु पञ्चस्रोतोभेदेन देवतानां तदुपास्तिविधीनां च व्यवस्था। अधिकारभेदेनोपासकरुचिभेदेन च तत्तदुपासकभूमिकोचितविधीनां देवतानां तन्मन्त्राणां चोपयोगिता। अशेषशैवागमेषु भैरवशासनं श्रेष्ठतमम्।

दक्षिणादुत्तमं वामं वामात्सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं नहि॥

इति भैरवागमवचनम्। तत्तु शैवागमेषूक्तद्वैत - द्वैताद्वैत-अद्वैतप्रधानतया प्रक्रियात्रैविध्येन व्यवस्थापितं दक्षिण-वाम-सिद्धान्त- कुलसंज्ञकविधिपरम्। तेनैतेषु चतुर्षु भैरवकुलं श्रेष्ठम्। कालीकुलमपि भैरवकुलसमकक्षम्। त्रिकशास्त्रमपि तथैव भैरवकालीकुलसमानभूमिकम्। महार्थप्रक्रिया तु कालीकुलसारभूतोपासनपर्याया। भैरवकुले प्राधान्येनानन्दभैरव-आनन्दभैरवी, अमृतेश्वर-अमृतेश्वरी, स्वच्छन्दभैरव-अघोरेश्वरीसंज्ञकदेवतानामुपासना मुख्याः। पञ्चस्रोतोभेदेन भैरवागमे तासामेव व्याप्तिर्दृश्यते कालीकुले महार्थप्रक्रिया प्रोक्ता। तदङ्गत्वेन पञ्चवाहादिक्रमः सृष्ट्यादिभासान्तक्रमश्च विहितः। त्रिकशास्त्रे त्वेतामेव सरणिमनुसृत्य शिवेन अपरा-परापरा-परेति देवतात्रयस्य क्रमेण नवात्मभैरव-रतिशेखरभैरव-सद्भावभैरवेति तत्तद्देवता भैरवाणां च द्वैतमिश्राद्वैतप्रधानभावनापरिपोषणहेतुनोपासनप्रक्रियोपनिबद्धा। तथा चेतदुपासकभूमिकोत्तरभूमिकारूपत्वेनैव त्रैपुरसिद्धान्त आगमेषूपपादितः। त्रैपुरकुलं तु भैरवकुल-कालीकुल-त्रिकादीनां सारभूतं तत्समष्टिरूपं तदुत्तीर्णञ्चेति रहस्यम्। तदुक्तं श्रीत्रिपुराविद्यां प्रकृत्य-

वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः।
तथा मन्त्राः समस्ताश्च विद्यायामत्र संस्थिताः॥ इति

तेन श्रीविद्यायां निखिलागमशास्त्रजातस्य मूलवलयभूतायां सर्वेऽपि मन्त्रा जालसूत्राणीवोपनिबद्धाः प्रत्युतानयैव सहायभूतया इतरमन्त्राणां

वीर्यवत्तेत्यपि सङ्गच्छते। तदुक्तम्- **“त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये”** इति वामकेश्वरतन्त्रे। तत्र ज्ञानादितो भेदप्रथामये जगति भासमानानामनेकत्रिपुटीनां मुख्या समष्टिभूता या ज्ञानज्ञातृज्ञेयरूपा त्रिपुटी तस्याः पूर्वमपि सततं स्थिता अत एव आद्येति तस्या विशेषणम्। सैव जगद्योनिश्चेत्यादिपदैर्व्यवह्रियते। जगतः शास्त्रस्य चादिकारणत्वेन लक्ष्या शास्त्रेणैव प्राप्या वा। त्रैपुरसिद्धान्तेऽपि द्वैत-द्वैताद्वैत-अद्वैतात्मकत्रैविध्येनोपासकभूमिकाभेदं प्रकृत्य श्रीविद्यायास्त्रिविधोपासनं भिन्नं भिन्नमुक्तम्, तत्रापि श्रीविद्याहृदयत्वेन तस्याः सूक्ष्मरूपत्वेन च परायास्तदभिन्नत्वं सारभूतत्वं चोक्तम्। एवं निखिलनिगमागमरूपशास्त्रबीजं तद्विस्तरश्च त्रैपुरसिद्धान्ते यथायथं परिनिष्ठितः। **“तस्या परिणतायां तु न कश्चित्पर इष्यते”** इति रीत्या निखिलशास्त्रविस्तरे तद्बीजभूतश्रीविद्याया एवं परिणतिरिति त्रैपुरसिद्धान्तसर्वस्वम्। एवं चाज्ञजनोद्दिधीर्षया परमकारुणिकेन परमशिवेनाधरोत्तरनानाविधोपास्तिभूमिकोपयोगीनि निरतिशयानन्दघनस्वस्वरूपावाप्तिरूपैकान्तिकफलनिष्पत्तियोग्यानि तत्प्रक्रियाचरणे तत्तद्भूमिकासूपस्थितभेदभावनाद्यपनोदार्थं तत्तदुपासकाय स्वाभिप्रेतान्तिमफलप्राप्त्यर्थं च तत्तद्भूमिकोचितनानाविधोपासनानि चागमशास्त्रे निरूपितानि। इत्थमागमशास्त्रकृदाशयं जानतः साधकस्यावान्तरोपास्तिभूमिकास्वप्यात्मीयत्वनिश्चये न कापि विप्रतिपत्तिः। प्रत्युतास्याज्ञजनोद्दिधीर्षाप्रयुक्तस्य तत्तदुपासनप्रक्रियारूपेण तत्कारुणिकत्वप्रतीतौ तन्निष्ठानुरागविवर्धनेन परभक्त्युदयो भवेत्। येन भेदे भासमानेऽभेदसारां निष्ठां प्राप्योपासकस्तत्प्रसादभाजनं भवेत्। यथा भैरवप्रक्रियायां भीजनितसाधकरवाविर्भूतत्वहेतुत्वेन तदुपकारकर्तृत्वं च भैरवस्य कालीकुलप्रक्रियायां स्वस्मर्तृहृदयकलनात् कालीति साधकचित्तस्य स्वप्रवणकरणकौशलं विज्ञाय च भक्तियोगदार्ढ्येन स्वस्वरूपप्रकाशनविधौ अन्तरायभूतनिखिलविकल्पजालत्रोटनेन श्रीविद्योपासनया सहजसिद्धस्वानन्दमयपरविश्रान्तिभूमिप्राप्त्याऽसावाशुकृतार्थतामियात्।

आम्नायाः सप्तविधाः—पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वाधोऽनुत्तरभेदात्। तत्र पूर्वाद्यूर्ध्वान्ताः पञ्चाम्नायास्तत्तद्दिगभिमुखोपाधिवदुपासकमुद्दिश्याम्नाताः। वस्तुतस्तु सर्वव्यापकस्य सर्वगतस्य परमशिवस्य सर्वतः सर्वदा स्वाभिमुखत्वम्।

तथाप्युपासकानां देहाद्युपाधिमत्वात्तदनुग्रहार्थं विराड्रूपधारिणः शिवस्य तत्तद्दिग्विभागोन्मुखत्वमपि तदिच्छया उपासकाभीप्सितपूरणार्थमुपकल्पितमस्ति। तेनोपासकापेक्षया पूर्वदिग्गतमुखादवतीर्णः पूर्वाम्नायः, दक्षिणदिग्गतमुखादवतीर्णो दक्षिणाम्नायः, उर्ध्वमुखादूर्ध्वाम्नायश्च। अधराम्नायोऽपि त्रिविधः– देहे अधोमुखस्य कुण्डलिनीस्थानरूपेण गुदोपस्थरूपेण चेति त्रैविध्यात्। तत्र विराड्रूपपरमशिवस्य कुण्डलिनीरूपाधोमुखान्निर्गताधराम्नायस्य कुण्डलिनीदेवता। सैवाधराम्नायेश्वरीति श्रीचक्रे पूजनीया। विराड्रूपस्य कुण्डलिनीस्थाने शेषः प्रतिष्ठितः। शेषां वेति नाम्नी शेषमातैव ब्रह्माण्डकुण्डलिनी। तथा व शिवस्याधोमुखध्यानं यथा–

यद्वेदान्तमनन्तरूपमसुरैः सम्पूजितं चामरैः
पुन्नागाम्बुजनागपुष्पवकुलैर्नागाधिपैरर्चितम्।
नित्यं भानुसहस्रदीप्तिसदृशं कालाग्निरुद्रोपमं
तत्संहारकरं नमामि सततं पातालसंस्थं मुखम्।।

इति कुण्डलिनी। विराड्रूपपरमशिवस्य पायुमार्गोद्भूतस्य आम्नायस्याप्यधराम्नाय इति संज्ञा। तस्य सुगतजिनाद्युपासिता पद्मावतीदेवता। एतदागमे प्राय ऐहिकैकफलकान्येवोपासनानि दर्शितानि। तदुक्तम्–

तारपाशकूर्चबीजं त्र्यक्षरीजिनसेविता।
सौगतानुगता साक्षात् कलौ शीघ्रफलप्रदा।।

इहैव फलदा नित्या नापवर्गफलप्रदा।
सौगतानुगता सर्वा नानाभेदसमाश्रिता।।

कालचक्रं शम्बरं च हयग्रीवाख्यभैरवम्।
योगाम्बरं च कालेशं शाबरी सौगताश्रिता।। इति।

तथा च तस्योपस्थरूपाधोमुखान्निर्गतस्याधराम्नायस्य वज्रवैरोचनी विद्या। तदुद्धारो यथा–

लक्ष्मीं लज्जां ततो मायां मात्रां द्वादशिकां तथा।
वज्रवैरोचनीये च माये फट्स्वाहया युते।। इति।

अत्र त्वपवर्गफलत्वमप्यस्ति। एतेनाधराम्नायस्त्रिधा स्थित इति स्थितिः।

आम्नायविभागं प्रकृत्य पूर्वाद्यूर्ध्वान्ता आगमाः **“ऊर्ध्वस्रोतोभवा ह्येते नाभ्यधःस्रोतसः परे”** इत्युक्ताः। तत्र गौणत्वेनोपवर्णितानामागमानां नाभ्यधः-स्रोतसः नाभौ संवलिताधःस्थाधोद्वारत्वेन स्थितगुदस्थाननिर्गतत्वं वेद्यम्।

स्वस्वरूपतिरोधानरूपाऽज्ञानदशायाम् अख्यातिरित्यपरपर्यायायां निगडितस्य प्रमातुः पुर्यष्टकनिबद्धस्य बुद्धिः कर्मानुसारिणी, तस्याः प्रेरकतत्कृतकर्मफलदाता च कालः।

यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

इति [महा]नारायणोपनिषदुक्तस्थित्या सर्वस्य शिवमयत्वे सर्वव्यापकात् शिवात् स्वात्मनोऽन्यत्वेनावस्थानमवकाशमिति सुदृढं जानानः प्रमाताऽनन्यतया शिवं शरणीकर्तुमिच्छन् तं प्रार्थयते।

यो देवानां प्रथमं पुरस्ताद्विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु॥

इति महानारायणोपनिषद्।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवतात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषद् च।

एवं प्रार्थितेन परमकारुणिकेन शिवेन तस्मै शुभधीस्मृतिदानम् आत्मबुद्धिप्रकाशत्वं च तन्निःश्रेयसनिदानम्। अनादिसंसारवासनाकलुषितमतेः तत्तर्कितस्मृतेः सर्वोत्तीर्णनित्यशुद्धपरमशिवभावाकलनेन कदापि बुद्धिप्रसरः शक्यः। अत एव गायत्र्या तत्स्वरूपप्रकाशनसमर्थानां धियां प्रचोदकत्वेन

देवस्य सर्वतः प्रकाशमानस्य परमशिवस्य भर्गो ध्यानार्थमादृतम्। एवं शरणीयत्वेनाभिमुखीकृतः स परमशिवः। **“अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् अहींश्च सर्वान् जंभयन् सर्वांश्च यातुधान्यः”** इति श्रुतिः। प्रथमः सर्वाद्यत्वेन सर्वोत्तीर्णत्वेन स्थितः देव्याः अलौकिकः भिषग् भक्तस्य रुक्चिकित्सापूर्वकतन्निरासससमर्थौषधियोजनेन तद् द्रावकः रुद्रः अधिवक्ता सर्वाननुल्लङ्घ्य शासनत्वेन अधिकं वक्तुमर्हः भक्तपक्षपाती च सर्वान् अहींश्च जम्भयन् मत्कृते सर्वांश्च यातुधान्यः राक्षसीः निर्विषान् कुर्वन् उपद्रवजननाऽसमर्थाश्च सम्पादयन् (सर्वाश्च यातुधान्यः राक्षसीः जम्भयन् मत्कृते उपद्रवजननासमर्थाश्च सम्पादयन् सर्वान् अहींश्च निर्विषान् कुर्वन्) अध्यवोचत् अधिब्रवीतु मां प्रार्थयमानं भक्तं सामान्यजननियामकशास्त्रादधिकं मदौपयिकं स्वाभिप्रेतम् आगमादिक्षिप्रफलदायकं शास्त्रं स्फोरयतु। अस्य सर्वानुग्राहकस्य रुद्रेत्यन्वर्थाभिधानवतः परमेश्वरस्य भिषजः **“शिवा रुद्रस्य भेषजी तथा नो मृडजीवसे”** इति श्रुतिः। शिवे स्वाभिन्नतया सततं वर्तमाना शिवा कल्याणकारिणी तदनुग्राहिकाशक्तिरेव तस्य भेषजी ओषधी तया तव भक्तभूतेषु अस्मासु नियुक्ततया हे मृड सुखदायक नः अस्मान् जीवसे स्वस्वरूपप्रमोषरूपमृत्योस्त्रायसे। एतेन परमशिवस्य सामान्यतः उपलब्धश्रुतिप्रतिपादिज्ञानाधिकागमादिरहस्यवक्तृत्वं प्रतिपादितम्। तथा च विशेषतोऽधिकज्ञानदातृत्वमपि रुद्राध्यायश्रुतिभिः स्पष्टं प्रतीयते।

“ईशानः सर्वविद्यानाम्”इति श्रुत्या सर्वविद्यानां ज्ञानसाधनानाम् ईशानः। ततज्ज्ञानसाधनेषु स्वाशयोचितसामर्थ्याधायकः परमशिव एव **“अर्हन्निदं दयसे विश्वमब्भुवाम्”** इति श्रुत्या इदम् अब्भूपलक्षितपञ्चभूतात्मकत्वेन भासमानं विश्वम् अर्हन् अर्हत्वेनान्यतया आरध्यत्वेन पूज्यतमोऽसीति साधकनिश्चयसमकालमेव दयसे स्वस्वकर्मोचितफलदानादिसामान्यनियतिशक्त्युल्लङ्घनपूर्वकमप्यनुगृह्णासीति स्वाराधकभक्तविषये परमेश्वरस्य विशेषानुग्रहकरणस्वभाव उक्तः।

भक्ष्याभक्ष्य-पेयापेय-सामान्यविशेषनियमाः शास्त्रे बहुशो दृश्यन्ते। पदार्थानां विहितत्व-निषिद्धत्वयोः शास्त्रवचनमेव नियामकमिति सर्वेषामविवादः। श्रुतौ प्राणविद्योपासकं प्रकृत्योक्तम् **“न तस्य किञ्चिदन्नं भवति”** इति।

इत्येवं सर्वान्नानुमतिदर्शनाद् व्याससूत्रे तदधिकरणे श्रीमद्भगवत्पादभाष्ये विचारः। विद्वदविद्वज्जनाः प्रसङ्गाद् भक्ष्याभक्ष्य-पेयापेयत्वेन सामान्यतया विहितनिषिद्धपदार्थसेवनपरा दृश्यन्ते। तत्र विशेषवाक्यैस्तत्समर्थनं निषेधं चोपलभ्य शास्त्रीयत्वशङ्कावकाशः सम्भवति। अत एव तदधिकरणे तद्विचारः प्रवृतः। तत्र त्रयीधर्मपरायणान् प्रकृत्यैव मुख्यतया विचारः कृतः। ते तु स्वोपार्जितयज्ञादिकर्मफलरूपसंस्कारबलादेवामुष्मिकभोगरूपमोक्षमभिमन्वन्तस्तत्कर्माङ्गत्वेन विहितं मद्यमांसादिसेवनं कुर्वन्तोऽपि न स्वात्मानं दूषितं मन्यन्ते। चोदनालक्षणात्मकधर्मपराः परमेश्वरविषये अश्रद्दधानाः सन्तोऽपि विधिबलान्न प्रत्यवायिनः इति स्थितिः, परमेश्वराज्ञारूपत्वाद्विधेः। एवमनीश्वराणां मीमांसकानामपि मद्यमांसादिपदार्थसेवनं विधिबलात्पुण्यफलजनकं प्रतीयते। प्रत्युत तद्विधिप्रचोदितफलजननसमर्थापूर्वजननाय कल्पत इत्येव तेषामाश्वासः। किमुत आगमोपासकानां परमेश्वरनिष्ठानां तदाज्ञावशवर्तिनां तत्तद्देवतोपासनाविधिप्रयुक्तपदार्थसेवने प्रत्यवायशङ्कानवकाश इति वक्तव्यम्। एवं विशेषवाक्यबलादनीश्वरमीमांसकोऽपि नाभक्ष्यदोषभाक् तर्हि ईश्वराज्ञाप्रयुक्त उपासकस्तेन कथं दूष्येत अपि तु न कथञ्चिदिति समाश्वासो दृढीकर्तव्यः।

शास्त्रे प्रतिप्रस्थानं साधनानां तत्साध्यतया निरूपितानां साध्यानामपि भिन्न-भिन्नलक्षणत्वं व्यवस्थितम्। तथा च तत्प्रस्थाननिरूपितमोक्षेष्वपि तरतमभावः। कुलमार्गानुष्ठानरहितस्य वेदान्तशास्त्रविचारनिमग्नस्य श्रवणमनननिदिध्यासनादिबौद्धिककर्मसंस्कारजनितफलस्वरूपकृत्रिमविदेहतावाप्तिरूपमोक्ष एव पर्यवसानम्। तथा चोक्तं स्वच्छन्दे-

सांख्यज्ञानेन सम्मूढो मुक्तिरित्यभिमन्यते।
नहि मुक्तिर्भवेत्तस्य कञ्चित्कालं विदेहता॥ इति।

अत एवोक्तम्-

सांख्यवेदादिसिद्धांस्तान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिरीदृशी॥ इति।

"अत्ता चराचरग्रहणात्" इत्यादिवैय्यासिकसूत्रप्रतिपादितस्य साक्षात्परमेश्वरानुग्रहादस्य मृत्युभयं विभ्रत्याः अहंममेत्यादिरूपपशुवृतेः निगरणमन्तरेण साक्षान्मोक्षस्याऽसम्भवात्। इत्येव पर्यवसानम्। प्रत्यक्षतादात्म्यफलस्वरूपवास्तवमोक्षेऽगतिकतया चास्याऽप्रसरः। शास्त्रसिद्धान्तलेशे श्रीमदप्पयदीक्षितैरेतद्वितत्य प्रपञ्चितम्। वेदान्तविषयकशुष्कविचारव्यसनितया अमोक्षे मोक्षकल्पनया च भ्रान्तानां लक्षणान्यपि बहुश उपवर्णितानि। स्वस्वकल्पनानुगुणतर्काश्रयणेन तादृशविचारव्यसनिनः शास्त्रवचनान्यपि स्वयमन्यथावगच्छन्तः परेभ्योऽप्यन्यथा प्रतिपादयन्तश्च तान् भ्रामयन्त्यत एवैतादृशाभ्रान्ताः श्रेयः प्रेप्सुभिर्दूरत एवं परिवर्जनीयाः। त्रैपुरकुलशास्त्रं त्रिकशास्त्रस्य पूर्णविकासरूपम्।

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम्।
यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम्।।

इति त्रैपुरकुलविषयकवचनात्। कुलशास्त्रानुष्ठानादेव यथार्थसाक्षात्परमेश्वरशक्तिपातसम्भवः। एतदनुष्ठानमन्तरा वेदान्तवादिनिर्दिष्टा ब्रह्मनिष्ठतावाप्तिः कृत्रिमा, अत एव अनित्या अपि।

कुलसारमजानन्तो ह्यद्वये निपतन्ति ये।
स्वचित्तोत्थविकल्पान्धा निरये निपतन्ति ते।।

इति वचनात्। उपनिषन्निष्ठसांख्यमार्गावलम्बिभिः **"आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"** इत्युक्तत्वादेतदेवात्मप्राप्तिसाधनमिति मन्यते। तत्र परमेश्वरशक्तिपातविरहे सद्गुरुतः शास्त्रं न यथार्थमवधारयितुं शक्यते। स्वचित्तोत्थविकल्पसम्भेदात्तदा यथार्थमननस्य निदिध्यासनस्य च का वार्ता? वस्तुतस्तु शिवादुद्भूतानां शिवसद्भावदानसमर्थानां मननत्राणधर्माणां ब्रह्मविद्यादिमन्त्राणां सेवनमेव वेदान्तेऽपि मननशब्दार्थः। यथार्थपरमशिवाद्वैतभावापादने तेषामेव साक्षाच्छक्तिः। वस्तुतस्तु उपनिषन्निष्ठयोगमार्गे तु **"एतैर्मन्त्रैर्देवं स्तुवीत ततो देवः प्रीतो भवति", "स्वात्मानं दर्शयति तस्माद्य एतैर्मन्त्रैः स्तौति स ब्रह्म पश्यति स सर्वं पश्यति सोऽमृतत्वमश्नुते य एवं वेद।"** एतादृशानि वाक्यानि वक्ष्यमाणां भूमिकां स्पष्टं प्रतिपादयन्ति। मन्त्रध्यानयोगादन्यानि साधनानि स्वविकल्पविषदग्धतया अहङ्कारप्रमुख-

विशेषविकृतिजनने तत्संस्कारदृढीकरणे च परिणमन्तीति ततदभूमिकाविषयकसाध्यसिद्धिहेतुसाधनैकविधानस्य शास्त्रेणैवोपकल्पितसाधनान्तरनिरासे तात्पर्यकल्पनास्वपरिगृहीतैकसाधनाभिमानतयैव पर्यवस्येत्। **"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"** इति श्रुतिभाष्ये औपनिषदमिति पदस्य उपनिषदैकगम्यमिति व्याख्याया उपनिषदितरशास्त्रभागे तत्पुरुषानभिज्ञत्वविषयमानर्थक्यं सूचयतीत्यर्थो न समीचीनः। स पुरुष उपनिषदैकगम्यो नान्यशास्त्रभागगम्य इति कल्पनास्वरूपपक्षरूढिमात्रत्वात्स्तोभ एव। वस्तुतस्तु नहि प्रमाणवैचित्र्ये प्रमेयस्यापि चित्रता। **"अप्युपेयपदस्थित्या उपाया अव्यवस्थिताः"** इति वचनादुपायानां ज्ञानसाधनानां परस्परभिन्नता साधकभूमिकाभेदेन च स्वाभाविक्येव। यथा आरोग्यरूपसाध्यैक्येऽपि आमयादीनां भिन्नप्रकृतिकत्वात् तत्तत्प्रयोज्यौषधीनां नानात्वम्।

उपायानामव्यवस्थितताया: साधकाधिकारभिन्नत्वमेव बीजम्। अत एव शास्त्रे सामान्यविशेषनियमविधीनामधिकारिभेदाद् व्यवस्था। यथा बालशिक्षायां तद्धितैषिभिराप्तजनैरपि सत्यापलापपूर्वकमसत्यस्यैव सत्यत्वेन प्रतिष्ठापनं प्रसङ्गात् कर्तुमावश्यकं भवतीति सर्वसम्मतम्। यथा चोक्तम्-

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।। इति।

तथा च यथा बालयुवप्रौढवृद्धादिशिक्षासु स्वल्पतरस्वल्पादिक्रमेण सत्यांशन्यूनत्वं सत्यांशाधिक्यमिति क्रमेण शिक्षाकौशलम्। तथैव-

साांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै।।

तथा - **"ज्ञानान्येतानि राजर्षे ज्ञेयश्चैको महेश्वरः"** इति वचनाभ्यां सांख्यादिज्ञानानां तत्तदधरोत्तरभूमिकोचितज्ञानतारतम्यं तद्द्वारा भूमिकाया भूमिकान्तरप्राप्तिक्रमेणान्ते यथार्थशिवभावावाप्तिरूपज्ञानकाष्ठा चेति शिक्षाशैली। अत एवाधरशास्त्राधिकारिणस्तदुत्तरभूमिकोचितशास्त्रे भगवच्छक्तिपातरूपप्रसादमन्तरेण नाधिक्रियन्त इति सर्वसमञ्जसम्। तथा च पशुपतिशास्त्रं प्रकृत्य-

तस्माद्ये केचनान्ये स्युः पशुशासनवर्तिनः।
वैष्णवाः सौगताः श्रौता यथा श्रुत्यन्तवादिनः॥
इत्यादयो नाधिकृता जातुचित्पतिशासने॥

इति मालिनीविजयवार्तिके श्रीमदभिनवगुप्तपादैरुक्तम्। तत्र श्रुत्यन्त- वादिनस्तु स्वोपज्ञविमर्शपरायणा एवेति प्रायेण स्वचित्तोत्थविकल्पान्धकोटावेव गणनीयाः। "अहं शक्तः कर्ता चैतत्साधनेनैतत्करिष्ये" इति कर्तृत्वाभिमानरूपकर्मकाण्डीयसंस्कारवान् औपनिषदर्थेऽपि तत्संस्कारं पुष्णन्नेव प्रायशः प्रवर्तते। न चैतावता तस्य कर्मपाशनिवृत्तिसम्भवः। प्रत्युत कर्मफलरूपामेव काञ्चिन्निष्ठां प्राप्य स्वाभिमानं द्रढयेत्। तस्मादेवंविधानां श्रुत्यन्तवादिनां पक्षस्तु पशुपतिशास्त्रापेक्षया निकृष्ट एव। **"अविद्यावद्विषयाणि शास्त्राणि"**। यथा कञ्चित्स्वयं रोगी भिषगाश्रयं लब्ध्वा तदाज्ञानुवर्तनपुरःसरं तत्प्रत्युक्तौषधसेवनेनैवारोग्यं लब्ध्वा निर्वृत्तिमेति, एवं मुमुक्षुरपि गुरूपसदनतदाज्ञानुपालनतदुक्तकरणपुरःसरं तत्प्रेरितस्वोचितशास्त्रानुष्ठानतत्परः सन् शास्त्राभिप्रेतफलभाग्भवेत्। अन्यथा स्वविकल्पान्ध्यपरिभूतः क्लिश्येत्। अध्वश्रान्तः परमार्थपथमपि जिहासेद्वा।

श्रुतौ यथा त्रैगुण्या विषयास्त्रयीधर्माः, निस्त्रैगुण्यविषया उपनिषदुक्तधर्माः, तथैवागमशास्त्रेऽपि प्रवृत्तिप्रधानतया निवृत्तिप्रधानतया च साधनानां साध्यानां च भेदेन वर्णनं क्वचित् क्वचित् सङ्गच्छते। तेन श्रुताविवागमेऽपि लौकिकालौकिकत्वेन द्वैविध्यम्। परमशिवेनागमशास्त्रं न कस्यापि प्रतारणाय मोहनाय वा प्रणीतम्; किन्तु सकामकर्मफलाशालोभप्रवृत्तान् शास्त्वा ततः प्रच्याव्य स्वाभिमुखीकरणार्थमेव प्रणीतम्। तथा च वेदाधिकारिणां वेदमार्गमुज्झित्वा अन्यायेन कामनावशतः तन्त्राश्रयणकर्तॄणां शिक्षायै श्रुतिभ्रष्टानां रक्षायै चापि क्वचित्तन्त्राणि प्रणीतानि। एतादृशानां भेदप्रधानाधरभूमिकापराणां तन्त्राणां त्रयीधर्मवद्विस्थानत्वमेव। अभेदसाराणि भेदाभेदमिश्रभावनानुकूलानि तथा च सर्वथा अभेदोपदेशपराणि तन्त्राणि श्रौतोपनिषद्भागान्न तत्त्वतो भिद्यन्ते। तत्र स्वतन्त्रतन्त्रमिति स्वात्मबोधनपरं तन्त्रमित्येवार्थः **"त्रयी साङ्ख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवम्"**इति प्रस्थानपञ्चकम्। तत्र चतुर्थपञ्चमस्थानयो-

रागमशास्त्रेऽन्तर्भावः। ज्ञानविषयकोपनिषद्भागे यथा श्रौतानां संन्यासग्रहणपूर्वकं प्रवेशः, तथैवात्मज्ञानविषयकागमशास्त्रे दीक्षाग्रहणपूर्वकमेव प्रवेशः। उपनिषद्भागे ज्ञानदायकविधीनां स्वल्पतया विवरणम्। आगमशास्त्रे च तेषामेवोपबृंहणमिति द्वयोर्मिलित्वैकशास्त्रत्वमित्येव तत्त्वम्। तथा च आगमेऽपि श्रौताश्रौतभेदौ। तत्र श्रौतागमस्तावत् त्रयीधर्मोपबृंहकः। अश्रौतागमस्तु वेदत्रयीतरोपनिषद्भागोपबृंहकः। अद्वैतनिष्ठोपोद्बलकानामुपनिषद्भागानामुपबृंहकत्वेन स्थित आगमस्तु श्रुतिसारमयोऽन्यस्तु शतकोटिप्रविस्तरः। परं पाशुपतं यत्रेत्यादिना वर्णितः, सोऽपि श्रुतिसारमयत्वाच्च श्रौत एव। तस्माद्यत्र पुराणादिवचने आगमशास्त्रं प्रकृत्य अश्रौतः स्वतन्त्र इत्यादि विशेषणं तत्र तस्य वैदिककर्मकाण्डाभिन्नत्वद्योतकमेव, न तु सर्वथा वेदविरुद्धद्योतकत्वमिति मन्तव्यम्।

आगमशास्त्रविधौ तत्तद्देवताद्युपासनायां विधिवद्दीक्षित एवाधिकारी। वेदेऽपि च तथैव। यतो मुण्डकोपनिषदि **"तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत्। शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्"** मुण्डकोक्तब्रह्मविद्यानुष्ठानेऽधिकारी न केवलं संन्यासिमात्रत्वात् कश्चनान्यः। वादनक्षत्रमालायां श्रीमदप्पयदीक्षितैरेतद्विशदीकृतम्। एवं च वेदे उपनयनसंस्कारेण वेदाध्ययनाधिकारसामान्ये सिद्धेऽपि शिरोव्रतचर्यां विना यथा न मुण्डकविद्योपासनाधिकारः, तथैव गणेशादिदीक्षां विना गणपत्यथर्वशीर्षाद्यनुष्ठानेऽपि नास्त्येवाधिकार इति सिद्धम्। तेन अथर्ववेदादौ त्रिपुरा-राम-नृसिंह-तापिन्याद्युपनिषदादौ च प्रतिपादितविद्याद्यनुष्ठानविषये अधिकारसम्पत्त्यर्थमावश्यकीनां दीक्षादीनां तत्र तत्र सूचितत्वात्। तदुपबृंहणरूपागमानाम् आवश्यकता अर्थत एवं सिद्धा। **"इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम्"** इत्यादिना तद्दानपात्रस्य शिष्यत्वम्। अत एव तत्तद्देवतोपासनाप्रवेशयोग्यदीक्षादिशालित्वं च श्रुत्या स्पष्टमेव सूचितम्। उपनिषदुक्तज्ञानमार्गे त्रैवर्णिकानां संन्यासपूर्वकः प्रवेशाधिकारः। आगमे तु दीक्षादिनां सर्ववर्णीयानामवर्णीयानां च जीवमात्राणां प्रवेशाधिकार इति विशेषः। स तु आगमशास्त्रकर्तुः परमशिवस्य परमकारुणिकत्वहेतोः स्वाभाविक एव। तथा चोक्तम्-

प्रायश्चित्तं धर्मशास्त्रे प्रोक्तं यन्मरणान्तिकम्।
कलौ दुर्बलचित्तानां मरणे जायते भयम्।।
तेषामेवानुकम्पार्थं खल्वहं तन्त्रमुक्तवान्।। इति।

तदपि तस्य कारुणिकत्वप्रयुक्तमेव। एवञ्च प्रागुक्तपञ्चप्रस्थानेष्वेकतर-प्रस्थानभ्रष्टः शास्त्रनिषेधाभावेऽन्यप्रस्थानेऽधिक्रियते। ततश्च त्रयीधर्मभ्रष्टो ब्राह्मणादिः पाञ्चरात्रप्रस्थाने स्वीकृतश्चेत्तत्र न कोऽपि प्रतिषेधः। एतावता परमेश्वरप्रणीतनिगमागमरूपसनातनधर्मस्यैकशाखाभ्रष्टस्यान्यशाखायां स्वीकारावकाशेन धर्माश्रयविरहजनितेहामुत्र क्लेशप्रसङ्गो न भवेदिति शास्त्रविद्भिराचार्यैर्धर्मव्यवस्थारक्षणं कर्तुमुचितम्।

ईश्वराराधने निगमागमोक्तविधीनां फलप्रदत्वं सामान्यम्। प्रत्युतागमोक्त-विधिर्विशिष्य आशुफलप्रदत्वेन विधीयते। अत एव त्रयीधर्मपरायणेन वैदिकेनापि आश्रयणीय एव। यदुक्तम्–

वैदिकस्तान्त्रिकोमिश्र इति मे त्रिविधो मखः।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्।।

य आशुहृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेदेवं तन्त्रोक्तेन च केवलम्।।

अत्र चकाराद्वैदिकेन सह समुच्चयः सूचितः। केवलमिति। तत्र ईप्सितेनैव विधिना इत्यत्र दीक्षादिप्रयुक्तस्वस्वाधिकारानुकूल्येन ईप्सितेन विधिना इत्यर्थः।

तप्तमुद्राधारणनिषेधबीजम्। अत एव सर्वदेवतायतनरूपं यद्ब्राह्मणशरीरं तस्यावयवदहने तन्निष्ठदेवतायतनदहनजन्यपापभाग् भवति।

“यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति” इति श्रुत्या देवताऽऽवासयोग्यं ब्राह्मणशरीरं तप्तमुद्रादिभिस्तद्दग्ध्वा सर्वदेवतामयत्व-विस्मरणपूर्वकं विष्णवाद्येकदेवताया दासभावाभिनिवेशं स्वीकुर्वन्तो माध्यादयो ब्राह्मण्याद् भ्रष्टा एव। गृहस्थस्य केवलमानसकर्मणो निषेधः।

केवलं मानसेनैव नैव सिद्धो भवेद् गृही।
सबाह्येन तु तेनैव गृहस्थो मुनिपुङ्गव:।।

इति गन्धर्वतन्त्ववचनाद् गृहस्थेनोपासनायां जपादिमानसकर्मणो बहिरर्चादिकर्मणश्च सम्यगनुष्ठानमवश्यं कर्तव्यम्। श्रीमद्भगवद्गीतायाम्–

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।

इत्यत्र स्वशिष्यमर्जुनं प्रति भगवता श्रीकृष्णेन मानुषतनुधारिण: स्वस्य माहेश्वरस्य परभावरूपं गुरुत्वं सूचितम्। तेन गुरोराधिभौतिकस्थूलरूपवर्णना सङ्गच्छते।

तदेवान्यत्र भूमिरापो नलो वायु: खं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।

अपरेयमिति व्याख्यातम्। ततो गुरुतत्त्वस्याधिदैवम्,

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।

इति चितिशक्त्यात्मकं जगतो जीवभूतं जगदनुग्रहपरमिति सूचितम्। **"ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्"** इत्यत्र गुरोर्मन्त्रमयस्वरूपमुपलक्षितम्। स्वाभिन्नगुरुतत्त्वानुस्मारकमन्त्ररूपोङ्कारव्याहारनिदर्शनात्। सर्वानुग्राहकपरमेश्वरवाचकानां रहस्यमन्त्राणां मध्ये प्रणवमन्त्रस्य तद्वाचकत्वे साक्षाच्छक्तेर्मन्त्रदेवताया मन्त्ररूपत्वं मन्त्रमयत्वमन्त्रातीतत्वमन्त्रनिर्मातृत्वशक्तिरागमेषु समाम्नाता। प्रणवस्तु साक्षात्परमेश्वरेणोच्चारितो मन्त्रविशेष:। तन्निष्ठमन्त्रनिर्मातृत्वशक्तिस्तु उमेति। **"ॐकारसारशक्तित्वादुमेति परिगीयते"** इति वचनात् तेनैतत्सशक्तिकप्रणवरूपमन्त्रस्य साक्षात्सशक्तिकपरमेश्वररूपत्वं स्पष्टं प्रतीयते। वाण्या वाणीति शब्दोच्चारणे यथोच्चारितवाणीशब्दस्य वाण्या सहैक्यप्रतीतिनैसर्गिकी तथा प्रणवरूपशब्दोच्चारणे प्रणवलक्षितसशक्तिकपरमेश्वरैक्यप्रतीतिरिति। प्रणवाक्षरे उकार: स्वर:, तस्य शिवशक्त्यात्मकद्वैविध्यसूचनाय गुण: 'ओ', तस्मात् प्रणववक्तृशक्ते: 'उं'

इत्येव मूलस्वरूपम्। तत्तु स्वरादेराकृतिगणत्वादव्ययम्। तस्य शक्तित्वस्य स्पष्टज्ञानार्थं स्त्रीलिङ्गत्वद्योतनार्थं 'टाप्'प्रत्ययेन उमेति पदसिद्धिः। तस्य शक्तिशक्तिमदुभयात्मकत्वेऽपि शक्तित्वध्वननार्थं 'टाप्'प्रत्ययेन उमेति शब्दसिद्धिः। तेन उमेति प्रणवशक्तेर्नैसर्गिकं नाम। तथैव गीतायाम् – **"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः"** इत्यत्र प्रथमपदनिर्देशो ब्रह्मण एव प्राप्तः। द्वितीयं तृतीयं व पदं तदनन्तरविमर्शनिष्पन्नमिति प्रकाशविमर्शबोधकं पदत्रयं ब्रह्मणो निर्देशत्वेनोक्तम्।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छसि।।

इत्यत्र गुरोः सर्वात्मनोऽधिदैवपररूपयोरैक्योपदेशः। सर्वभूतसुहृत्वेनानुग्राहक-रूपधर्मविशेषसूचनं च श्रीभगवता कृतम्। आधिदैवरूपस्यैव आधिभौतिके परे च रूपे स्वाभाविकः प्रसर इति तस्यैव तादात्म्यापादने नैसर्गिकीशक्तिरिति।

"भक्तियोगो द्रढीयान् वै मन्त्रशास्त्रे महेश्वरि" इत्यादिवचनाद् आगमशास्त्रे भगवद्भक्तिरेव ऐकान्तिकत्वेन प्रशस्यते। प्रत्युत भगवदाराधनादिद्वारा तत्कृपापादनं तेन च तत् स्वरूपलाभ इत्येतदेव मुख्यं ध्येयमिति पर्यवस्यते। एवंविधध्येयनिष्ठमुपासकं प्रकृत्य–

पूजाविस्तारकरणे न कालः साधकस्य वै।
आम्नायस्तोत्रपाठेन महापूजाफलं लभेत्।।

नामोच्चारानुसन्धानात् सकृत्पाठाच्च तर्पयेत्।
नामोच्चारणमात्रेण मन्त्रोच्चारो भविष्यति।।

नाम्नो मन्त्रो मनोर्नाम प्रभवेत्तिलतैलवत्।
तस्माज्जपपरो भूयादर्चासक्तोऽपि वा भवेत्।।

न्यासपारायणे स्तोत्रपाठे सक्तोऽपि वा भवेत्।
अन्यथा नरकं याति कुम्भीपाकं च रौरवम्।।

तस्मादुपासको नित्यं सञ्जपेच्छुद्धमानसः।
प्रतिमन्त्रं शतावृत्त्या दशावृत्त्याऽथवा पुनः।।

अष्टावृत्त्या पञ्चावृत्त्या सकृद्वा प्रयतः पठेत्।
त्रिकालेऽप्यथवा प्रातः सायंकालेऽथवा निशि।।

संक्रमे च महापर्वे व्यतीपाते च वैघृतौ।
पौर्णिमायां चतुर्दश्यां भार्गवे गुरुवासरे।।

श्रीचक्रे त्वां समभ्यर्च्य षडाम्नायेन संयजेत्।
आम्नायान्तर्गतं मन्त्रमेकं वा प्रयतो जपेत्।।

समीहितार्थाः सिद्ध्यन्ति तस्य मुक्तिः करे स्थिता।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ह्याम्नायस्थान् मनून् जपेत्।।

शताश्वमेधाद्यत्पुण्यं वाजपेयार्बुदाच्च यत्।
क्रमपाठकोटिसंख्यां तत्फलं लभते द्रुतम्।।

स्तोत्रमेतत्पठेन्नित्यं महासुखविवर्धनम्।
आम्नायस्तोत्रपाठेन सकृदुच्चारणान् मनोः।।

देवताकीर्तनाद् देवि प्राप्यते शाश्वतं पदम्।।

इति शक्त्यागमस्थ–आम्नायस्तोत्रफलश्रुतौ विधानात्।

यागं योगं जपं होमं लीनं तु स्मरणे सदा।
एषा शक्तिः समाख्याता स्मरणेन तु भाविता।।

स्मरणाद् जगदुत्पत्तिस्तत्सकाशात्प्रजायते।
संहारः स्मरणात्प्रोक्तस्तेऽनाख्या स्मरणं स्मृतम्।।

स्मरणाज्जायते सिद्धिः स्मरणात्सर्वतः स्थितः।
क्रियाज्ञानस्वरूपात्मा सर्वतः स्मरणात्मकः।।

मुद्रामण्डलविन्यस्तस्ववीर्यकृतलंक्षणा।
एका सर्वगता शक्तिर्बहुभेदैर्निरूपिता॥

परापरविभागस्था सर्वदा कारणेश्वरी।
विद्यावस्था स्वरावस्था वर्णावस्था नदात्मिका॥

बोधशक्तिर्वरारोहे क्रियारूपाऽध्वगा तथा।
द्रष्टव्या सर्वतत्त्वस्था सामर्थ्यात्प्रकटीकृता॥

परापरविभागेन व्याप्य सर्वं व्यवस्थिता।
इत्येवं कथितान् न्यासान् रूपलक्षणसंयुतान्॥

अतः सर्वं तु विन्यस्तं स्मरणेनोभयात्मके॥

इति श्रीब्रह्मयामले पिचुमते सप्ताशीतितमे पटले सर्वानुग्राहिकायाः परदेवतायाः परापरादिविभागेन व्यवस्थितेषु नानाविधोपासनाकर्मसु तस्या व्याप्तेर्याथार्थ्येन स्मरणस्य सारभूतत्वं महत्त्वं च स्पष्टमभिहितम्। एवंविधस्मरणनिष्ठं साधकं प्रति भगवद्भक्तियोगासादिततद्व्याप्तिज्ञानपूर्वकस्मरणेन भगवन्नामोच्चारे तन्मन्त्रोच्चारे वा तुल्यं फलम्। तत्तन्मन्त्रसाधनद्वारा प्राप्यावान्तरसिद्धिरूप-फलान्वेषणस्य मुख्यतया वृत्त्या तस्मिन् अभावात् कृतसर्वकर्मणाम् अल्पत्वे विस्तरे चापि सममेव भगवत्प्रसादरूपं फलं निष्पद्यते।

अन्यानि शैवकर्माणि करोतु न करोतु वा।
शिवनाम जपेद्यस्तु सर्वदा मुच्यते तु सः॥

इति शिवगीतायामुक्तम्। तेन शैवदीक्षावन्तं तद्दीक्षाप्राप्तविविधशैवकर्म-स्वधिकारिणं प्रति नामस्मरणस्य विकल्पेनाऽनुज्ञाविधानात्। न ह्येतदर्थवादपरम्। यत आगमेष्वर्थवादाभावः, तेनाधिकारिणं प्रति तदुक्तविकल्पस्य सार्थकत्वम् अनधिकारिणं प्रत्यर्थवादपरत्वमिति व्यवस्था। सोंऽशः प्रमाणमित्युक्तः केषाञ्चिदधिकारिणामिति वचनात्।

विभोर्व्याप्तिज्ञानयुक्तस्मरणशीलस्य साधकस्य –

अविकल्पमतेर्न स्युः प्रायश्चित्तानि यद्यपि।
तथाप्यतत्त्वविद्वर्गानुग्रहाय तथा चरेत्॥

श्रीपिचौ च स्मृतेरेव पापघ्नत्वे कथं विभो।
प्रायश्चित्तविधिः प्रोक्त इति देव्या प्रचोदिते॥

उत्तरम् -

सत्यं स्मरणमेवेह सकृज्जप्तं विमोचयेत्।
सर्वस्मात्कर्मणो जालात्स्मृतितत्त्वकलाविदः॥

इति तन्त्रालोकवचनात्। द्वैताद्वैतमिश्रभावनावत्साधकसामान्यविषयेऽप्येवं नामस्मरणस्य प्रायश्चित्तत्वेन विधानं सङ्गच्छते। तथापि **"शक्तः प्रथमकल्पस्य नानुकल्पं समाचरेत्"** इति वचनात्। एवंविधसाधकैस्तु शक्तौ तत्तद्विधिना तत्तत्कर्म अवश्यं निर्वर्तनीयम्। आपत्कालादौ तु तेषां भगवन्नामस्मरणेनापि प्रासङ्गिकविकल्पः सिद्ध इति तदानीं तेनैव तत्तत्कर्मानुचरणतुल्यफलनिष्पत्तिः स्यादित्यविशङ्कमध्यवसेयम्। यथार्थत्वेन साक्षाद्भगवत्स्मृतिरेवोपासना-फलपरिपाकरूपो मुख्यतमः संस्कारः। अतः कर्माकर्मातीतवृत्तेः भगवत्प्रसादेन निखिलपशुपाशविमुक्तस्य प्राप्तभगवत्प्रसादस्य लब्धनिरन्तरनिरन्तरायभगवत्स्मृतेः उपासकधौरेयस्य वस्तुतो भगवत्स्मरणमात्रेणैव यद्यपि कृतार्थता, तथापि तेनापि लोकसंग्रहार्थं जपध्यानबाह्यपूजादितत्तत्कर्म अवश्यमनुष्ठीयते।

मयाप्येतद्व्रतस्थेन क्रियतेऽद्यापि सुव्रते।
जप्यं त्रिसन्ध्यमेतस्यास्तदेतत्पदसिद्धये॥

इति वामकेश्वर शिवेनाप्युक्तत्वात्। मयापि कर्मपाशविनिर्मुक्तेनापि लोकसंग्रहार्थम् एतद्व्रतस्थेन प्रत्यक्षपरिदृश्यमानस्नानादिनियमयुक्तेन जप्यं क्रियते। अतोऽन्येन कर्मपाशबद्धेन तदवश्यं कर्तव्यमिति तद्भाष्यम्। तथा च तत्रैव श्रीचक्रपूजां प्रकृत्य–

प्रथमाऽद्वैतभावस्था सर्वप्रचरगोचरा।
द्वितीया चक्रपूजा च सदा निष्पाद्यते मया॥

एवं ज्ञानमये देवि तृतीया स्वप्रथामयी।
उत्तमा सा परा ज्ञेया विधानं शृणु साम्प्रतम्।।

इति पूजात्रैविध्यमुक्त्वा परपूजाधिकारिणाऽपि द्वितीया चक्रपूजा कार्येति द्योतनाय सा सदा निष्पाद्यते मयेति शिवोक्तिः।

जपविधिः

भैरवागमे निष्कलस्वच्छन्दभैरवस्य सकलस्वच्छन्दभैरवस्य तच्छक्त्या अघोरेश्वर्याः, अमृतेश्वरभैरवस्य तच्छक्त्या अमृतलक्ष्म्याः, आनन्दभैरवस्य तच्छक्त्या आनन्दभैरव्याश्च मन्त्रा प्रधानाः। तथा च मन्त्रमातृका–मन्त्रडामरी–सप्तकोटीश्वरी–महासिद्धलक्ष्मीति चतस्रो विद्याः। महाप्रत्यङ्गिरामन्त्रचतुष्टयमिति कालीमतीयतन्त्रराजभट्टारकोक्ता जयद्रथयामलोक्ता तन्त्रे व्यवह्रियते। दीक्षादेव्या विद्याऽपि मुख्यतया उपास्यते।

महाकालसंहितामते एकपञ्चाशन्महाविद्याः कथिताः। शक्तिरत्नाकरमते त्रयस्त्रिंशन्महाविद्या आम्नाताः। शक्तिसङ्गममते १८, १६, १३, १०, ५, ३, २, १ इति विकल्पेन महाविद्या जप्यत्वेन कथिताः। आगममञ्जरीकारमते दशैवैता इत्युक्तम्।

त्रिपुरात्रयीति संज्ञया बालात्रिपुरसुन्दरी–महात्रिपुरसुन्दरी–महात्रिपुरभैरवीति तिस्रो विद्याः कथिताः। तासां मन्त्रध्यानादिभेदेऽपि देवताऽभेदकथनात् तिसृणां महात्रिपुरसन्दर्या व्यूहत्वम्। एकस्वभावदैवतस्य एकात्मत्वेन वर्तमानानि बहूनि बाह्यशरीराणि विविधकार्यतत्पराणि दृश्यन्ते, तान्येव व्यूहपदेन व्यवह्रियन्ते। कामरूपदेशेषु सम्प्रत्यासामेति नामसु त्रिपुरभैरवी कामाख्यादेव्याः क्षेत्रम्। महात्रिपुरसुन्दरीति नाम्ना श्रीचक्रस्थनवमचक्रेश्वरी षोडशीनित्या च लक्षिता भवति। श्रीमहाभट्टारिकाललितेति तु तस्याः प्रधानदेवताया असाधारणं नाम। अत एव कल्पसूत्रे शुद्धशक्तिमालामन्त्रे च तदेव परिगृहीतम्। जपविधिं प्रकृत्य त्रिपुरारहस्ये चर्याखण्डे उक्तम्–

रश्मिमालामनुस्मृत्य सकृदन्यान् मनूनपि।
जपमालां समाश्रित्य प्रजपेन्मुख्यमन्त्रकम्।।

तेन श्रीविद्यायाः पञ्चदशीषोडश्यादीतरदेवतामन्त्राणां तदङ्गत्वेन सकृत्सकृदावर्तनं विहितम्। कल्पसूत्रे श्रीविद्यायाः क्रमाङ्गत्वेन गणपति-श्यामा-वार्ताली-पराविद्यानां चत्वारः क्रमाः कथिताः। यद्यपि ब्राह्ममुहूर्तकृत्ये रश्मिमालास्मरणे तन्मन्त्राः सकृज्जप्ता भवेयुस्तथापि जपयज्ञविधौ पञ्चदशीमन्त्रजपात्प्राक् पुनरेतासां विद्यानां प्रातिस्विकं सकृदावर्तनं कार्यम्। फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति पूर्वमीमांसान्यायः। मन्त्रशास्त्रे तु तस्य अप्रसरः।

एकत्र तत्पराणां च मन्त्राणां शेषशेषिता।
यद्यपि स्यात्तथाप्येते मन्त्राः स्युः सर्वसिद्धिदाः॥

इति वचनाद् यद्यपि अङ्गमन्त्रोपासनायाः प्रधानविद्याप्रसादद्वारा पूर्णफलजनकत्वं तथापि अङ्गमन्त्राणामपि स्वतन्त्रोपासनम् आगमेषु विहितम्। तस्मादङ्गमन्त्रोपास्तिफलकथनमपि आगमेषु नार्थवादः। जपविधौ प्रधानविद्याया यथेष्टसंख्याको जपः। अङ्गविद्यानां च सकृत्सकृदेव जप इति स्थितिः। एतत्तु मुख्यतया अद्वैतप्रधानतन्त्रविधौ विहितम्। अन्यत्र मध्यमाधिकारिणां द्वैतप्रधानोपासनापराणां च अङ्गमन्त्रजपसंख्याविस्तोवर्णितः। क्वचित्तन्त्रेषु महाविद्यामन्त्राराधने शापोद्धारोत्कीलनसंजीवनचैतन्यापादनदीपिन्यादिमन्त्राणां जपं विधाय पश्चात्तत्तत्प्रधानविद्याया जप उक्तः। तदेतत्सर्व मध्यमाधिकारिणां द्वैताद्वैतमिश्रोपासनापराणां तदधरभूमिकास्वारूढानां च तत्तत्संकुचितज्ञानानुरोधेन शङ्कोदये तत्परिहाराय चोक्तम्। वस्तुतस्तु शास्त्रसिद्धे वस्तुनि शापोऽकिञ्चित्कर इति स्थित्या प्राधान्येनाद्वैतनिष्ठावतां साधकानां विषये तत्तन्महाविद्यायाः सर्वदा स्वाभाव्यादेव दीप्तत्वेनारात्फलप्रदत्वनिश्चये शापोद्धारसंजीवनदीपनादिसंस्कारानावश्यकत्वमिति स्थितिः। अद्वैतशिवनये श्रीपरदेवताया व्याप्तिज्ञानपूर्वकैकवारस्मरणस्यापि कोटिजपतुल्यफलत्वात्। तस्माद्द्वैतोपासनाप्रतिपादकतन्त्रेषु श्रीविद्यायाः पञ्चदश्यादिमन्त्राणां स्वतः सर्वदा दीप्तत्वान्न तेषामुत्कीलनदीपनादीनामावश्यकत्वमित्यादिवचनानि बहूनि सङ्गच्छन्ते। सञ्जीवनोत्कीलनादिमन्त्रा अपि तन्त्रभेदेन भिन्ना भिन्नाः प्रतिपादिताः। द्वैताद्वैतमिश्रभावनानिष्ठायां साधकमनोनिविष्टविविधशङ्कापनोदार्थमेव

तन्त्रोक्तकतिपयविधीनां प्रवृत्तिः। अत एव न सा सार्वत्रिकी भवितुमर्हति। शङ्काभावे तत्परिहारकविधिप्रयोजनाभावात्। कामराजकीलितोद्धारोपनिषदि श्रीविद्यायाः कामराजसंज्ञकद्वितीयकूटमेव तत्कीलकमिति प्रतिपादितम्। तेन षोडश्यादिमन्त्रेष्वपि कीलके कामराजकूटस्यैव विधानम्।

मिश्रमन्त्रविषयकः शैव-वैष्णव- गाणपतमन्त्राणां श्रीविद्यामन्त्रकूटमिश्रणेन सुन्दरीगणेश-गणेशसुन्दरीत्यादिमिश्रमन्त्रनिर्माणप्रकारो मिश्रतन्त्रेषूक्तः। तत्र-

आदौ यदुच्चरेन्नाम तद्यन्त्रं पूजयेच्छिवे। इति।
एकपीठे पृथक्पूजां विना यन्त्रेण यश्चरेत्।
देवताशापमाप्नोति रौरवं नरकं व्रजेत्॥ इति।

तदेव मिश्रमन्त्रदेवतार्चने आदावुच्चरितनामकदेवताचक्रे विन्दुस्थाने पञ्चादुच्चरितदेवताचक्रभावनां कृत्वा तत्तद्देवतायाः सावरणपूजनं कार्यमित्युक्तं भवति। तेन सुन्दरीगणेशपूजने श्रीचक्रे मध्यविन्दुस्थाने गणेशचक्रं विभाव्य तत्पूजनं कर्तव्यम्। अत्र-

न्यायाधिकरणं ज्ञात्वा पीठिकाज्ञानपूर्वकम्।
अङ्गाङ्गित्वं पुरा ज्ञात्वा सर्वकर्माणि साधयेत्॥

इति नियमाद् मन्त्राणां पीठानां देवतानां च परस्परमङ्गाङ्गिभावज्ञानपूर्वकं न्यायानामनुकूलमेव मिश्रणं भवितुमर्हति नान्यथा। यथा चोक्तम्-

कार्यमध्ये पुनः कार्यमङ्गाङ्गित्वाद् भवेच्छिवे।
कार्यान्तरे समारब्धे नैव कार्यान्तरं भवेत्॥

बहिःकर्मणि कर्मान्तरारम्भस्तु क्वचिद् भवेत्।
कर्मान्तरस्याप्यारम्भस्त्वङ्गाङ्गित्वाद्भविष्यति॥ इति।

अन्त्येष्टिविधिः

उपासकस्य मरणोत्तरं तान्त्रिक्यन्त्येष्टिरावश्यकी न वेति संशये आवश्यकीत्येव सिद्धान्तः। तद्विधिरागमेषूक्तः। कल्पसूत्रे यद्यपि कण्ठरवेण नोक्तस्तथापि तत्करणस्यावश्यकत्वं स्पष्टं ध्वनितम्। तत्र कतिपय-

समयाचारानुक्त्वा **"एते सामयिकाचाराः, परे च शास्त्रानुशिष्टाः"** इत्युक्तम्। ग्राह्या इत्यध्याहर्तव्यम्। शास्त्रानुशिष्टा इति त्वेतच्छास्त्रस्यानुकूलत्वेन शिष्टा इति तेषामपि संग्रहः सूचितः। एवञ्च नानाविधसमयाचाराणामप्रमादेन ज्ञानपूर्वकमामृतेः पालनमुपासकस्य प्रायोऽशक्यमेवेति स्थितिः। तथा चोक्तम्- **"समयोल्लङ्घनाद्देवि क्रव्यादत्वं शतं समा"** इति। ततश्च ज्ञाताज्ञात-प्रमादस्खलनादिजनितसमयोल्लङ्घनदोषनिवृत्तिपूर्वकपूर्णदीक्षामुख्यफलदायकस्य तन्त्रान्तरोक्ताऽन्त्येष्टिविधेः कल्पसूत्रानुयाय्युपासकं प्रत्यप्यपेक्षितत्वमेवेति सुवचम्। तथा च-

ये केचिल्लुप्तसमया ये च मार्गद्विषो नराः।
प्राप्य मार्गं विमुञ्चन्ति ये केचिदधमा नराः॥
अत एषा महाभागे अन्त्येष्टिं कथयामि ते॥

एवमशेषदोषापनयनपूर्वकपूर्णदीक्षाफलप्रापकस्य अन्त्येष्टिविधेरावश्यकत्वं बहुश उक्तम्। अपि च-

तत्रानुक्तं सूचितं तु तथान्येष्वपि दूषितम्।
अकृतं यत्कर्म राम! विकल्पेन विवर्जितम्।
तदन्यस्मादुपादेयमिति शास्त्रस्य निर्णयः॥

इति त्रिपुरारहस्यचर्याखण्डवचनात्। उपासकमात्रोपयोगिनः अन्त्येष्टिविधेः सूत्रानुयायिभिरुपासकैरप्यनुष्ठानं विधेयम्। सर्वत्र वचनपूर्वं प्रवृत्तिरिति सूक्तोक्तं प्रवृत्तिनिमित्तलिङ्गमेतदेव सूचयति। अपि च सूत्रम्- **"इत्थं विदित्वा विधिवदनुष्ठितवतः कुलनिष्ठस्य सर्वतः कृतकृत्यता शरीरत्यागे श्वपचगृहकाश्योर्नान्तरं स जीवन्मुक्तः"** इति। अत्रापीत्थमित्युक्तरीत्या समयाचारादीन् विदित्वा विधिवत्तदनुष्ठानेन प्राप्या जीवनमुक्तिरूपा सिद्धिरुपदिष्टा। तथा हि कथञ्चिदप्युक्तानुष्ठानस्य वैकल्पे शरीरिणः स्खलनशीलत्वात्समयाचारादीनां यथार्थपालनस्य दुर्घटत्वेन लोपे वा कथं सर्वतः कृतकृत्यता स्यादित्यपि विचारणीयम्। परमेश्वरप्रसादलब्धपरम-शिवभावानां ब्रह्मनिष्ठानां विषये तु न कोऽपि विधिः संस्कारो वा आवश्यकत्वेन विधीयते, तेषां पूर्णत्वात्। तथापि तच्छिष्यप्रशिष्यादिभिः स्वात्मकर्तव्यार्थकत्वेन

तेषामन्त्येष्टिरनुष्ठेयेति शिवम्।

आगमोपासकचर्यां प्रकृत्योक्तम्- **“पञ्चयज्ञान् न वा कुर्यात् कुर्याद्वा वामपूजने”** इति। तेन ब्राह्मणानां देवतोपासकत्वेनागमानुयायित्वे पञ्चयज्ञकरणाऽकरणाभ्यनुज्ञारूपैतद्वाक्येन प्रायशस्तदकरणपक्षस्वीकारसम्भवात् पञ्चयज्ञोच्छेदापत्तेस्तेषां जगत्स्थित्युच्छेदकारित्वमिति चेत्, न, विधिसामर्थ्यात्। तथा सति श्रौतेऽपि संन्यासिनां सर्वकर्मपरित्यागविधेस्तुल्यत्वात्तेषामपि पञ्चयज्ञोच्छेदसम्भवेन जगदुच्छितिरूपप्रत्यवायापत्तेः। वस्तुतस्तु जगद्व्यवहार-पोषणं कर्तव्यत्वेन येषां विहितं तेषामेव तदनाचरणात्प्रत्यवायित्वमिति स्थितिः। ये तु पुनर्विधिनैव सर्वजगद्व्यवहारेभ्यो मोचितास्तेषां तथा नाचरणे न कश्चिद्दोषः प्रसज्येत। तथैवागमानुयायिनोऽपि आचार्यत्वेन दीक्षिताः गुर्वनुज्ञया लोकसंग्रहार्थमेव कर्मानुष्ठानतत्पराः जगदुद्दिधीर्षया लोकयात्रानुविधायिनो दृश्यन्ते, तथापि तैरादृतं तत्तत्कर्मानुष्ठानं न तेषामावश्यकत्वेन विहितमिति। किन्तु सकामसामान्यजनशिक्षायैतद्वत्तैरपि तत्तत्कर्माण्यनुष्ठीयन्ते। तथा च ये तु देवतोपासकास्तैरप्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि तद्वदेव सविश्वस्तमिव कार्याणीति श्रीमद्भास्कररायैरप्युक्तम्। अत एव चोक्तं गीतासु-

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

इति। तथा चागमे-

साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः।
मुमुक्षूणां तत्त्वविदां स एव तु निरर्गलः॥

इति। एतेन निरर्गलचर्याऽपि तत्त्वविदि शास्त्रेणोपवर्णिता। तथाप्याचार्यत्वेन दीक्षणाद् यैः पुनर्जगदुद्धारादिकार्यं गुर्वाज्ञयाऽङ्गीकृतं तैः स्वस्य निरर्गल-विधेर्गोपनमेव कर्तुमुचितमिति दिक्।

शारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमदाचार्यभगवत्पादैः कौलसिद्धान्तो अप्रस्तुततया रहस्यभूततया च यद्यपि न कण्ठरवेणोक्तस्तथापि प्रसङ्गे प्राप्ते बहुकुशलतया तत्र तत्र बहुशः सूचितः स्फुटं दृश्यते। तथा च विधुराधिकरणे अनाश्रमित्वेन

वर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते कुतः? तद्दृष्टेः। रैक्ववाचक्नवीप्रभृतीनामेवम्भूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः इत्युक्तम्। ततश्चापि च स्मर्यत इति सूत्रस्य भाष्यम्। संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वं स्मर्यत इतिहासे। एवं श्रुतिस्मृतिलिङ्गोपन्यासं कृत्वा प्राप्तिर्वर्णिता। विशेषानुग्रहश्चेति तदुत्तरसूत्रे। तद्भाष्यं यथा। तेषामपि विधुरादीनाम् अविरुद्धैः पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति। तथा च स्मृतिः-

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।।

इत्यसम्भवदाश्रमकर्मणोऽपि जप्येऽधिकारं दर्शयतीत्युक्तम्। तत्र रैक्ववाचक्नव्योरनाश्रमित्वं श्रुतिस्मृतिभ्यां दर्शितम्। एतेषामनाश्रमिणाम् आश्रमकर्मानपेक्षकाणां चापि ब्रह्मवित्त्वमहायोगित्वादिप्रतिपादनं कथं सङ्गच्छते। विद्यानुग्रहादेवैतेषां तथात्वमिति निश्चितम्। ततो विद्याया अनुग्रहश्च आश्रमकर्मान्तरापि पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैर्भवतीत्युक्तम्। कुत्रत्या एते धर्मविशेषा इति पर्यनुयोगे आगमशास्त्रप्रतिपादिता एवैते भवितुमर्हन्तीति सुवचम्। आगम एव पुरुषमात्रेणाशरीरिणो जीवमात्रेणाश्रयितुं शक्यते न श्रुतिः। ततश्चैते धर्मविशेषाः श्रुत्युक्तधर्मविद्याफलप्रापकसाधनापेक्षया इत्यपि भाष्यकारैः स्पष्टमुक्तम्। तथा चेदृशानां जप्ये अधिकार इत्यप्युक्तम्, तत्र जप्यं नाम जपकर्मोपयुक्तदीक्षादिपूर्वकमन्त्रग्रहणतत्साधनादि सर्वमपि सूचितं भवतीत्यपि सुवचम्। तथा चागमोक्ता ब्रह्मविद्यानुग्रहकारणभूता धर्मविशेषा इत्युक्त्वा तदपेक्षया आश्रमधर्माणां सामान्यधर्मत्वमपि सूचितम्। आगमोक्तधर्मानुष्ठानस्य द्राक्सिद्धिजनकत्ववचनात्। एवमत्र श्रुत्युक्ताश्रमकर्मापेक्षया आगमोक्तधर्माचरणस्य फलभूयस्त्वमपि विशेषशब्दप्रयोजनेन ध्वनितम्।

"तथा च न हि संवर्तो परिव्राडासीत्" इति प्रसिद्धिः।

प्रत्युत तस्य नग्नचर्यात्वेऽपि मरुत्तत्कृते महायज्ञे तत्कृतम् आध्वर्यवं त्रिमहाभारनामके इतिहासे प्रसिद्धम्। तस्मात् तन्नग्नचर्या न श्रौती इति

स्पष्टं प्रतीयते। एवमत्र प्रतिपादितं जप्यमपि न श्रुतिचोदितं जप्यं भवितुमर्हति श्रुतिचोदितकर्माधिकारस्य अनाश्रमिण्यसत्त्वात्। तस्मादागमोक्तजप्यस्य तदुक्तदेवताराधनादेश्च तन्नग्नचर्यायाश्च ब्रह्मविद्यानुग्रहहेतुत्वं श्रीमत्त्रिपुरारहस्यनामके इतिहासे माहात्म्यखण्डे वर्णितम्। तदेवात्र भाष्ये स्पष्टमुपोद्बलितं दृश्यते। किञ्च "**विशेषानुग्रहश्च**" इतिसूत्रभाष्ये दृष्टार्था च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणादिषु। तस्माद्विधुरादीनामप्यधिकारो न विरुध्यत इत्युक्तम्। तथा चापशूद्राधिकरणे शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामनधिकारित्वं व्यवस्थापितम्। तदधिकरणभाष्यावसानेऽपि येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद् विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुम्। ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वाद् इत्युक्त्वा वेदपूर्वकस्तु नास्त्येवाधिकारः शूद्राणामित्युपसंहृतम्। तेनापि वेदेतरशास्त्रभागश्रवणादिद्वारा शूद्रादीनामपि विधुरधर्मव्याधवद् ब्रह्मविद्यानुग्रहम्भवो न विरुध्यत इत्यपि सूचितमिति।

◆

श्रीभास्करराय भारती दीक्षित और उनकी गणेशसहस्रनाम पर 'खद्योत' व्याख्या

भारतीय विद्वत्परम्परा में विशेषतः मीमांसा और आगमशास्त्र की विचारधारा में विमर्शशील विद्वानों को प्रातःस्मरणीय श्री भास्करराय भारती दीक्षित का नाम अपरिचित न होगा।

यद्यपि श्री भास्करराय जी का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा है, शताधिक ग्रन्थो की रचना भी उन्होंने की है; परन्तु दुर्दैव से उनका सुसंबद्ध ऐतिहासिक परिचय अभी तक नहीं लिखा गया। उनके प्रिय शिष्य 'नित्योत्सव' ग्रन्थ के लेखक पण्डित जगन्नाथ ने एक छोटा-सा परिचयात्मक काव्य 'भुवनाभोग' या 'श्रीभास्करविलास' नामक लिखा है, जो उनके 'ललितासहस्रनाम' के भाष्य 'सौभाग्यभास्कर' के साथ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से मुद्रित हुआ है। तदनुसार उनके विविध शास्त्रों पर लगभग ३८ ग्रन्थों की सूचना उसमें दी गयी है, जिसमें कतिपय मुद्रित भी हुए; परन्तु इस समय प्रायः दुर्लभ हो रहे हैं।

निर्णयसागर से 'सौभाग्यभास्कर' के कई संस्करण निकले; परन्तु अब वह दुर्लभ है। हाल ही में पूना की 'आनन्दाश्रम-ग्रन्थमाला' में उनका 'सेतुबन्ध' (नित्याषोडशिकार्णव की टीका) पुनर्मुद्रित हुआ है। ये दोनों ग्रन्थ त्रिपुरा सम्प्रदाय की परिष्कृत तथा विस्तृत व्याख्या के लिए सर्वथा उपादेय हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में श्री भास्करराय जी का उदय हुआ। दक्षिण भारत में रहने पर भी काशी से उनका विशेष सम्बन्ध था। उनका उपनयन संस्कार उनके पिता ने काशी में ही किया था। अनेक ग्रन्थों की रचना भी काशी में ही उनके द्वारा सम्पन्न हुई थी। उनके पिता श्री गम्भीरराय भारती दक्षिण भारत के बीजापुर के यवन अधिपति के दीवान

थे और उनके अनुरोध से सम्पूर्ण महाभारत का फारसी भाषा में उन्होंने अनुवाद किया था।

श्री भास्करराय जी का विद्याध्ययन लोकापल्ली नामक स्थान में रहने वाले महाविद्वान् श्री नृसिंहाध्वरी के पास हुआ था। श्री भास्करराय जी का कथन है कि–

"विद्याष्टादशकस्य मर्मविदभूद्यः श्रीनृसिंहाद्गुरोः॥"

अर्थात् श्री नृसिंहाध्वरी जी से अष्टादश विद्याओं का सूक्ष्म ज्ञान श्री भास्करराय जी ने प्राप्त किया। यह उनकी उक्ति वास्तविक है, न कि प्रौढ़िवादमात्र है। उनके टीका-ग्रन्थों में अनेक शास्त्रों का तलस्पर्शी पाण्डित्य विचार करने पर प्रत्यय-सिद्ध है।

श्री भास्करराय जी की पूर्ण दीक्षा गुजरात के सूरत निवासी श्री शिवदत्त शुक्ल जी से हुई थी और उसी यात्रा में वल्लभ–सम्प्रदाय के आचार्य को शास्त्रार्थ में उन्होंने पराजित किया था। अस्तु।

उनका विस्तृत जीवन–परिचय और कृतियों की समीक्षा एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है।

प्रस्तुत लेख में उनकी एक कृति गणेशसहस्रनाम की टीका 'खद्योत' का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

श्री भास्करराय जी के विषय में यह जानना सर्वप्रथम आवश्यक है कि वे भगवान् शंकराचार्य के सम्प्रदाय के ही अविच्छिन्न गृहस्थ शिष्य–परम्परा में थे और आचार्य की वैदिक मर्यादा की रक्षा के लिए आजीवन तत्पर थे। जैसे सुप्रसिद्ध मनीषी अप्पय्यदीक्षित जी आचार्य शङ्करके अनुगामी होते हुए भी शिवोपासना के विषय को अधिक अनुराग से लिखते रहे, उसी प्रकार आचार्य शङ्कर की श्रीविद्योपासना–परम्परा की रक्षा और संवर्धन को श्री भास्कररराय जी ने जीवन का लक्ष्य बनाया और उसमें पर्याप्त सफल रहे। आज श्री भास्करराय जी के ग्रन्थ ही इस विषय के लिए प्रकाश स्तम्भ हैं।

उन्होंने सप्तशती की 'गुप्तवती' टीका के प्रारम्भ में निम्नाङ्कित श्लोक से आचार्य शङ्कर का वन्दन किया है–

सत्सम्प्रदायप्रथनाय तिष्ये शिष्यैश्चतुर्भिःसह योऽवतीर्णः।
उक्तो बृहत्सङ्गमतन्त्रराजे श्रीशङ्कराचार्यगुरुं तमीडे॥

शक्तिसङ्गमतन्त्र में भविष्य में होने वाले आचार्यों में श्री शंकराचार्य का उल्लेख है, जिसे श्री भास्करराय ने सूचित किया है।

श्री भास्करराय जी की कृतियों में गणेशपुराणान्तर्गत गणेशसहस्रनाम स्तोत्र पर टीका 'खद्योत' नाम से लिखी गयी है।

काशी में त्रिलोचन घाट के समीप सम्भवतः श्री भास्करराय जी ने सोमयाग किया था और उसके बाद वहीं पर गणेशसहस्रनाम की व्याख्या लिखी थी, जो 'खद्योत' के अन्तिम श्लोकों से प्रतीत होता है। श्लोक इस प्रकार है–

गम्भीरबुधयज्वनस्तनुभवोऽधिवाराणसि-
त्रिलोचनपदानुगः कृतमखोऽग्निचिद्भास्करः।
महागणपतेर्महान्त्यपि सहस्रनामानि तद्-
दयाजनितया धिया सुजनतुष्टये व्याकरोत्॥

यह व्याख्या प्रायः श्लोकबद्ध वार्तिक के रूप में है, यत्र-तत्र गद्य में प्रासङ्गिक विचार भी किया गया है। व्याख्या का कलेवर संक्षिप्त होने के कारण इसका नाम है–'खद्योत'। 'खद्योत' शब्द के दो अर्थ हैं–सूर्य और जुगनू। सम्प्रदाय से पठित विद्वान् के लिए खद्योत सूर्य है, तथा 'ग्रन्थविस्तर नहीं है' केवल यह कहने वालों के लिए 'जुगनू' है

सम्प्रदायजुषामेष खद्योतो लोकबान्धवः।
ग्रन्थविस्तरलुब्धानां खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः॥

श्री भास्करराय जी की शैली की विशेषता यह है कि उनके प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ मे उपोद्घात में विषय का पूर्ण शास्त्रीय विवेचन प्रारम्भ कर उसके बाद की व्याख्या का उपक्रम होता है। तदनुसार गणेशसहस्रनाम के 'खद्योत' का आरम्भ विवेचनात्मक है।

किसी प्राचीन पण्डित ने गणेशसहस्रनाम पर आपाततः शब्दार्थज्ञान के बल पर टीका कर डाली, परन्तु शास्त्र और सम्प्रदाय का गम्भीर ज्ञान न होने से उसमें त्रुटियाँ रह गई थीं। यह देखकर सम्भवतः विद्वानों के अनुरोध पर श्री भास्करराय जी टीका लिखने में प्रवृत्त हुए थे।

प्राचां कुसृष्टिरचनैकमयस्वभावा-
मज्ञातगाणपततन्त्रपुराणभावाम्।
व्याख्यामुदस्य सुविभाव्य गणेशनामा-
न्यर्थापयामि तदुपासकतोषहेतोः॥

इस पद्य से यही ज्ञात हाता है।

इस व्याख्या में उपोद्घात में कहा गया है–

सम्पूर्ण उपनिषदादि शास्त्रों के द्वारा स्वप्रकाश मुक्तोपसृप्य परब्रह्म कहा गया है। निर्विकल्प चित्तवृत्ति से अज्ञाननिवृत्ति होने पर 'कण्ठचामीकर' न्याय से ब्रह्मस्वरूप का अनुभव होता है। इसी को मोक्ष कहा गया है।

निर्विकल्पवृत्ति शुद्धचित्त वालों को ही प्राप्य है, मलिन बुद्धि वाले उसे प्राप्त नहीं कर सकते। चित्त शुद्ध होने के लिए वर्णाश्रमधर्मानुसार श्रौत–स्मार्त कर्म करना वेद में कर्मकाण्डस्वरूप बहिरङ्ग उपाय है।

उसी ब्रह्म की उपासना सगुण और निर्गुण भेद से दो प्रकार की है, जिसे वेद का रहस्य भाग उपनिषद् बतलाया है, यह अन्तरङ्ग उपाय है।

बहिरङ्ग अनुष्ठान करने के बाद ही अन्तरङ्ग अनुष्ठान का अधिकार प्राप्त होता है।

सगुण–रूप उपासक के रुचिवैचित्र्य के कारण अनुग्रह से कल्पित होता है। तदनुसार शास्त्रों में 'आदित्यमम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम्' इत्यादि रूप से उपवर्णित है। अनेक जन्म की संस्कारधारा के अनुसार तत्तद् देवता विशेष में भक्ति और उपासना की प्रवृत्ति होती है। अतः पञ्चदेवतोपासना की परम्परा शिष्टों के द्वारा प्रवर्तित एवं प्रचलित है। उपासक के लिए उपास्य देवता ईश्वर और ब्रह्म का पूर्ण रूप है।

विभिन्न उपासकों के अधिकारानुसार शास्त्रों में विधि और निषेध का विधान है। निषेध का अर्थ निन्दा न होकर अनधिकारियों के लिए निवृत्तिपरक है। कल्पभेद से देवताओं की परस्पर से उत्पत्ति भी शास्त्रतः प्रमाणसिद्ध है।

श्री महागणपति के विषय में हेरम्बोपनिषद्, गणेशोपनिषद् आदि श्रुतियाँ, गणपतिपरक तन्त्रग्रन्थ, गणेशोपपुराण एवंच पुराणादि में गणेश–प्रशस्तिपरक भाग तथा उनका सर्वोत्तमत्व निरूपण आदि शतशः

प्रमाण उपलब्ध हैं।

इस प्रसङ्ग में प्राचीन टीकाकार ने वैदिक निघण्टु ग्रन्थ में अग्न्यादि देवपत्न्यन्त देवताओं मे गणेश का नाम न देख कर 'महतो गणानामधिपतयः' इत्यादि अभ्यातान मन्त्र को प्रमाणस्वरूप दिखाने की जो चेष्टा की है, वह व्यर्थ है। कर्मकाण्डीय देवताओं में गणेश का उल्लेख न होना कोई दोष नहीं है। उस ग्रन्थ में केवल एक सौ पचास देवताओं की ही गणना है। उससे भी कितने ही अधिक देवताओं का वेदों और पुराणों में वर्णन है, क्या उन्हें कोई अप्रामाणिक कह सकता है?

उपनिषद् आदि मूर्धन्य प्रमाणों के रहते किसी मन्त्र से खींच तान कर अर्थ करना उचित नहीं है और एक विशेष बात है–'पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः' इत्यादि बृहन्नारदीयपुराण के वचनानुसार अर्थवादजटिल कर्मकाण्ड की अपेक्षा देवतास्वरूपनिर्णय में पुराण ही प्रबल प्रमाण हैं।

श्रुति-स्मृती हि द्वे नेत्रे पुराणं हृदयं मतम्।
श्रुतिस्मृतिभ्यां हीनोऽन्धः काणः स्यादेकया विना।।
पुराणहीनाद् हृच्छून्यात् काणान्धावपि तौ वरौ।।

इत्यादि वचनों से देवतातत्त्वनिर्णय के विषय में पुराणो का प्रमाण्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा अधिक है। इसका विचार भक्तिमीमांसा-तन्त्र में किया गया है।

शिव, विष्णु, देवी-विषयक उपनिषदों की तरह गणपति-विषयक उपनिषद् भी हैं।

पूर्वोक्त अभ्यातानमन्त्र को छोड़कर 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' इसी मन्त्र को यदि प्रमाण माना जाय तो ठीक होगा, यह मन्त्र तीनों वेदों में पठित है।

गणेश की उपासना एकाक्षर, षडक्षर, अष्टविंशत्यक्षर आदि बहुविधगणेश मन्त्रों से तन्त्रों में विहित है। उस उपासना के अङ्गरूप से यह सहस्रनाम 'क्रत्वर्थ' हो सकता है। स्वतन्त्रतया भी इसका पाठ पुरुषार्थ है।

सहस्रनाम भी पुराण-तन्त्रों के भेद से अनेक हैं; परन्तु यही सहस्रनाम व्यूह के मुख्य देवता महागणपति का होने के कारण, तथा प्राचीन आचार्यों से परिगृहीत होने के कारण, तथा प्राचीन आचार्यों से परिगृहीत होने से

इसी की व्याख्या करनी उचित है।

इस प्रकार उपक्रम दिखाकर श्री भास्करराय जी ने पद्मपुराण और गणेशपुराण दोनों में से गणेशपुराण के पाठकों को प्रामाणिक मानकर उसकी व्याख्या की है।

त्रिपुरासुर से युद्ध के लिए जाते समय भगवान् शंकर को अनेक विघ्न आने लगे। उन्होंने ध्यानमय होकर प्रश्न किया। तक उनके मुख से महागणपति आविर्भूत हुए और उन्होंने कहा कि मेरी अर्चना न करने से आपको विघ्न हो रहे हैं। उसके बाद भगवान् शंकर ने विधिवत् गणेश की पूजा की और उपाय पूछा। उसके उत्तर मे भगवान् गणेश ने–

सर्वविघ्नैकहरणं सर्वकामफलप्रदम्।
ततस्तस्मै स्वकं नाम्नां सहस्रमिदमब्रवीत्॥

इस प्रकार सहस्रनाम का उपदेश दिया। शङ्कर के मुख से प्रादुर्भूत होने के कारण इस सहस्रनाम के पूर्व गणेश का ध्यान शिव और गणेश उभयात्मक है–

पञ्चवक्त्रो दशभुजो भालचन्द्रः शशिप्रभः।
मुण्डमालः सर्पभूषो मुकुटाङ्गदभूषणः॥
अग्न्यर्कशशिनो भाभिस्तिरस्कुर्वन् दशायुधः॥

सहस्रनाम के अन्तर्गत 'शम्भुवक्त्रोद्भवः' भी उक्त कथा का सूचक है। श्लोकार्थ प्रायः श्लोकबद्ध वार्तिक रूप से वर्णित है, विशेष स्थलों पर गद्य से विचेवना की गई है। परम्परानुसार देवता और गुरु का अभेद सिद्ध है। श्री भास्करराय जी ने यथास्थान गाणपत्य-सम्प्रदाय के अनुसार जो गुरुओं के नाम आये हैं, श्री विद्यारण्य जी के 'श्रीविद्यार्णव' ग्रन्थ से प्रमाणित किया है।

व्याख्या के कतिपय उदाहरण निम्नांकित हैं–

'कुमारगुरुः'–

सनत्कुमाररूपोऽपि विद्यामुपदिशन् गुरुः।
स्कन्दपूर्वभवत्वाद्वा कुमारगुरुरीरितः॥

'सर्वनेत्राधिवासकः'–

सर्वनेत्रेषु वसति य एषोऽक्षीणि पूरुषः।
एष आत्मेति वचनात् सर्वनेत्राधिवासकः॥

'मृत्युञ्जयः'–

कालमृत्युं प्रमादं वा हरन् मृत्युञ्जयो मतः।
प्रमादं वा मृत्युमहं ब्रवीमीति तु भारतात्॥

प्रमाणप्रत्ययातीतः'–

प्रमाणप्रत्ययातीतो नित्यज्ञानैकविग्रहः।
प्रमाकरणजानां हि प्रमितीनामनित्यता॥

'मन्दगतिः'

येषां काऽपि गतिर्नास्ति मन्दानां ज्ञानकर्मणोः।
अभावेन गतिस्तेषामपि मन्दगतिस्ततः॥

'क्षेमानन्दः'–

क्षेमं सांसारिकं सौख्यमानन्दः पारमार्थिकः।
उभयात्मा त्वमेवेति क्षेमानन्द इतीर्यसे॥

'पञ्चप्रणवभावितः'–

तारवाग्भवलज्जामाः प्रासादपरया सह।
प्रणवाः पञ्च तैर्वाच्यः पञ्चप्रणवभावितः॥

इत्यादि स्थलों में वेदान्त, उपनिषद्, तन्त्र, पुराण तथा प्रसङ्गौचित्य के अनुसार अर्थ कुशलता से किया गया है। प्राचीन टीकाकार ने जहाँ भ्रामक अर्थ किये हैं, उनका भी सप्रमाण खण्डन कर सम्प्रदायानुकूल अर्थ निश्चित किया गया है।

इस प्रकार यह व्याख्या आकार में संक्षिप्त होने पर भी व्यापक विषयों पर प्रकाश डालती है तथा वैदिक मर्यादाओं की महत्ता को प्रतिष्ठापित करती है। इसका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर विशेष निष्कर्ष प्राप्त हो सकता है।

■

निगम और आगम

आचार्यतनुमाश्रित्य बाधयन्ती पराऽपरान्।
तत्त्वार्थान् सा जयत्येका चन्द्रमौलिकुटुम्बिनी।।

निगम और आगम शब्दों का व्यवहार चिरकाल से विद्वज्जनों में प्रचलित है। 'आगम शब्द प्रायः सामान्यरूप से शास्त्रों के अर्थ में रूढ है। इन दोनों का व्यवहार-क्षेत्र शब्दों की दृष्टि से व्यापक है। वेद को या वेद के किसी अंश को 'निगम' शब्द से कहा जाता है। निरुक्तकार ने जगह-जगह पर 'तथाऽपि च निगमो भवति' कहते हुए वैदिक उद्धरणों से अर्थ की पुष्टि की है। न्यायशास्त्र की अनुमान की प्रक्रिया में 'निगमन' पाँचवा अवयव है, जिसके द्वारा अन्तिम निर्णय होता है। इन परम्पराओं से ज्ञात होता है कि प्रमाण की अन्तिम सीमा निगम है। प्रसिद्धि ही है 'वेदाः प्रमाणम्'। कोषकार ने निगम के अनेक अर्थ दिये हैं। इसी प्रकार 'आगम' शब्द भी अपनी व्यापक सीमाओं के कारण महत्त्वपूर्ण है।

महाकवि कालिदास और भारवि ने 'आगम' शब्द का प्रयोग विद्या और ज्ञान के अर्थ में अनेक जगह किया है-

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भः आरम्भसदृशोदयः।।

यहाँ 'आगम' शब्द बहुविध ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त है। इसी प्रकार भारवि ने नीतिशास्त्र की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा है-

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्।।

यहाँ पर 'सुकृतः' और 'परिशुद्धः' ये दो विशेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'सुकृतः' अच्छी तरह परिश्रमपूर्वक अभ्यस्त और 'परिशुद्धः' विशुद्ध गुरुपरम्परा से प्राप्त शास्त्र ही यथार्थ तत्त्व को प्रकट करता है। यह तो

केवल शास्त्रपरक अर्थ की चर्चा हुई। आगम शब्द का विद्या के सम्प्रदायों के लिये कालिदास ने प्रयोग किया है–

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवाऽर्णवे।।

परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर 'आगम' शब्द की अर्थ के क्षेत्र में व्यापकता अधिक देखने में आती है। अब निगम अर्थात् वेद और आगम या तन्त्रों का पारस्परिक सम्बन्ध विचारणीय है। वेद जो हमारे सभी शास्त्रों, विद्याओं के मूल आधार हैं, उनका वर्णाश्रमप्रधान समाज रचना में अत्यन्त महत्त्व है, साथ ही उनका आगमशास्त्रीय विद्याओं से भी अत्यन्त निकटतर सम्बन्ध है। मनु की प्रतिज्ञा है–

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।।

त्रिकालवर्ती सभी विषयों की सत्ता वेद के द्वारा ही सिद्ध होती है। वेद ही सभी विषयों का मानदण्ड है। परन्तु एक विचार सीमा ऐसे स्थान पर आकर मिलती है, जिसमें वेद और आगम दोनों परस्पर के पर्यायवाचक हो जाते हैं। एक प्राचीन श्लोक है, जिसमे शिवागम को वेदवृक्ष का मूल और फल दोनों कहा है–

यन्मूलं वेदवृक्षस्य सम्पूर्णानन्तशाखिनः।
फलं तस्यैव यं प्राहुस्तं वन्दे भैरवागमम्।।

प्रसङ्गवश त्रिपुरारहस्य माहात्म्यखण्ड में वेद को आगम का भाग कहा है। आगम तो शब्दराशिस्वरूप है–

'वेदो ह्यागमभागः स्यात् शब्दराशिस्तथाऽऽगमः।'

इसका तात्पर्य यह है कि अनन्त अखण्ड शब्दराशिरूप महामातृका ही आगम है। उसके अन्दर तो सभी वेद तथा शास्त्र आ जाते हैं। लोकमर्यादा की रक्षा एवं वैदिक कर्मकाण्ड की स्थिति सुदृढ़ करने के लिये वेदविहित परम्परा का पालन करना प्रत्येक द्विजाति मात्र का कर्तव्य है। द्विजातिभिन्न के लिये भी वेद या वेदानुगामी स्मृतियों का मार्गनिर्देश पालनीय है।

ललितासहस्रनाम में भगवती का एक नाम है ''निजाज्ञारूपनिगमा''। इसकी व्याख्या करते हुए पूज्यपाद श्री भास्करराय जी लिखते हैं–

'निजां स्वीयामाज्ञां वेदविद्भिः शाब्दभावनात्वेन व्यवहृतां रूपयन्ति साध्यसाधनेतिकर्तव्यतारूपांशत्रयविशिष्टामर्थभावनामर्थवादादिभिः कुर्वन्ति तादृशा निगमाः कर्मकाण्डात्मका वेदा यस्यास्तथा', अर्थात् वेदवेत्ता मीमांसक जिस भगवती की वेदरूप आज्ञा को शाब्दीभावना के रूप से ग्रहण कर साध्य, साधन और इतिकर्तव्यतारूप अंशत्रयविशिष्ट आर्थीभावना के रूप में अर्थवादादि के रूप में प्रकट करते हैं। कूर्मपुराण में वचन भी है–

ममैवाज्ञा परा शक्तिर्वेदसंज्ञा पुरातनी।
ऋग्यजुःसामरूपेण सर्गादौ सम्प्रवर्तते।।

श्री भास्करराय जी ने इस नाम की एक और व्याख्या की है–'अथवा सन्ति वेदानुयायीनि शैवतन्त्राणि कामिकादीनि अष्टाविंशतिः, वेदविरुद्धानि कापालभैरवादीनि च। तेषु वैदिकानि निगमपदवाच्यानि परमेश्वरस्य मुखादुद्भूतत्वादाज्ञारूपाणि, न पुनर्नाभ्यधोभागादुत्पन्नानि वेदविरुद्धानीत्यर्थ'। इस व्याख्या के अनुसार कामिकादि आगमों की भी 'निगम' शब्द से व्याख्या की जा सकती है।

वस्तुतः प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग के भेद से वेद के दोनों कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड का लक्ष्य भिन्न है। उपनिषदों का रूप आगमों से भिन्न नहीं है, आगमोक्त विद्याओं की उपासना उपनिषदों में प्रायः परिलक्षित होती है। इस विषय में 'त्रिपुरारहस्य' में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वेद और आगम का तारतम्य प्रकाशित किया गया है। निम्नाङ्कित श्लोक द्रष्टव्य है–

वेदो ह्यागमभागः स्यात् शब्दराशिस्तथाऽऽगमः।
तस्या मूर्तिरतः सर्वं प्रवृत्तं तस्य संश्रयात्।।
त्रैवर्णिकाऽधिकारेण वेदरूपः प्रवर्तते।
दयया परमेशानः सर्वानुद्धर्तुमिच्छया।।
वेद आगमसंज्ञानं विभावयदनुत्तमम्।
आगमः परमेशस्य विमर्श इति निश्चयः।।
क्रमेण ब्रह्ममुख्यानां मुखादुद्भावयत्तु तम्।

अपारो ह्यागमाम्भोधिः सर्वलोकेषु सङ्गतः॥
कालेन मन्दधिषणान् कृपणानभिलक्ष्य तु।
ऋषिभिस्तमागमाब्धिं मथित्वा प्राज्जया धिया॥
सारसंग्रहरूपात्मतन्त्राऽमृतमनुत्तमम् ।
देशभेदविभेदेन पृथगेव विभावितम्॥
तत्र द्विजानां वेदोक्तकर्मभिः संस्कृतात्मनाम्।
श्रौतकर्ममुखेनैव तान्त्रिके ह्यधिकारिता॥
शूद्रादीनां तु कैवल्याद् भवेत्तन्त्राधिकारिता।
वेद एव हि तन्त्रं स्यात्तन्त्रं वेदः प्रकीर्तितम्।
नाऽनयोर्विद्यते भेदो लेशांशेनाऽपि कुत्रचित्॥

इद उद्धरणों से स्पष्ट है हि वेद ही आगम है या वेद में भी आगम है। त्रैवर्णिकों को अधिकारानुसार वैदिक कर्म के बाद तान्त्रिक कर्म करना चाहिए। जिन्हें वेद का अधिकार नहीं है, उन्हें केवल तान्त्रिक कर्म करना उचित है। फलांश में कोई भेद नहीं है। जगद्गुरु परमशिव ने अत्यन्त दयावश होकर जगत् के उद्धार के लिय ही आगमों की प्रवृत्ति की है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। तन्त्रों के विषय में सर्वसाधारण जनता मे रूढ़-हीन भावना अनधिकारी लोगों द्वारा उत्पन्न की गई है। केवल मारण-मोहनादि षट्कर्म ही तन्त्र नहीं है, वह तो एक छोटी-सी अङ्गभूत बात है। इसी तरह वेदों में भी ''श्येनेनाऽभिचरन् यजेत'' इत्यादि अभिचारादि की चर्चा है, परन्तु वही लक्ष्य नहीं है। आगम के सम्बन्ध में प्राचीन दो दृष्टियाँ हैं—श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य, श्रीकण्ठशिवाचार्य आदि आगम को स्वतः प्रमाण मानते हैं, जिस तरह प्रदीप को प्रदीपान्तर की आवश्यकता नहीं है, उसी तरह आगम को प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है। आगम का लक्षण करते हुए आचार्य कहते हैं—'आगमस्तु अनवच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वर-विमर्शपरमार्थः।'

महेश्वर परम प्रकाशरूप हैं, उनका जो स्वात्मस्वरूप विमर्श है, वही आगम है। भगवान् ने गुरु-शिष्य संवादरूप से आत्मविमर्श ही तो किया। 'परात्रीशिका' ग्रन्थ के आरम्भ में आचार्य ने 'भैरव उवाच', 'देव्युवाच' इस प्रश्नोत्तर सरणि का अत्यन्त गहन विवेचन किया है, उस विवेचनमात्र

से सारा आगमस्वरूप स्पष्ट किया है। विषय अत्यन्त दुरूह और गम्भीर है, बिना सम्प्रदाय और रहस्यज्ञान के संवेद्य नहीं है। तन्त्रों का वचन भी है–

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥

दूसरी दृष्टि है वेदमूलक आगमप्रामाण्यवादियों की। श्री भास्करराय जी ने सेतुबन्ध के प्रारम्भ में इस पर सविस्तार विचार किया है। उनका कथन है कि वेद और आगम सभी विद्याओं के आदि कर्ता भगवान् शिव ही हैं। श्रुति कहती है–'ईशानः सर्वविद्यानाम्। यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इत्यादि। 'वेदांश्च' पद में चकार सभी विद्याओं का समुच्चय करता है। इसी बात का उपबृंहण स्मृतियों ने किया है–

अष्टदशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम्।
आदिकर्ता कविः साक्षात् शूलपाणिरिति श्रुतिः॥

शिव को कर्ता कहने का अभिप्राय आदिगुरु होने के कारण प्रथम प्रकाश उन्हीं से है। साधारण पुरुषों से विलक्षण होने के कारण तथा भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से रहित होने के कारण वेद की तरह आगम वाङ्मय भी अपौरुषेय ही है। 'अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्युक्तान्यशेषतः' इस नियम के अनुसार विद्याओं का विभिन्न अधिकारी के स्तर पर ही उपदेश किया जाता है। यह सिद्धान्त मानने पर ही विधि-निषेध की व्यवस्था उत्पन्न होती है।

एक मानव बालक को क्रीडा से लेकर कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग, तक शतशः भूमिकाएँ पार करनी पड़ती है। कोई समर्थ पुरुष एक ही जन्म में सब भूमिकाओं का अतिक्रमण कर जाता है। अन्यथा 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' के अनुसार धीरे-धीरे पुरुष अपनी भूमिकाओं को प्राप्त करते हैं।

योगवासिष्ठ में ज्ञानभूमिकाएँ सात कहीं गई हैं– विविदिषा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा। इनमें दूसरी और तीसरी ज्ञानभूमिका के मध्य में भक्ति का स्थान है। भक्ति की स्थिति पञ्चम भूमिका तक है और आगे अपरोक्षानुभवरूप षष्ठ भूमिका है, जिसे

जीवन्मुक्ति कहते हैं। उसके आगे विदेह कैवल्य की स्थिति है। पूज्य श्री भास्करराय जी ने शास्त्रों के अनुसार इसका विवेचन किया है। इन प्रत्येक भूमिकाओं में भी अवान्तर सूक्ष्म-भूमिकाएँ अनन्त हैं।

भगवान् स्वेच्छा-क्रीडा रसिक हैं, अनन्त प्रकार के जीवों की सृष्टि के साथ ही उनके योग्य भूमिकाओं की भी सृष्टि भगवान् ने की है, अतः उपासना क्षेत्र में प्रत्येक अधिकारी का अलग स्थान होता है। यह संसार बन्धरूप पाश यदि अनादि है तो उनके मोचन के लिए गुरुरूप शिव भी अनादि हैं। एक श्लोक हैं–

यथाऽनादिः प्रवृत्तोऽयं घोरः संसारसागरः।
शिवोऽपि च तथाऽनादिः संसारान्मोचकः स्मृतः॥

अनेक काल तक या अनेक जन्मों तक नानाविध भूमिकाओं से निकलने के बाद एक विलक्षण चित्तशुद्धि होती है।

'न निर्विण्णो न चाऽऽसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः' अर्थात् न तो संसार को छोड़ता है और न तो संसार में आसक्ति ही रखता है। ऐसा पुरुष भक्ति का अधिकारी है।

भक्ति भी दो प्रकार की है–गौणी और परा। बाह्यध्यानजपपूजादिरूप गौणी है और उससे होने वाला जो आराध्य के प्रति अनुराग है, वह परा है। इस प्रकार संक्षेप में इसका स्वरूप है।

आगमशास्त्र प्रधानरूप से भक्ति के ही प्रतिपादक हैं। द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत मार्ग से उपासना आगमों का विषय है। अतः तन्त्रों मे नाना प्रकार की विधियाँ उपलब्ध होती है। वे सब अधिकारी भेद के सूचक हैं। उनमें ग्राह्य और अग्राह्य का निर्णय गुरुसम्प्रदाय के द्वारा ही हो सकता है। तन्त्र अनेक हैं; परन्तु अपने गुरुक्रम या गुरु की आज्ञा से ही उनमें कर्त्तव्य का निर्देश मिलता है।

'तन्त्राणां बहुरूपत्वात् कर्तव्यं गुरुसम्मतम्' यह शास्त्रवचन है। वैदिक और आगमिक धारा में एक भेद है। जहाँ वेद प्रत्येक वर्णानुसार संस्कारों का और कर्तव्यों का नियमन करते हैं, वहाँ आगम जीवमात्र का, न केवल मनुष्य का, साक्षात् उद्धार करने का मार्ग बताते हैं। यह भगवान् की असीम करुणा का विलास है। स्वयं वेद ही आगम की विशेषताओं

पर प्रकाश डालते हैं–'यन्मनुरवदत्तद्भेषजम्' मनु ने जो नियम बनाये वे मनुष्यों के लिये दवा है। यह सामान्य लोगों के लिये कहा गया। रुद्राध्याय में पंक्ति है–'अध्यवचोदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् अहींश्च सर्वान् जम्भयन् सर्वांश्च यातुधान्यः।'

मनु ने तो सामान्य नियमों का निर्देश किया। परन्तु जो और आगे की भूमिका के अधिकारी हैं, उनके लिये 'प्रथमो दैव्यो भिषक्', अर्थात् अनादि सर्वोत्तीर्ण भगवान् शिव ही वैद्य हैं। वे ही सब विघ्नजाल को दूर कर 'अध्यवोचत् अधिब्रवीतु'–भक्त प्रार्थना करता है। अधिवक्ता का अर्थ है–'अधिकं वक्तुं समर्थः'। इससे शिवागम की विशेषता की सूचना मिलती है।

इस प्रकार निगम और आगम परस्पर के पूरक हैं, विरोधी नही। पहले के उद्धरणों से स्पष्ट हो चुका है कि तन्त्रों में वेद और वेदों में तन्त्र यत्र-तत्र व्याप्त हैं। वेदमूलक तन्त्रों का प्रमाण्य मानने की दृष्टि से उपनिषत्काण्ड के ही शेष भाग तन्त्र माने गये हैं। अधिकांश उपनिषद् अथर्ववेद में हैं, परन्तु त्रयी के भी अनेक उपनिषद् हैं, जो उपासना के लिये प्रवृत्त हैं। उदाहरण के लिये श्रीत्रिपुरोपनिषद् देखें। यह ऋग्वेद के शाङ्खायनशाखा के अन्तर्गत है। उसी के आरण्यक में यह उपनिषद् वर्तमान है।

श्रीशाङ्ख्यायनकल्पसूत्रविधिभिः कर्माणि ये कुर्वते
येषां शाकल एव मन्त्रनिचयः कौषीतकं ब्राह्मणम्।
तैरारण्यकमध्यमन्त्रवितति‍र्या पठ्यते बह्वचैः
ऋग्भिः षोडशभिर्महोपनिषदं व्याचक्ष्महे तां वयम्।।

व्याख्या के प्रारम्भ में यह श्लोक श्री भास्करराय जी का है। त्रयी के अन्तर्गत ऋग्वेद की यह उपनिषद् भगवती की उपासना का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करती है। अतः श्री भगवती की उपासना वेद और आगम दोनों से समभाव से परिपुष्ट है, यह बात सिद्ध होती है और यही कारण है कि जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य जी ने अपने मठों में श्रीचक्र की उपासना प्रवर्तित की।

श्रीभास्करराय जी का कथन है कि कर्मकाण्ड की भूमिका से देवतोपासना का स्तर अधिक उन्नत है; परन्तु मर्यादा के अनुसार कर्मकाण्ड

का पालन करना आवयश्क है, अन्यथा सन्देहशील व्यक्ति उभयतो भ्रष्ट हो जायेगा।

जैसे–जैसे भक्ति की दृढ़ता होगी, देवतोपासना में प्रगति और अनुभव होगा। इस प्रकार निगम और आगम दोनों का समन्वय विचार करने पर अनुभव में आता है। इस क्षेत्र में श्री भास्करराय जी का महनीय अवदान है, जिन्होंने वेद और आगम के सम्बन्धों को शास्त्रीय मीमांसा–पद्धति से तथा अपने अगाध ज्ञान से प्रकाशित किया है।

शारीरकमीमांसाभाष्य में श्री भगवत्पाद ने शब्दान्तर से ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों के लिये विशेष बातें कहीं हैं, जो आगमशास्त्र की दृष्टि का परिचय देती हैं। जैसे 'विधुराधिकरण' (अन्तराधिकरण) में अनाश्रमी को भी विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या का अधिकारी कहा है। **'अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः'** सूत्र में 'रैक्ववाचक्नवीप्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्वश्रुत्युपलब्धेः', **'अपि च स्मर्यंते'** इस सूत्र के भाष्य में कहा है– 'संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वं स्मर्यत इतिहासे।' इसी प्रकार 'विशेषानुग्रहश्च' सूत्र के विवरण में भी कहा है।

इस प्रकार निगमागमरूप इस भारतवर्ष की महासंपत्ति का आचार्यगण सुयोग्य शिष्यों मे वितरण करते आये हैं। इस देश का यही प्राणतत्त्व है, इसकी उपेक्षा से राष्ट्र धीरे–धीरे क्षीण होता जा रहा है। फिर भी भगवदिच्छा से कोई न कोई महापुरुष अवतीर्ण होकर शास्त्र–मर्यादा की रक्षा एवं सम्प्रदाय का प्रवर्तन करते रहते हैं, जिससे यह ज्ञानमयी दीपशिखा सतत प्रज्वलित रहे और मार्गदर्शन करे।

आज पूज्यपाद स्वनामधन्य श्री स्वामी जी महाराज की पावनस्मृति में ज्ञानमय तप हो रहा है। यह हमारे सौभाग्य की बात है।

जगज्जननी श्री पीताम्बरा एवं श्री स्वामी जी महाराज के श्रीचरणों में अपने इन शीर्ण–विकीर्ण शब्द–प्रसूनों का अर्पण कर मैं अपने को धन्य मान रहा हूँ।

■

श्रद्धेय श्री कविराज जी तथा त्रैपुरदर्शन

आचार्यतनुमाश्रित्य बोधयन्ती पराऽपरान्।
सर्वार्थान् सा जयत्येका चन्द्रमौलिकुटुम्बिनी।।

प्रातः स्मरणीय स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी के प्रति श्रद्धापुष्प निवेदन करने के इस पावन अवसर पर विद्वज्जनों के बीच उपस्थित होने का अवसर मिला, यह मेरा सौभाग्य है।

आदरणीय कविराज जी का वैदुष्य, ज्ञानगाम्भीर्य, असामान्य प्रातिभ प्रकाश, वर्तमान विश्व के किसी भी विद्वान् से तुलनीय नहीं है और यह केवल स्तोत्र या प्रशंसा की बात न होकर यथार्थ है।

श्री कविराज जी का प्रवचन जिन्होंने सुना है, उनको यह स्थूल कल्पना होगी कि उनका शास्त्रीय ज्ञान कितना व्यापक एवं वस्तुस्पर्शी था। मैंने 'स्थूल' शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि स्थूल का ही ग्रहण बहुत कठिन है, फिर सूक्ष्म और रहस्य की बात ही क्या?

सौभाग्य से मेरे स्वर्गीय पितृचरण म. म. नारायण शास्त्री खिस्ते कविराज जी से लगातार पच्चीस वर्षों तक सम्बद्ध रहे। कॉलेज के अतिरिक्त रात्रिकालीन गोष्ठियों में भी वे साथ रहते थे। पूज्य पिता जी भी साधना-मार्ग के प्रशस्त पथिक थे। अतः कविराज जी से उनका परम सामञ्जस्य था। कविराज जी की शैली अत्यन्त अद्भुत थी, जिस भी विषय पर वे बोलते थे, उसका पूरा विवरण सप्रमाण उनकी जिह्वा पर वर्तमान रहता था, धारणाशक्ति के साथ मेधा का प्रकाश बलवत्तर था।

किसी भी एक विषय पर बोलते समय अन्यान्य अनेक विषय सहजभाव से उसमें आ जाते थे। आस्तिक, नास्तिक दर्शनों से लेकर अद्यतन विज्ञान तक की चर्चा समाविष्ट हो जाती थी। अतः स्वभावतः प्रवचन दुरूह और दुर्ग्रह भी बन जाता था, परन्तु उस प्रवाह के छींटे पड़ने पर अन्तरात्मा तो अवश्य ही पवित्र हो जाती थी।

अनेक दर्शनों की तरह उनका तन्त्र-वाङ्मय के दार्शनिक स्वरूप पर भी पूर्ण अधिकार था, प्रत्युत यह कहना उचित होगा कि अनेक तन्त्र-ग्रन्थों का सम्पूर्ण सारांश उनके वक्तव्य में प्रतिफलित होता था। उन्होंनें इसी प्रसङ्ग पर 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। प्रसङ्गवश उसमें 'महाशक्ति श्री श्री माँ' एक भाग है, जिसमें उपास्य तत्त्व का विवेचन किया है। यद्यपि उसमें सभी विषय पर्याप्त मात्रा में पर्यालोचित हैं, तथापि मैं उसी का एक संक्षिप्त पर्यालोचन या अनुरणन उपस्थापित कर रहा हूँ –

महाशक्ति जगदम्बा के मूलस्वरूप की चर्चा करते हुए कविराज जी ने अखण्ड, स्वप्रकाश, चैतन्य नाम से उसे अभिहित किया है। प्राचीन आचार्यों ने अपनी-अपनी साम्प्रदायिक विचारधारा में उस स्वरूप को संवित्, परा, प्रतिभा इत्यादि नामों से भी निर्दिष्ट किया है। उस परम चैतन्य का देश, काल, आकार आदि से परिच्छेद सम्भव नही है, अपितु देश, आकार, काल उसी से प्रकाशित होते हैं। इसी बात को सौभाग्यभास्कर टीका में श्री भास्करराय जी निम्नाङ्कित शब्दों में स्पष्ट करते हैं–

'देशकालाऽपरिच्छिन्ना' इस नाम की व्याख्या है–

''देशकालाभ्यामपरिच्छिन्ना तत्कृतपरिच्छेदाऽभाववती। उक्तञ्च योगसूत्रे 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्' इति। इह नाऽस्तीति प्रतीतिविषयोऽत्यन्ताभावो देशतः परिच्छेदः। पूर्वं नासीद् अग्रे न भविष्यतीति प्रतीतिविषयौ प्रागभावध्वंसौ कालतः परिच्छेदः। प्रतियोगित्वसम्बन्धेन तयोरभावो वा तद्वतीत्यर्थः।'' आगे इसके प्रमाण हेतु सौरसंहिता का वचन दिया है–

पुमानाकाशवद्व्यापी स्वाऽतिरिक्तं मृषा यतः।
देशतः कालतश्चापि ह्यनन्तो वस्तुतः स्मृतः॥

यहाँ पर 'अनन्त' शब्द से ही अपरिच्छेद्यता सूचित की गई है। इसी स्वरूप को अन्य आचार्यों ने सामान्य 'ज्ञानरूपा पराप्रतिभा' कहा है। त्रिपुरारहस्य के ज्ञानखण्ड में तथा प्रत्यभिज्ञासिद्धान्त में इसी नाम से उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार आचार्यों का कथन है–

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥

इसी मूल रूप का आश्रय लेकर प्रत्यक्षसिद्ध समस्त प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति, लय होते हैं। यद्यपि प्रमाता की दृष्टि में एक के बाद एक ये परिवर्तन भासमान होते हैं; परन्तु वस्तुतः दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थ जैसे दर्पण से अभिन्न रूप से ही प्रतिभात होते हैं, उसी प्रकार से उस निरवच्छिन्न चैतन्य में समस्त विश्व की सृष्टि, स्थिति, लय भासमान होते हैं, मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता।

इस महाप्रकाश रूप परमचैतन्य में विश्व के आभास का हेतु क्या है? यदि यह पूछा जाय, तो कहना पड़ेगा कि उस महाशक्ति की स्वातन्त्र्य शक्ति ही इसका कारण है। त्रिपुरारहस्य में भगवती ने इसे अपना ऐश्वर्य कहा है। 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' इत्यादि सूत्र इसी बात को स्पष्ट करते हैं। इस प्रसङ्ग में एक श्लोक उल्लेखनीय है, जिसमें कहा गया है कि यदि महेश्वर कहीं जड़ होकर पाषाणादिवत् पड़े रहते, तो उनका महेश्वरत्व ही व्यर्थ हो जाता–

अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षत् धरादिवत्॥

एतावता विश्वव्यापार उनकी पराशक्ति के स्वेच्छाकल्पित विलास हैं। इसीलिये आगमशास्त्र में आत्मतत्त्व के लिये प्रमाण का विचार हेय है। जो स्वयं प्रमाण को प्रमासम्पन्न करता है, उसके लिये प्रमाण की क्या आवश्यकता होगी? इसी अभिप्राय से महेश्वरानन्द ने कहा है–

आत्मा खलु विश्वस्य मूलं तत्र प्रमाणं न कोऽप्यर्थयते।
कस्य भवति पिपासा गङ्गास्रोतसि निमग्नस्य॥

अतः स्वयंसिद्ध परासंवित् ही भगवती का वास्तविक रूप है। इसी आत्मस्वरूप को उपास्यरूप से साधकों ने ग्रहण किया है। शास्त्र का वचन है–'स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा'। यह आत्मरूप सभी प्राणिमात्र को भासित होने पर भी अपने परमार्थरूप से प्रतीत नहीं होता। स्वेच्छाकल्पित अविद्यारूप आवरण के कारण पुर्यष्टकादि कञ्चुकाच्छन्न जीव को बिना कृपा या आराधना के मूलस्वरूप के दर्शन की प्रवृत्ति नहीं होती। इसके लिये जगन्माता की अहैतुकी कृपा से ही जीव गुरु के समीप जाता है। अत एव उपासना-शास्त्र में 'शक्तिपात' का

अत्यन्त महत्त्व है। इसकी चर्चा श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य ने तन्त्रालोक के त्रयोदश और चतुर्दश आह्निक में विस्तार से की है।

'शक्तिपात' के लिये कोई कार्य-कारण भाव मान्य नहीं होता, यद्यपि स्थूल रूप से गुरूपदेश आदि बाह्य कारण सहायक हैं, परन्तु अन्तिम कोटि में जगन्माता का अनुग्रह ही कारण माना गया है। सारा उपासना-शास्त्र एकमात्र अनुग्रहशक्ति का ही विस्तार है। इसी प्रसङ्ग में जगद्धरभट्ट की उक्ति स्मरणीय है–

यः कुण्डमण्डलकमण्डलुमन्त्रमुद्रा-
ध्यानार्चनस्तुतिजपाद्युपदेशयुक्त्या।
भोगापवर्गदमनुग्रहमानतानां
व्यानञ्ज रञ्जयतु स त्रिजगद्गुरुर्वः॥

ये कुण्ड-मण्डलादि दीक्षा या उपासना के साधन भी अनुग्रह के अभिव्यञ्जक हैं। बाह्य शास्त्रों में धर्माधर्म, जन्मान्तर-संस्कार, अदृष्ट आदि को कारण मानकर सृष्टिचक्र का उपपादन किया जाता है, परन्तु आगमाभिमत शक्तिपात में यह सब कारण नहीं है। प्रसिद्ध वचन है–

रुद्रशक्तिसमाविष्टः स यिसासुः शिवेच्छया।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति॥

यहाँ पर 'नीयते', अर्थात् गुरु के पास भेजा जाता है, न कि 'गच्छति' का प्रयोग है।

यह सर्वानुग्राहिका परा संवित् ही जगन्माता है। शिव से लेकर पृथ्वी तक समस्त तत्त्वसमूह इसी में लीन हैं, यथावसर इनका विस्तार और सङ्कोच होता है। कहा भी है–'कवलीकृतनिःशेषतत्त्वग्रामस्वरूपिणी।' महाशक्ति का अखण्ड एकरसात्मक रूप पररूप कहा जाता है, परन्तु अपररूप अनेक हैं। पररूप शुद्ध संविन्मात्र है, परन्तु विश्वसृष्टि के उन्मुख होने पर अपररूप प्रकट होता है।

पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि अपररूप की क्या आवश्यकता है? उस पर शास्त्रकारों का कहना है कि केवल लोकानुग्रह ही इसमें कारण है।

नामाकृतिक्रियाहीना संविन्मात्रैकरूपिणी।
अनुग्रहाय लोकानां रूपं नाम क्रियाऽपि ते॥

इस अपररूप या उपास्यरूप के भी भक्तानुग्रह के लिये अथवा भक्तों के अधिकारानुरूप अनेक रूप तथा अनेक उपासना प्रकार हैं, परन्तु उनमें भी सम्प्रदायानुसार विशिष्ट दृष्टि से एक रूप प्रधान है। इस रूप के सम्बन्ध में शास्त्रीय सृष्टिक्रम को समझना आवश्यक है–

ब्रह्माण्ड शब्द से प्रसिद्ध इस विश्व को चौदह भुवनों में बाँटा गया है, सात ऊपर के भुवन भूलोक से सत्यलोक तक, तथा सात पाताल नरकादि अधोभुवन। प्रत्येक भुवन के भी असंख्य स्तर हैं, प्रत्येक स्तर में अनेक लोक व्यवस्थित हैं। इन सबको मिलाकर एक ब्रह्माण्ड माना गया है। ऐसे अंसख्य ब्रह्माण्ड हैं। इनमें ही समस्त सृष्टि विद्यमान है। शास्त्रों में उनमें शुद्ध, अशुद्ध इत्यादि स्तर कहे गये हैं। आगमवर्णित 'षडध्व' में भुवनाध्वा अर्थात् लोकों की संख्या दो सौ चौबीस कही गई है। इस सबसे ऊपर अनन्त प्रकाशपुञ्ज मात्र है। इस ज्योतिमण्डल के ऊपर एक अपरिच्छिन्न चिदाकाश है। उसके ऊपर एक अमृतमय महासमुद्र है, जिसे शास्त्रों में सुधासागर कहा गया है। इसी सुधासागर के मध्य में अतिविस्तृत नवरत्नों से बना हुआ भगवती का आवासस्थान 'श्रीपुर' है। इसमें क्रमशः अनेक षड्ऋतुओं के उद्यान तथा सुवर्ण से लेकर नवरत्नों के अनेक प्रकार हैं, अनेक वाटिकाएँ, अमृतमय वापिकाएँ अमृतमय वापिकाएँ इनमें वर्तमान हैं। इनमें भिन्न–भिन्न अधिकारसम्पन्न देवताओं का स्थान है, जो निरन्तर ब्रह्मविद्या की आराधना करते हैं। उसमें चिन्तामणिगृह में मणिमय महासिंहासन के ऊपर हंसतूलयुक्त आसन पर भगवान् कामेश्वर षोडशवर्षीय शिव विराजमान हैं। ये अत्यन्त सुन्दर कोटिकन्दर्प से अधिक रमणीय हैं, उन्हीं के वामाङ्क में षोडशवर्षीया अनेक रत्न–माणिक्य अलङ्कारों से भूषित विश्वाधिक सौन्दर्य और सौकुमार्यशालिनी भगवती राजराजेश्वरी विराजमान हैं। इन दोनों की चारों भुजाओं में पुंड्रेक्षु का धनुष्य, पञ्च पुष्पबाण, पाश तथा अङ्कुश आयुध वर्तमान हैं। इसी को शास्त्रकारों ने 'अनादिमिथुन' कहा है। यही अपररूप प्रधान है, इसी रूप से अनुप्राणित समस्त देवताओं के रूप में भी

अपररूप कहे जाते हैं।

यही प्रथम गुरुतत्त्व के अधिष्ठाता परमेश्वर-परमेश्वरी रूप से शास्त्रों में पूजनीय कहे गये हैं। भगवती श्रुति भी शब्दान्तर से इनका संस्तव करती है–

यो वै तां ब्रह्मणो विद्वान् अमृतेनाऽऽवृतां पुरीम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च आयुः कीर्तिं प्रजां ददुः॥

इस मणिद्वीप का वर्णन निम्नाङ्कित ग्रन्थों में प्राप्य है–देवीभागवत के द्वादश स्कन्ध में, ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान में, त्रिपुरारहस्य के महात्म्यखण्ड में, रुद्रयामल में और स्वतन्त्र स्तोत्ररूप से महर्षि दुर्वासा द्वारा प्रणीत 'ललितास्तवरत्न' में अत्यन्त स्पष्टतया उल्लिखित है।

इस भगवती के सिंहासन के चार पाद क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर हैं तथा सदाशिव आसनस्थानीय हैं। ये ही देवता सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह तथा अनुग्रह के अधिकारी हैं। इससे स्वभावतः पञ्चकृत्यकारी शिव के ऊपर सर्वानुग्रहकारिणी पराशक्ति का अधिष्ठान सिद्ध हुआ। अतः शैव और शाक्तदर्शन का मूलतः एकत्व सिद्ध होता है। यद्यपि समस्त देवतागण ही पराशक्ति के अपर-रूप हैं, किन्तु उनमें भी सर्वप्रधान यही रूप परमोपास्य है, यह बात शास्त्रों और आचार्य परम्पराओं से भी प्रमाणित होती है त्रिपुरारहस्य की उक्ति है–

तथा तासु सर्वास्वनेकासु मुख्या धनुर्बाणपाशाङ्कुशाढ्यैव मूर्तिः॥

यह रूप सगुण की तरह भासमान होने पर भी सगुण नहीं है; किन्तु सगुण-सदृश करुणाकृतिरूप है। इस प्रसङ्ग में परा प्राणशक्ति की चर्चा आवश्यक है। देवताओं की प्राणप्रतिष्ठा प्रसंग में इसी समस्त विश्व की जनयित्री प्राणशक्ति का आवाहन किया जाता है। उनके अधिष्ठान से ही देवताओं में देवत्व आता है।

रक्ताम्भोधिस्थपोतोल्लसदरुणसरोजाधिरूढा कराब्जैः
पाशं कोदण्डमिक्षूद्भवमथ गुणमप्यङ्कुशं पञ्चबाणान्।
बिभ्राणाऽसृक्कपालं त्रिनयनलसिता पीनवक्षोरुहाढ्या
देवी बालार्कवर्णा भवतु सुखकरी प्राणशक्तिः परा नः।

इस ध्यान में दो आयुध अधिक हैं- त्रिशूल और कपाल। ये शिवांश के द्योतक हैं। इसीलिए ब्रह्मयामल का वचन है–

यत्पादार्चनतो देवा देवत्वं प्रतिपेदिरे।
तां नमामि महादेवीं महात्रिपुरसुन्दरीम्।।

यह वचन प्रशस्ति मात्र न होकर वास्तविकता का ही द्योतक है।

यही भगवती विभिन्न पुराणों, तन्त्रों, आगमों, वेदों आदि में वर्णित हैं। एकपञ्चाशत् शक्तिपीठ इनके ही अभिव्यञ्जक हैं। एकपञ्चाशत् या एकावन यह मातृकाक्षरों की संख्या है। मातृकारूप से न केवल शब्दमयी सृष्टि हुई; किन्तु स्थूल, सूक्ष्म, पररूप से सारी सृष्टि इन्हीं से हुई, अतः सम्पूर्ण विश्व का प्रकाशन करने वाली मातृका ही त्रिपुरा है यह बात शास्त्रों से सिद्ध है।

अपररूप के अन्तर्गत संसार के सभी उपास्यरूप तत्तद् अधिकारी के अनुसार स्वीकृत हैं। मार्कण्डेयपुराणोक्त उनके अनेक अवतार तथा असंख्य पीठ या तत्तद्देवता के रूप से प्रतीत होना उनकी स्वेच्छा का विलास ही है।

इस भेदप्रथामय जगत् का आविर्भाव करने के बाद उस मूलस्थ पराशक्ति ने विभिन्न प्रकार के अपने भक्तों के लिये नानारूप तथा लीलाओं का विस्तार किया तथा अन्ततः सबको अनुग्रहमार्ग में ही परावर्तित किया। 'समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्' के अनुसार सभी उपासनाएँ अन्ततः उसी विश्वमयी के पास ही पहुँचती हैं।

स्वरूप के अतिरिक्त कोई कारण न होने पर भी अनन्त जगत् रूप से पराशक्ति का परिस्पन्दन उनका ऐश्वर्य ही है।

अपार समुद्र में एक तरङ्ग का उठना या उन असीम वनों में एक पते का हिलना भी उनकी इच्छा के विना नहीं हो सकता, अतः दूसरा कोई पदार्थ कहाँ से आयेगा।

अतः ज्ञान और अज्ञान का द्वन्द्व भी उनके ही द्वारा सृष्ट चक्र है। शास्त्रों को अनादि, अपौरुषेय कहने का तात्पर्य भी यह है कि गुरु–शिष्य भाव भी उसी पराशक्ति का व्यापार है। यह वचन प्रसिद्ध है–

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्।।

इसी प्रश्नोत्तर के निरूपणमें परात्रीशिका में आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने समस्त शास्त्रपरामर्श को ही शिव-शक्ति का सम्भाषण सिद्ध किया हैं। संक्षेप में कहा जाय, तो प्रकाशांश वक्ता और विमर्शांश श्रोता है।

पूज्य कविराज जी ने इस विषय में भगवती के विभिन्न श्रीपुरों का विस्तृत वर्णन किया है।

इस प्रसङ्ग में श्री भास्करराय जी के मतानुसार तीन श्रीपुरों का उल्लेख है–प्रथम अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के ऊपर अनन्तयोजन विस्तृत तथा पच्चीस प्राकारों से वेष्टित है। द्वितीय सुमेरु के शिखर पर स्थित है, यह पहले से कुछ कम विस्तृत है। इसका ही वर्णन दुर्वासा ऋषि ने 'ललितास्तवरत्न' में किया है। तृतीय क्षीरसागर के मध्य में विराजमान है। यह 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' के अनुसार है। इसके लिये 'सौभाग्यभास्कर' टीका द्रष्टव्य है।

प्रसङ्गवशात् त्रिपुरागम या त्रैपुरदर्शन की व्याप्ति का भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है। आजकल शैवदर्शन के अध्ययन पर विद्वानों की विशेष प्रवृत्ति है। शैव और शाक्तदर्शन मूलतः भिन्न नहीं हैं, 'शिवः शक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः' यह उक्ति प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण पदार्थविवेचन शिवागम और शाक्तागम में समान हैं, दोनों धाराएँ पूर्ण अभेदवाद का अनुसरण करती हैं, केवल उपासना पद्धति में सम्प्रदायगत यत्र-तत्र भेद मालूम होता है। इसका कारण भी है। केवल शास्त्रज्ञान और सम्प्रदाय-ज्ञान ये दो बातें पृथक् हैं। 'सम्प्रदाय' शब्द को सङ्कुचित-अर्थ में समझना भ्रम है। 'सम्प्रदाय' आग्रह नहीं है; किन्तु जीवन में क्रियात्मक रूप से साधना को समन्वित करने की प्रणाली का ही नाम है।

आगमों में शिवागम ओर श्रीविद्यागम ये दोनों प्रधान हैं। शैवागमों में शिव, रौद्र, भैरव नामों से त्रैविध्य है। उनमें शिवागम कामिक आदि दस द्वैतोपासना-प्रधान हैं, रौद्रागम सुप्रभेद आदि अठारह द्वैताद्वैतभाव की उपासना के हैं। भैरवागम चौसठ (चतुःषष्टि) अद्वैतभावप्रधान हैं। आगमों में पञ्चस्रोतों के भेद से देवताओं की उपासना-विधि वर्णित है।

अधिकारिभेद से या उपासक के रुचि-भेद से उचित विधियों, देवताओं और मन्त्रों का उपदेश किया गया है। सम्पूर्ण शैवागमों में भैरवशासन श्रेष्ठ है।

दक्षिणादुत्तमं वामं वामात्सिद्धान्तमुत्तमम्।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात्परतरं नहि।।

—इस प्रकार भैरवागम का वचन है। यह वचन भी द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत प्रधान उपासना का सूचक है। इस प्रकार इन चारों में 'भैरवकुल' श्रेष्ठ है। इसी प्रकार 'कालीकुल' भी 'भैरवकुल' के समान ही मान्य है और 'त्रिककुल' भी इनके समान ही मान्य है। 'महार्थप्रक्रिया' या 'क्रमदर्शन' की उपासना-पद्धति ही कालीकुल का स्वरूप है। भैरवकुल में मुख्यरूप से आनन्दभैरव-आनन्दभैरवी, अमृतेश्वर-अमृतेश्वरी, स्वच्छन्दभैरव-अघोरेश्वरी इन देवताओं की उपासना का विस्तार है।

इसी प्रकार त्रिकशास्त्र में अपरा, परापरा, परा इन तीन शक्तियों की तथा नवात्मभैरव, रतिशेखरभैरव, सद्भावभैरव, इन भैरवों की क्रमशः उपासना उपवर्णित है। इन सभी उपासनाओं की उत्तरभूमिका के रूप से त्रैपुरसिद्धान्त आगमों में उपवर्णित हुआ है। 'त्रैपुरकुल' भैरव, काली, त्रिककुलों का सारभूत तथा उनका समष्ट्यात्मक है और उनसे उत्तीर्ण भी है। इसीलिये त्रिपुराविद्या को उद्देश्य कर कहा गया है—

वागरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः।
तथा मन्त्राः समस्ताश्च विद्यायामत्र संस्थिताः।।

इस प्रकार त्रिपुराविद्या में निखिल आगम-शास्त्रजाल की 'ग्रन्थि' अवस्थित है। वस्तुतः इसी मूल विद्या से अन्य विद्याओं तथा मन्त्रों की वीर्यवत्ता मानी गई है। वामकेश्वरतन्त्र में कहा है—

'त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये।'

इसका तात्पर्य यह है कि भेदप्रथामय जगत् में भासमान समस्त त्रिपुटियों में मुख्य रूप से समष्टिरूपा यही है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटी के पूर्व इसकी सत्ता होने के कारण ही इसे 'आद्या' कहा गया है। 'त्रिभ्यः पुरा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्मादि कारणपुरुषों से पूर्ववर्तित्व, त्रयी वेदत्रयीमयत्व, महाशून्य या प्रलयावस्था के बाद त्रैलोक्य का

पूरकत्व आदि अनेक अर्थ सूचित होते हैं। शैवागम में विशेषतः उपास्य रूप से वर्णित 'परादेवी' भी श्रीविद्या की अंशभूत है, अथवा उसे श्रीविद्या की 'हृदयविद्या' भी कहा गया है।

इस प्रकार निखिल निगमागमरूप शास्त्र की बीजस्थानीय त्रिपुरा विद्या मान्य है तथा उसकी व्याप्ति सर्वतः सिद्ध है।

'तस्यां परिणतायां तु न कश्चित्पर इष्यते' इस वचन से सम्पूर्ण शास्त्रों की परिणति उसी का विस्तार है, यह सिद्ध हुआ।

सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन करने पर 'परशुरामकल्पसूत्र' से भी यह सिद्धान्त अवगत होता है। भगवान् परशुराम ने संक्षिप्त रूप से सभी सम्प्रदायों का समन्वय कर मार्ग प्रवृत्त किया। विभिन्न व्याख्याओं के अवसर पर श्री भास्करराय दीक्षित जी ने विभिन्न तन्त्रों के वचनों की एकवाक्यता का उपसंहार 'कल्पसूत्र' में प्रदर्शित किया है।

भावनोपनिषत् की पद्धति से त्रैपुरदर्शन की भावनात्मक उपासना पर भी पूज्य कविराज जी ने विचार किया है। गुरु और उपास्या भगवती के अभेद सम्बन्ध का विश्लेषण इसमें किया गया है।

उपासना–मार्ग में भावना ही कामधेनु है, परन्तु वह सम्प्रदाय से प्राप्त होनी चाहिए।

इसी प्रसङ्ग में 'श्रीचक्र' का वर्णन भी महत्त्वपूर्ण है। इसका भी स्थूल, सूक्ष्म, पररूप भावनोपनिषत् की श्री भास्करराय जी की व्याख्या में स्पष्ट हुआ है। वेदों में भी 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या' इत्यादि शब्दों से इसका सङ्केत मिलता है।

वस्तुतः त्रैपुरसिद्धान्त वेद और आगमों की समन्वय भूमि में प्रतिष्ठापित है। इसीलिये भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने भी 'सौन्दर्यलहरी' के व्याज से इसकी महत्ता प्रतिपादित की एवं अपनी परम्परा में इस उपासना का प्राधान्य प्रतिष्ठापित किया।

पूज्य श्रीकविराज जी की प्रतिभा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। मैंने उसमें से कुछ ही अंश पर अपने विचार उपस्थापित किये, जो शास्त्रों और गुरुओं से मैंने जाने।

अन्त में एक वक्तव्य है कि ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय ही उपासना मार्ग में आवश्यक है, इनको पृथक् समझना अत्यन्त भूल होगी।

अतः यथासम्प्रदाय उपासना-शास्त्र का भक्तिपूर्वक अध्ययन और अधिगम प्रशस्त होगा। प्राचीन आचार्यों का भी कथन है–'अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका विशिष्यते।'

मैं अपनी सम्भावित त्रुटियों के विषय में क्षमा माँगकर उस महापुरुष के चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ, जिनकी स्मृति में यह आयोजन किया गया है।

■

'आनन्दसागरस्तव' एक परिचय

संस्कृत वाङ्मय में दर्शन, धर्म तथा उपासना के क्षेत्र में श्री अप्पय्य दीक्षित की ख्याति चिरकाल से प्रसिद्ध है। इन्हें 'चतुरधिकशतप्रबन्धनिर्माता' कहा जाता था। लगभग सभी शास्त्रों में इनकी ग्रन्थ-सम्पत्ति उपलब्ध है। यह केवल पण्डित न होकर एक महान् साधक तथा सम्प्रदाय-प्रवर्तक पुरुष थे। शाङ्कर सम्प्रदाय की ही शाखा-प्रशाखाओं को सुदृढ़ करना इनकी लेखनी का लक्ष्य था। इन्हीं के सहोदर भ्राता थे-श्री आच्चान दीक्षित; तथा उनके पुत्र थे- श्री नारायण दीक्षित। इनकी पत्नी का नाम भूमिदेवी था।

इन भूमिदेवी के गर्भ से एक महान् कवि तथा साधक का जन्म हुआ, जिनका नाम श्री नीलकण्ठ दीक्षित था। इस वंश में सभी एक से बढ़कर एक विद्वानों की परम्परा प्रादुर्भूत हुई। श्री नीलकण्ठ के छोटे भाई श्री अतिरात्रयज्वा हुए।

श्री नीलकण्ठ दीक्षित में पाण्डित्य, कवित्व, सहृदयता तथा भक्ति का अद्भुत सामञ्जस्य था। इन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया, जिसमें शिवलीलार्णव, गङ्गावतरण जैसे महाकाव्य तथा अनेक छोटे-बड़े स्तोत्र, सुभाषित तथा दर्शन और तन्त्र ग्रन्थ भी हैं। यह वंश स्वभावतः भगवान् शिव तथा उनकी सहचरी भगवती उमा का निष्ठावान् भक्त था। यह हर्ष का विषय है कि श्री नीलकण्ठ दीक्षित के विषय में कुछ दिन पूर्व नागपुर विश्वविद्यालय के प्रो. के० रा० जोशी ने एक विस्तृत शोध-प्रबन्ध 'नीलकण्ठ आणि त्यांची काव्यसंपदा' इस शीर्षक से मराठी में लिखा है। अच्छा होता कि उसे हिन्दी-भाषा में भी अनूदित किया जाता। लेखक ने अत्यन्त परिश्रम से कवि तथा तात्कालिक वातावरण और कवि की रचनाओं का विशद् परिचय दिया है। अतः उस विषय में अधिक न

जाकर कवि के एक प्रमुख स्तोत्र का परिचय मात्र यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

संस्कृत वाङ्मय में स्तोत्र-साहित्य भी अत्यन्त विशाल है। स्तोत्रों को केवल देवतास्तुति मात्र समझना भूल होगी। इस प्रसङ्ग से कविगण शास्त्र, दर्शन, उपासना, साहित्य तथा प्रतिभा-चमत्कार उपस्थापित करते थे। सूर्यशतक, चण्डीशतक, शिवस्तोत्रावली, स्तवचिन्तामणि, नारायणीयम् इत्यादि स्वतन्त्र प्रबन्ध के रूप से प्रख्यात हैं।

इसी परम्परा में हम श्री नीलकण्ठ दीक्षित के 'आनन्दसागरस्तव' का महत्त्व समझते हैं। 'आनन्दसागरस्तव' में आराध्य भगवती मीनाक्षी हैं, जिनका मन्दिर शिल्प-सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है। 'शिवलीलार्णव' काव्य में इनकी कथा को बड़े ही सरस ढंग तथा वैदर्भी शैली में कवि ने निबद्ध किया है, किन्तु अत्यन्त भक्ति और भावुकता के साथ स्वतन्त्र स्तोत्र-निर्माण के लिए कवि की बलवती प्रवृत्ति हुई ऐसा मालूम होता है।

'आनन्दसागरस्तव' की श्लोक-संख्या एक सौ आठ है, जो जपमाला के प्रतीक को बताती है। तन्त्रशास्त्र के अनुसार अनुलोम-विलोम मातृकाएँ सौ हैं तथा मातृका-वर्ग के कूटस्थ आठ अक्षरों को लेकर अष्टोत्तरशत-एक सौ आठ संख्या हो जाती है। कवि का अभिप्राय इस स्तोत्र से जगन्माता की उपासना ही है। सभी पद्य वसन्ततिलका वृत्त में निबद्ध हैं। वसन्ततिलका वृत्त में आरोह-अवरोह क्रम से पढ़ने में गाम्भीर्य की अनुभूति होती है।

इस स्तोत्र में कहीं भी शब्दाडम्बर या अतिरञ्जित आलङ्कारिकता का प्रयोग नहीं है। केवल भाव-प्रधानता से ही कवि ने अपने आशय को प्रकट किया है। जगह-जगह निगूढ़ दार्शनिक तत्त्व अत्यन्त सरल भाषा में अभिव्यक्त किये गये हैं, जिन्हें पढ़कर कवि की उपस्थापन कुशलता पर आश्चर्य होता है। साथ ही उपासना के रहस्य भी अति सरल भाषा में कहे गये हैं। इस स्तोत्र के नामकरण का भी सम्बन्ध एक मध्यवर्ती पद्य से है, जो कवि की भक्ति की परकाष्ठा से प्राप्त जीवन्मुक्ति-दशा का परिचायक है। पद्य इस प्रकार है-

आचूडमाचरणमम्ब! तवानुवार-
मन्तः स्मरन् भुवनमङ्गलमङ्गमङ्गम्।
आनन्दसागरतरङ्गपरम्पराभि-
रान्दोलितो न गणयामि गतान्यहानि॥

कवि का कथन है–'हे जगन्मातः! मस्तक से चरण तक तथा चरण से मस्तक तक आपके परम सौन्दर्यमय तथा मङ्गलमय अङ्ग-प्रत्यङ्ग का ध्यान करते हुए मैं आनन्द-समुद्र की तरङ्गों पर झूलता हुआ जो आनन्द पाता हूँ, उससे मुझे यह दिन और रातें कहाँ जाती हैं, इसका कुछ भी ध्यान नहीं रहता है।

कवि की जीवन्मुक्ति-दशा का यह वर्णन है। प्रथम श्लोक में कवि ने सांसारिक भक्तपुरुष की अवस्था को दिखाते हुए लिखा है कि संसार में फँसे हुए भक्त को कभी मनोनुकूल अवसर ही नहीं मिल पाता है कि वह निश्चिन्त होकर अपने आराध्य से अपनी व्यथाओं का निवेदन कर सके। अन्ततः वह थक जाता है। उस विश्वोत्तीर्ण परा शक्ति से, जो बहुत दूर है, सम्पर्क करना उसे कठिन-सा लगता है। इसी अवसर पर उसे स्मरण हो जाता है कि विश्वमाता तो सभी जीवों पर सहज करुणावृत्ति करती है। 'महाकारुण्यरूपिणी' उसका नाम है और तत्क्षण करुणातरङ्गित माता के कृपाकटाक्ष का उसे दर्शन होता है। इस भाव को बड़े नपे-तुले शब्दों में कवि ने लिखा है–

विज्ञापनार्हविरलावसराऽनवाप्त्या
मन्दोद्यमे मयि दवीयसि विश्वमातुः।
अव्याजभूतकरुणापवनापविद्धा-
न्यन्तः स्मराम्यहमपाङ्गतरङ्गितानि॥

आगे कवि का कथन है–'यदि मैं अपनी व्यथा का निवेदन करूँ, तो वह व्यर्थ-सा है, क्योंकि आपको अविदित तो कुछ नहीं है; परन्तु मानव-स्वभाव की यह दुर्बलता है कि जब तक अपना दुःख किसी से न कहा जाये, मन हलका नहीं होता है। अतः हे मलयध्वज-राजकन्ये! मेरी बातों को कानों में डाल लो–

आवेद्यतामविदितं किमथाऽप्यनुक्तं
वक्तव्यमान्तररुजोपशमाय नाऽलम्।
इत्यर्थ्यसे किमपि तच्छ्रवणे निधातुं
मातः प्रसीद मलयध्वजपाण्डकन्ये।।

शास्त्रों का सिद्धान्त है– 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' अर्थात् प्रारब्ध कर्म का भोग मुक्त पुरुष को भी करना पड़ता है। सञ्चित और क्रियमाण भले ही नष्ट हो जाँय परन्तु भक्त का आग्रह है कि यदि तुमने प्रारब्ध कर्म कीशृङ्खला न तोड़ी तो तुम्हारी क्या विशेषता रह जायेगी, क्योंकि तुम्हीं साध्य हो और साधन भी हो। तुम्हारी स्वतन्त्रता अपरिमेय है। जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा मुक्ति पाना चाहते हैं, उनके लिए प्रारब्ध कर्म प्रतिबन्धक हो सकता है, परन्तु 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः' इस प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त के अनुसार पराशक्ति चाहे तो प्रारब्ध कर्म को अनायास मिटा सकती है। निम्नाङ्कित पद्म के द्वारा यह आशय व्यक्त हुआ है–

मुक्तिं सिसाधयिषतां निजयैव बुद्ध्या
प्रारब्धकर्म भवतु प्रतिबन्धहेतुः।
त्वामेव साधनतयाऽपि समाश्रितानां
तुल्यं तदम्ब यदि कस्तव वीरवादः।।

जगन्माता के चरण में 'कमल' चिह्न है। इस पर कवि कहता है कि जो यह मेरा हृदय-कमल आपके सुकुमार-पादतल में लगा, वही तो आपके दो सौ से अधिक भुवनों के साम्राज्ययोग की सूचक पद्मरेखा है। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार सम्राट् या सम्राज्ञी के पैर में पद्मरेखा होती है। शैवदर्शनों में भुवनों का वर्णन दिया गया है, जो दो सौ चौबीस हैं। 'चतुर्विंशत्युत्तरं यद् भुवनानां शतद्वयम्' इस प्रकार आगम-शास्त्रोक्त 'षडध्व' में से भुवनाध्वा का वर्णन कवि ने किया है।

आगे कवि ने एक पद्म में ज्ञानोत्तर भक्ति-सिद्धान्त का चमत्कारपूर्ण विवेचन किया है। अद्वैत-सिद्धान्त के अनुसार भेदज्ञान नष्ट होने पर जो उपासना की जाती है, वही भक्ति है तथा भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ है। उपनिषदों में कहा गया है–'यं मुक्ता अप्युपासते'।

कवि कहता है कि हे त्रिपुरे! मोतियों की माला अथवा मुक्त पुरुष भी तुम्हारे स्तनपान की इच्छा से स्तनतट को नहीं छोड़ते, तो मेरे जैसे उद्भट भव-ज्वर से परितप्त बालकों का सूखा हुआ मुख क्या कुछ आर्द्र न होगा। उन्हें स्तनपान का अवसर नहीं मिलेगा।

मुक्ताश्च खल्वपि यदि त्रिपुरे! भवत्याः
स्तन्याशया स्तनतटं न परित्यजन्ति।
अस्माकमुद्भटभवज्वरतापिताना-
मार्द्रीभवन्तु वदनानि कुतो न हेतोः॥

उपनिषदों का मत है कि उस परब्रह्म के शासन में ही सूर्य, चन्द्र आदि अपनी गति पर लगे हैं, वायु भी उसी के शासन से चलता है। 'एतस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः', 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' इत्यादि सुना जाता है। परन्तु सर्वथा बालभाव ग्रहण कर लेने वाले को उसका अनुग्रह प्राप्त करना सहज साध्य है। एक जगह उपनिषद् में कहा गया है–

तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।

इस आशय को नितान्त सरल शैली में कवि ने अभिव्यक्त किया है– इस भगवान् परमशिव के अन्तःपुर में रवि का प्रवेश नहीं है, वात को भी जाना मना है। अधिक क्या कहें, सारे संसार को इसकी भीतरी बातों की जानकारी नहीं है। परन्तु हमारे जैसे बालक को कोई रोकटोक नहीं है। पहरेदार भी हमें नहीं रोक सकते हैं–

नाऽस्मिन् रविस्तपति नाऽत्र विवाति वातो
नाऽस्य प्रवृत्तिमपि वेद जगत्समस्तम्।
अन्तःपुरं तदिदमीदृशमन्धकारै-
रस्मादृशास्तु सुखमत्र चरन्ति बालाः॥

शास्त्रीय बातों को इतनी सरलता से लिखना कवि की लेखनी का चमत्कार है।

जगन्माता की उदार दानशील कृपादृष्टि का प्रभाव बताते हुए कवि ने लिखा है–'हे अम्ब! आपकी उदार दानवी दृष्टि पृथ्वी को सुई की नोक

के तुल्य तथा सुमेरु को अणुतुल्य समझती है। आपके उसी दृष्टिपात के प्रभाव से हम भी इस उत्ताल तरङ्गों वाले भवसागर को एक तुच्छ 'पल्वल' (छोटी पोखरी) की तरह देख रहे हैं।

इस पद्य के द्वारा आगमशास्त्रीय वेधदीक्षा जो गुरु के द्वारा होती है, उसका सङ्केत मिलता है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण स्तोत्र अपने भावगाम्भीर्य, सहज शैली तथा यथार्थ के निकट होने के कारण परिशीलनीय है। साहित्य और सौन्दर्य का भी इसमें परिपाक दर्शनीय है। कवि श्री नीलकण्ठ महान् पण्डित तथा सहृदय महाकवि थे, यह उनकी सभी रचनाओं से स्पष्ट है।

■

वेद और आगम : एक ही तत्त्व की दो धाराएँ

विद्वान् चिरकाल से ही भारतीय वाङ्मय के सन्दर्भ में निगमागम का पर्याप्त चिन्तन करते चले आ रहे हैं। निगम अर्थात् वेद या वेदमूलक वाङ्मय और आगम अर्थात् तन्त्रमूलक वाङ्मय।

वेद शब्द से केवल संहिता-ब्राह्मण ग्रन्थों को स्वीकारना उचित नहीं होगा। बल्कि समस्त अङ्गों, पुराणों, स्मृतियों को भी ग्रहण करना होगा, अन्यथा वेदार्थ की यथार्थ प्रतीति असम्भव हैं। स्वयं पुराणों ने भी कहा है– पुराणों से वेद का उपबृंहण होता है, साथ ही अल्पश्रुत लोगों से वेद भी डरकर कहता है कि कहीं ये मुझे मार न दें। निगम धारा में त्रैवर्णिक से इतर जातीय लोगों को मोक्ष का अधिकार नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वर्णाश्रम की परम्परा में अपने-अपने नियत कर्मों को करने पर अन्ततः प्रत्येक मनुष्य परम पद या मोक्ष का अधिकारी होता है। शास्त्रों में अधिकारी भेद से कर्म की व्यवस्था है। मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने भी कर्मकाण्ड का विस्तार कर अन्ततः ब्रह्मस्वरूपावाप्ति ही सबका फल बताया है।

वेद अपौरुषेय हैं। प्रति कल्पान्त में महर्षिगण उनका साक्षात्कार करते हैं। इसी प्रकार आगम भी स्वप्रकाश एवं अपौरुषेय कहे गये हैं। उसकी अवतारणा भले ही शिव-शक्ति या गुरु-शिष्य के संवाद रूप से हुई हो; परन्तु परमशिव परमब्रह्म से कोई भिन्न तत्त्व तो नहीं है। कुल मिलाकर दोनों धाराओं का उद्‌गम स्थल एक ही है। अतः आगम के मूल विचारों या सूत्रों को इतिहास के पिंजरे में बाँधना उचित नहीं है। उनके आधार पर स्मृतियों, पुराणों, निबन्धों तथा उनके आधार पर दिये गये सन्त-महात्माओं के उपदेश, ग्रन्थों के कर्त्ताओं का इतिहास भले ही मिल जाय।

भैरवागम के अनुसार एक ही कल्पवृक्ष की शाखाओं के समान निगमागम को समझना चाहिए। अनुभव भी है कि एक ओर जहाँ आगम के बहुत से तथ्य वेदों में उपलब्ध हैं, तो दूसरी ओर वैदिक तथ्य आगम

में दृष्टिगोचर है। बीजांकुर न्यायानुसार इन दोनों में कौन पहला, कौन दूसरा, कहना कठिन है।

आगम का लक्षण है–'अविगीतैव प्रसिद्धिरागमः' अर्थात् गुरुपरम्परा से प्राप्त विशुद्ध ज्ञान ही आगम है। इसे थोड़ा और उदार किया जाये तो कहा जायेगा कि शिष्टाचार प्राप्त तथा शिष्टसम्मत ज्ञान आगम है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे महेश्वर का सतत प्रकाशात्मक विमर्श कहा है। इस आगमरूपी दीप से उसी प्रकार समस्त अज्ञान नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार। उक्त ज्ञानधारा की भूतल पर गुरु-शिष्यपरम्परा से अवतारणा हुई है, जो दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ क्रम से मानी जाती है।

विचारतः ऐसा लगता है कि वेद की शैली कुछ दुर्बोध होने से उसके मौलिक तथ्य आगम शैली से प्रस्तुत हैं। साथ ही जिस प्रकार वेद का प्रायोगिक पक्ष 'श्रौतयज्ञ' मण्डल में सम्पन्न होता है, उसी प्रकार आगम का प्रायोगिक पक्ष 'तन्त्रयाग' (पूजन-अर्चन) शिव-शक्त्यादि देवमन्दिरों (मण्डपों) से सम्पन्न होता है। कुल मिलाकर मूलतः एक ही विषयवस्तु अधिकारी-भेद से निगमागम के रूप में विभक्त है। यह बात 'त्रिपुरारहस्य' में स्पष्ट है। श्रीमद्भगवदगीता को ही देखिये– इसे किसी एक ही सम्प्रदाय का मानना अनुचित होगा, मात्र उपनिषद् के सिद्धान्त, सांख्य, योग, भक्ति ही नहीं, बल्कि शैवसिद्धान्त का भी परमोपकारक यह ग्रन्थ है। यह तथ्य अभिनवगुप्त की प्रत्यभिज्ञापरक गीता की टीका में विवेचित विश्वरूप - दर्शन के सन्दर्भ में कालसंकर्षण-योग की व्याख्या आदि से स्पष्ट होता है। कुल मिलाकर सिद्ध है कि गीता एक सार्वभौम दर्शन है।

पाञ्चरात्र तथा पाशुपत आदि आगम भी दो प्रकार के हैं– एक वेदसम्मत, तो दूसरे वेदबाह्य। किसी कारण से वैदिक परम्परा का लोप होने पर पुनः वेदमार्ग में प्रवेश हेतु तन्त्र का आश्रय स्वीकार करने के लिए कहा गया है। 'सेतुबन्ध' में इस पर पर्याप्त विचार किया गया है। यही विचार मध्ययुगीन वैष्णवों तथा शैवों ने अग्रसारित किये हैं। श्रीमद्भागवत की एकादश-स्कन्धोक्त उपासनापद्धति की टीका करते समय सन्तशिरोमणि एकनाथ ने तान्त्रिक शैली में पूजा-पद्धति निरूपित की है, जो शैवागमों से अभिन्न जान पड़ती है।

एकनाथ के पूर्ववर्ती ज्ञानेश्वर तो पूर्णरूप से शिवागमानुयायी जान पड़ते हैं। आपकी रचनाओं पर उत्पलदेव की 'शिवस्तोत्रावली' आदि की स्पष्ट छाया है। इसी प्रकार श्री ज्ञानेश्वर की एक अन्य कृति 'अनुभवामृत' में शिवशक्ति-समावेश प्रकरण पूर्णतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन की सरणि पर प्रतिष्ठित है। महाराष्ट्रीय सन्तों में आगम प्रवृत्ति का एक और प्रमुख स्रोत हैं- दत्तात्रेय, जो अवधूत-सम्प्रदाय एवं श्रीविद्या के प्राचीनतम आचार्य हैं। अत्यन्त प्राचीन बौद्ध-जैन कि बहुना सिक्ख आदि सम्प्रदायों पर भी शैवागमों का पर्याप्त प्रभाव है। यह बात श्री भास्करराय के 'ललितासहस्रनाम' में आये- 'नित्यशुद्धा', 'नित्यबुद्धा' नामों की व्याख्या से स्पष्ट है। सिक्ख-धर्म में सर्वोपरि प्रतिपादित गुरुतत्त्व तो साक्षात् परमशिव है। वेद और आगम की मौलिकता 'यज्ञ' से भी सिद्ध है। सर्वविदित है कि सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति यज्ञपरक है। यज्ञ का तात्पर्य है-परमेश्वरार्पणरूपी क्रियाविशेष। यह समर्पण शारीरिक, वाचिक या मानसिक क्रिया ही तो है, जो यज्ञ में पर्यवसित होता है। इस प्रकार अर्पण भाव से किये जाने वाले यज्ञ के अनेक भेद-प्रभेद हैं। श्रौत के व्यवहारिक यज्ञ में इसे 'अग्निहोत्र' कहा जाता है। उक्त अग्निहोत्र में वर्णित 'अग्नि-सोम' ही आगम के शिव-शक्ति हैं, जो सर्वदा अविभाज्य हैं। भौतिक दृष्टि से समस्त सृष्टियों के मूलभूत तत्त्व अग्नि-सोम ही हैं। यह अविभाज्य तत्त्वविशेष ही वास्तविक आत्मचैतन्य है। दार्शनिक दृष्टि से भी मोक्ष हेतु उपर्युक्त तत्त्व का बोध आवश्यक है।

उपर्युक्त आत्मचैतन्य को कृष्णयजुर्वेद के 'त्रिसुपर्ण' के मन्त्रों में रूपक शैली से यजमान-पत्नी सहित शरीरस्थ समग्र अंग-प्रत्यंगों, अवयवों की यज्ञीय सामग्री, उसका प्रयोग तथा उसके फल का वर्णन है। आगमोक्त यागों में भी आत्मचैतन्य अग्नि ही है। उसी में बाह्य या मानसिक क्रियाओं से अशेष विषयों की आहुति देकर अन्ततः साधक परमशिव की दशा प्राप्त करता है। ये सभी बातें चित्तवृत्ति की स्थिरता तथा सर्वोपरि सद्गुरु के निर्दशन से ही सम्भव हैं।

■

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016